श्रीमद्दयानन्द प्रकाश

[महर्षि दयानन्दजी का संपूर्ण जीवन-चरित्र]

श्री स्वामी सत्यानन्दजी

प्रकाशक
गोविन्दराम हासानन्द
[अध्यक्ष—आर्य साहित्य भवन]
नई सड़क—दिल्ली

१९५०

मुख्य घटनाओं की सूची

नगरों की सूची

प्रथम संस्करण सम्बन्धी
निवेदन

महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययनरूप संघर्षण ही ने मेरे अन्तरात्मा में आस्तिक भाव की ज्योति को प्रकट किया है। विश्राम-शिला पर आरूढ़ होने के समय से, अपने धार्मिक जन्मदाता महापुरुष के प्रति मेरे हृदय में गाढ़ अनुराग-वृत्ति और अगाध भक्ति अनवच्छिन्न रूप से चली आई है। इस कारण, आर्यसमाज के धर्म-क्षेत्र में रात्रिंदिवा विचरण करते, जहाँ कहीं से अद्वितीय दयानन्द के गुणों का कोई मणि-मोती मिल जाता, तो मैं उसे बड़ी सावधानी से अपनी टिप्पणी-पत्रिका की पेटी में टिप्पण कर सुरक्षित रख लेता। फिर, प्रसङ्गानुसार, अपने भाषणों में, व्याख्यानों में, कथाओं में, वार्त्तालाप में बार-बार उनका कीर्त्तन करता। इस प्रकार अनेक वर्षों की कार्यतत्परता से मेरे पास ऋषिराज के समुज्ज्वल वृत्तान्तों की एक रत्नराशि संचित हो गई।

इसके अतिरिक्त, पाँच वर्ष तक, ऋषि-जीवन की विशेष सामग्री एकत्र करने के प्रयोजन से, मैंने विशेष पर्यटन किया। उस यात्रा में जहाँ मुझे महाराज के उत्तमोत्तम वृत्त प्राप्त हुए, वहाँ अतिशय वृद्ध ऋषि-भक्तों के चित्तादर्श में उनकी मनोहर छवि देखने का भी सौभाग्य उपलब्ध हुआ। जिस समय, वयोवृद्ध भक्त-जन प्रेमाश्रुओं से अपने कपोलों को, अपने आँचलों को, अपने वक्ष-स्थलों को सिंचन करते, ऋषि के रहन-सहन का, बोल-चाल का, रीति-नीति के कर्म-क्रिया का, दिनचर्या का और आपादमस्तक मनोमोहिनी मूर्ति का वर्णन करते-करते गद्गद हो जाते तब पता लगता कि आर्यसमाज का आदर्श पुरुष कितना महान् है, कितना उत्तम है और कितना पवित्र है।

इस भूरि परिभ्रमण से मेरे पास महाराजके जीवन-समाचारों की कई टिप्पणी-पत्रिकायें हो गईं। मैं चाहता तो यही था कि अभी दो वर्ष तक और मनन करूँ, परन्तु गत शीतकाल में मेरी विचार-परम्परा में परिवर्त्तन आगया। मैंने निश्चय कर लिया कि आगामी उष्णकाल में, किसी एकान्त प्रदेश में बैठकर, अधिक नहीं तो व्याख्यान-माला की माला तो निर्माण कर ही लेनी चाहिए।

मुख्य दो कारणों से मैंने दो वर्ष पहले लेखनी अवलम्बन की। एक तो ---च स्नेही पुनः पुनः प्रेरणा करते थे कि टिप्पणी-पत्रिकाओं को पुस्तकाकार

कर देना उचित है। इनके खो जाने का भी भय है। आज-कल करते कार्य रह भी जाया करते हैं।

दूसरे, गत वर्ष के पौष और फाल्गुन में मैंने दो बार काशी की यात्रा की। वहाँ कई दिनों तक रह कर, स्वर्गीय देवेन्द्रनाथ द्वारा संग्रह की हुई ऋषि-जीवन की सामग्री को भी देखा। उनकी टिप्पणी-पत्रिकाओं को सुना। उनमें कई ऐसी पत्रिकायें थीं जिनके पृष्ठों के पृष्ठ पढ़े नहीं जाते थे। संकेत समझ में नहीं आते थे। *प्रसङ्गों के मिलाने में कठिनता से काम लेना पड़ता था।* उन पर से प्रति उतारने वाला अटकल और अनुमान से काम लेता था। स्वर्गीय बाबू की संगृहीत सामग्री की ऐसी अस्तव्यस्त अवस्था देखकर मैंने मन-ही-मन में कहा कि किसी के अधूरे छोड़े कार्य की पीछे ऐसी ही दशा होती है। मुझे अपनी टिप्पणियों को यथासम्भव शीघ्र ग्रन्थन कर देना चाहिये।

ऊपर कहे कारणों से प्रेरित हो, गत उष्णकाल में मैंने एक बहुत ही विविक्त स्थान में रहकर इस पुस्तक को लिखा। इसमें आर्यपथिक श्री लेखरामजी की सामग्री से बड़ा भारी भाग लिया है। कई प्रश्नोत्तरों और लेखों को संक्षिप्त तो करना पड़ा है, परन्तु भावों की सुरक्षा पर पूरा ध्यान रक्खा है। 'भारत सुदशा-प्रवर्तक' आदि समाचार-पत्रों से भी कुछ एक अंश लिये गये हैं।

इतनी महार्घता के युग में मैं इस ऋषि-कथा को मुद्रण न कर सकता यदि लाहौर-निवासी पंडित ठाकुरदत्त शर्मा, अधिपति अमृतधारा, सुप्रसिद्ध सर्जन रायसाहिब डा. मथुरादासजी, अमृतसर के प्रसिद्ध डा. श्रीयुत सत्यपालजी, श्रीयुत लाला जयदयालजी कपूर और लाला देवीदयालजी कोट नक्का निवासी अपनी उदारता से मुझे प्रोत्साहित न करते। पंजाब के प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक श्री सन्तरामजी बी. ए. ने मेरी लिखी पुस्तक की मुद्रणालय के लिये शुद्ध और स्वच्छ प्रति उतारने में प्रभूत परिश्रम किया है। श्री पं० ठाकुरदत्तजी के लघु-भ्राता पं० श्री हीरानन्दजी का मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ कि तीसरे संस्करण से संशोधनादि का भार अपने ऊपर लेकर वे इस पुस्तक को सुन्दर बनाने में भरसक प्रयत्न करते रहे हैं। इन सज्जनों की सहायता से आज मैं महर्षि के *महत्त्वरूप मणि-मुक्ताओं की महामूल्य माला आर्य-मंडल को अतिशय समादर* और सम्मान से समर्पण करता हूँ। —सत्यानन्द। संवत् १९७५।

अवतरणिका

स्वामी दयानन्दजी महाराज के जीवन का मुख्य कार्य धर्म-प्रचार था। वे आर्यों के धर्म को सर्वोत्तम, सबसे पुरातन और ईश्वर-प्रदत्त मानते थे। यह बात है भी ठीक, क्योंकि आर्य धर्म से भिन्न धर्म अपनी आयु की दृष्टि से, अपने विचारों की दृष्टि से, अपने कर्मों की दृष्टि से और अपने आदर्शों की दृष्टि से उससे अतीव पीछे हैं। आर्य धर्म में आत्म-विचार और ब्रह्म-विज्ञान का ऐसा उत्तम वर्णन किया गया है कि दूसरे धर्म उसका स्वरूप अभी तक स्वप्न में भी नहीं देख सके। आत्म-ज्ञान ही आर्य धर्म की प्रधानता का सूचक है। आत्म-ज्ञान ही का इसमें महत्व है। आत्म-ज्ञान से आर्यों का पहले उत्कर्ष हुआ था। इस अपकर्ष-काल में भी ये आत्म-ज्ञान के ही आश्रय पर अवस्थित हैं। आगामी काल में इनकी उत्कर्ष-कला आत्म-ज्ञान ही से उत्तरोत्तर चमकेगी। आत्म-विवेक इनकी निज सम्पत्ति है। इसके साथ इनका आधाराधेय सम्बन्ध है। इस तत्व के पाठ इन्होंने सब जातियों को पढ़ाये हैं। इसमें ये सारे संसार के शिक्षक रहे हैं, और अब भी हैं।

इस आत्म-तत्व के मूल-स्रोत वेद हैं। वेद ही से इस तात्विक ज्ञान का निःसरण हुआ है। इसलिये श्री स्वामीजी की वेदों में अपार भक्ति थी। वे पक्के वेदानुगामी थे। वेद-विश्वास में जब कोई उनका साथी न बनता तो वे तत्काल उसका संग छोड़ देते। वेद-विश्वास को स्थगित कर वे किसी से भी सन्धि करने को समुद्यत न थे। इसी अड़चन के आ पड़ने पर वे मुम्बई तथा अहमदाबाद के प्रार्थना-समाजियों के आशा-भंग के भाजन कहलाये। कलकत्ते के प्रेमियों के, पीछे से, अप्रीति-पात्र बन गये। उनके लाहौरी सहायकों ने उन्हें बुलाकर पहले सत्कृत किया। उनके व्यय का बोझा अपने ऊपर लिया। परन्तु ज्यों ही वेद विषय में मतभेद हुआ, लाहौरी ब्राह्म-गण उनसे इतने रुष्ट हुए कि उनको खान-पान की सहायता देना भी एकाएक बन्द कर बैठे। पर स्वामीजी

अपनी धारणा मे श्रँगुल भर भी इधर-उधर नहीं हुए।

महाराज का परमात्मदेव में परम विश्वास था। वे ईश्वरतत्त्व पर पूरा भरोसा रखते थे। उसी जगदीश की शान्त शरण में रहते हुए वे विपत्ति-वज्रपात में भी नहीं घबराते थे। सब सम्प्रदायों की, सब मत-मतान्तरों की, सारे पन्थाई गुरुओं की और सकल मठधारियों की निधड़कपन से तीव्र समालोचना करते थे। उनको सताने के लिए मताभिमानियों ने खड्ग उठाये, विष तक दिया; परन्तु वे निडर जंगलों में पड़े रहते, एकाकी घूमते। सहस्रों विरोधियों में अकेले खड़े गर्जते। उनका यह बल केवल भुवन-भावन भगवान् ही के भरोसे पर था।

महाराज वेद-विश्वास की भांति ही ईश्वर-विश्वास में भी पक्के थे। जब उनको ज्ञात हुआ कि मैडम ब्लेवट्स्कीजी ईश्वर में विश्वास नहीं रखती हैं, तो वे झट ही थियासोफ़ीकल सभा से अपना सम्बन्ध भंग करने पर कटिबद्ध हो गये। उन्होंने अपने पश्चिमी शिष्यों की अपार प्रीति का कुछ भी ध्यान नहीं किया। वेदाज्ञा और एक ईश्वर की भक्ति, धर्म के ये दो अंग उनके सार्वजनिक थे। इस केन्द्र पर सारी जातियों को लाने के लिए वे आजीवन सचेष्ट रहे। समाज-संशोधन, समाज-सुधार और समाज-संस्कार के बिना किसी पुरानी जाति का सुधारना और सुदिनों के दर्शन लाभ करना सुगम काम नहीं। स्वामीजी अपने युग के सबसे बड़े समाज-सुधारक और संस्कारक थे। यद्यपि उनके समकालीन अनेक ऐसे सज्जन थे जो रात-दिन सुधार की धुन में निमग्न रहते थे, परन्तु स्वामीजी उन सब से अग्रसर थे। इनका कार्य स्थायी था; उत्थापना-मूलक नहीं किन्तु स्थापना रूप था। वे पुरातन आचारों को, प्राचीन व्यवहारों को, पुराने इतिहास को, पुरानी स्मृतियों को, अतीत काल के धर्म-कर्म को और पूर्व-समय की आर्य सभ्यता तथा मान-महत्व को माथे पर त्योरी डाल कर दूर नहीं फेंकते थे। उनमें नाक-मुँह सिकोड़ कर घृणा करने वाले सुधारक नहीं थे। वे प्राचीनता के नाम से दूर भागने वाले संस्कारक नहीं थे। सच पूछो तो वे प्राचीनता की दुर्गा के अनन्य प्रेम से पक्के पूजक थे। आर्यों का अतीत काल, उनको स्वर्णमय आचारों और सुवर्णमय विचारों से समावृत, सुवर्णस्वरूप प्रतीत होता था। आर्यों की पुरानी सभ्यता की अवहेलना वे सहन नहीं कर सकते थे। वे मानते थे कि आर्यों की प्राचीन सभ्यता पर काल के अ-

चीन चक्र ने चंचलता से चल कर उसे धूलिधूसर कर दिया है। उसके रंग-रूप तक को बदल डाला है। पर क्या हुआ? यह रत्न है, और हमारा ही चिन्तामणि रत्न है। हमारी पैतृक सम्पत्ति है। संशोधन के हाथों के साथ इसे धो-धो कर स्वच्छ कर लेना हमारा कर्तव्य कर्म है। जी-जीवन से इसे बचाये रखना हमारा धर्म्म है।

आर्य्यावर्तीय सम्प्रदायों और, आर्य्यों के प्राचीन रत्न को दूसरों की दृष्टि में घटाने वाले समझते थे। उनका निश्चय था कि नवीन मतों ने, महन्तों ने और मठों ने पुरातन काल की महत्ता पर मिट्टी डाल दी है। उसकी विशुद्धता को मिश्रित कर दिया है। जब तक मतों को मिटाया न जाय, आर्य्यों में परम धर्म्म का होना कठिन है।

महाराज सार्वजनिक हित के लिए ही हाथ में तर्क का तीर लेकर खण्डन के भूखण्ड में उतरे थे। रोगी के फोड़े-फुन्सियों का जब तक छेदन न किया जाय, उसका स्वस्थ होना दुष्कर है। खेत में से जब तक झाड़-झंखाड़ उखाड़ कर घास-फूस निकाल कर उसका शोधन न किया जाय, उसमें खेती का सुफलित होना असम्भव है। ऐसे ही किसी देश और जाति में से जब तक कुरीतियों को दूर न किया जाय और उसके आचार-विचार का संशोधन न हो, तब तक उसका उन्नति के उत्तम सोपान-पर पदार्पण करना महाकठिन है। सुधार का काम सर्वप्रिय तो नहीं, परन्तु सार्वजनिक हित से पूर्ण अवश्य हुआ करता है।

खण्डन-खड्ग का अवलम्बन करते समय श्रीमहाराज के महान् हृदय में पर-हित परिपूर्ण हो रहा था। इसका परिपुष्ट प्रमाण उनका अपना ही लेख है। स्वामीजी लिखते हैं, "यद्यपि आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में पाये जाते हैं, (परन्तु यदि) वे पक्षपात छोड़कर सर्व-तंत्र सिद्धान्त को स्वीकार करें, जो-जो बातें सबके अनुकूल हैं और सब में सत्य हैं उनको ग्रहण करके, और जो बातें एक दूसरे से विरुद्ध पाई जाती हैं उनको त्याग कर, परस्पर प्रीति से वर्तें-वर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित हो जाय। विद्वानों के विरोध ही से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर विविध दुःखों की वृद्धि और सुखों की हानि होती है। यह हानि स्वार्थी मनुष्यों को प्यारी है, परन्तु इसने सर्वसाधारण को दुःख-सागर में डुबो दिया।

जो सज्जन सार्वजनिक हित को लक्ष्य में धरकर कार्य्य में प्रवृत्त होता है, उसका विरोध स्वार्थी जन तत्परता से करने लग जाते हैं। उसके मार्ग में अनेक

प्रकार की विघ्न-बाधायें डालते हैं। परन्तु "सत्यमेव जयति नानृतम्; सत्येन पन्था विततो देवयानः" सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय होता है। सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत हो जाता है। इस दृढ़ निश्चय के अवलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन नहीं होते, सत्यार्थ-प्रकाश करने से कभी पीछे नहीं हटते।" *

स्वामीजी ने आर्य्यावर्त्तीय मतों से भिन्न मतों पर भी समालोचना की है। यह समालोचना उन मतों की मान्य पुस्तकों के आधार पर ही की गई है। उस में गहरी गवेषणा और अकाट्य युक्तियों से काम लिया गया है। वह आर्य धर्म्म की रक्षा और दूसरे धर्म्मों का अधूरापन दिखाने के निमित्त की गई है। यह सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं कि ऐसी और इससे भी कड़ी समालोचना बुद्ध देव से लेकर आज पर्यन्त सभी धर्म्मों के गुरुजन करते आये हैं। स्वामी दयानन्दजी अपने युग के सबसे बड़े समाज-संस्कारक थे। वे अद्वितीय सुधारक थे। उन्होंने करोड़ों मनुष्यों की हित-कामना से कार्य किया है। आर्य्य जाति के पुरुषों की सहस्रों वर्षों से संचित सम्पत्ति को सर्वनाश के मुख से निकाला है। समाज-चक्र को चलाने के लिए उसकी चूल में अपने प्यारे प्राणों को तैल बनाया है। सर्व-प्रियता की अपेक्षा सर्व-हित ही को सर्वोपरि माना है। ऐसे महापुरुष के सुधार-कार्य्य पर छोटे और अधमतम शस्त्रों से काम लेने वाले छुटभैया लोग सुधार-पद्धति से सर्वथा अजान हैं; संशोधन की रीति से निरे अबोध हैं।

महाराज ने दूसरे धर्म्मों की किस भाव से समालोचना की है, इसका वे स्वयं प्रकाश करते हैं। वे लिखते हैं—"यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इसके मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात किये बिना याथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसा ही बर्त्ताव दूसरे देश के मतवालों के साथ करता हूं। मेरा मनुष्यों की उन्नति का व्यवहार जैसा स्वदेशियों के साथ है वैसा ही विदेशियों के साथ है। सब सज्जनों को इसी प्रकार बर्त्तना योग्य है।

यदि मैं किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के मतवादी अपने मत का मण्डन और प्रचार करते हैं तथा दूसरे मतों की निन्दा और हानि करते हैं और उनका प्रचार बंद करा देते हैं, वैसा ही मैं भी करता। परन्तु ऐसा करना अमानुषी कर्म है। जैसे बलवान् पशु निर्बलों को दुःख देते और मार

* भाषा की अपेक्षा भाव पर अधिक ध्यान दिया गया है।

डालते हैं,ऐसा ही काम यदि मनुष्य-जन्म पाकर भी किया तो यह मानुषी स्वभाव से विपरीत है, पशुओं के सदृश है। जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहा जाता है और जो स्वार्थ-वश परहानि पर तुला रहता है वह तो मानों पशुओं का भी बड़ा बन्धु है।"

स्वामीजी महाराज ने सामाजिक सुधार में ब्रह्मचर्यावस्था पालन करना अत्यावश्यक बताया है। एक-एक दो-दो वर्ष के बालकों का विवाह करना वे देश के अधःपतन का प्रबल कारण मानते थे। उन्होंने कुरीतियों के निवारण में अति यत्न लगाया। उनके लेखों में पूर्ण युवावस्था के विवाह का विधान प्रबल प्रमाणों द्वारा किया गया है।

उन्होंने वर्णाश्रम-मर्य्यादा को गुणकर्म के अनुसार माना है। किसी जाति के जन का उत्तम तथा निकृष्ट होना, वे जन्म और नाम ही से नहीं मानते थे। उनके निश्चय में जैसे किसी के गुण-कर्म हैं वैसे ही वर्ण में वह परिगणित होना चाहिए। वे कहते हैं कि "जिस पुरुष में जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उसको उसी वर्ण का अधिकार देना चाहिए। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील हो जाते हैं।"

महाराज शूद्रों के सुधार के बड़े पक्षपाती थे। उन्हें भी सर्जन कर्त्ता की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि में समझते थे। चतुर्थ वर्ण से घृणा करना, उसे अस्पृश्य समझना, उनके निकट मनुष्य पदवी से गिरा हुआ कर्म है। जो लोग कुत्तों को छूते हैं, बिल्लियों से खेलते हैं, भैंसों को हाथ लगाते हैं, ऊंटों का स्पर्श करते हैं, घृणित जीव-जन्तुओं को भी छू लेते और अपने हाथ से जूता तक उतार देते हैं, वे मनुष्यों को अछूत समझें, उनसे दूर भागा करें, यह कितना अन्याय है, कितना अधर्म्म है, यह बात सहज से समझी जा सकती है। महाराज शूद्रों को वेदाधिकार देते हुए लिखते हैं, "जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल,अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं वैसे ही वेद भी सब मनुष्यों के लिए प्रकाशित किये हैं।"

श्री स्वामीजी ने स्त्री जाति के सुधार का भी परम कार्य्य किया है। शास्त्र-रीति से उनको वेदाधिकार दिया है। महिलाओं की महत्ता को जितना उन्होंने वर्णन किया है उतना किसी आचार्य ने नहीं किया। वे चाहते थे कि कुछ-एक विदुषी स्त्रियां मिल कर मातृ-मण्डल निर्माण करें और फिर मातृ-शक्ति को सर्वगुणसम्पन्न बनायें। उन्होंने श्रीमती रमा को परोपकार के लिए जीवनोत्सर्ग की

प्रबल प्रेरणा भी की, परन्तु सफलता न हुई। श्रीमती रमाबाई इस परम कर्म को करने का साहस न कर सकी। महाराज स्त्रियों का महत्व वर्णन करते हुए लिखते हैं—"स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य धारण और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए। भारत की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि देवियां शास्त्रों को पढ़ कर पूरी विदुषी हुई थीं। देखो, आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद, युद्ध-विद्या अच्छे प्रकार जानती थीं। यदि ऐसा न होता तो कैकेयी आदि स्त्रियां दशरथादि राजाओं के साथ संग्राम में कैसे जा सकतीं? स्त्रियों को व्याकरण, धर्म्म, वैद्यक, गणित और शिल्पविद्या अवश्य सीखनी चाहिए।"

महाराज ने शिक्षा-सुधार पर भी बड़ा बल दिया है। वे जानते थे कि जब तक सर्वसाधारण में सुशिक्षा का प्रचार नहीं होता तब तक उन्नति नहीं हो सकती। करोड़ों मनुष्यों को एक उद्देश्य पर लाने के लिए शिक्षा सबसे ऊंचा साधन है। वह शिक्षा भी धर्म्म-सहित और जातीय होनी चाहिए। शिक्षा पर लिखते हुए वे कहते हैं, "जब पांच वर्ष का लड़का-लड़की हों तब उनको देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराना चाहिये। अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी अभ्यास कराना उचित है।"

स्वामीजी ने ही सबसे पहिले शिक्षा के आवश्यकीय सिद्धान्त को उद्घोषित किया। वे अनिवार्य्य शिक्षा के पक्षपाती थे और नहीं चाहते थे कि कोई भी मनुष्य लिखने-पढ़ने के ज्ञान से शून्य रह जाय। अनिवार्य शिक्षा पर लिखते हुए वे कहते हैं कि "इसमें राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़कों या लड़कियों को घर में न रख सके। अवश्यमेव उन्हें पाठशाला में भेजे। यदि न भेजे तो वह दण्डित किया जाय।"

श्री स्वामीजी महाराज से भारत-वासियों की दरिद्र दलित दशा छिपी न थी। उन्होंने अपने विस्तृत पर्य्यटन में अकाल-पीड़ितों की करुणा-जनक अवस्था को अपनी आंखों देखा था। उनके हृदय-वेधक रोदन को अपने कानों सुना था। वे जानते थे कि भारतीय प्रजा के सहस्रों जन, निर्जीव यन्त्र की भान्ति, दिन भर परिश्रम करने पर भी अपने बाल-बच्चों के मुंह में पूरा ग्रास नहीं डाल सकते। ऐसे कितने ही परिवार हैं जो अपने पेट की निरन्न पीड़ा मिटाने में निपट निरुपाय हो रहे हैं।

भोज्य पदार्थों की महार्घता दिनोंदिन बढ़ती ही चली जा रही है, जिससे भिखारियों का कातर क्रन्दन विराम-विश्राम-विहीन होने लग गया है।

श्री स्वामीजी यह भी जानते थे कि भारत-भूमि रत्न-गर्भा है, सुजला, सुफला है। ऊसर नहीं, किन्तु उर्वरा और सस्यशालिनी है। इस पर आहार-योग्य नाना धान्य उत्पन्न होते हैं। इस पर सुस्वादु फलों की त्रुटि भी नहीं है। भोजन, आच्छादन और व्यवहार के योग्य सब वस्तुयें यहां उत्पन्न होती हैं। तो फिर माता वसुन्धरा अपनी सन्तान का लालन-पालन क्यों नहीं कर सकती? इसके लाडले लड़के-बाले भूख के मारे इसकी गोद में बैठे बिलाप-विलाप कर धाड़-धाड़ आँसू क्यों रो रहे हैं?

ऊपर के प्रश्नों का उत्तर महर्षि ने अच्छी तरह समझ लिया था। उनकी दिव्य दृष्टि से निन्य के अकाल के कारणों का छुपे रहना सर्वथा असम्भव था। वे जानते थे कि भूमि की उपज में भेद नहीं पड़ा, किन्तु कुछ वृद्धि हो गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर भी यहां भूख है और दुर्भिक्ष है, तो इसका कारण शिल्पकला का भारी अभाव है। आवश्यकीय व्यवहार की वस्तुयें यहां निर्मित नहीं होतीं। विदेशी वस्तुओं की भरमार से यहां के लाखों परिश्रमी निकम्मे हो रहे हैं। उनके पास आजीविका का कोई उपाय नहीं रहा। पहले साधारण परिस्थिति के मनुष्य से लेकर महाराजों और राजेश्वरों तक इसी देश के बने वस्त्रों से वेश-विन्यास करते थे, यहीं के रत्न-जटित और मणि-मुक्ता-खचित आभूषणों से विभूषित होते। उनके आकाश-भेदी भवन इसी देश के कृतकर्म्मा विश्वकर्म्माओं के द्वारा बनाये जाते। उनको सुसज्जित करने के लिए भारत को चित्रशालाओं के चित्रकारों ही से अद्भुत चित्र प्राप्त हो जाते। परन्तु आज सब कुछ विपरीत हो गया है।

महाराज, दूसरे वक्ताओं की भाँति, अपने भाषण को व्याख्यान-भवन की खुली खिड़कियों से पार कर देने में ही अपने देश-हित की सम्पूर्ण सफलता नहीं मानते थे। वे परम कर्म-योगी थे, इस कारण क्रियात्मक कर्म करना चाहते थे। उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में, उनके धर्म-प्रचार और समाज-सुधार आदि उदात्त उद्देश्यों में, भारतवर्ष में शिल्पकला का विस्तारित करना भी सम्मिलित हो गया था। वे इसके लिए पूर्ण प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने अपने पश्चिमी शिष्य 'वीस' महाशय को लिखा था कि आप भारतवासियों को शिल्प-कला सिखाने का प्रबंध कीजिए। महाराज के पत्र के उत्तर में जर्मन देश निवासी श्रीमान् जी.ए. वीस ने

जो पत्र लिखे उनके कुछ-एक अंश यहां उद्धृत किए जाते हैं। इनसे पाठकों को पता लग जायगा कि महाराज स्वदेश-वस्तु-प्रचार में कितने सचेष्ट और सच्चो रीति से सचेष्ट थे। अपने २१ जून सन् १८८० के पत्र में श्रीमान् योस महाशय लिखते हैं, "जो-जो विषय आपके विद्यार्थियों के प्रयोजन के लिए सबसे अधिक उपयोगी और आवश्यक प्रतीत होते हैं वे सब हम उन्हें सिखा देंगे। साधारण विद्यार्थियों की अपेक्षा, जिनके सामने ऐसा कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता, हम आपके विद्यार्थियों की विशेष शिक्षा पर अधिक ध्यान देंगे। कृपयालि खिए कि इस प्रस्ताव के विषय में आपकी क्या सम्मति है। इस विषय में खुलकर अपने विचार लिखिये। हम ऐसे प्रबन्ध करने के लिये सदा उद्यत हैं जो आपके देश-वासियों के लिए और हमारे लिए सन्तोषजनक हों।" उसी सन् की ३० जून को वे फिर लिखते हैं, "यदि आप दूरदर्शिता से आरम्भ करें और प्रारम्भ ही में सीमातीत शीघ्रता से काम न लें, तो मैं समझता हूं कि कालक्रम में भारत की मण्डी में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराभव कर देने का आपके पास अच्छा अवसर है। क्योंकि आपको कुछ-एक ऐसी सुविधायें प्राप्त हैं जो उनके पास नहीं हैं।

एक तो आपके देश में दैनिक वेतन सस्ता है। दूसरे, आपके देश में सूक्ष्म काम को कुशलता से करने के, साधारणतः यूरोपियनों की अपेक्षा, अधिक प्रवीण परिश्रमजीविजन मिल जाते हैं।

तीसरे, बहुत से यूरोपियनों की अपेक्षा आप लोगों का आचार अच्छा है। आप अपने ग्राहकों को सस्ती और निकम्मी वस्तुयें दे उनका रुपया नहीं बटोरेंगे। आप जीवन में, वाणिज्य में और कला-कौशल में निर्दोष नियम का पालन करेंगे।

आप जब चाहें अपने विद्यार्थियों को हमारे पास भेज दें। जितना शीघ्र भेजें, उतना ही उत्तम है। क्योंकि हम उनको उनके अध्ययन के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के अनुसार काम में लगाने के लिए तत्पर हैं।"

उन्होंने फिर लिखा, "मेरे इस पत्र का उद्देश्य आपको इस बात की सूचना देना है कि मैंने आपके नवयुवक देशबन्धुओं को ऐसे स्थानों में भेजने के विषय में और भी अधिक पूछ-ताछ की। वे विविध कलायें और व्यवसाय अत्यन्त क्रियात्मक और वाचनिक रीति से सीख सकते हैं। हम आपके अनुयायी आर्य विद्यार्थियों को सारी उपयुक्त कलायें और वस्तुयें सिखलाने के लिए अपनी रक्षा और देख-रेख में लेने के लिए बड़े उत्सुक हैं। यहां वे इन कलाओं को स्वदेश-

अथवा किसी अन्य देश की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से सीख सकेंगे। अपने उद्देश्य में सफल होने और गौण तथा निष्फल बातों में रत होने, अथवा जिन बातों को वे जानना और सीखना चाहते हैं उनकी समीचीन व्याख्या और उपदेश के न मिलने से अपना बहुमूल्य समय नष्ट न करने के लिए ऐसे विद्यार्थियों को सब से बढ़ कर ठीक पथप्रदर्शकों का प्रयोजन है, जो अपनी पूरी योग्यता से उन्हें मार्ग दिखावें, उन्हें परामर्श दें और उन्हें पढ़ावें। आर्य्य विद्यार्थियों को मैं यही काम देना चाहता हूं। उनकी ओर मैं, प्राण और आत्मा में, एक आध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा, आकर्षित अनुभव करता हूं। मैं अपने नवयुवक भारतीय मित्रों की देख-रेख और विकास पर पूर्ण ध्यान दूंगा। उनको मैं किसी दूसरे की देखरेख और रक्षा में कदापि नहीं छोड़ूंगा, इसके लिए चाहे मुझे अपने यूरोपीय विद्यार्थियों की रक्षा और शिक्षा के निमित्त दूसरों को भी नियुक्त करना पड़े।"

'बीस' महाशय ने ३० सितम्बर १८८० को फिर लिखा, "आपके पुत्र हम से भौतिक कलायें और अन्य विद्यायें तथा शिल्प-कर्म सहर्ष सीख सकते हैं। हमें आपकी उन्नति का डाह नहीं है।

मैं निर्धन माता-पिताओं के पुत्र लेने और उनको अपने सर्वोत्तम पुरुषों से शिक्षा दिलाने के लिए समुद्यत हूं। कालान्तर में ज्योंही हमारी आय इस योग्य हो जायगी, जब आप कहेंगे, तो मैं आपके कुछ दरिद्र सुधी विद्यार्थी ले लूंगा। उनको बहुत थोड़े शुल्क पर अथवा बिना शुल्क शिक्षा दूंगा और उनकी उन्नति के लिए सहायता दूंगा।"

श्रीमान् बीस के पत्रों के ऊपर दिये अंशों से भली-भाँति प्रकाशित होता है कि महाराज भारत में शिल्प-कला का विस्तार करने के लिए बड़ा भारी उद्यम कर रहे थे। वे विदेश में कला-कौशल सीखने के लिए एक मण्डली भेजना चाहते थे। उन्होंने लाहौर आदि नगरों में अपने प्रेमियों को पत्रों द्वारा प्रेरित भी किया कि शिल्प सीखने के लिए विदेश जाइये। परन्तु इस उद्देश्य को क्रियात्मक बनाने के लिये द्रव्य और मनुष्य, दोनों वस्तुएँ चाहिएँ। इन दोनों के अभाव को दूर करने के लिये वे रात-दिन यत्न करते थे। यदि काल की गति उनके मार्ग में बाधक न होती तो वे कालान्तर में इस कार्य में अवश्यमेव कृतकार्य हो जाते। भारत की हित-कामना के उपयुक्त परमोपयोगी उद्योग को देखकर, यह बात ,साहस-

पूर्वक कही जा सकती है कि स्वामी दयानन्दजी पहले महापुरुष थे, जिन्होंने देश-दशा सुधारने के लिए, इसकी नौका को भूख के भयङ्कर भंवर से निकालने के लिये और स्वदेश-बन्धुओं का दारिद्र्य धोने के लिये पूर्ण पुरुषार्थ किया। स्वामीजी जहां लोगों की आत्मिक भूख-प्यास को वेदोपदेश द्वारा दूर करते थे, वहाँ उनकी शारीरिक क्षुत्पिपासा को उपशम करने के लिए शिल्प-शिक्षा के सुदृढ़ सूत्रपात भी कर रहे थे। वे सजग थे। उनकी दृष्टि व्यापिनी थी। वे इस मर्म को जानते थे कि कबूतर की तरह आंखें मूंद लेने से भूख की बिल्ली दूर नहीं हो सकती। निरे कूपमण्डूक बने रहने से हितसाधित नहीं होता।

उस महापुरुष के माहात्म्यों में हम प्रथम पद एक निराकार ईश्वर के पूजन को देते हैं। हमारे पास इतिहास-सम्बन्धी पुष्ट प्रमाण हैं कि जब से आर्य्य-धर्म में मत-भेद हुए तब से स्वामीजी महाराज के बिना ऐसा एक भी आचार्य्य नहीं हुआ जिसने उनकी भांति एकेश्वरवाद का ऐसी निर्दोष रीति से वर्णन किया हो।

महाराज का दूसरा महत्व वेद-विश्वास है। यद्यपि आर्य धर्म के मौलिक मन्तव्यों से निकली हुई साम्प्रदायिक शाखाओं में वेद मान्य माना जाता है, परन्तु साम्प्रदायिक मतों के मन्तव्य-कर्त्तव्य वेद से उतना ही भेद रखते हैं जितना कि दिन से रात और धूप से छाया। स्वामीजी महाराज केवल वेद पर आश्रित थे, वे उससे बाहर जाना जानते ही न थे।

शास्त्र-रीति से स्त्री-जाति को स्वातंत्र्य देना, उनको वेदाधिकार प्रदान करना स्वामीजी का तीसरा माहात्म्य है। उनसे पूर्व आचार्य्यों ने ऐसी उदारता कभी नहीं दिखाई।

श्री महाराज का चतुर्थ माहात्म्य शूद्रों का उद्धार है। भील, कोल और पैरिहा आदि लाखों मनुष्य आर्यों में अछूत समझे जाते हैं। ऐसे कुलीन जन भारत में पाये जाते हैं जो इनकी छाया भी अपने शरीर पर नहीं पड़ने देते। ऐसे कुत्सित व्यवहार से जो हानियां हो रही हैं, उन्हें सभी जानते हैं। श्री स्वामीजी ने सर्व प्रकार के शूद्रों को आर्य जाति का अङ्ग वर्णन किया है। उन्होंने अपने नूतन संस्कार में इस भारी भूल को, घृणित भेद-भावना को और तुच्छाभिमान को निकाल डाला है, अस्पृश्य का विचार उठा दिया है। आर्य धर्म्म में जब से आचार्य-चक्र चला है, सम्प्रदायों की जड़ से स्थापना हुई है और जब से समाज-संशोधक

सन्तजन उत्पन्न होते आये हैं,तब से यह अनुपम पदवी एक स्वामी दयानन्दजी को ही प्राप्त हुई है कि उन्होंने दूसरे धर्मों और जातियों के जनों के लिए वेद-मर्यादा से आर्य-धर्म का द्वार खोल दिया। अब चाहे जो आर्य-धर्म में प्रवेश करे, उसके मार्ग में प्रतिबन्धक बात कोई भी नहीं है। इतिहास-माला में यह माहात्म्य सदा सम्मान से स्मरण किया जायगा।

पुरानी पद्धति के पण्डित लोग लोक-हित के कार्यों से विरक्त हो जाते हैं। निरे नाम के परमार्थ पर घोटा लगाने वाले संसार-सुधार में कुछ भी समय नहीं देते, प्रत्युत व्यावहारिक कर्मों से घृणा करने लग जाते हैं। कुछ-एक इने-गिने सन्त जन अवश्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने शिष्यों को समाज-रक्षा के लिए प्रेरित किया। परन्तु जिस प्रकार संसार का उपकार कर्म करना स्वामीजी ने आर्य्यसमाज के कर्त्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य स्थापित किया, देश-हित के लिए दौड़धूप की और एक बड़े भारी परिमाण में शिल्पकला का उद्योग करना आरम्भ किया, इस प्रकार इस दिन तक किसी धर्म्माचार्य्य ने नहीं किया। उनका यह उद्योग उनके माहात्म्य को प्रख्यात करता है।

वैदिक काल के अनन्तर आर्यावर्त्त में जितना धार्मिक साहित्य संचित हुआ है, उसमें निष्क्रियवाद को अति प्रधानता दी गई है। निष्क्रियता को ही एक प्रकार से धर्म्म बताया गया है। ऐसे साहित्य में कर्म-काण्ड की इतनी अवहेलना की गई है कि इसे अज्ञानियों के बांधने के लिए एक खूंटा वर्णन किया है। कर्म-रूप धर्म्म का खण्डन करते हुए कई ज्ञानी प्रवर परुष, परुष भाषा में कर्म-काण्डियों को पशु तक कह गये हैं।

हम मानते हैं कि इस निष्क्रियवाद के चरण-चिह्न महाभारत-काल में ही चमकने लग गये थे। इनको मिटाने के लिये उस समय के परम कर्मयोगी श्री कृष्णदेव ने पूर्ण बल लगाया था। वे उस समय मिटे तो नहीं, किन्तु ढाई सहस्र वर्ष के पश्चात् ऐसे चमके कि उन्होंने सारे साहित्य को चकाचौंध लगा दी। बुद्ध महाराज के प्रचार ने इस अकर्मण्यतावाद को अति पुष्ट किया। वही समय निष्क्रियवाद का यौवन-युग कहा जा सकता है।

निष्क्रिय धर्म का पालन कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता। क्रिया के किये बिना किसी की भी प्राण-यात्रा नहीं चल सकती। अपने विचारों को प्रकट करने के

लिए भी क्रिया की आवश्यकता होती है। और तो और, निष्क्रियवाद धर्म्म है, ऐसी समझ, ऐसा ज्ञान और ऐसी धारणा भी सूक्ष्म क्रिया ही से उत्पन्न होती है।

सृष्टि में क्रिया स्वभाव से ही हो रही है। प्रत्येक परमाणु गतिमान् है। यदि एक भी अणु एक पल के लिए निष्क्रिय हो जाय, तो सारा ब्रह्माण्ड रुक जाय। उसी क्षण में उसका सर्वनाश हो जाय। हमारे शरीर इस ब्रह्माण्ड का एकांश-मात्र हैं। जो नियम समष्टि में काम कर रहा है वही इस व्यष्टि देह में भी कार्य करता है। इस कारण गतिशील संसार में निष्क्रियता का स्वप्न देखना भी सर्वथा असम्भव है।

निष्क्रियता धर्म्म नहीं है। धर्म्म तो कर्मात्मक है। वह पुरुषार्थ से उपार्जित है। क्रिया से निष्पन्न होता है। इसलिए ज्ञानियों ने धर्म्म का लक्षण प्रेरणा वर्णन किया है। ऐहिक और पारलौकिक सुख-सिद्धि का साधन बताया है। स्मार्त्त धर्म्म के व्याख्याता भगवान् मनु भी धर्म्म के लक्षण क्रिया-रूप ही वर्णन करते हैं।

यदि अक्रिया-रूप धर्म हो तो भेड़ें और बकरियाँ कभी असत्य भाषण नहीं करतीं। ममियाने के बिना वे दूसरा कोई शब्द नहीं बोलतीं। तब तो वे सत्यवादियों में सर्वशिरोमणि हो जायँ। भोले-भाले मृग मनुष्य के पांव की आहट सुन कर कोसों दूर भाग जाते हैं। कभी किसी को हिंसा नहीं करते। परन्तु कोई भी अकर्मवादी उनको परमदयालु नहीं मानता। एक अंधा, बहिरा मूक और विकल-शरीर मनुष्य वन में जीवन के दिन काटता हुआ न अशुभ सुनता है और न अशुभ देखता है, न अशुभ बोलता है और न अशुभ करता है, परन्तु वह मुनि नहीं कहला सकता। उन्मत्त अथवा मूर्छित मनुष्य अशुभ सङ्कल्प-विकल्प से शून्य तो होता है, पर वह महात्मा नहीं माना जाता। गहरी नींद में कोई अशुभ क्रिया नहीं होती, परन्तु वह समय पुण्य उपार्जन का समय नहीं समझा जाता।

अशुभ विचारों को और अशुभ आचारों को, शुभ विचारों और शुभ आचारों द्वारा धक्का देकर भीतर से निकाल देना, उनको अपने निकट न आने देना, शुभ सम्पत्ति सम्पादन का सर्वोत्तम साधन है। यह साधन क्रिया-जन्य है। यही धर्म है।

आर्यों में जब से निष्क्रियवाद ने घर किया है तभी से इनका विनिपात होना आरम्भ हुआ है। जातियों में जो नर-रत्न होते हैं वे प्रायः धार्मिक भी हुआ करते

हैं। समाज के लिए उनका जीवन अत्यन्त उपयोगी होता है। उनका समाज से पृथक् हो जाना समाज को अवनत करता है। निष्क्रियवाद के निष्ठावान् सज्जन जन-समूह से दूर भागते हैं। उनको समाज-संशोधन, समाज-सुधार और समाज-संरक्षण कर्त्तव्य-कर्म ज्ञात नहीं होते। वे उलटे इन कर्म्मों से घृणा करने लग जाते हैं। यही कारण है कि अकर्मवाद की पोषक पुस्तकों में पुरुषार्थ-धर्म का निरादर है। गृहस्थ को पाप और बंधन वर्णन किया है। माता-पिता, पुत्र-कलत्र आदि सम्बन्धों को दुःख का कारण माना है। क्षात्र धर्मादि उत्तम धर्म्मों को प्रशंसित नहीं समझा गया। आर्य प्रजा के अनेक दीप्तिमान रत्न इसी अकर्मवाद की उलझन में उलझ कर अपनी उपयोगिता नष्ट कर गये हैं। उनकी उज्ज्वल कान्ति से किसी ने कुछ भी लाभ नहीं उठाया।

इसी निष्क्रियवाद की बेल के फल का नाम त्यागवाद है। त्यागी कहलाने में लोग जब से मुक्ति और महत्ता मानने लगे हैं तब से आर्य्य-जाति में नाना अनिष्टों की, दुःखों की और अभावों की सृष्टि हुई है। यहां लाखों त्यागी वास करते हैं। उनकी आँखों के सामने, उनकी कुटियाओं के पास, उनकी कन्दराओं के निकट और उनके आश्रमों के समीप दिन-दोपहर में उनका धर्म-धन लुटा जा रहा है। लोग अपना पुरातन धर्म्म परित्याग कर रहे हैं। अनाथों की बिलबिलाहट और दुखी प्रजा का करुणक्रन्दन हो रहा है। इसे देख कर पराये भी पिघल गये हैं। परन्तु इधर ये इतने सर्वत्यागी हैं कि दुर्दिन-दलित दरिद्र बन्धुओं पर दूर खड़े दया दिखाने में भी आनाकानी करते हैं। इस संकीर्णता का प्रबल कारण है। यहां के त्यागियों ने त्याग के अर्थ छुआछूत समझ रक्खे हैं। इसका तात्पर्य घृणा करना, पृथक् हो जाना, संकुचित बनना और पीड़ित प्राणियों को भी क्रियात्मक सहायता न देना निकाला है।

सच्चा त्याग वही है जिसमें घृणा का त्याग है, वैर-विरोध का त्याग है, अभिमान का त्याग है। दूसरे को सुख देने के लिए, परोपकार करने के लिए, अपने प्राणों तक की भी ममता न करना सच्चा त्याग है। यह परम त्याग ईश्वर-भक्ति और प्रजा-प्रेम से उत्पन्न होता है। भक्ति और प्रीति पुरुषार्थ और शुभ क्रिया के बिना प्राप्त नहीं होती।

स्वामीजी महाराज ने समाज-संस्कार करते समय क्रियात्मक धर्म्म का

निरूपण किया है। उन्होंने कई स्थलों में कहा है कि पर-हानि पाप और परोपकार पुण्य है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में गृहस्थादि आश्रमों के और चारों वर्णों के कर्मों को मोक्ष-धर्म्म के साधन वर्णन किया है।

महाराज ने वेद-भाष्य के भावार्थ में पुरुषार्थ के लिये अनेक महत्व-सूचक वाक्य लिखे हैं। वे ऋग्वेद २-३७-२ में वर्णन करते हैं कि 'किसी को उद्यम के बिना न रहना चाहिये'। ऋग्वेद १-४-७ में लिखा है कि 'ईश्वर पुरुषार्थी मनुष्य पर कृपा करता है, आलस्य करने वाले पर नहीं। जब तक मनुष्य ठीक-ठीक पुरुषार्थ नहीं करता तब तक ईश्वर की कृपा का भागी नहीं होता और वह अपने किये कर्मों से प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ कभी नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को पुरुषार्थी होकर ही ईश्वर की कृपा का भागी होना चाहिये।' फिर ऋ० २-४-१ में लिखा है कि 'जो मनुष्य पावक के समान पवित्र, जल के समान कोमल, सिंह के समान पराक्रम करने वाले और वायु के समान बलिष्ठ होकर अन्याय को निवृत्त करें, वे समस्त सुखों को प्राप्त हों।'

महाराज की महत्ता का यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वे धर्म्म के मर्म का और उसके तात्त्विक स्वरूप का उपदेश करते थे। वे ईश्वर-भक्ति और प्रजानुराग में जीवन तक त्याग देने को सच्चा त्याग निरूपण करते थे।

स्वामीजी महाराज पहले महापुरुष थे जो पश्चिमी देशों के मनुष्यों के गुरु कहलाये; जिनको अनेक पश्चिमी मनुष्य गुरु, आचार्य और धर्म-पिता मानते थे।

जिस युग में श्री स्वामीजी हुए हैं उससे कई वर्ष पहले से आज तक ऐसा एक ही पुरुष हुआ है जो विदेशी भाषा नहीं जानता था, जिसने स्वदेश से बाहर एक पैर भी नहीं रक्खा था, जो स्वदेश के ही अन्न-जल से पला था, जो विचारों में स्वदेशी था, आचारों में स्वदेशी था, भाषा और वेश में स्वदेशी था, परन्तु वीतराग और परम विद्वान् होने से सबका भक्ति-भाजन बना हुआ था, जिसका देशी-विदेशी सभी मान करते थे, ऊँचे से ऊँचे विदेशी पदाधिकारी और स्वदेशी राजे-महाराजे जिसका अति सन्मान करते थे। वह महापुरुष महर्षि दयानन्द ही था।

महर्षि को छोड़कर भारत के इस युग में ऐसा एक भी पुरुष नहीं हुआ जिसने विदेशी भाषा न सीखी हो अथवा विदेश-यात्रा न की हो और फिर स्वदेश में सम्मानित हुआ हो। शिक्षक दल के जितने नेता आज तक हो चुके हैं उन

सब पर विदेशी भाषा अथवा विदेश-गमन का ठप्पा लगा हुआ है। उसी के प्रभाव से देशी और विदेशी बाज़ार में उनका नाम तक बिका है। परन्तु स्वामीजी महाराज पांव से लेकर मस्तक तक, भीतर और बाहर से, पवित्र स्वदेशी थे। वे अपने ही गुण-ज्ञान से बड़े बने थे। किसी के कंधे पर बैठ कर ऊंचे नहीं हुए थे। जितना मान देशियों और विदेशियों ने उनका किया है, उतना आज तक किसी भी भारतवर्षीय मनुष्य का नहीं हुआ।

महाराज निरपेक्षभाव से समालोचना किया करते। सब मतों पर टीका-टिप्पणी चढ़ाते। परन्तु इतना करने पर भी उनमें कोई ऐसी अलौकिक शक्ति और कोई ऐसे गुण थे कि जिनके कारण वे अपने समय के सारे बुद्धिमानों के सम्मान-पात्र बने हुए थे। मुसलमान दल के सर्वोपरि नीति-निपुण नेता श्रीमान् सर सैयद अहमदखाँ महाशय अन्तरात्मा से महाराज के अनुगामी थे। पादरी स्काट ऐसे सज्जन उनको अति आदर देते थे। स्थान-स्थान पर उनको ईसाई मन्दिरों में उपदेश देने के लिए आमन्त्रित किया जाता। लाहौर में तो प्रतिष्ठित मुसलमान सज्जनों ही ने अपने मकान देकर उनका आतिथ्य किया। श्रीयुत केशवचन्द्रसेनजी उनसे अपार प्रेम करते थे। महात्मा देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उनको श्रद्धापूर्वक सम्मान दिया। महामति गोविन्द रानडे तो उनकी भक्त-माला के एक आभायान् मोती थे। सभी प्रान्तों के गण्य-मान्य सज्जन उनके चारु-चरणों में बैठने में गौरव मानते थे। तीव्र समालोचक होते हुए इतनी विस्तृत प्रियता का माहात्म्य, दूसरे किसी व्यक्ति को कदाचित् प्राप्त हुआ होगा।

महाराज के उज्ज्वल जीवन की घटनाओं को पाठ करते समय हमें तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आज तक जितने भी महात्मा हुए हैं उनके जीवनों के सभी समुज्वल अंश दयानन्द में पाये जाते थे। यह गुण गुण ही न होगा जो उनके सर्व-गुण-सम्पन्न स्वरूप में न विकसित हुआ हो। महाराज का हिमालय की चोटियों पर चक्कर लगाना, विन्ध्याचल की यात्रा करना, नर्मदा के तट पर घूमना, स्थान-स्थान पर साधु-सन्तों के शुभ दर्शन और सत्संग प्राप्त करना, मङ्गलनाम श्रीराम को स्मरण कराता है। कर्णवास में कर्णसिंह के बिजली की भांति चमकते खड्ग को देखकर भी महाराज नहीं कांपे; तलवार की अतितीक्ष्ण धारा को अपनी ओर झुका हुआ अवलोकन करके भी निर्भय बने रहे और साथ ही गम्भीर भाव से कहने

लगे कि आत्मा अमर है, अविनाशी है, इसे कोई हनन नहीं कर सकता। यह घटना और ऐसी ही अन्य अनेक घटनायें, ज्ञान के सागर श्रीकृष्ण को मानस नेत्रों के आगे मूर्तिमान बना देती हैं। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो वे ही बोल रहे हैं।

अपनी प्यारी भगिनी और पूज्य चचा की मृत्यु से वैराग्यवान् होकर वन-वन में कौपीन-मात्रावशेष दिगम्बरी दशा में फिरना, घोरतम तपस्या करना और अन्त में मृत्युंजय महौषध को ब्रह्म-समाधि में लाभ कर लेना, महर्षि के जीवन का अंश बुद्धदेव के समान दिखाई देता है।

दीन-दुःखियों, अपाहजों और अनाथों को देखकर श्रीमद्दयानन्दजी क्राइस्ट बन जाते हैं। धुरन्धर वादियों के सम्मुख श्री शंकराचार्य का रूप दिखा देते हैं। एक ईश्वर का प्रचार करते और विस्तृत भ्रातृ-भाव की शिक्षा देते हुए भगवान् दयानन्दजी श्रीमान् मुहम्मदजी प्रतीत होने लगते हैं। ईश्वर का यशोगान करते हुए स्तुति-प्रार्थना में जब प्रभु दयानन्द इतने निमग्न हो जाते हैं कि उनकी आँखों से परमात्म-प्रेम की अविरल अश्रुधारा निकल आती है, गद्गद्-कण्ठ और पुलकित-गात हो जाते हैं, तो सन्तवर रामदास, कबीर, नानक, दादू, चेतन, और तुकाराम का समय बँध जाता है। वे सन्त-शिरोमणि आन पड़ते हैं। आर्यत्व की रक्षा के समय, वे प्रातःस्मरणीय प्रताप, श्री शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंहजी का रूप धारण कर लेते हैं।

महाराज के जीवन को जिस पक्ष से देखें, वह सर्वाङ्ग सुन्दर प्रतीत होता है। त्याग और वैराग्य की उनमें न्यूनता नहीं है। श्रद्धा और भक्ति उसमें अपार पाई जाती है। उस में ज्ञान अगाध है। तर्क अथाह है। वह समयोचित मति का मन्दिर है। प्रेम और उपकार का पुञ्ज है। कृपा और सहानुभूति उस में कूटकूट कर भरी पड़ी है। वह ओज है, तेज है, परम प्रताप है, लोक-हित है, और सकल कला-सम्पूर्ण है।

सत्यानन्द

ओ३म्

श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश

वैराग्य काण्ड

पहला सर्ग

स्वामी दयानन्दजी एक आदर्श संन्यासी थे। उत्तम कोटि के संन्यासी-जन कभी अपनी आश्रम-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। इसीलिये स्वामी दयानन्दजी पूर्वाश्रम का अपना और अपने बन्धुओं का नाम-निर्देश करने में मौन ही रहा करते थे। वे गुर्जर देश में गये। काठियावाड़ में भी पधारे। राजकोट में उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये, परन्तु पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों का नाम और ग्राम नहीं बताया।

माता-पिता आदि परिवार-परिजन का परिचय देने में वे इसलिये सकुचाते थे कि गुर्जर-देश-वासियों में मोह विशेषता से होता है। पता लगने पर बन्धुवर्ग का बार-बार मिलना, घरेलू काम-धन्धों की चर्चा चलाना और संयोग-वियोग की वार्त्ता बताना—ये कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे समदृष्टि संन्यासियों में भी आत्मीय जनों के लिये स्नेह-स्रोत का स्राव करने लग जाना सम्भावित होता है। ऐसा होने से उस महापुरुष के महोपकारार्थ धारण किए महाव्रत में बड़ी बाधा पड़ जाने की आशङ्का थी।

भक्त अल्काट आदि सज्जनों ने उनसे साग्रह प्रार्थना की कि भगवन्! भारत, अमेरिका और योरुपनिवासी आपके शिष्य और सेवक आपके मङ्गलमय जीवन की मङ्गल-कथा जानना चाहते हैं। कृपया अपने जीवन के मुख्य-मुख्य

अंश लिखकर हमारे पत्र 'थियासोफिस्ट' में प्रकाशित कराइए। महाराज ने उनके कथन को स्वीकार किया और अपने जीवन के कुछ-एक मोटे-मोटे भाग लिखकर 'थियासोफिस्ट' मे छपने के लिये भेजे। उनमें उन्होंने अपने जन्म-देश का इतना ही वर्णन किया है कि मेरा जन्म मछुकांटा नदी के किनारे मोरवी-राज्य के एक कस्बे मे ब्राह्मण कुल में सम्वत् १८८१ में हुआ था। मेरे वंशीय औदीच्य ब्राह्मण हैं। मेरे पिता की पुष्कल भूमिहारी थी। उनको मोरवी-राज्य से अधिकार भी प्राप्त थे। वे अच्छे सत्ताधारी थे और प्रबन्ध को स्थिर रखने के लिए कुछ सैनिक भी रखते थे।

प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय धर्मवीर श्री लेखरामजी अपनी खोज के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे थे कि महाराज का जन्म-स्थान काठियावाड़ देश में मोरवी नगर है। परन्तु श्री देवेन्द्रनाथजी ने राजसहायता से ६ मास तक परिश्रम करके यह निश्चित परिणाम निकाला कि श्री स्वामी दयानन्दजी का जन्म-स्थान मोरवी राज्य में टंकारा ग्राम है। उनके पिता का [illegible] था। कर्षनजी बड़े भूमिहार थे और लेनदेन का भी काम करते थे। कर्षनजी के ज्येष्ठ पुत्र (दयानन्द) का नाम मूलजी था; मूलजी को लोग दयालजी भी कहकर पुकारा करते थे। अध्यापक श्री रामदेवजी ने भी अपनी ढूँढ-खोज से श्री देवेन्द्रनाथ मुकर्जी के निश्चय ही को सुनिश्चित किया है।

उक्त परिणाम को इस समय प्रमाणरूप मानकर यह कहना पड़ता है कि *श्री दयानन्दजी का जन्म एक परिवर्तन के युग में हुआ।* *उस समय भारत में* बड़ा भारी विप्लव हो रहा था। राष्ट्रीय शक्ति किसी सुदृढ़ नीति-सूत्र में आबद्ध न थी। मुगल राज्य का महत्त्व ग्रह म्लानमुख हो चुका था। राजपूताने की समरशालिनी शक्ति परिश्रान्त होकर अपने ही मरुस्थलों और पहाड़ियों के क्रोड में कभी की सो गई थी। उन दिनों महाराष्ट्र का महाबल नीति-निपुण अंगरेजों के दल-बल से टक्कर ले रहा था। पेशवा और सिन्धिया-शक्ति की स्वतंत्रता का तारा अस्ताचल की ओट में हो रहा था। नैपाली सैनिक संग्राम-भूमि को उत्तेजित करने के अनन्तर अपनी पर्वतमालाओं में जा रहे थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के प्रतिनिधि लार्ड एम्हर्स्ट, भारत के कई विभागों के भाग्य की बागडोर अपने हाथों में लेकर शासन कर रहे थे। इसी

कहीं में महादेश की स्वाधीनता का सूर्य अशुभ-सूचक चिह्नों से घिर रहा था। उसके अस्त हो जाने के पश्च, उसके पास ही आकर उपस्थित हो गये थे।

पंजाब के केसरी श्रीमन्महाराजा रणजीतसिंहजी अपने सिंह-नाद से हिमालय के कुछ विभागों-समेत शतद्रु से लेकर सिन्धु महानद के तटों तक सारे पंजाब प्रान्त को प्रतिध्वनित कर रहे थे। उनके दहाड़ने से अफ़रीदियों और अमृदियों की कन्दरायें भी काँपने लग जाती थीं।

उस समय देश में अशान्ति के चिह्न जहाँ-तहाँ दिखाई दे रहे थे। इसी लिए देशवासी प्रायः भय से शङ्कितचित्त काल व्यतीत करते थे। लुटेरों के अत्याचार विशेष करके असह्य हो गये थे। उनके त्रास से लोग काँप उठे थे। उस समय की सामाजिक दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी। भारत-भूमि अनेक कुरीतियों से कण्टकाकीर्ण हो गई थी। सैंकड़ों चितायें अबलाओं की सजीव देहों से धधक रही थीं। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और जातिविद्रोह ने घोरतम रूप [illegible] था। जन-शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करके अधिकारी और नेतावर्ग उसकी पद्धति पर परस्पर विचार कर रहे थे। ईसाई धर्म के पादरी लोग आर्य्यावर्त्त को ईसाई बनाने के लिए सर्वथा सुसज्जित होकर आ रहे थे। उस समय ईसाई सेना ने गङ्गा और सागर के समीपवर्ती स्थानों में अपने दुर्ग निर्माण करके कुछ-एक ऐसे प्रारम्भिक शस्त्रपात किये थे कि जिनसे पौराणिक धर्म की अवस्था डाँवाडोल हो रही थी। प्रारम्भ में पादरी लोग लोक-शिक्षा और धर्म-दीक्षा दोनों का प्रचार करते थे। इससे उनके कार्य्य का प्रभाव दिन पर दिन अधिकाधिक होता जाता था। राज-धर्म्म वैसे ही प्रलोभनपूर्ण, आकर्षणकारी होता है; परन्तु जब उसके साथ लोक-हित की बात भी मिल गई तो वह नव-शिक्षितों और पश्चिमी सभ्यता में दीक्षितों को एक-एक करके अपने मन्दिर में प्रवेश कराने लगा।

आर्य जाति के करोड़ों मनुष्य धर्म-ग्रन्थों को पढ़ना तो कहाँ उनके सुनने के भी अधिकारी नहीं समझे जाते थे। कुसंस्कारों का इतना प्राबल्य था कि विदेशगमन, समुद्रयात्रा और विदेशी के स्पर्श आदि से ही लोग जातिपतित किये जाते थे। इससे भी अधिक, भारतवर्ष में चारों ओर अविद्या और अधर्म की अन्धेरी रात राज्य करती थी। आर्य जाति की रीति-नीति का आकाश

पश्चिमी सभ्यता की घनघोर घटाओं से आक्रान्त हुआ जाता था। नवीन संस्कारों की झंझावात पुरातन चाल-ढाल, आचार-विचार के प्रत्येक पेड़ को जड़ से कम्पित कर रही थी। इस पर, नवीन धर्म्म की उक्तियों-युक्तियों की बाणवर्षा आर्य-धर्म्म के मूलाधार स्थल को पोला करने के प्रयत्नों में थी। परन्तु भारतवासी किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर आलस्य की गहरी निद्रा में निमग्न हो रहे थे। कहीं-कहीं इस घटाटोप में ब्रह्मविद्या की विद्युत्-रेखा चमक जाती थी, नहीं तो भारत के भविष्य पर निराशा का गहरा परदा पड़ा हुआ था।

इस अवस्था की विद्यमानता में सम्वत् १८८१ में एक सम्मानित समृद्ध गृह को स्वामी दयानन्द के प्रकाश ने प्रकाशित किया।

पहले पुत्र की प्राप्ति से माता-पिता का हृदय प्रसन्नता के पूर से प्लावित हो गया। सम्पूर्ण परिवार में आनन्द मनाया जाने लगा। उत्सव के बाजे बजने लगे और चारों ओर से नगरवासी तथा बंधु-परिजन बधाई देने लगे। स्वामी दयानन्द के पिता ने, अपने यहाँ की मर्यादा के अनुसार, अपने पुत्र के जातकर्मादि संस्कार क्रमशः और विधिपूर्वक किये और इन शुभ अवसरों पर उसने जी खोलकर दान, मान और दक्षिणा से समागत सज्जनों को सत्कृत किया।

बालक दयानन्द माता की प्रेममयी गोद में, पिता के प्यार-पूर्ण हाथों में, बन्धुजनों के स्नेहसहित लालन-पालन में, सुरक्षित अशोक लता और शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला की भाँति दिनों-दिन बढ़ने लगा। जब उनकी आयु पाँच वर्ष की हुई तो उन्हें देवनागरी अक्षरों का सिखाना आरम्भ कराया गया। उनके माता-पिता आदि वृद्ध बान्धव उनको कुलाचार और कुलरीति भी शनैः शनैः सिखाने लगे। बड़े बन्धुजनों ने उनको बहुत से स्तोत्र, मंत्र, श्लोक और उनकी टीकायें कण्ठस्थ करा दीं।

आठवें वर्ष में स्वामी दयानन्द का यज्ञोपवीत संस्कार यथाविधि बड़े समारोह और महोत्सवपूर्वक कराया गया। उनको गायत्री और सन्ध्या की उपासना-विधि सिखाई गई। उनके पिता यद्यपि उदीच्यवंशीय होने से सामवेदान्तर्गत थे, परन्तु इनको उन्होंने रुद्राध्याय की शिक्षा के अनन्तर यजुर्वेद-संहिता पढ़ानी आरम्भ की। श्री दयानन्द के सभी सगे सम्बन्धी शैव थे। विशेष करके उनके पिता तो पक्के शिवोपासक थे, इसलिए वे दयानन्द को शिवोपासना

में प्रवीण करने की चेष्टा करने लगे। इनपर शैव सम्प्रदाय के बहुत से संस्कार डाले गये। इनके पिता शैव सम्प्रदाय के प्रदोष आदि व्रतोपवास करने की प्रबल प्रेरणा किया करते, और कहा करते कि मिट्टी की शिव-पिण्डी बनाकर उसका प्रतिदिन पूजन किया करो।

सम्वत् १८९० अर्थात् दशम वर्ष में दयानन्द साधारणतया पार्थिव पूजा ही किया करते थे, पर उनके पिता चाहते थे कि उनका पुत्र नियमानुसार शिव-सम्प्रदाय का पालन करे। उपवास करके कथा सुनता और जागरण करता हुआ वह निष्ठावान् शैव बन जाय। परन्तु माता का मोह भी कोई वस्तु होता है। दयानन्द की माता अपने प्यारे पुत्र को क्षुत्पिपासा-पीड़ित, कष्टदायक क्रिया-कलाप से व्याकुल-चित्त देखना नहीं चाहती थी। इसीलिए वह अपने पति से आग्रह कहा करती थी कि यह सुकोमल बालक ऐसे कष्टदायक व्रतोपवासों के योग्य नहीं है। इससे भूख नहीं सही जायगी। परन्तु स्वामी दयानन्द के पिता बड़ी धारणा के धनी थे। वे उनको शिवोत्सवों में और कथादि में सर्वत्र संग ले जाया करते और समझाते कि शिवोपासना सर्वोत्तम है।

इसी प्रकार जब श्री दयानन्दजी १८९४ में चौदह वर्ष की आयु को प्राप्त हुए तो उस समय यजुर्वेद-संहिता उनके कण्ठ हो गई थी। अन्य वेदों का भी उन्होंने कुछ-कुछ अभ्यास कर लिया था। व्याकरण के भी शब्दरूपावली आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ पिताजी से पढ़ लिये थे। इसी वर्ष स्वामीजी के पिता ने उनको शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा की, परन्तु वे ऐसा करने के लिये उद्यत न हुए। तब उनको इस व्रत के माहात्म्य की कथा और उससे होने वाले स्वर्ग-सुखों के वर्णन सुनाए गये, जिससे उनके हृदय में व्रत करने के लिये रुचि उत्पन्न हो गई। वे प्रतिदिन कुछ प्रातराश किया करते थे, इसलिये उनकी माता आग्रह से कहती थी कि इसको उपवास न कराओ। इससे उपवास न निभेगा। यदि हठ से निभा भी लिया तो रुग्ण हो जायगा। परन्तु उनके पिता ने एक न मानी, और बोले कि कुल-धर्म के अनुसार व्रतादि रखकर शिवार्चन अवश्य-मेव करना चाहिये। इस प्रकार स्वामीजी को व्रतोपवास की अनिवार्य आज्ञा दी गई।

दूसरे देशों की रीति से भिन्न काठियावाड में फाल्गुन के स्थान यह व्रत माघ वदी १४ को होता है। उस दिन सायं समय ही श्री दयानन्दजी को समझाया गया कि आज रात भर तुम्हें जागरण करना होगा। ऐसा न करोगे तो व्रत निष्फल हो जायगा। पूजन का प्रकार भी इन्हें बता दिया गया। इस रात्रि को, नगर से बाहर एक बड़े शिवालय में, नगर के सर्वसाधारण भक्त और प्रतिष्ठित जन जाकर व्रतपूर्वक पूजापाठ, जप और जागरण किया करते थे। स्वामीजी के पिता भी उनको इसी मन्दिर में ले गये। स्नानादि करके शुचि-वदन, रेशमी धोतियां धारण किये, भाल पर विभूति रमाये, हाथ में शुद्धोदक-पूर्ण कलश और पूजा की सामग्री लिये शैव भक्तों की मण्डलियां एक-एक करके सायं समय मन्दिर में प्रवेश करने लगीं। मन्दिर-प्रवेशिका में लटके हुए अति गुरु घण्टे को जब भक्तों ने "हर हर, बम् बम् महादेव" कहते हुए संचालित किया तो उसका "टन टन" नाद शिवालय से भी ऊंचा होकर शिव-रात्रि-जागरण की सारे नगर में उद्घोषणा करने लगा। सुरीले स्तोत्रों से मन्दिर निनादित हो रहा था। दीप से सर्वत्र जगमगाहट थी। धूप की सुगंधि का पूर सारे शिवालय को पूर्ण करके बाहर के वायु को भी वासित कर रहा था। लोगों ने प्रथम प्रहर की पूजा बड़े भाव और भक्ति के साथ समाप्त की। दूसरे प्रहर की पूजा में यथा-तथा से काम लिया गया। परन्तु रात्रि के तीसरे प्रहर के प्रारम्भ होने पर लोगों की आंखें मिचने लगीं, और वे लगे ऊंघ में झूलने। निद्रा-देवी की माया ने सबको मूर्छित करके जहां-तहां सुला दिया। सब से प्रथम जो किसी को निद्रा आई तो वे थे स्वामीजी के पिता। पुजारी लोगों ने जब देखा कि सारे भक्त सो गये हैं और आनन्द से खर्राटे ले रहे हैं तो वे भी धीरे-धीरे मन्दिर के बाहरी भाग में जाकर निद्रा में लीनता लाभ करने लगे।

ऐसे गम्भीर, निस्तब्ध, नीरव, सुनसान समय में उस शोभन शिवालय की ऊपर की छत को, चारों ओर की दीवालों को, समतल भूमि को, और पूजोपहार-सहित शिव-पिण्डी को दो ही ज्योतियां प्रकाशित कर रही थीं—एक तो मन्दिर के दीपक की ज्वलन्त बत्ती और दूसरे जागरूक दयानन्द की उज्वल चित्तवृत्ति। दीपक की बत्ती ग्रहणशक्ति-रहित है, ज्ञान-शून्य है, किसी घटना का परिणाम निकालने में असमर्थ है, वह केवल उजाला ही उगल सकती है, कदाचित्

घुसने लगे तो अपने बचाने का उसके पास कोई उपाय नहीं। परन्तु दयानन्द की चमत्कारिणी चित्तवृत्ति ज्ञानवती और ग्रहणशक्ति-सम्पन्न है। उसमें अतुल त्वरा से घटना के परिणाम पर पहुँच जाने का सामर्थ्य है। श्री दयानन्दजी पर जब निद्रा का आक्रमण होता और उनकी आँखें झिपने लगतीं तो वे नेत्रों पर ठण्डे पानी के छींटे दे-दे कर अपने आपको सावधान और सचेत करते। उन्हें भय था कि आँखें लग जाने से कहीं व्रत निष्फल न हो जाय। पर उनका चित्त आश्चर्य से चकित हो गया, जब उन्होंने देखा कि शिव-पिण्डी पर, अपवित्र क्षुद्र जन्तु चूहे चढ़-चढ़ कर और उछल-उछल कर चढ़ते हैं, और उस पर चढ़ाया हुआ भक्तों का पूजोपहार बड़े आनन्द से खा रहे हैं। जिस प्रकार मेघमाला में बह कर विद्युत् की रेखा फिर जाती है, और जिस प्रकार वायु से ताड़ित महासागर में ऊंचे-ऊंचे तरङ्ग उठते हैं, वैसे ही दयानन्द के चिदाकाश में इस घटना से संचालित विचारों और प्रश्नों के तारे एक-एक करके चमचमा उठे। शङ्कासमाकुल हृदय में उन्होंने सोचा कि शिव-कथा में तो मैंने सुना है कि शिव त्रिशूलधारी है, उसका वाहन वृषभ और निवास कैलाश है, वह मनुष्याकारधारी देवता, डमरु बजाने वाला, प्रसन्नसम्पन्न, और वर-शापप्रदान में समर्थ परमहा है, वह पाशुपतास्त्र से दैत्यों का संहार करता है: तो क्या वही महादेव यह मूर्ति हो सकती है? अहो! इसके सिर पर तो ये अपावन प्राणी चूहे दौड़ लगा रहे हैं, इसके चढ़ावे को बड़ी निर्भयता से खा रहे हैं। इसमें तो इन तुच्छ जीवों को भगाने का भी बल नहीं! यह महादेव कैसा?

दूसरा सर्ग

बहुत देर तक उन्होंने इस आन्दोलन को अपने भीतर रखते रखा। परन्तु उस दिव्य ज्योति ने जो अन्तरात्मा में स्वभावतः और सहसा संधपित हो उत्पन्न हुई थी, उस दिव्य वाणी ने जो उन्होंने अन्तःकरण के कानों से श्रवण की थी, उन्हें बलात् उत्तेजित किया कि वे अपना हार्द पिता के समक्ष प्रकाशित करें।

श्री दयानन्दजी ने अपने पिता को जगा कर बिना झिझक अपने शङ्कासमूह को उनके सम्मुख उपस्थित कर दिया और विनय की कि जिस देव का वर्णन मुझे सुनाया गया है क्या उसके समान ही यह मन्दिर की मूर्ति है ? अथवा चूहों से अवहेलना प्राप्त यह कोई दूसरी वस्तु है ? पिता ने पुत्र के इन प्रश्नों को सुनकर क्रोध से आँखें लाल कर ली, और भर्त्सनापूर्वक कहा—"यह बात तू क्यों पूछता है ? पुने शिवाराधन के समय ऐसा प्रश्न क्यों करता है ?" पर जिस महात्मा को अकस्मात् स्वात्मा ही में सत्यसम्प्राप्ति हो गई थी, जो साधारण घटना से असाधारण प्रबोध का धनी हो चुका था, उसके लिए पिता की कोरी झिड़की प्रश्न का उत्तर न हो सका। जिसको बोलने के लिए आत्मा प्रेरणा कर रही थी उसका मुख डांट-डपट से बन्द न हुआ। श्री दयानन्द निर्भीक भाव से बोले—"पिताजी, जिस महादेव की कथा मुझे सुनाई गई है वह तो गुणों से चेतन प्रतीत होता है। यदि यह मूर्ति वही महादेव होता तो भला इन भ्रष्ट महामलीन मूषकों को अपने ऊपर क्यों चढ़ने देता ! चूहे उसके शरीर पर सपाटे से दौड़े फिरते हैं और यह शिर तक नहीं हिलाता, और न इन घृणित जन्तुओं के स्पर्श से ही अपने को बचाता है। इस अचेतन महादेव से मैं उस सर्वशक्तिसम्पन्न चेतन परमेश्वर को समझना असम्भव समझता हूँ। यही भेद जानने के लिए आपको जगाकर प्रश्न पूछा है।"

पुत्र के इन अश्रुतपूर्व प्रश्नों को सुन पिता ने गम्भीरता से समझाना आरम्भ किया—"पुत्र ! इस कलिकाल में महादेव के साक्षात् दर्शन नहीं होते, इस लिए उसी कैलासवासी शिव की मूर्ति बनाकर प्राण-प्रतिष्ठापूर्वक पूजन किया जाता है। इन पाषाण आदि की मूर्तियों को यदि कोई महादेव की भावना से पूजे तो इससे महादेव अपनी पूजा के समान प्रसन्न हो जाते हैं। बेटा ! तेरी तर्कबुद्धि बहुत बढ़ी है। यह सत्य है कि यह तो केवल देवता की मूर्ति है, साक्षात् देवता नहीं।"

इस पितृ-उपदेश से दयानन्द की सन्तुष्टि नहीं हुई। उनकी मूर्तिपूजन से आस्था उठ गई उन्होंने पिता के वचनों को एक परचावा मात्र, गोल-मोल बात से टाल देना ही समझा। उसी समय से उन्होंने दृढ़ सङ्कल्प कर लिया कि जब

चेतन सत्ताधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा तब उसका पूजन करूंगा, इन जड़ प्रतिमाओं को कभी भी नहीं पूजूंगा।

बाल्यकाल से ही श्री दयानन्द की यह प्रकृति थी कि वे सहसा किसी बात को ग्रहण नहीं करते थे। पर जब विचारपूर्वक किसी बात को ग्रहण कर लेते तो ऐसे दृढ़ हो जाते थे कि उसके पालन में, चाहे कैसा भी कष्ट हो, उसे नहीं छोड़ते थे। इसी प्रकार जब ज्ञान से निश्चय हो जाता कि प्रबल हाथों में पकड़ी हुई वस्तु असत्य है, भ्रान्त है, तो तुरन्त तुच्छ तृणवत् उसका परित्याग कर देते थे। उनके चरित्र के इस चित्र से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि जबतक शिवरात्रि के व्रतादि में निश्चय नहीं था तो पूज्य पिता की आज्ञा भंग करने पर भी उद्यत हो गये, परन्तु जब कथा-श्रवण से रुचि उत्पन्न हुई तो आधी रात के समय, सब के सो जाने पर भी, दयानन्द आंखों को जल के छींटे देकर जाग रहा था। और जिस समय अन्तःकरण के आकाश में सत्य के सूर्य ने अपनी किरण का संचार किया तो उन्होंने अपने पिता को स्पष्ट कह दिया कि मैं इस जड़ मूर्ति में परमेश्वर के विचार प्राप्त करना असम्भव समझता हूं। इतना ही नहीं, निश्चय बदल जाने के पश्चात् उन्हें प्रतीत होने लगा कि क्षुधा के कारण इतनी देर बैठने से मैं श्रान्त हो गया हूं और इससे मुझ में दुर्बलता आ रही है। अब मन्दिर में बैठे रहने का कोई प्रयोजन न रहा, इस लिये उन्होंने पिता से घर जाने के लिये पूछा। पिता ने पुत्र की बुद्धि का चमत्कार अभी ही देखा था, इस कारण अनुमति देते हुए यही कहना उचित समझा कि अच्छा, घर जाते हो तो अकेले मत जाओ, सिपाही को साथ लेकर जाओ, परन्तु भोजन कदाचित् न करना।

भाव बदल जाने पर श्री दयानन्दजी को भूखा रहना असह्य भार ज्ञात होने लगा। इसलिये घर जाते ही कहा—"माता जी! मुझे बड़ी भूख लग रही है।" माता ने कहा—"बेटा मैं तो तुझे पहले ही से कहती थी कि तू उपवास न कर सकेगा, परन्तु तूने बड़ा हठ किया।" इन वचनों के साथ माता ने पुत्र को खाने के लिए मिठाई दी और कहा—"तेरे पिता बड़े पक्के शैव हैं। यदि उन्हें व्रत-भंग का भेद ज्ञात हो गया तो वे तुझे ताड़ना तर्जना करेंगे। इसलिये उनके पास जाकर अपनी भोजन-कथा न बताना।" भोजन आदि करके कहीं

एक बजे के पश्चात् दयानन्द सोये, इसीलिये सवेरे आठ बजे के पहले उनकी आंख न खुल सकी। प्रातःकाल घर में पदार्पण करते ही दयानन्दजी के पिता को किसी प्रकार उनका भोजन-वृत्त विदित हो गया वे व्रतातिक्रमण के कारण पुत्र पर अति कुपित हुए, और आवेश में बोले—"तुमने बहुत बुरा काम किया।" विनयावनत पुत्र ने स्पष्टवादिता से निवेदन किया कि "पिताजी! जब ग्रन्थ-कथित महादेव मन्दिर में था ही नहीं तो मैं एक कल्पित बात के लिए व्रतोपवास का कष्ट क्यों सहता!" इसके अनन्तर उन्होंने अपने प्यारे चाचाजी से प्रार्थना की कि अध्ययन के कारण मुझसे पूजोपवास का आडम्बर नहीं निभ सकता। यह बात आप पिताजी को समझा दीजिए।

श्री दयानन्द के चाचा और माताजी ने उनके पिता को यह कहकर समझाया कि लड़का पढ़ने में बड़ा परिश्रम करता है। उसे कठोर कर्मकाण्ड में डालना उसके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होगा। अभी उसे भली भांति पढ़ने दो। उक्त सम्पूर्ण वार्ताओं को लक्ष्य करके, पिता ने पुत्र के यथारुचि अध्ययन के लिए, प्रसन्नता से अपनी अनुमति का प्रकाश कर दिया। अब पूजापाठ से खुली छुट्टी मिल जाने के कारण श्री दयानन्दजी ने विद्याध्ययन में बहुत अच्छी उन्नति की। अपने स्थान के समीपवर्ती एक विद्वान् ब्राह्मण से उन्होंने निघण्टु, निरुक्त और मीमांसादि शास्त्र पढ़ना आरम्भ कर दिया, और साथ ही वे कर्मकाण्ड की 'स्मार्त' पुस्तकें भी पढ़ा करते थे। इस प्रकार वे सारा समय शास्त्रानुशीलन में व्यतीत करते थे। दो छोटी बहिनें और दो छोटे भाई—ये सब मिलकर श्री दयानन्दजी पांच बहन भाई थे। सब बहिन भाई परस्पर सुदृढ़ स्नेहसूत्र-सम्बद्ध और गाढ़ अनुराग रञ्जित थे। ऐसे बहिन भाईयों के प्रेममय स्वर्गीय सुख का अनुभव करते हुए और विद्याध्ययन से अपने अन्तःकरण के कोश को भरते हुए श्री दयानन्दजी सोलहवें वर्ष को प्राप्त हुए।

सम्वत् १८९६ विक्रमी में जब वे सोलहवें वर्ष को अतिवाहित कर रहे थे तो एक रात उन्हें अपने बन्धुओं सहित एक इष्ट मित्र के यहां नृत्योत्सव में जाना पड़ा। उत्सव को आरम्भ हुए अभी बहुत देर न हुई थी कि श्री दयानन्दजी के घर से एक नौकर बड़े वेग से दौड़ा हुआ आया। उसने हांफते-हांफते आकर समाचार दिया कि उनकी चौदह वर्षीया छोटी भगिनी को विशूचिका हो गई

है। इस समाचार ने दयानन्द और उनके कुटुम्बियों पर वज्रपात किया। वे सब वहां से उठ तुरन्त घर पहुंचे। सारा परिवार रोगिनी की सेवा-शुश्रूषा में लग गया। वैद्य लोग अपने सारे विद्याबल से चिकित्सा कर रहे थे पर रुग्णा की दशा पल-पल में शोचनीय होती गई। उस आसन्नमरणा कुमारी के सुकोमल तन को, मत्त हस्ति द्वारा उत्पाटित और प्रखर आतप द्वारा तापित कमलिनी के सदृश कुम्हलाते और क्षण-क्षण में मूर्च्छा प्राप्ति देख पास खड़ी ममतामयी माता का कलेजा कांप उठा, पिता व्याकुलचित्त हो गया, मन पर उदासीनता छा गई और सारे परिवार की आंखें डबडबा आईं। लाख यत्न किये, बहुतेरा बल लगाया, पर "कर्मगत टारी नाहिं टरै"। अन्ततः सकल सम्बन्धी समूह की उपस्थिति में, चार घण्टों के भीतर ही, भाई बहिनों की स्नेहलता सदा के लिए सूख गई, माता-पिता की प्रियपुत्री के प्राणपखेरु उड़ गये, कुलदीपिका अकाल ही में काल की विकट वायु से शान्त हो गई।

जिस समय इस दुःखद दुर्घटना से सकल परिवार के नेत्रों से अविरल अश्रु-धारायें बह रही थीं, रोने पीटने से हाहाकार मचा हुआ था, रो-रो कर हिचकियाँ लेते-लेते माता की घिग्घी बँध गई थी और सर्व स्नेहीवर्ग पर शोक का सागर उमड़ आया था, उस समय एक दयानन्द ही था जो मृता भगिनी की शय्या के समीपवर्ती दीवाल से लगा हुआ अश्रुविहीन नेत्रों से चुपचाप प्यारी बहिन के शव को एकटक देख रहा था। उसके चित्त की गहरी चिन्ता को न पहचान कर बन्धुओं ने उस पर बहुतेरे कटु कटाक्ष किये, पिता ने पाषाणहृदय कहा, यहाँ तक कि सदा प्रेम प्रदर्शित करने वाली माता ने भी यही शब्द दुहराये, परन्तु दयानन्द के सम्मुख उस घटना ने एक ऐसी समस्या उपस्थित कर दी थी जिसकी पूर्ति के लिये उनका चित चंचल हो उठा था।

जैसे वायु का तीव्र वेग नौका के मुख को फेर देता है, जैसे विशाल चट्टान से टकर खाकर नदी का बहाव बदल जाता है, ऐसे ही इस अदृष्टपूर्व घटना को देखकर श्री दयानन्द की चित्तवृत्तियां अपने क्लिष्ट प्रवाह को क्रमशः बदलने लगीं। विद्युत्पात से कम्पित मनुष्य की भाँति, भयभीत दयानन्द सोचने लगे—अहो! मेरी बहिन की तरह सभी लोग एक-एक करके अवश्यमेव विकराल काल के गाल में ग्रास बनेंगे। निश्चय मुझे भी उसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा।

मृत्यु ऐसी अवश्यम्भावी है कि इससे छोटा-बड़ा कोई भी जीव बच नहीं सकता। हा! यह असह्य वियोग-वेदना सबको सहनी होगी। यह दुर्दिन जीवमात्र को देखना होगा। सचमुच, यह जीवन क्षण-भंगुर है, जलबुद्बुद्वत् चंचल है, सन्ध्या राग की भाँति अस्थिर है, पलाश पत्र पर पड़े ओस-कण की तरह चलायमान है। तब तो कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे जन्म-मरण के दारुण दुःख से मुक्तिलाभ हो, अमर जीवन की उपलब्धि हो।

दो अरणियों के मथन से जैसे अग्नि उत्पन्न हो आती है, उचित वस्तुओं के मिश्रण और संघर्षण से जैसे विद्युत् बहाव बह निकलता है, ऐसे ही मृत्यु-घटना से संचालित दयानन्द-चित्त में, चिरकाल के निरन्तर चिन्तनरूप संघर्षण से, विवेक विद्युत् की रेखा का उदय हो गया—वैराग्य की ज्वलन्त ज्वाला उछलने लगी, जिसने प्रकट होते ही दयानन्द की चित्तभूमि से सांसारिक वासनाओं के घास-पात को भस्मसात् करना आरम्भ कर दिया।

कुल की रीति के अनुसार पांच दिन तक सहानुभूति करनेवाले लोग आते-जाते रहे और घर में रोना-धोना बना रहा; परन्तु दयानन्द के हृदय-स्रोत को मृत्यु के भय और वैराग्य की आग ने इतना शुष्क कर दिया था कि लोगों के धिक्कारने पर भी उनकी आँख गीली नहीं हुई। वे रात-दिन चुप्पी साधे अपनी चिन्ता में चूर रहते। बड़ी रात बीत जाने पर भी जब वे न सोते तो उन्हें बन्धुजन सोने के लिए प्रेरणा करते। परन्तु भला इतनी चिन्ता, इतनी अशान्ति में नींद कहाँ! बिछौने पर पड़े बार-बार चौंक पड़ते। इस मृत्यु-व्याधि के नाश की औषधि कहाँ मिलेगी? अमर जीवन के लिए कौन-से उपायों का अवलम्बन करना चाहिए? मुक्ति-मार्ग में किसका भरोसा किया जाय? इत्यादि विचारों में रात-दिन निमग्न रहते। अन्त में दयानन्दजी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो, मुक्ति हस्तगत करूंगा और मृत्यु के मुख से छुटकारा पाऊँगा। इस धारणा के साथ ही उनके मन से संसार का अनुराग दूर हो गया, उनका चित्त स्वस्थ हो गया, और उसमें उत्तरोत्तर उत्तम विचारों की उन्नति होने लगी।

महात्माओं के महत्व को सम्पादन करने वाली प्रायः घटनायें ही हुआ करती हैं। बुद्धदेव को भी मृतक की ऐसी ही एक घटना देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ

था, परन्तु उपरोक्त घटना में जो वैराग्य दयानन्द को हुआ, विरक्ति की जो आग उनके भीतर प्रकट हुई, उसमें एक विशेषता थी। वह यह कि उन्होंने उसी समय धारणा कर ली कि चाहे जो हो, मैं अब इस वैराग्य-अग्नि पर सांसारिक स्नेह और सांसारिक सम्बन्ध का गीला ईंधन और हरी घास डालकर इसे धूमायमान नहीं बनाऊँगा। परन्तु इन विचारों को उस समय प्रकट करना उचित न जानकर वे अपने पढ़ने लिखने में यथापूर्व लगे रहे।

सम्वत् १८६६ थी दयानन्दजी की आयु का उन्नीसवां वर्ष था। इस वर्ष में उनसे अति प्रेम करने वाले उनके धार्मिक तथा विद्वान् चाचा विसूचिका महा-रोग के चंगुल में फंस गये। बहुत उपचार किये, पर एक भी सफल न हुआ। अपने परम प्रिय और पूज्य चाचा को भयङ्कर रोग से पीड़ित देख दयानन्द का हृदय दुःख से विदीर्ण हुआ जाता था। जिस समय काल महासागर में रोगी की डूबती हुई नाड़ी-नौका को बन्धु-बान्धवजन उङ्गलियों से टटोल रहे थे, उसी अन्त समय में म्रियमाण चाचा ने अपने भतीजे दयानन्द को समीप बुलाकर बैठने का संकेत किया। आरम्भ काल से प्रयत्नपूर्वक लालित-पालित अपने प्रेम-पात्र भ्रातृपुत्र से सदा को विदाई लेते समय उनकी आंखों से आँसू टप-टप करके गिर पड़े। उनको यह दशा देखकर दयानन्द अधीर हो गये, और करुण-क्रन्दन करते हुए फूट-फूट कर रोने लगे। यहां तक कि रोते-रोते उनकी आंखें भी सूज गईं। उन्होंने अपने सारे गत जीवन में इतना रोदन कभी न किया था। यह दूसरी घटना दयानन्द के वैराग्य-दावानल के संग पवन का प्रसंग था, उनकी संवेग नदी का वेग बढ़ाने में महामेघ का वर्षण था, उनके विरक्ति अग्नि-कुण्ड में घृत-धारा का पात था।

उन्होंने देखा कि यह सम्पूर्ण दृश्य असार है। यहां स्थायी कुछ भी नहीं। भावी से खिंचे हुए सभी प्राणी काल के गाल में जा रहे हैं और अन्त को मेरी देह भी मरणधर्मा है। अपने इन भावों को उन्होंने माता-पिता के सामने तो प्रकट न किया, परन्तु इष्ट-मित्रों और विद्वत्सज्जनों से जिज्ञासा करने लगे कि अमरपद-प्राप्ति के उपाय बताइए।

पण्डित लोगों ने जिज्ञासु को परमपद-प्राप्ति का उपाय योगाभ्यास बताया। उत्कट लगन से प्रेरित होने के कारण दयानन्द के मन में योगाभ्यास की धुन

समा गई। वे मन ही मन कहने लगे कि यह योग घर-बार के काम-काज में, मोह-ममता के जगड्वाल में सिद्ध नहीं हो सकेगा, अतएव गृह त्याग कर कहीं चलना चाहिये। इस निश्चय के पश्चात् उन्होंने अपने मित्रों को अपना मनोगत भेद खोलकर बता दिया। उन्होंने कहा—"मैंने यह निश्चित कर लिया है कि यह संसार साररहित है। इसमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके लिये जीने की इच्छा की जाय, और वास्तव में कोई भी मनोज्ञ वस्तु नहीं जिसमें मन लगाया जाय। मैं इसे रसरहित और फीका समझता हूँ।" इष्ट मित्रों ने यह वार्ता उनके माता-पिता को बता दी।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां दयानन्द जैसे वैराग्यवान् वीरों को स्नेह-बंधन में बांधने के लिये बन्धुवर्ग विवाह-शृङ्खला को सर्वोत्तम समझते आये हैं। इसी परम्पराप्राप्त पद्धति पर श्री दयानन्दजी के माता-पिता आरूढ़ हो गये और लगे शीघ्रता से उनके विवाह का उद्योग करने। उन्होंने स्थिर कर लिया कि बीसवें वर्ष में ही पुत्र का विवाह कर दिया जाय। यह वैराग्य की आग अनुराग की बदली के बरसने पर आप ही शान्त हो जायगी। श्री दयानन्दजी को जब ज्ञात हुआ कि उनको सदा के लिये जकड़ने के निमित्त एक प्रबल पाश प्रस्तुत करने का प्रस्ताव हो गया है तो उन्होंने मित्रों द्वारा इसका घोर विरोध किया। इससे विवश हो उनके पिता को उस वर्ष विवाह-कार्य रोक देना पड़ा।

श्री दयानन्दजी निश्चिन्त नहीं थे। उन्हें भय था कि इक्कीसवें वर्ष के आरम्भ होते ही विवाह की चर्चा फिर चलेगी। उस समय उसका टालना कठिन कार्य हो जायगा। इस लिये सम्वत् १६०० में बीसवें वर्ष की समाप्ति पर ही उन्होंने पूज्य पिता से प्रार्थना करना आरम्भ कर दिया कि मुझे व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक के ग्रन्थ पढ़ना है; कृपया मुझे काशीजी भेज दीजिए, क्योंकि इन ग्रन्थों की पढ़ाई वहीं अच्छी होती है। जो माता-पिता यह जानते थे कि पुत्र वैराग्यवान् हो गया है और गृह-त्याग के अवसर ढूंढ रहा है, भला वे काशी-गमन कब स्वीकार करने लगे थे। उन्होंने कहा—"हम तुम्हें काशी कभी न भेजेंगे, जो कुछ अध्ययन कर चुके हो वही पर्याप्त है। अधिक पढ़कर

क्या करोगे और बहुत पढ़ाकर हमने करना भी क्या है ? तुम्हारे विवाह में और थोड़े दिन शेष हैं। तुमने गृहस्थी बनना है, इसलिए काम-धन्धे में जी लगाना सीखो।" माता ने तो स्पष्ट कह दिया—"बेटा ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि बहुत पढ़े हुए लड़के विवाह करना उचित नहीं समझते। तुम्हारे काशीगमन में भी यही झलक है।" फिर श्री दयानन्दजी ने पिताजी से तीन बार साग्रह कहा कि काशी में विद्याध्ययन करके जब तक मैं पूर्ण पण्डित न हो जाऊँ उससे पहले विवाह होना ठीक नहीं। परन्तु माताजी उनके इस आग्रह से उनके काशी-गमन के और भी विरुद्ध हो गई और कहने लगीं—"हम तुम्हें कहीं नहीं भेजते। अब तो बेटा, शीघ्र ही विवाह करेंगे।" यह सोच कर कि अधिक आग्रह करने से कार्य कभी सिद्ध नहीं होता, किन्तु बिगड़ जाया करता है, श्री दयानन्दजी चुप हो गये और माता-पिता के सामने से टल गये। पुत्र को अन्यमनस्क, उदासीन देखकर पिता ने भूमि-सम्बन्धी कार्य करने की आज्ञा दी, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार न किया।

वैराग्यवान् श्री दयानन्दजी को घर में एक-एक दिन भारी प्रतीत होता था। इसलिए वे फिर कुछ दिनों के बीतने पर पिताजी से बोले "आपने मुझे काशी जाने से रोका, इसमें मेरा कुछ आग्रह नहीं; परन्तु इतना तो मान लीजिए कि यहाँ से तीन कोस पर अपनी जाति के एक बहुत बड़े वयोवृद्ध विद्वान् रहते हैं, उन्हीं के पास जाकर पढ़ा करूँ। वहाँ अपनी भूमिदारी है, इसलिए कोई कष्ट भी न होगा।" इस प्रस्ताव को पिताजी ने स्वीकार कर लिया, और श्री दयानन्दजी उन प्रशंसित पण्डितजी के पास जाकर पढ़ने लग गये। कुछ काल बीत जाने पर वे एक दिन प्रशंसित पण्डितजी से वार्तालाप कर रहे थे कि बीच में विवाह का प्रसंग छिड़ गया। उस समय दैवयोग से उनके मुख से ये शब्द निकल गये—"मुझको विवाह से ऐसी घृणा है कि जो किसी प्रकार मेरे मन से दूर नहीं हो सकती।" विवाह से घृणा की बात यदि पण्डितजी के पास ही रहती तो उनका पठन तो चलता रहता, परन्तु श्री दयानन्दजी की पाठशाला से निकलकर उनके पिताजी के कानों तक पहुँच गई। इस पर पिता ने पुत्र को तुरन्त अपने पास बुला भेजा, और शीघ्रता से विवाह का उद्योग करने लगे। श्री दयानन्दजी ने घर आते ही देखा कि उनके विवाहसम्बन्धी वस्त्राभूषण

प्रस्तुत हो रहे हैं,नाना प्रकार की सामग्री विवाह के लिये एकत्रित की जा रही है। यह सब कुछ देखकर वे भौंचक हो गये। उनका चित्त चंचल हो उठा।

श्री दयानन्दजी के मन में जो वैराग्य समाया हुआ था उसके साथ उनका कोई इष्ट-मित्र सम्मत न था। सब उनके विवाह के पक्षपोषक थे। चर्म-चक्षुओं से अपना कोई सहायक न देखते हुए, वे अपने गम्भीर हृदय-सरोवर में गहरी डुबकी लगा कर, मन ही मन विचारने लगे कि मेरे विद्योपार्जन का द्वार अब बन्द किया जाता है। यदि मैं गृह में रहा तो अब मेरे माता-पिता मेरा विवाह किए बिना न रहेंगे। ये जितने लोग मेरे विवाह के बाँधनू बाँध रहे हैं वे मेरा ब्रह्मचर्यव्रत भंग करना चाहते हैं, मेरा भविष्य बिगाड़ना चाहते हैं। ऐसे सोच-विचार के अनन्तर श्री दयानन्दजी ने निश्चय कर लिया कि वे कुटुम्बियों के इस कथन पर नहीं चलेंगे, किन्तु अब वह काम करेंगे जिससे जन्मभर के लिए विवाह के बखेड़े से बच जाँय। इस मनोरथ को वे किसी पर प्रकट नहीं करते थे, किन्तु अनुकूल अवसर का अवलोकन करते थे कि कब इसे पूरा किया जाय। इधर विवाह का उद्योग आरम्भ हुए भी एक मास होने लगा। सारी विवाह-सामग्री प्रस्तुत हो गई।

तीसरा सर्ग

सारे इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव और मेली-जोली श्री दयानन्द का विवाहोत्सव देखने के उत्सुक हैं। दूरवासी सम्बन्धियों के आने का समय भी समीप आ गया है। एक समृद्धिशाली गृहस्थ का विशाल गृह-आङ्गन स्वच्छ सुसज्जित हो गया है। वस्त्राभूषण सब सजा कर रक्खे जा रहे हैं। अनेक प्रकार के महोत्सवयोग्य भोज्य पदार्थ एकत्र करने के लिये पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। पिता सुप्रसन्न हैं। माता के आनन्द की सीमा नहीं। घर के सब छोटे-बड़े हर्षित-हृदय और प्रफुल्ल-वदन हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानों इस गृह में आज कोई प्रसन्नता का स्रोत बह निकला है। सारा परिवार हर्ष से फूला नहीं समाता। पर दयानन्द गहरे विचार में निमग्न हैं। उनके मुख-मण्डल पर चित्त से उठी हुई चिन्ताओं के मेघ मंडला रहे हैं। वे विकसित नेत्रों से देख रहे हैं, जाग्रत

मन में जान रहे हैं कि सामने दृश्यमान संध्याराग जैसे मुहूर्त्त भर में पश्चिम दिशा के नीलाकाश में लीन हो जायगा, इसी प्रकार इन सम्बन्धियों की यह प्रसन्नता की लालिमा भी थोड़ी देर पीछे शोककाल की काली घटाओं में छुप जायगी।

यह १९०२ का सम्वत् था। उनकी आयु बाईस वर्ष की हो चुकी थी। एक दिन सायं समय उनका मन सम्बंधियों के ममता-मोह से उठ गया, अनुराग-रज्जु आजन्म के लिये टूट गया। उन्होंने यह कहते हुए "फिर लौट कर घर न आऊंगा" वासना-समूह की पूर्णाहुति दे दी, और वे चुपचाप एकाएक अपने समृद्ध गृह से चल निकले। विवाहोत्सव से सुशोभित धनधान्यपूर्ण गृह को, माता-पिता के पूर्ण प्रेम को, समस्त सम्बन्धियों के सरस स्नेह को, और सबसे बढ़ कर यौवन अवस्था के सामने खड़े विकसित अबाध्य वसन्त को सर्वथा परित्याग कर देना—तिलाञ्जलि दे देना—श्री दयानन्द की गहरी लगन और तीव्र वैराग्य को, प्रदर्शित करता है। वे घर से इसीलिये निकले कि सर्वथा स्वतन्त्र होकर मृत्यु महारोग की महौषधि ढूंढें और अमर जीवन प्राप्त करें।

सुनसान रात के समय, अनिश्चित स्थान को एकाएकी जाते हुए, नवीन त्यागी दयानन्द के हृदय में क्या-क्या भाव उद्भव हुए, उन्हें दो ही सत्तायें जानती हैं। एक तो दयानन्द का अपना अमर आत्मा और दूसरे प्रभु परमात्मा।

श्री दयानन्दजी ने गृह-त्याग की पहिली रात्रि अपने नगर से छः कोस के अन्तर पर व्यतीत की। अभी रात्रि का एक प्रहर शेष था कि वे फिर यात्रा के लिये सन्नद्ध हो गये। उन्होंने सायंकाल से पूर्व बीस कोस पर एक ग्राम में पहुंच कर विश्राम लिया। यहां उन्होंने हनुमान् के एक मन्दिर में रात्रिकाल बिताया। उन्होंने अपनी यात्रा में चातुर्य से काम लिया। वे प्रसिद्ध मार्ग पर न चल कर एक ऊँचे नीचे विषम पथ से जाते थे कि कहीं कोई जान-पहचान वाला सामने से न मिल जाय।

उधर जब माता आदि ने किसी प्रकार जान लिया कि दयानन्द अचानक कहीं चला गया है तो वे भौंचक हो गये। उन पर मानो एक भीषण वज्रपात हुआ। पिता की व्याकुलता का ठिकाना न रहा। जननी जलहीन मीन की भांति तड़पने लगी। बन्धुवर्ग के मस्तिष्कों को उनके हृदय से उछलते हुए शोक-तरङ्गों ने निमग्न कर लिया। विवाह-सम्बन्धी सारा ठाठ-बाठ, साज-सामग्री,

राग-रंग, सहसा फीका होगया। घरबार, द्वारदिवाल—सब पर उदासीनता छा गई। अन्वेषण-कार्य तुरन्त आरम्भ कर दिया गया। चारों ओर घुड़चढ़े और पदाति सिपाही दौड़ाये गये। जहां-जहां श्री दयानन्दजी के जाने की सम्भावना हो सकती थी वहां-वहां खोजने वाले पहुंचे। परन्तु मानसरोवर की यात्रा के लिए, पिंजड़ा तोड़कर निकले हुए, राजहंस का कोई भी पता न चला।

श्री दयानन्दजी जिस समय टेढ़े-मेढ़े मार्गों से तीसरे दिन की यात्रा कर रहे थे तो मार्ग में एक राजपुरुष द्वारा उन्हें भी ज्ञात हो गया कि अमुक पुरुष के भागे हुए पुत्र की खोज में कुछ घुड़चढ़े और प्यादे यहां तक आये थे। यह सुनकर वे और आगे जाने के लिये अग्रसर हुए।

उसी दिन मार्ग में उनको साधु-वेष में ठगों का एक दल मिला। उन में से एक वैरागी बाबा बनकर मार्ग में मूर्ति स्थापित करके बैठा हुआ था। उसने प्रथम तो श्री दयानन्द नवीन यात्री से उसकी यात्रा का कारण पूछ लिया और फिर लगा इनको चिढ़ाने—"देखो, त्यागी बनने चला है! हाथ की अंगूठियां तो छोड़ी ही नहीं गईं, वैराग्य-सिद्धि क्या धूल करोगे? भला, कभी ऐसे वस्त्राभरण वाले को भी सिद्धि प्राप्त होती है? इसलिये सारा भूषणालङ्कार मूर्ति जी के आगे चढ़ा दो। इससे तुम्हें दो लाभ होंगे। एक देवार्चन से पुण्य, दूसरे सर्वत्याग से वैराग्य-सिद्धि।" जिस महात्मा ने ऐरावत हाथी त्याग दिया वह उसके बांधने के रस्से से कब स्नेह करने लगा था। उन ठगों के चिढ़ाने से उन्होंने अंगूठियां अंगुलियों से उतार कर उन कपटवेषधारियों के आगे फेंक दीं और अपने मार्ग पर चल पड़े।

पर्यटन करते हुए श्री दयानन्दजी ने लोगों से सुना कि सायले नामक ग्राम में एक विचारवान् व्यक्ति लालाभक्त रहता है, वहां अन्य भी अनेक साधु-सन्त विराजते हैं। इस जिज्ञासा से कि सम्भव है वहां कोई मुक्ति का मार्ग जानने वाला मिल जाय, वे वहां पहुंचे। इस ग्राम में उन्हें एक ब्रह्मचारी मिले, जिन्होंने प्रेरणा की कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाओ। ब्रह्मचारीजी के कथन को श्री दयानन्दजी ने स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् ब्रह्मचारीजी ने उनको दीक्षा देकर काषायवस्त्र धारण कराए। एक तूम्बा हाथ में अवलम्बन कराया, और आदेश किया कि आज से आप का नाम "शुद्धचैतन्य" हुआ।

इसके अनन्तर ब्रह्मचारी श्री शुद्धचैतन्यजी भी उन्हीं साधु-सन्तों की मण्डली में मिलकर वहीं कुछ योग-साधन में भी प्रवृत्त हो गये। एक रात का वर्णन है कि श्री शुद्धचैतन्यजी मठ से बाहर एक विशाल पेड़ के नीचे बैठे हुए आराधना कर रहे थे। इतने में पेड़ पर पक्षियों की एक विलक्षण "धू धू" ध्वनि उस गहरी रात में गूँजने लगी। ब्रह्मचारीजी ने बाल्यावस्था में माँ-बाप से भूत-प्रेत के भ्रमयुक्त संस्कार ग्रहण किये थे, वे सहसा उद्भूत हो आये और भूत-भय समझ कर वे मठ में प्रविष्ट हो गये।

नवीन काषायाम्बरधारी ब्रह्मचारीजी बहुत दिनों तक श्री लालामण्ड के मठ में योगाभ्यासादि साधन करते रहे, परन्तु यह देख कर कि उनकी वास्तविक कामना वहाँ पूर्ण न हो सकेगी वे उस मठ से प्रस्थान करके कोट काङ्गड़ा नाम के एक छोटे से नगर में आ पधारे। यह स्थान अहमदाबाद के समीप, गुजरात प्रान्त के एक छोटे से राज्य के अन्तर्गत है। इस गाँव में बहुत से वैरागी वास करते थे। वहाँ, एक रानी भी वैरागियों के फन्दे में फँसी हुई उनके पास रहती थी। श्री शुद्धचैतन्यजी को गेरुए वस्त्रों में देखकर वैरागियों ने उनकी हँसी उड़ाई, और वैरागी-जमात में मिल जाने की प्रेरणा की। इनकी रेशमी धोतियों पर वैरागियों ने आक्षेप किया। श्री ब्रह्मचारीजी के पास उस समय तीन रुपये शेष थे। उनमें इन्होंने नई साड़ी धोतियाँ लेकर वे रेशमी धोतियाँ वहीं फेंक दीं, और वैरागियों की अबोध जमात से वे पृथक् किसी अन्य स्थान में निवास करने लगे। उस स्थान में उन्होंने तीन मास बिताए।

कोट काङ्गड़ा में उस समय सिद्धपुर में कार्तिक मास में होने वाले मेले की बड़ी चर्चा हो रही थी। मेले का होना सुन कर शुद्धचैतन्यजी इस भावना से कि सम्भव है भाग्यवशात् वहाँ किसी योगिजन का मङ्गल-मिलाप उपलब्ध हो जाय, सिद्धपुर की ओर चल पड़े। गाँव से थोड़ी ही दूर जाने पाये थे कि उन्हें एक ग्रामीण वैरागी से साक्षात् हुआ। वह उनका परिचित था और उनके सारे कुल को भी अच्छी तरह से जानता था। गृह-त्याग के अनन्तर, चिरकाल पश्चात् शुद्धचैतन्यजी ने एक स्वस्नेही व्यक्ति का अवलोकन किया, इसी लिए, उसे देखकर उनका हृदय उमड़ पड़ा और उनकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। उन्हें देखकर वही दशा वैरागी की हुई। वैरागी ने ब्रह्मचारी जी के मुख से

उनके गृह-त्याग की सारी कहानी श्रवण की। उनके मार्ग की सम्पूर्ण घटनाओं को सुना। काषायवस्त्र धारण करने के कारण को भी जाना। प्रथम तो ब्रह्मचारीजी के वेष पर वैरागीजी को हंसी आ गई। परन्तु तुरन्त गम्भीर होकर उनके इस प्रकार घर से निकल भागने पर उसने अतीव खेद प्रकट किया और इस कार्य्य के लिए उन्हें धिक्कारा भी। अन्त मे दुःखित हो कर वैरागीजी ने पूछा—"क्या तुम ने घर छोड़ दिया? अब गृह पर न जाओगे?" शुद्धचैतन्यजी ने प्रथम-मिले स्नेही को स्पष्ट उत्तर दिया—"हाँ, मैंने गृह त्याग दिया है। कार्तिक के मेले पर सिद्धपुर जाऊँगा।" वे इन्हीं बातों को करते-करते, अन्त में एक दूसरे से पृथक् हो गये; और श्री शुद्धचैतन्यजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए कुछ कालान्तर में सिद्धपुर आ पहुंचे। वहां उन्होंने नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में आसन किया। इस मन्दिर में पहिले ही से कई दण्डी स्वामी और बहुत से ब्रह्मचारी विराज रहे थे। शुद्धचैतन्यजी उन समीप-वासी सन्तों का सत्संग तो करते ही थे, परन्तु यदि वे सुनते कि अमुक स्थान मे कोई अभ्यासी आत्मज्ञानी महात्मा विराजते हैं, तो तुरन्त वहाँ पहुँच जाते। समादर से, नम्र भाव से उनके आगे योग-विद्या की जिज्ञासा करते।

जहाँ सिद्धपुर के मेले में आए हुए सहस्रों जन इष्ट मित्रों से मिलते थे, इधर उधर मार्गों में भ्रमण करते फिरते थे, मेले की शोभा को निहार रहे थे, क्रय-विक्रयमें लगे हुए थे, हास्य-विलास में लीन थे, आमोद-प्रमोद मे मग्न थे, खान-पान और शयन में सुख मानते थे, वहाँ वैराग्य के रंग में रंगे हुए, सच्ची लगन से प्रेरित, धुन के धनी ब्रह्मचारी श्री शुद्धचैतन्यजी एक-एक कुटिया पर चक्कर लगा रहे थे, एक-एक महात्मा के आसन पर जाकर सिर झुकाते थे, इस लिए कि किसी से भव-भय-भंजिनी भगवती योगविद्या प्राप्त हो और अमर जीवन का मार्ग मिले।

उधर, उस वैरागी ने जो उन्हें कोट काङ्गड़ा गाँव से निकलते ही मिला था, स्वस्थान पर आकर पत्र द्वारा उनके पिता को सूचित कर दिया, कि तुम्हारे पुत्र ने गृह त्याग कर काषायाम्बर धारण कर लिए हैं और अब वह सिद्धपुर के मेले पर गया है। यह समाचार पाते ही, उनके पिता चार सैनिकों समेत सिद्धपुर आ पहुँचे और मेले में घूम-घूम कर अपने पुत्र को ढूंढने लगे। एक

दिन प्रातःकाल उनके पिता एकाएक उस शिवालय में आ खड़े हुए जिस में कि उनका पुत्र गेरुए वस्त्र धारण किये सामने बैठा था। पुत्र को इस दशा में देखकर उनके कोप का पार न रहा। उनकी आंखें रक्तवर्ण हो गईं। वे कड़कती हुई वाणी से बोले—"तूने सदैव के लिये हमारे वंश को दूषित कर दिया। तू हमारे कुल को कलंक लगाने वाला जन्मा है।" आवेश में उन्होंने और भी बहुत कुछ ऊंचा-नीचा कहा। ब्रह्मचारीजी कांप से भीत होकर अपने पिता की ओर नेत्र भर कर देखने का भी साहस न कर सकते थे। उन्हें उस समय पिता की ताड़ना से त्राण प्राप्त करने का एक ही उपाय सूझा और वह यह कि उन्होंने आसन से उठकर पिता के दोनों चरण पकड़ लिए साथ ही प्रार्थना की कि गृह-त्याग मैंने धूर्त लोगों के बहकाने से किया है। मैं अपने इस कर्म का पर्याप्त फल पा चुका हूं। मैंने दुःख उठाए हैं। आप शान्त हूजिये। मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए। मैं तो यहां से घर ही आने को था परन्तु यह भी अच्छा हुआ जो आप आ गये हैं। अब आज्ञा करें मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ चलने को उद्यत हूं।

परन्तु पिता की प्रचण्ड कोपाग्नि ऐसी नथी कि शीघ्र ही शान्त हो जाती। उन्होंने झपटकर ब्रह्मचारीजी के गेरुए कुरते को हाथ से पकड़ा और बलपूर्वक खींचकर उसकी धज्जियां उड़ा दीं, साथ-साथ शतशः दुर्वचन-वृष्टि भी करते गये। श्वेत वस्त्र पहराकर वे उन्हें अपने रहरने के स्थान पर ले गये। वहां ले जाकर भी बहुत कटु वचन कहे और यह कहा कि तेरी माता तेरे वियोग के कारण रो-रो कर मर रही है और तू ऐसा कठोरहृदय है कि मातृ-हत्या करना चाहता है। पुत्र ने अति अनुनय-विनय से कहा कि अब निश्चिन्त हो जाइए। मैं आपके संग चलकर माताजी के दर्शन करूंगा। पर पिता निश्चिन्त नहीं हुए। उन्होंने पुन पर कड़ा पहरा लगा दिया। सैनिकों को आज्ञा दी कि इस निर्मोही को अकेले कहीं आने जाने न दो, सदा इसके संग रहो, रात भर जागते हुए इसे अपनी दृष्टि में रक्खो। इस प्रकार श्री शुद्धचैतन्यजी अपने पूज्य पिता के आदेश से दृष्टिबन्ध तो हो गये, परन्तु गृह-त्याग और अमर जीवन की प्राप्ति की धुन से वे उतने ही पक्के थे जितने अपने प्रयत्न में उनके पिता।

ब्रह्मचारीजी को उस समय अपनी उद्देश्य-सिद्धि का जो भी मार्ग सूझा वे उस पर चलने में केवल यही नहीं कि हिचकिचाये ही न हों किन्तु उन्होंने

उसका पूरा-पूरा उपयोग भी किया। इधर पिता जी को भरमक यत्न से विश्वास दिखाते रहे कि मैं अवश्यमेव गृह पर चलूंगा, और उधर यह सोचते-विचारते रहे कि जिस समय अवसर अनुकूल आये, जब दांव लगे, यहां से भाग निकलें। पितृ-बन्धन में पड़े दो दिन और दो रातें बीत गईं। तीसरा दिन भी ज्यों-त्यों करके काटा। तीसरी रात आ गई। उसके एक-एक पल को शुद्धचैतन्यजी आखों में काट रहे थे। वे बिछौने पर लेटे हुए अवश्य थे—देखने वालों को भी सोये हुए दिखाई देते थे, परन्तु तीव्र मानस लगन से संचालित, भीतर से जागते थे। तीसरी रात्रि का भी आधा भाग बीत गया, और तीसरा पहर आरम्भ हुआ। निद्रा से अभिभूत पहरे वाला ऊंघते ऊंघते दैवयोग से गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गया। ब्रह्मचारीजी अनुकूल काल हाथ लगा समझ वहां से शीघ्रता से चल निकलने को बद्धपरिकर हो गये। चलते समय हाथ में जलपूर्ण कलश ले लिया कि यदि किसी ने पूछा तो "लघुशंका करने जा रहा हूं" कह दिया जायगा। बिना रोक टोक भागते हुए सिद्धपुर से आध कोस दूर वे एक उद्यान में जा पहुंचे। उस उद्यान में एक पुराना मन्दिर था। वटवृक्ष की जटाओं के सहारे वे उस मन्दिर के शिखर पर हाथ में कलश लिये जा बैठे। बैठे-बैठे मन ही मन सोचने लगे कि देखें दैव अब क्या २ दृश्य दिखाता है।

दूसरी ओर, जब पहरे वालों और ब्रह्मचारीजी के पिता को पता लगा कि वे भाग गये हैं तो वहां हलचल मच गई। उन्हें पकड़ने के लिये चारों ओर मनुष्य दौड़ पड़े। ढूंढते-ढूंढते ये लोग उस उद्यान में भी पहुंचे जहां ब्रह्मचारीजी छिपे बैठे थे। मन्दिर के भीतर-बाहर ढूंढा, मालियों से भी पूछताछ की, परन्तु कोई पता न चला। अन्त को निराश होकर वे लोग उद्यान की ओर से चले आये। यह दृश्य रात्रि के चार बजे तक ब्रह्मचारीजी के सामने होता रहा, परन्तु वे ऐसे दबक बैठे थे कि हिलना-जुलना, खांसना-खखारना तो दूर रहा, श्वास-प्रश्वास की गति भी वश में किये हुए थे। सारा दिन इस घोर कष्ट में और उपवास में उन्होंने वहीं बैठे-बैठे बिताया। जब रात के सात बजे तो उस समय कुछ अन्धेरा हो गया था। ब्रह्मचारीजी मन्दिर की चोटी से नीचे उतर आये और सड़क छोड़ कर आगे चल पड़े। किसी से गांव आदि का भी नाम पूछ लिया। उस उद्यान से दो कोस के अन्तर पर जाकर उन्होंने एक ग्राम में विश्राम

किया। प्रातःकाल होने पर उस गांव से भी प्रस्थान कर गये। ब्रह्मचारीजी का बंधुमिलाप-पितृदर्शन-सिद्धपुर में अन्तिम ही समझना चाहिए।

ग्राम-ग्राम और नगर-नगर विचरते हुए वे अहमदाबाद से बड़ौदा नगर में आकर कुछ काल ठहर गए। यहां चैतन्य मठ में कुछ ब्रह्मचारी और संन्यासी रहते थे। उनसे शुद्धचैतन्यजी का वेदान्त विषय पर बहुत वार्तालाप हुआ करता था। वहां रहनेवालों में ब्रह्मानन्दजी आदि ब्रह्मचारी और संन्यासी लोग वेदान्त में बहुत घुटे हुए थे। उन्होंने अपनी कोटियों और पंक्तियों को सुना-सुना कर शुद्धचैतन्यजी को पक्का वेदान्ती बना दिया। यद्यपि पहिले वेदान्त-शास्त्र के अध्ययनकाल से उनका विचार उस ओर कुछ झुक गया था परन्तु मठ में तो उनपर ऐसा रंग चढ़ा कि वे स्वात्मा से भिन्न सबको मिथ्या मानने लगे, और उन्होंने अपने आपको ब्रह्म कहना आरम्भ कर दिया।

श्री शुद्धचैतन्यजी ने यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य को अपने ऊपर घटा लिया था, परन्तु इससे उनके उन्नतिशील अंतःकरण में जो जिज्ञासा की ज्योति जग रही थी वह वेदान्त की फोकी फक्किकाओं से शान्त नहीं हुई। इसलिए वाराणसी की रहनेवाली एक बाई के मुख से ज्योंही उन्होंने सुना कि नर्मदा-तट पर बड़े-बड़े विद्वानों की एक बड़ी सभा होने वाली है वे तुरन्त बड़ौदे से नर्मदा की ओर चल पड़े। वहां पहुंच कर वे एक सच्चिदानन्द नाम के परमहंस से मिले और उनसे अनेक प्रकार की ज्ञानचर्चा करते रहे। सच्चिदा-नन्दजी ने उन्हें बताया कि इसी नर्मदा के तट पर चाणोदकर्नाली में बड़े-बड़े विद्वान् ब्रह्मचारियों और संन्यासियों की एक मण्डली आजकल ठहरी हुई है। उस मण्डली के महात्माओं से मिलकर आपको विशेष लाभ होगा। जैसे कर्मयोग के आदर्शस्वरूप श्री राम दण्डकारण्य में विचरते हुए जहां कहीं दूर-समीप ऋषि-मुनियों का आश्रम सुन पाते सत्संग जिज्ञासा से वहां पहुंच जाते थे, उसी प्रकार अमर जीवन की जड़ों को जानने के आदर्शभूत जिज्ञासु श्री शुद्ध-चैतन्यजी चाणोदकर्नाली में जा विराजे। उन्होंने वहां श्रीचिदाश्रम आदि सच्चे विद्वान् संन्यासियों की भेंट प्राप्त की। कई सुयोग्य पण्डित ब्रह्मचारियों का भी मिलाप उपलब्ध किया और वे अनेक शास्त्रीय, पारमार्थिक विषयों पर वार्तालाप करके ज्ञानगोष्ठी का सुख अनुभव करते रहे। वहीं एक परमानन्द

नाम के परमहंस विराजते थे। श्री शुद्धचैतन्यजी ने उनके पास अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। कई मास के अध्ययन से उन्होंने वेदान्तसार, आर्य हरिमीडे तोटक, आर्य हरिहर तोटक और वेदान्त-परिभाषा-प्रमुख ग्रन्थ पढ़ लिये।

चौथा सर्ग

अपनी ब्रह्मचर्य-दीक्षा की पद्धति के अनुसार शुद्धचैतन्यजी अपने हाथ का पका ही खाते थे। इस कारण उनके विद्याध्ययन में बाधा पड़ती थी। सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं से वे पहिले ही विमुक्त हो चुके थे, परन्तु फिर भी आश्रम-शैली से यथाविधि संन्यास लेने में उन्होंने दो लाभ देखे—एक तो भोजन बनाने के बखेड़े से बच जायँगे और दूसरे चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने से नाम और आकृति आदि में परिवर्तन हो जाने पर कोई उन्हें पहचान भी न सकेगा। इस प्रकार पिता आदि द्वारा पकड़े जाने का भय भी जाता रहेगा। इस प्रकार सोच कर वे संन्यास ग्रहण करने के लिये सर्व प्रकार सन्नद्ध हो गये। उन्होंने अपने एक मित्र दक्षिणी पण्डितद्वारा स्वामी श्री चिदाश्रमजी को कहलाया कि आप शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारीजी को संन्यास-दीक्षा देना स्वीकार कीजिए। परन्तु उस परमदीक्षित संन्यासीप्रवर ने यह कह कर कि ब्रह्मचारी अभी युवक है, अपनी अस्वीकृति प्रकाशित कर दी।

श्री चिदाश्रमजी के संन्यास न देने से शुद्धचैतन्यजी का उत्साह भंग न हुआ। वे विद्याध्ययन में, योग-साधन मे स्वसमय यापन करते और किसी अन्य महाभाग संन्यासी का प्रतीक्षण करते कि जिससे सँन्यास ग्रहण कर सर्वथा निर्द्वन्द्व हो जायं। सन्तों के सत्संग में, मुनियों के विमल मिलाप में विद्याविनोद में, शास्त्र-चर्चा में, आत्मिक आराधन, चिन्तन और ध्यान में शुद्धचैतन्यजी ने नर्मदा-तट पर डेढ़ वर्ष व्यतीत किया। इस समय उनकी आयु २४ वर्ष २ मास की हो गई थी।

एक दिन श्री शुद्धचैतन्यजी ने किसीसे सुना कि चाणोद से डेढ़ कोस के अन्तर पर जङ्गल में एक दाक्षिणात्य दण्डी स्वामी आकर विराजे हैं। वे बड़े विद्वान् उत्तम संन्यासी हैं। उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी है। तब शुद्धचैतन्यजी

अपने उपर्युक्त मित्र दक्षिणी पण्डित को साथ लेकर प्रशंसित दण्डीजी की सेवा में उपस्थित हुए और सादर नमस्कार करने के पश्चात् पास बैठकर उन्होंने वार्त्तालाप करना आरम्भ कर दिया। ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी अनेक विषयों पर बातचीत होती रही। अन्त में श्री चैतन्यजी को निश्चय हो गया कि दण्डीजी महाराज और उनके संगी ब्रह्मचारी दोनों ब्रह्मविद्या में निपुण हैं। दण्डीजी का शुभनाम पूर्णानन्द सरस्वती था। शुद्धचैतन्यजी के हृदय में उनसे संन्यास ग्रहण करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। तब उन्होंने अपने मित्र पण्डितजी को संकेत किया कि दण्डीजी के सम्मुख उनके संन्यास का प्रस्ताव करें। पण्डितजी ने निवेदन करते हुए कहा—"दण्डीजी महाराज! यह विद्यार्थी ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य अति सुशील और विनीत है। ब्रह्मविद्या पढ़ने के लिए अतीव उत्कण्ठित है। परन्तु क्या करे, भोजन बनाने के बखेड़े ही में इसका बहुत सा समय व्यर्थ व्यय हो जाता है, जिससे यथारुचि विद्याध्ययन नहीं कर सकता। इसकी कामना के अनुसार, आप कृपा करके इसे चतुर्थ प्रकार का संन्यास दे दीजिये।"

यह प्रार्थना सुनकर, उक्त स्वामीजी ने, शुद्धचैतन्यजी की भरपूर युवावस्था के कारण उन्हें संन्यास देने से एक बार तो जी हटा लिया। पर पण्डितजी के अधिक आग्रह से संन्यास की अनुमति देते हुए यह कहा कि यदि ये पूर्ण वैराग्यवान् हैं तो किसी गुजराती संन्यासी से दीक्षा लें, हम तो महाराष्ट्र हैं। पण्डितजी बोले—"महाराज, दक्षिणी संन्यासी गौड़ों को, जो पंच द्राविड़ों से बाहर हैं, संन्यास दे देते हैं तो आप इसे संन्यास क्यों नहीं देते? यह गुर्जर ब्राह्मण हैं। और यह तो आप जानते ही हैं कि गुर्जर पंच द्राविड़ों में गिने जाते हैं।" पण्डितजी की अन्तिम युक्ति से दण्डीजी ने संन्यास देना स्वीकार कर लिया और अति प्रसन्नता प्रकाशित करते हुए श्री शुद्धचैतन्य मुमुक्षु को व्रत, उपवास और जपादि क्रियानुष्ठान करने का आदेश किया।

दो दिन तक जपादि साधनों को यथाविधि करके तीसरे दिन ब्रह्मचारीजी दण्डीजी की सेवा में उपस्थित हुए। उनसे उसी दिन श्राद्ध करा के, दण्डी स्वामीजी ने विधिपूर्वक संन्यास धारण कराया। हाथ में दण्ड अवलम्बन करा कर उनका नाम 'दयानन्द सरस्वती' उद्घोषित किया। विनय से नम्रशिर, नव-

शिष्य को स्वामी पूर्णानन्दजी ने यतियों के धर्म बताए, संन्यास की रीति-नीति का उपदेश दिया। आश्रम-मर्यादा, विद्योपार्जन और जप-तप आदि के करने की शिक्षा की। वे कई दिन तक गुरुचरणों में बैठकर बड़ी विनीतता से ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ पढ़ते रहे। अब, उन्होंने गुरु-आदेश के अनुसार विद्याराधना में विघ्नकारी जानकर दण्ड को विसर्जन कर दिया। स्वामी पूर्णानन्दजी शृंगेरी मठ से द्वारिका को जाते हुए मार्ग में कुछ दिनों के लिये 'चाणोद' में ठहर गये थे। कुछ दिन के पश्चात जब वहां से चलने लगे तो उनके नूतन शिष्य दयानन्द ने बड़ी पूजा और सम्मान से गुरुचरणों में प्रणाम किया। स्वामीजी महाराज बड़े वात्सल्य-भाव को प्रदर्शित करते हुए उनसे विदा होकर द्वारिका दर्शन को चल पड़े। स्वामी दयानन्द सरस्वती पीछे कई दिनों तक चाणोद ही में टिके रहे।

एक दिन उन्होंने सुना कि व्यासाश्रम में योगानन्दजी एक महात्मा विराजमान हैं और वे योग की क्रियाओं में कुशल हैं। उस महात्मा के मिलाप की उत्सुकता से प्रेरित होकर वे व्यासाश्रम में जा पहुंचे। वहाँ उन्होंने उक्त महात्मा से योगविद्या के रहस्य सुने और इसकी पुस्तकें भी अच्छी तरह पढ़ीं। योग की क्रियाओं को सीख लेने के अनन्तर उन्होंने सुना कि छिन्नाड़े में कृष्ण-शास्त्री नाम का एक धुरन्धर वैयाकरण पण्डित रहता है। वे व्याकरण के अध्ययन की लालसा से उस ग्राम में जा विराजमान हुए। कुछ काल तक कृष्ण-शास्त्रीजी से व्याकरण के ग्रन्थ पढ़ कर फिर चाणोद कर्नाली में पधारे और वहां एक राजगुरु से वेदाध्ययन करने लगे।

स्वामी दयानन्दजी की सत्य के जानने की इच्छा और योगविद्या की प्राप्ति की परम लगन साधु-सन्तों के शुभ दर्शनों और शान्तिदायक सत्संगों के लिये सदा उत्साहित करती रहती थी। नई-नई विद्यायें सीखने के लिये वे सदा उत्सुक रहते थे। किसी महात्मा के समीप जाने में उन्हें कभी संकोच न होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने गृहपरित्याग करते ही सबसे पहले अहङ्कार के कांटे को हृदय की भूमि से उखाड़ फेंका था, मान को मर्दन कर दिया था, सङ्कीर्णता सर्वथा छोड़ दी थी और तब आत्म-प्रेम-प्रसादी मांगने के निमित्त ज्ञान की झोली हाथमें लिये श्रद्धापूर्वक कुटी-कुटी और द्वार-द्वार पर चक्कर

बताने लगे थे। यह हो नहीं सकता कि ऐसे श्रद्धालु जिज्ञासुओं की कामनायें पूर्ण न हों। सच है 'जिन ढूँढा तिन पाया'।

चाणोद कर्नाली में स्वामी दयानन्दजी ने दो महात्माओं के दर्शन प्राप्त किये। इनमें से एक का नाम ज्वालानन्दपुरी और दूसरे का नाम शिवानन्दगिरि था। ये दोनों महानुभाव प्रसन्नचित्त, प्रशान्तात्मा, योगी थे। स्वामी दयानन्दजी अपने अहोभाग्य मानकर लगे उनके मङ्गल-मिलाप का लाहा लूटने। योगी महात्माओं ने भी जान लिया कि यह जिज्ञासु आत्मपिपासु है, इसलिए उसे अपने साथ मिलाकर अभ्यास आरम्भ कराया। अभ्यासानन्तर तीनों मिलकर योगशास्त्र की चर्चा किया करते थे। कुछ काल के उपरान्त वे दोनों योगी अहमदाबाद चले गये और दयानन्दजी को आदेश कर गये कि एक मास के पश्चात् आप हमारे पास अहमदाबाद में आइएगा, उस समय हम आपको योगसाधन के सम्पूर्ण गूढ़तत्त्व क्रियाओं सहित भली-भांति समझा देंगे। वहां हमारा आसन नदी के किनारे दूधेश्वर महादेव के मन्दिर में होगा।

स्वामी दयानन्दजी चाणोद में रहकर एक मास तक जप-तप क्रियानुष्ठान करते रहे। फिर महात्माओं की आज्ञानुसार अहमदाबाद चले गये। सीधे दूधेश्वर के मन्दिर में जाकर उनके दर्शनों से कृतार्थ हुए वहाँ उन सन्तशिरोमणियों की शुभ संगति में रातदिन रहकर, आत्म-तृष्णा की परितृप्ति में परायण रहते थे। प्रतिदिन के सहवास से योगिराज ने समझ लिया कि स्वामी दयानन्दजी एक उत्तम-कोटि के सुपात्र हैं। इन्हें योग-तत्त्वों के अमूल्य रत्नों से आकण्ठ भर देना चाहिए। उन्होंने योग का प्रत्येक भेद और रहस्य स्वामी दयानन्दजी को बताया। उन योगियों की शुभ कामना से श्री स्वामीजी को जो लाभ हुए उनका उन्होंने अपनी कृतज्ञता के साथ इस प्रकार वर्णन किया है—"वहां उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अपने कथनानुसार मुझे निहाल कर दिया। उन्हीं महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया-समेत पूर्ण योगविद्या भली-भांति विदित हो गई। इस लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। वास्तव में उन्होंने मुझपर एक महान् उपकार किया। इस कारण मैं उनका विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ।"

चिरकाल तक योगिजनों के सत्संग से कृतकृत्य होकर श्री स्वामीजी ने आबू पर्वत की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने सुना था कि आबू पर बहुत से

योगीजन रहते हैं, इस कारण इस पर्वत पर आकर महात्माओं के मिलापार्थ यत्न करने लगे। वहाँ अर्बुदा भवानी नाम के पर्वत शिखर पर तथा अन्य अनेक स्थानों में उनकी सन्त-महात्माओं से भेंट हुई। यहाँ के कई योगी, पूर्वोक्त दो योगियों से विशेष रूप से आगे बढ़े हुए थे। उनसे भी स्वामीजी ने विशेष योग-तत्त्वों की प्राप्ति की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों का पर्यटन करते हुए स्वामीजी महाराज महात्माओं के मिलाप से, विद्वानों के सम्पर्क से, अभ्यासियों के मेलजोल से, और योगी सन्तों के शुभ संग से आत्मिक उन्नति करते रहे, शान्ति के साधनों का संचय करते रहे। वे विद्यार्थी बनकर सबके पास गये और जिससे जो भी कुछ शुभ प्राप्त हुआ, उसे कृतज्ञता से धारण करते रहे।

इस प्रकार यतियों-मुनियों को मिलते हुए स्वामीजी महाराज वैशाख सम्वत् १९१२ में होनेवाले कुम्भ के महामेले पर हरिद्वार पधारे। उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। उनके यहाँ आने का प्रयोजन यह था कि कुम्भ पर बहुत से योगीजन गुप्त रूप से आकर रहते हैं, जिनको साधारण जन नहीं जान सकते; उनसे मिलकर ज्ञान-चर्चा करेंगे। गंवार के लिए कंकड़ और हीरा समान है। परन्तु उनमें कौन महत्त्ववान् है, यह बात जौहरी तुरन्त जान जाता है। स्वामी दयानन्द इसी प्रकार महान् साधु-समारोह में, अपनी परख के प्रभाव से, उत्तमोत्तम सन्तों को मिलते थे। हर की पैड़ियों की ओर बड़ी भारी भीड़ और महान् कोलाहल था। मनुष्य पर मनुष्य गिरता था, कन्धे से कन्धा छिलता था। संकीर्ण भूमि जन-संघट्ट से समाकुल थी। सर्वत्र अगणित मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। जहाँ देखो, जूठी पत्तलें और उच्छिष्ट-सहित पत्ते पड़े थे। तट-समीप-वाहिनी गङ्गाधारा भी लाखों नरनारियों के नहाने से, वस्त्रों के धोने से, बर्तनों के प्रक्षालन से, नांगों के देह की राख से शुद्ध तो कहाँ, निर्मल भी न रही थी। धूलि से भूतलाकाश एक हो रहा था। गङ्गा का यह किनारा, ध्यानसमाधि तो कहाँ, सुख से विश्राम लेने के भी अयोग्य हो गया था। इसी कारण महात्मा दयानन्दजी महाराज, जो योग-साधन-परायण थे, मेले के दिनों में गङ्गा के उस पार, चण्डी पर्वत के जंगल में निवास करते रहे। ऐसे मेलों पर आये अन्य योगीजन भी प्रायः नदी के उसी पार रहा करते हैं।

मेले के पश्चात् स्वामी जी महाराज ने हृषीकेश की यात्रा की। यहां उत्तम महात्मा-संन्यासियों के समीप रह कर योग-साधन की रीतियां सीखीं, निर्मल-चित्त और विशुद्ध आत्माओं का सत्संग लाभ लिया। उष्णता के विशेष बढ़ जाने से सन्त लोग गंगा के उपरिभागों में चले जाते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्दजी बहुत दिनों तक हृषीकेश में ही अकेले विराजते रहे।

एक दिन यहां उन्हें एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मिले, परस्पर अधिक परिचय हो जाने से स्वामीजी उनके साथ टिहरी की यात्रा में प्रवृत्त हुए। टिहरी नगर के बाहर उन्होंने किसी स्वच्छ स्थान में आसन किया। यह नगर उस समय विद्यावृद्ध साधुजनों के निवास और बहुत से सुपठित राज-पण्डितों के कारण प्रसिद्ध था। एक दिन का वर्णन है कि एक राजपण्डित ने स्वामीजी के आसन पर आकर उन्हें गृह पर भोजन पाने के लिये सादर निमन्त्रित किया। नियत समय पर उनको लिवा लाने के लिये एक पुरुष भी आया। स्वामी दयानन्दजी और उनका साथी ब्रह्मचारी दोनों निमन्त्रणदाता गृहस्थ के गृह पर गए। गृहद्वार से आगे बढ़ते ही स्वामीजी को अत्यन्त घृणा आई, क्योंकि उन्होंने देखा कि एक पण्डित मांस काट-काट कर पका रहा है। कुछ अधिक आगे जाने पर उन्होंने देखा कि मांस और अस्थियों के ढेर और पशुओं के भुने हुए सिरों पर कई पण्डित छुरी आदि से कार्य कर रहे हैं। इस सारे तान्त्रिक दृश्य को देख स्वामीजी घृणा से व्याकुल और आश्चर्य से चकित हो गए। इतने में उन्हें आते देख गृहपति सम्मानपूर्वक स्वागत के लिये सन्मुख आया। उसने आदर से कहा—"कृपया बिना संकोच भीतर चले आइए।" परन्तु स्वामीजी को तो घृणा के कारण वहां एक क्षण ठहरना भी भारी प्रतीत हो रहा था। इस लिये यह कह कर "आप अपना काम करते जाइए, मेरे लिए कुछ कष्ट न कीजिए" वे झट वहां से लौट पड़े और अपने स्थान पर आकर विश्राम लिया। थोड़े समय के अनन्तर वह गृहपति स्वामीजी के पास फिर आया और उनके लौट आने पर दुःख प्रदर्शित करता हुआ बोला—"कृपया चलिए, गृह पर भोजन पाइए। न जाने, आप क्यों पीछे लौट आये हैं। हमने तो आपके निमित्त मांसादि उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत किये हैं।" स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया—"यह सब वृथा और निष्फल है, क्योंकि आप

मांस-भक्षी हैं। मांस का खाना तो दूर रहा, मैं तो उसके देखने से रोगी हो जाता हूं। मेरे योग्य तो केवल फलादि हैं। यदि आप मेरा न्योता करना ही चाहते हैं तो कुछ अन्न और फल आदि वस्तु भिजवा दीजिये। मेरा ब्रह्मचारी यहीं पर भोजन बना लेगा।" यह सुन कर वह पण्डित अपने किए पर लज्जित हुआ और घर पर जा कर उसने अन्न-फलादि स्वामी निर्दिष्ट पदार्थ उनके स्थान पर पहुंचा दिये।

स्वामीजी महाराज कई दिनों तक टिहरी में रहे। वह निमन्त्रणदाता पण्डित उनके पास आने जाने लग गया। स्वामीजी ने उससे प्रसिद्ध परन्तु दुष्प्राप्य पुस्तकों का पता आदि पूछा। उसने बताया कि यहां बड़े बड़े कवियों के रचे हुए संस्कृत, व्याकरण, कोष, और तंत्र-ग्रन्थ मिल सकते हैं। श्री स्वामीजी ने उन दिनों तक तन्त्र-ग्रन्थों का अवलोकन नहीं किया था, इस कारण पण्डितजी को तंत्र-ग्रन्थ ले आने के लिये कहा। वह स्वल्प समय में कुछ-एक तंत्र-पुस्तकें स्वामीजी को दे गया। स्वामीजी उनमें से एक पुस्तक को उठा कर ज्यों-ही खोल कर पढ़ने लगे तो अकस्मात् उनकी दृष्टि एक ऐसे लेख पर पड़ी, जिसमें अत्यन्त लज्जाजनक, अशुद्ध और ऊटपटांग बातें लिखी हुई थीं। उस लेख को पढ़ कर वे कांप उठे। उन्होंने उस पुस्तक में यह लिखा देखा कि माता, भगिनी, कन्या, चूहड़ी, चमारी से अनुचित सम्बन्ध धर्म है। मद्य तथा मत्स्य आदि अनेक जन्तुओं के मांस का सेवन, और ब्राह्मण से लेकर चाण्डालपर्यन्त सबका एक स्थान में भोजन करना तंत्र-धर्म में विहित है। यह भी लिखा देखा कि मद्य, मांस, मछली, मुद्रा और मैथुन इन पांच मकारों के सेवन से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार के लेख तंत्र-ग्रन्थों में पढ़ कर स्वामीजी को पूर्ण निश्चय हो गया कि उनके रचयिता कवि धूर्त, स्वार्थी और दुष्ट थे।

टिहरी से प्रस्थान कर स्वामीजी ने श्रीनगर में पधार केदार घाट पर एक मंदिर में आसन लगाया। श्रीनगर के पण्डितों से उनकी जब कभी बातचीत होती तो स्वामीजी, टिहरी में पढ़े हुए तंत्र ग्रन्थों के प्रमाणों से उन्हें ऐसा लज्जित करते कि वे अपनी हार स्वीकार कर लेते। श्रीनगर के समीप, एक वनावृत पहाड़ी पर, गंगागिर नाम के एक अच्छे विद्वान् महात्मा निवास

करते थे। वे महात्मा दिन के समय कभी उस पहाड़ी से नीचे नहीं उतरते थे। स्वामी दयानन्दजी का उस एकान्तवासी शान्तात्मा के साथ मिलाप हो गया। प्रतिदिन के वार्तालाप से दोनों परस्पर मित्र हो गये। वे नित्यप्रति मिलकर योगादि उत्तम-उत्तम विषयों की चर्चा में समय बिताते। नित्य के समागम और तर्क-वितर्क से स्वामीजी को यह निश्चय हो गया कि हम और गंगागिरिजी आपस में मिलकर रहने के सर्वथा योग्य हैं। स्वामीजी को तो उस एकान्तवासी महात्मा की संगति ऐसी अच्छी लगी कि वे दो मास से अधिक काल तक उनके साथ रहे।

ग्रीष्म-ऋतु के आरम्भ में गङ्गागिरिजी से विदा होकर श्री स्वामीजी अपने एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओं-सहित, केदारघाट से चलकर रुद्रप्रयाग आदि स्थानों में घूमते हुए अगस्त्य मुनि की समाधि पर पहुँचे। इस स्थान से उत्तर की ओर आगे एक पर्वत-शिखर 'शिवपुरी' नाम से प्रख्यात है। स्वामीजी उस पर गये। वहां उन्होंने शरद् ऋतु के चार मास व्यतीत किये। शिवपुरी से पीछे लौटते समय स्वामीजी ने साथियों के संग को भी एक प्रकार का खटका ही समझा; इसलिए उनसे पृथक् होकर एकाकी फिर केदारघाट में आ गये। वहाँ से जाकर कुछ समय गुप्तकाशी में रहे। गुप्तकाशी से गौरीकुण्ड, भीमगुफा, त्रियुगी नारायण होते हुए थोड़े ही दिनों में तीसरी बार फिर केदारघाट में सुशोभित हुए। केदारघाट का वास उन्हें अतिप्रिय था और यहाँ गङ्गागिरिजी का सत्सङ्ग-सुख भी मनोभावन था। इसलिए इस बार वे वहाँ चिरकाल तक उस स्थान में रहे जहाँ जंगम जाति के कुछ-एक पुजारी ब्राह्मण निवास करते थे। इसी बीच में स्वामीजी के साथी दोनों पर्वतीय साधु और एक ब्रह्मचारी भी उन्हें आ मिले। यहाँ स्वामीजी केदारघाटवासी ब्राह्मणों और पण्डितों की करतूतों को भी देखते रहे। उन लोगों की जो बातें स्मरण रखने योग्य थीं उन्हें वे ध्यानगत कर लेते। जब वहाँ रहते हुए स्वामीजी ने वहाँ वालों की रीति और प्रकृति को भलीभाँति समझ लिया तब उनके मन में निकटवर्ती हिममण्डित हिमालय की पर्वतमालाओं में भ्रमण करने की उमङ्ग पैदा हुई। उन्होंने चलते समय सुदृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, जिन सन्तों-सिद्धों की इतनी कथायें-वार्तायें सुनते आये हैं उनका पता अवश्य लगाना चाहिये। वे

महात्मा इन शिखरों और गिरि-गुहाओं में हैं भी या नहीं ?—इसका निश्चय करना चाहिये। दुर्गम, विषम पर्वतों की यात्रा की कठिनाइयाँ स्मरण कर, शरदऋतु के दिनोंदिन बढ़ते हुए अति शीत को सोचकर स्वामीजी ने पहले पर्वतवासियों से महात्माओं के सम्बन्ध में पूछना-ताछना आरम्भ कर दिया। इस सारे प्रयत्न से उन्हें पता लगा कि पर्वतवासी भोले-भाले लोग एक तो भ्रममूलक गप्पें हाँकते हैं और दूसरे महात्माओं के विषय में अनभिज्ञ हैं। स्वामीजी के साथी शीत से पीड़ित होकर दो दिन पहले ही उन से पृथक् हो गये थे, इसलिए वे अकेले ही हिमाच्छादन से श्वेत, आकाश-स्पर्शी, अति उत्तुङ्ग और अतिशीतल शैलशिखरों के ऊपर-नीचे, इधर-उधर बीस दिन तक घूमकर पीछे लौट आये, परन्तु उन्हें किसी महात्मा का साक्षात् न हुआ।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने तुङ्गनाथ की चोटी पर चढ़ना आरम्भ किया। वहाँ पहुँच कर उस स्थान के मन्दिर को उन्होंने मूर्तियों और पुजारियों से परिपूर्ण पाया। पुजारियों के ऐसे जमघटे को देख वे उसी दिन वहाँ से उतर आये। परन्तु कुछ आगे चलकर उन्हें दो मार्ग दीख पड़े। उनमें से एक मार्ग पश्चिम को जाता था और दूसरा नैऋत्य को। इनमें से स्वामीजी उस ओर झुके, जो एक बड़े विकट वन को जाता था। थोड़ी दूर जाने पर ही वे ऐसे सघन अरण्य में जा निकले जो बड़ी-बड़ी शिलाओं और छोटे-मोटे अगणित पत्थरों से आकीर्ण था। वहाँ के नाले जलहीन और भयावने हो रहे थे। इस पर विपत्ति यह कि आगे चलने के लिए मार्ग का कोई चिन्ह तक न दिखाई पड़ता था। इस प्रकार वृक्षसमूह से घनीभूत, लता-पताओं से आवृत, विषम वन में स्वामीजी महाराज घिर गये। नभभेदी घने वृक्षों के घोर आवरण ने सूर्य के प्रकाश को रोका हुआ था। इसलिए दिन के समय ही उन्हें रात-सी प्रतीत होने लगी। ऐसी दशा में स्वामीजी ने सोचा कि अब ऊपर को लौटें या नीचे को ही चलते चलें। पहले उन्होंने ऊपर की ओर दृष्टि डाली। जो मार्ग उतरते समय, अति ढलवान के कारण सुगम-सा जान पड़ा था वही अब एक सीधी रेखा के समान, चोटी तक खड़ा दिखाई दिया; इसलिए फिर ऊपर चढ़ना उन्होंने प्रायः असम्भव समझा। सोच विचार कर उन्होंने निर्धारित कर लिया कि नीचे उतरने से ही निस्तार होगा। तब वे शुष्क घास और झाड़ियों को, पत्रहीन सूखी शाखाओं को पकड़

पकड़ कर एक नाले के तट पर आ पहुँचे। वहाँ एक ऊपर को उठी हुई शिला पर आरूढ़ होकर उन्होंने चहुँ ओर दृष्टि डाली। उन्हें पर्वतों की अगम्य चोटियों और मनुष्य के चलने के लिये असम्भव जटिल जङ्गल के बिना और कुछ भी दिखाई न पड़ा। उस समय सूर्य भी अस्त ही हुआ चाहता था। ऐसे कड़े काल में, स्वामीजी महाराज के चित्त में चिन्ता की रेखा रह-रह कर उत्पन्न होती थी। वे सोचते थे कि ऐसे सुनसान निर्जन वन में, जहाँ पीने को पानी नहीं, निशा के घोर शीतपात से परित्राण पाने के लिए अग्नि जलाने का कोई साधन नहीं, मेरी क्या दशा होगी। अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया—

पुरुषार्थ और यत्न को कभी न त्यागे धीर,
सकल विघ्न को बाध कर अन्त सफल हों वीर।

परन्तु उस विकट जङ्गल में ऐसे स्थानों में से हो कर निकलना पड़ा जहाँ कण्टकाकीर्ण झाड़ियों में उनके वस्त्र उलझ कर खण्ड-खण्ड हो गए। नुकीले पत्थरों की ठोकरों से और काण्टों के चुभने से उनके पांव लहू हो गये, शरीर पर भी घाव दीखने लगे। रक्त बहता था, वेदना होती थी। अन्त को, दुःख-संकट सहते हुए बड़ी कठिनता से उस गहन वन को पार करके नीचे—तुङ्गनाथ पर्वत की तलेटी में—आ पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि अब वे साधारण मार्ग पर गमन कर रहे हैं। उस समय निस्तब्ध, नीरव रजनी का राज्य था। सर्वत्र अन्धकार छा रहा था। इसलिये स्वामीजी बड़ी सावधानी से मार्ग टटोल टटोल कर चल रहे थे। वे बड़े ध्यान से मुख्य मार्ग से इधर-उधर होने से बचते थे। अन्ततः वे चलते-चलते एक ऐसे स्थान पर आ पहुँचे जहाँ कतिपय पर्ण-कुटियां दीख पड़ीं। पूछने पर पता लगा कि जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह ओखी मठ को जाता है। महाराज आगे चल पड़े और बड़ी रात बीते ओखी मठ में पहुँचे।

शेष रात उन्होंने उसी मठ में निश्चिन्तता से काटी। प्रातःकाल जब सुख-पूर्वक सो उठे तो उत्तर की ओर चल पड़े। परन्तु थोड़ी दूर जाकर उन्हें लौट आना पड़ा; क्योंकि मठ को देखने की अभिलाषा उनके मन में ही रह गई थी। साथ ही वे वहां के कन्दरा-निवासी साधुओं की भी अवस्था को जानना चाहते थे। पीछे लौट आने से स्वामीजी को मठ देखने का एक अच्छा अवसर मिल

गया। उस समय मन्दिर में ऐसे साधुओं की भरमार थी जो प्रायः पाखण्डपरायण थे। वे लोग बड़े आडम्बर से रहते थे। स्वामीजी के ज्ञान और गुणों पर उस मठ का मुख्य महन्त मोहित हो गया और चेला बन जाने के लिये उन्हें प्रेरणा करता हुआ बोला—"यदि हमारे शिष्य बन जाओ तो गद्दी के स्वामी हो जाओगे। लाखों रुपयों की सम्पत्ति तुम्हारे हाथ में हो जायगी। तुम महन्त कहलाओगे, इसलिये मान-प्रतिष्ठा का भी पार न रहेगा। इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक यथेष्ट सुख भोगोगे।"

ओखीमठ के महन्त का वह प्रलोभनपूर्ण सूत्र महात्यागी दयानन्द को बांधने के लिये उतना ही दृढ़ था जितना ऐरावत हाथी को बद्ध करने के लिये सूत का कच्चा तार। महाराज ने महन्त को कहा कि यह तुम्हारा कथन सब व्यर्थ है। मेरे पिता की सम्पत्ति आप की पूजापाठ के पाखण्ड द्वारा एकत्रित की पूंजी से कई गुना अधिक है। जब मैं उसे भी काष्ठ-लोष्ठ समान त्याग आया हूँ तो आपके धन-धान्य की ओर कब ध्यान कर सकता हूँ! जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने सकल सांसारिक सुखों से मुख मोड़ा और ऐश्वर्यशाली पितृ-गृह को सदा के लिये छोड़ा है, मैं देखता हूँ उस उद्देश्य पर न तुम चलते हो और न उसका तुम लोगों को कुछ ज्ञान ही है। इस अवस्था में चेला बनना तो दूर, मेरा तुम्हारे पास रहना भी असम्भव है।

वह महन्त स्वामी मुख से लक्ष्मी के तिरस्कार के वचन सुन कर कहने लगा कि अच्छा, बताइए—आपका वह उद्देश्य क्या है? किस वस्तु की जिज्ञासा में मग्न तुम इतने कष्ट-क्लेश उठा रहे हो? श्री स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि मैं सत्य योग-विद्या और मोक्ष चाहता हूँ। जब तक यह प्रयोजन सिद्ध न होगा तब तक तपश्चर्या करता हुआ मनुष्यमात्र के कर्तव्य स्वदेशोपकार को बराबर करता रहूँगा। वह महन्त उनके महात्याग और उच्च उद्देश्य को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला, "यह बहुत अच्छी बात है। पर कुछ दिन तो हमारे समीप निवास करो।" स्वामीजी बहुत वार्तालाप में कुछ सार न देख उस समय तो मौन रहे, परन्तु अगले दिन प्रातःकाल ही उठकर जोशी मठ की ओर चले गये।

जोशीमठ में संन्यासाश्रम की चौथी श्रेणी के बहुत से सच्चे महाराष्ट्र संन्यासी वास करते थे। श्री स्वामीजी ने भी उन्हीं के समीप अपना निवास नियत किया। वहाँ उन्हें कई योगीजन सत्संग के लिए मिल गये। स्वामीजी ने उनसे कई नवीन भेद भी प्राप्त किये और साथ ही विद्वान् साधु-सन्तों से परमार्थ-विषयक वार्त्तालाप करते रहे।

पाँचवां सर्ग

जोशीमठ से प्रस्थान कर स्वामीजी बद्रीनारायण पहुँचे। वहाँ के मुख्य महन्त उस समय 'रावलजी' थे। स्वामीजी ने उनके निकट कई दिन तक निवास किया। कभी-कभी रावलजी के साथ स्वामीजी का वेदों और दर्शनों पर बड़ा वादविवाद छिड़ जाया करता था। एक दिन स्वामीजी ने रावलजी से पूछा कि आसपास के पर्वतों में कोई सच्चा योगी भी निवास करता है? रावलजी ने अति शोक के साथ कहा कि इन दिनों इधर कोई ऐसा योगी महात्मा नहीं है, परन्तु मैंने सुना है कि इस मन्दिर के दर्शनार्थ प्रायः योगीजन आया करते हैं।

वहीं श्री स्वामीजी ने दृढ़ सङ्कल्प कर लिया कि इस समस्त प्रान्त में और विशेषतः पार्वत्य प्रदेशों में सर्वत्र भ्रमण करके ऐसे महापुरुषों का अन्वेषण अवश्यमेव करेंगे। एक दिन सूर्योदय के साथ वे बद्रीनारायण से चल पड़े और पर्वत के पाँव के साथ चलते हुए अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुँचे। नदी के दूसरे पार एक 'मांस' नामक ग्राम था। उसे वे पहले कभी देख चुके थे, इसलिए उस पार न जाकर पूर्वावलम्बित तट के साथ-साथ नदी के ऊपर की ओर जाने लगे। पर्वतों की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, सघन-हिममयी चिट्टी चादर ओढ़े स्फटिक की भाँति, ऐसी चमक रही थीं कि देख कर आँखों में चकाचौंध लगता था। अलखनन्दा का जल उसके बहाव में पड़ी हुई शिलाओं से टकरा कर चट्टानों से टक्कर खाकर गिरता था, उछलता था, फेन फेंकता था, गरगराता था, गर्जता था, और चीत्कार करता हुआ बड़े वेग से नीचे को दौड़ा चला जा रहा था। इस प्रकार श्री स्वामीजी अपने चारों ओर प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य को

निहारते हुए नदी के स्रोत की ओर बढ़ रहे थे। मार्ग बड़ा बीहड़ और विषम था। अति कष्ट उठाकर बड़ी कठिनता से वे अन्त को नदी के उद्गम स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि मैं इन स्थानों से अपरिचित हूँ; हिमाच्छादित नालों से, निकलने के मार्गों से और पर्वतमालाओं के भेदों से अजान हूँ। उन्हें वहाँ सब ओर गगनभेदी गिरिशिखर ही दिखाई दिये और आगे चलने के मार्ग का सर्वथा अभाव ही जान पड़ा। इस अवस्था में थोड़ी देर के लिए वे किंकर्तव्य की चिन्ता में निमग्न हो गये। अन्त में, मार्ग-अन्वेषण के निमित्त उन्होंने अलखनन्दा पार करने का निश्चय किया।

स्वामीजी के शरीर पर वस्त्र बहुत ही थोड़े थे। इसलिए हिमप्राय हैमप्रदेश का अतिशीतल पवन तन को तीर की तरह आरपार करने लगा। क्षण-क्षण में बढ़ते हुए शीत का सहन करना एक बार तो उन्हें असम्भव-सा जान पड़ा। प्यास के कारण मुख सूख रहा था, होठ शुष्क हो रहे थे। कण्ठ में काँटे पड़ गये थे और क्षुधा ने भी घोर रूप धारण कर रक्खा था। इन दोनों बाधाओं से बचने के लिए स्वामीजी ने हिम का एक टुकड़ा लेकर चबाया, परन्तु उसने कुछ भी सहारा न दिया। उदर की आग उससे शान्त न हुई। तब वे नदी पार करने में साहस से प्रवृत्त हुए। उस जगह अलखनन्दा कहीं तो बहुत गम्भीर और कहीं एक-दो हाथ गहरी थी। उसका पाट आठ-दस हाथ का था। वह हिम के छोटे-छोटे, तिरछे और नुकीले टुकड़ों से भरी हुई थी। नदी को चीरकर पार करते समय वे नुकीले हिमखण्ड, श्री स्वामीजी महाराज के नंगे पाँव पर बार-बार आघात करते थे। इससे उनके पैरों के तलुए छिल गये, अङ्गलियों में घाव हो गये, और स्थान-स्थान से रक्त बहने लगा। परन्तु अति शीतलता के कारण उनके पाँव ऐसे सन्न हो गये थे कि कितने ही काल तक उन्हें इन बड़े-बड़े घावों का भान ही न हुआ। इस समय भूमि, आकाश और पवन सभी अतिशीतल हो रहे थे। इन सब ने स्वामी-शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा को अभिभूत कर लिया था। महाराज की काया पर शून्यता छाई जा रही थी। उनके हृदय पर अचेतनता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। यहाँ तक कि वे शून्य अवस्था में मूर्छा खाकर हिममय जल में गिरने को ही थे कि उनके अन्तःकरण में चैतन्य की रेखा चमक उठी, और वे संभल गये। अपने आपको थाम कर

महाराज ने विचारा कि यदि एक बार भी मैं यहां गिर गया तो फिर न उठ सकूंगा, यहीं सन्न होकर मर जाऊंगा।

वे साहस से सावधान होकर बड़े यत्न के साथ उस नदी से बाहर निकले और दूसरे तट पर जा पहुंचे। यहां पहुंच कर भी उनकी अवस्था कुछ काल पर्यन्त मृततुल्य बनी रही। परन्तु तो भी साहस का अवलम्बन कर उन्होंने अपने तन के उपरिभाग के सारे वस्त्र उतार कर उनके साथ पांव से लेकर घुटनों तक का सारा भाग लपेट लिया। उस समय वे चलने में अशक्त, हिलने-जुलने में असमर्थ और व्याकुलचित्त थे। विगतशक्ति खड़े-खड़े इस बात की प्रतीक्षा करते थे कि कोई सहायता मिल जाय तो इस संकट-समाकुल स्थान से निकल कर कहीं आगे चलूं। ऐसे सुनसान शीतप्रधान प्रदेश में कोई मनुष्य मिल जायगा यह आशा भी नहीं बंधती थी। वे उस स्थान में निस्सन्देह विवश थे, निस्सहाय थे, अजान थे, निराश थे, परन्तु उत्साहहीन नहीं थे, इसलिए विकसित लोचनों की ज्योति को चारों ओर संचालन कर रहे थे। जैसे घटाटोप से घिरी हुई अमावस्या की महाकाली रात्रि में अकस्मात् बिजली की रेखा दौड़ जाय, ठीक वैसे ही स्वामीजी को दो पहाड़ी पुरुष सामने से आते दिखाई दिये। उन आगन्तुक भद्रजनों ने एक परमहंस को दुःखाकुल दशा में पड़ा देख पहले तो नमस्कार किया और फिर समादरपूर्वक निवेदन किया कि महाराज! आइए, हमारे संग हमारे घर चलिये। आप शीत से ताड़ित और भूख-प्यास से व्यथित हैं। हमारे गृह पर आपको पूर्ण सुख और पुष्कल भोजन मिल जायगा। स्वामीजी की क्लेश-कहानी को सुनकर उन पहाड़ियों ने कहा कि आप चिन्ता न करें, हम आपको 'सिद्धपन' तीर्थस्थान तक भी पहुंचा देंगे। स्वामीजी चलने में असमर्थ थे, इसलिये उन्होंने उनका कथन स्वीकार नहीं किया और कहा, "महाराज, खेद है मैं आपकी इस कृपापूर्ण सहायता को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मुझमें चलने की किंचित् भी शक्ति नहीं है!" उन भद्र गृहस्थों ने फिर भी भक्तिभाव से आग्रह और अनुरोध किया कि हमारे साथ अवश्य पधारिये। परन्तु स्वामीजी यह कह कर कि इस समय में हिलने-जुलने की अपेक्षा यहां मर जाना ही उत्तम समझता हूं, मौन होगये; फिर उनके कथन पर उन्होंने कर्णपात नहीं किया। अन्त को वे पहाड़ी मनुष्य अति खेद के साथ

वहां से चल पड़े और किंचित् काल ही में पर्वत के टीलों और उतराई की ओट में स्वामीजी की दृष्टि से ओझल हो गए।

चिरकाल तक यहीं विश्राम लेने से स्वामीजी का शरीर स्वस्थ और उनका चित्त शान्त हो गया। उसी समय चलकर वे 'वसुधारा' तीर्थस्थान पर जा पहुंचे। वहां थोड़ी देर विश्राम लेने के अनन्तर फिर चल पड़े और 'मग्रम' के समीपवर्ती प्रदेशों से होते हुए रात के आठ बजे बद्रीनारायण में जा विराजे। उनकी देह की दशा को देखकर रावलजी तथा उनके संगी-साथी सब घबरा गये। विस्मित होकर उन्होंने पूछा—"आप आज सारा दिन कहां रहे ? आपकी अवस्था ऐसी क्यों हो रही है ?" उस समय स्वामीजी ने उन्हें अपनी सिद्धों के दर्शनार्थ की गई संकट-संकुल यात्रा आद्योपान्त कह सुनाई। रावलजी आदि ने स्वामीजी को कुछ भोज्य पदार्थ दिये। उनको खाते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि अशक्त शरीर में अब शक्ति का संचार हो रहा है, निकला हुआ सामर्थ्य फिर प्रवेश कर रहा है। स्वामीजी फिर सुखपूर्वक रात-भर सोते रहे। दूसरे दिन सवेरे ही शीघ्र उठकर रावलजी से प्रस्थान निमित्त आज्ञा मांगी। सम्मानपूर्वक एक-दूसरे से मिलकर स्वामीजी महाराज ने वहां से प्रस्थान किया और रामपुर को चल पड़े। चलते-चलते उसी सायं को एक योगी के स्थान पर आ निकले। वह महात्मा बड़ा तपस्वी था। तत्कालीन ऋषियों और साधु-सन्तों में उच्च कोटि का ऋषि होने का गौरव रखता था। स्वामीजी महाराज ने ऐसे महापुरुष के पास ही रात्रि विश्राम लेना उचित समझा। योगीराज जी के साथ स्वामीजी धार्मिक विषयों पर बहुत देर तक वार्तालाप करते रहे। वहां स्वामीजी ने अपने सङ्कल्पों को पहले से भी अधिक दृढ़ कर लिया। प्रातःकाल उठते ही यात्रा आरम्भ कर दी। मार्ग में कई वनों और पर्वतों को उल्लंघन करते चिलका घाटी उतरकर रामपुर में आ गए। इस नगर में सदाचार और आध्यात्मिक जीवन के लिये प्रसिद्ध रामगिरि नाम के एक महात्मा निवास करते थे। श्री स्वामीजी ने उन्हीं के पास अपना आसन लगाया। उन्होंने उस पुरुष की प्रकृति में यह विचित्रता देखी कि वह सारी रात जागता रहता और ऊँचे-ऊँचे बातें करने लग जाता था। कभी चिल्लाने लगता था और कभी ऊँची ध्वनि से रोदन करता हुआ जाग पड़ता था। स्वामीजी जब कौतूहलवश

उठकर देखने आये तो उन्हें वहां उसके बिना अन्य कोई भी दृष्टिगोचर न हुआ। अत्यन्त विस्मित होकर उन्होंने उस महात्मा के चेलों से पूछा कि रात को यह क्या कौतुक होता है? वे बोले, "गुरुजी महाराज की ऐसा करने की प्रकृति ही है।" परन्तु स्वामीजी इतने उत्तर से कब सन्तुष्ट होने वाले थे। अन्त में उन्होंने महात्माजी से जा पूछा, और कई बार एकान्त में चर्चा की; तब स्वामीजी को सारा भेद ज्ञात हो गया। स्वामीजी ने यह सार निकाला कि यह पूर्ण योगी नहीं है, प्रत्युत अभी अधूरा है। हां, इनकी योग में गति अवश्य है। इसे योग के पूरे फल अभी प्राप्त नहीं हुए। परन्तु जिस वस्तु को मैं प्राप्त करना चाहता हूं वह इसके पास नहीं है।

छठा सर्ग

कालान्तर में रामपुर से चलकर श्री स्वामीजी काशीपुर होते हुए 'द्रोणा-सागर' में आये और उन्होंने सारी शरदृतु यहीं बिताई। द्रोणा-सागर में निवास करते समय एक बार उनके हृदय में यह विचार स्फुरित हुआ कि हिमालय के हिममय भाग में जाकर देह त्याग देना चाहिए। परन्तु तुरन्त दूसरे विचार उत्पन्न हो आये कि अभी ज्ञान संचय करना उचित है। शरीर त्यागना हो तो पूर्ण ज्ञानी होकर त्यागना चाहिए। भागीरथ के प्रयत्न से प्रेरित जैसे गङ्गाजी का पवित्र प्रवाह, हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों को त्यागकर, नीचे समभूमि की ओर बहने लगा था वैसे ही ज्ञानसंचय के विचारों से संचालित योगाभ्यास से विमलात्मा स्वामी दयानन्दजी हिमालय में समाधि ले लेने के विचार को त्याग कर, पार्वत्य प्रान्त को छोड़कर, समभूमि पर विचरते हुए किसी ज्ञानी गुरु के अन्वेषण में प्रवृत्त हुए।

द्रोणासागर से स्वामीजी मुरादाबाद आये। वहाँ से सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर में होते हुए गङ्गा-तट पर आ पहुंचे। उस समय उनके पास कई धर्मपुस्तकों के अतिरिक्त शिव-संध्या, हठ-प्रदीपिका, योगबीज और केशराणीसंगति नामक पुस्तकें भी थीं। उनमें से कई पुस्तकों में नाड़ीचक्र का बड़ा विस्तृत वर्णन था। वह भ्रान्त करने वाला विषय न तो कभी पूर्ण रीति से स्वामीजी की बुद्धि में समाया और न ही वे उसे ध्यानपूर्वक स्मरण ही कर सके। उसकी सत्यता में

उन्हें सदैव सन्देह रहा करता था। यहाँ तक कि उन्होंने साधारण साधनों से उस संशय को निवारण करने का यत्न भी किया। पर यह संशय निवृत्त होने के स्थान पर दिनों-दिन बढ़ता ही गया। गङ्गा-तट पर विचरते हुए दैवयोग से एक दिन उन्होंने जल में एक शव बहता देखा। शव को देखते ही वे मन ही मन विचारने लगे कि नाड़ीचक्र के विषय में जो संशय सदा बना रहता है आज इस शव द्वारा परीक्षा करके उसे मिटा लेना चाहिए। मन में यह आते ही उन्होंने पुस्तकों को नदी-तट पर रख दिया, वस्त्र संभाल कर गङ्ग-प्रवाह में कूद पड़े और तुरन्त ही बहते हुए शव को पकड़ कर किनारे पर ले आये। अपने उपकरणों से एक तीक्ष्ण चाकू निकाल कर लगे शव को चीरने। सावधानी से चीरकर प्रथम हृदय निकाला। उसकी आकृति को, स्वरूप को, और लम्बाई-चौड़ाई को पुस्तकलिखित वर्णन के साथ देर तक मिलाते रहे। इसी प्रकार सिर, ग्रीवा आदि अङ्गों की भी तुलना की। नाभि आदि चक्रों का भी परीक्षण किया। परन्तु उन पुस्तकों में वर्णित चक्रों और अङ्गों को उन्होंने वास्तविक चक्रों और अङ्गों से लवलेश मात्र भी मेल खाते न देखा। उस परीक्षण से स्वामीजी को पूर्ण निश्चय होगया कि इन पुस्तकों के ऐसे लेख सब काल्पनिक हैं। इससे उन्होंने उन पुस्तकों को तुरन्त ही फाड़ कर खण्ड २ कर डाला और शव के साथ ही गङ्गा के प्रवाह में बहा दिया। उसी समय से विचारते हुए वे इस परिणाम पर पहुंचे कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त शेष समस्त पुस्तकें, जो विज्ञान और योग पर लिखी गई हैं, मिथ्या और अशुद्ध हैं।

ऐसे ही गङ्गा के साथ-साथ चलते हुए सम्वत् १९१२ की समाप्ति पर स्वामीजी फर्रुखाबाद गये। वहां से शृङ्गीरामपुर होते हुए छावनी से पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर की ओर प्रस्थान किया। सम्वत् १९१३ में पांच मास तक स्वामीजी कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों में विचरते रहे। भाद्रपद के प्रारम्भ में गङ्गा के तीर पर विचरते हुए मिर्जापुर में जाकर एक मास से कुछ अधिक समय तक विन्ध्याचल अशोलजी के मन्दिर में जा विराजे। आश्विन मास के आरम्भ में काशी आये। वहाँ वरुणा और गङ्गा के सङ्गम के पास ही एक गुफा में जाकर टिके। उस गुफा पर उस समय भवानन्द सरस्वती का अधिकार

था। काशी में रहते हुए स्वामीजी का परिचय काकाराम, राजाराम इत्यादि अनेक शास्त्रियों से हो गया। इस बार आप केवल बारह दिन ही काशी में रहे।

महाराज काशी से चल कर आश्विन सुदी २, सम्वत् १९१२ को चण्डालगढ़ में दुर्गाकुण्ड के मन्दिर में दस दिन तक रहे। यहाँ चावल खाना सर्वथा परित्याग कर दिया। केवल दूध पर ही निर्वाह करके रातदिन योग-विद्या के अध्ययन और अभ्यास में परायण रहते थे। हिमालय में विचरने वाले और गङ्गा-तीर पर भ्रमण करने वाले अच्छे-अच्छे साधुओं में भी प्रायः यह दोष पाया जाता है कि पानी-लाग से बचने के लिए वे भाँग का सेवन करने लग जाते हैं। इस प्रदेश में आया हुआ कोई नवीन साधु उन्हें मिल जाय तो उसे भी जल-दोष से बचे रहने की औषधि विजया हो बताते हैं। इस प्रकार संगति-दोष से विजया-सेवन के संस्कार साधुओं में अतीव प्रबल हैं। इस व्यापक संस्कार के प्रभाव से परमहंस स्वामी दयानन्दजी भी न बचे। जब वे चण्डालगढ़ में थे तो यह संसर्ग-जन्य दोष उनमें लगा हुआ था; कई बार भाँग के प्रभाव से वे अचेत हो जाया करते थे।

एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी चण्डालगढ़ से निकल कर उसके निकटवर्ती एक ग्राम को चल पड़े। मार्ग में उन्हें एक पुराना साथी मिला। उससे शिष्टाचार आदि करके गाँव के दूसरी ओर एक शिवालय में रात्रि को विश्राम लेने लगे। जब वे भाँग की मादकता में बेसुध सो रहे थे तो उन्होंने स्वप्न-लीला में देखा कि महादेव और पार्वती दोनों उनके समीप खड़े परस्पर बातें कर रहे हैं। गौरी ने शङ्कर से कहा कि महाराज, अच्छा हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जाय; परन्तु शिवजी भाँग का संकेत करके अपनी सम्मति पार्वती के प्रस्ताव के विरुद्ध देते थे। इतने में ही स्वामीजी की तंद्रा टूट गई। स्वप्न को स्मरण कर उन्हें बहुत दुःख और क्लेश हुआ। उस समय आकाश मेघावृत था। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। स्वामीजी मन्दिर के भीतर से निकल कर बरामदे में आये। वहाँ नन्दी वृषभ की एक विशाल मूर्ति स्थापित थी। उन्होंने अपने पुस्तकादि-उपकरण वृषभ देवता की पीठ पर रख दिये और आप उसके पीछे बैठ विचार में निमग्न हो गये। विचारते हुए उनकी दृष्टि अचानक मूर्ति के भीतर जा पड़ी। उन्हें वहाँ कोई मनुष्य छिपा बैठा दिखाई दिया। कौतूहलवश,

स्वामीजी ने ज्योंही उसकी ओर हाथ पसारा वह अति भयभीत होकर कांप उठा और तत्काल छलाङ्ग मार कर एकदम ग्राम की ओर भाग गया। उसके पश्चात् उस नन्दी वृषभ के भीतर प्रवेश कर स्वामीजी सुख से सो रहे। प्रातःकाल होने पर वहाँ एक वृद्धा स्त्री आई और उसने आकर उस वृषभ-देवता का पूजन किया। स्वामीजी वहीं तन्द्रा में बैठे यह दृश्य देखते थे। वह स्त्री पूजा करके चली गई, परन्तु स्वल्प समय में ही कुछ गुड़ और दही लेकर फिर लौट आई। उस भोली ने स्वामीजी को मूर्त्ति का अभिमानी देवता समझ लिया। इसलिए उसने उनका भी अर्चन किया और भक्ति-भावना से दही-गुड़ का नैवेद्य उनको निवेदन किया। साथ ही कहा—"हे नन्दी वृषदेव! आप इस मेरी भेंट को ग्रहण कीजिए और दयालु होकर इसमें से कुछ भोग लगाइये।" स्वामीजी को भी इस समय भूख बहुत सता रही थी। उन्होंने सारा नैवेद्य खा लिया। दही बहुत ही खट्टा था। उनकी भाँग की मादकता को तुरन्त उतारने में एक औषध बन गया। भाँग का प्रभाव दूर होने पर उन्हें आराम प्रतीत हुआ।

चैत्र १९१४ में वहाँ से आगे चलकर स्वामीजी महाराज ने नर्मदा नदी का स्रोत देखने की लालसा से यात्रा आरम्भ की। पहाड़ी मार्ग बड़ा विकट था। चलते हुए वे किसी से भी मार्ग न पूछते थे। दक्षिणाभिमुख चुपचाप चलते चले जाते थे। इस प्रकार चलते हुए मार्ग में एक विस्तृत घना जङ्गल आ गया। उन्हें वह वन जन-संचार-शून्य जान पड़ा, परन्तु विशेष देखने से सुदूर झाड़ियों में अनियमित रूप से कुछ मलिन झोपड़ियाँ दिखाई पड़ीं। स्वामीजी उस समय क्षुत्पिपासा से पीड़ित थे, इसलिए वे एक झोपड़ी में गये और उसके अधिपति से माँग कर कुछ दूध ग्रहण किया। वहाँ से आगे चल कर कोई पौन कोस पहुँचने पाये थे कि मार्ग का लोप दिखाई दिया। हाँ, छोटी-छोटी पगडंडियाँ, जो वास्तव में भेड़-बकरियों के आने-जाने से ऐसे वनों में बन जाया करती हैं, चारों ओर फैली हुई थीं। उन्होंने उनमें से एक को चुन लिया और चल पड़े। थोड़ी दूर जाकर ही वे एक निबिड़ निर्जन वन में जा फँसे। इस वन में बेरी के बहुत से वृक्ष थे। घास अति घनी और लम्बी थी। ऐसे स्थान में ऐसी पद-पंक्तियाँ भी प्रलुप्त हो गई थीं। स्वामीजी थोड़े समय के लिए वहाँ ठहर-

कर यह सोचते ही थे कि किस ओर से आगे बढ़ें, इतने में अचानक एक काला रीछ बड़े वेग से दौड़ता चला आता सामने दिखाई दिया। यह हिंसक पशु चिंघाड़ता हुआ अपने पिछले पांव पर खड़ा हो गया और मुंह खोलकर उनको खाने के लिये आगे की ओर लपका। स्वामीजी महाराज कुछ क्षण तो आश्चर्य-चकित, निष्क्रिय होकर खड़े रहे, परन्तु जब अन्त में देखा कि यह पशु कुचलने ही वाला है तो अपना मोटा उन्होंने रीछ की ओर बढ़ाया। वह पशु स्वामी-दण्ड को देखकर वहां से उलटे पांव भाग गया। उस भालू का चिंघाड़ना सुनकर, जिन झोपड़ियों में स्वामीजी ने दुग्ध ग्रहण किया था वहां के लोग शिकारी कुत्ते लेकर घटना-स्थल पर आ गये। वे परमहंसजी को सुरक्षित देख प्रसन्न हुए और बोले—"महाराज, इस जङ्गल में यदि और थोड़ा भी आगे बढ़ोगे तो आपको घोर संकटों के सम्मुख होना पड़ेगा। इस पर्वत में, इस सघन वन में बड़े-बड़े विकट बनैले पशु वास करते हैं। यहां आपको सिंह आदि अति क्रूर और भयङ्कर जीव अवश्यमेव मिलेंगे। कृपा करके आप हमारे साथ हमारे गांव में पीछे चले चलिये। हम आपकी सेवाशुश्रूषा करेंगे।"

स्वामीजी ने उन बनवासी हितेच्छुओं के वचन आदर से सुने और फिर कृतज्ञता के साथ कहा, "आप मेरे लिये चिन्ता न कीजिये। मेरे कुशल-मङ्गल का भय छोड़ दीजिये, क्योंकि मैं सकुशल और सुरक्षित हूँ।" स्वामीजी महाराज ने नर्मदा का स्रोत देखने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। वे जानते थे कि मार्ग में भीषण प्रकृति के हिंस्र जन्तुओं से पूर्ण भयावने वन आयेंगे। इस लिये पहिले उन्होंने अपने हृदय से समस्त भय निकाल दिये और फिर वे स्रोत दर्शन की कामना से चले। ग्रामीण भक्तों ने देखा कि भय की बातों से श्री परमहंसजी का हृदय यत्किंचित् भी डांवाडोल नहीं हुआ और वे अपने विचार में पक्के हैं, तो उन्होंने स्वामीजी को एक ऐसा लट्ठ दिया जो उनके अपने सोंटे से मोटा और लम्बा था। फिर स्वामीजी के धैर्य को धन्य कहते हुए वे लौट गये।

धृति धर्म्म का मूल है, है जीवन का सार,
की जिसने धारण भवि. उस पाये फल चार।

ध्रुवता धरणी पे धरें, पांव निश्चय के जो,
उनको बाधक कार्य में, भय संकट न हो।

स्वामीजी ने मामीणों का दिया हुआ लट्ठ वहीं फेंक दिया और अति साहस से आगे बढ़ने लगे। उस दिन मार्ग में उन्हें बड़ी-बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। चलते-चलते सायंकाल हो गया, पर दूर-दूर तक मानव बस्ती का कोई चिह्न दिखाई न देता था; न ही मार्ग में आता-जाता कोई मनुष्य ही मिलता था। चारों ओर सघन वन था, जिसमें स्थान-स्थान पर मत्त हस्तियों के उखाड़े हुए ऊँचे-ऊँचे पेड़ भूतल-शायी हो रहे थे। सर्वत्र सुनसान और सन्नाटा था, परन्तु स्वामी दयानन्द का हृदय निष्कम्प, चित्त निश्चिन्त, बुद्धि स्थिर और मन क्षोभ रहित था। इस विकट विस्तीर्ण वन को पार करते हुए श्री स्वामीजी को बड़ा कष्ट सहन करना पड़ा। प्रथम तो उस वन में प्रवेश करते ही छोटी-छोटी कण्टकाकीर्ण अविरल झाड़ियों ने उनके तन को छलनी बनाना आरम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते थे उनके शरीर के वस्त्र पग-पग पर काँटों में फँसकर, झाड़ियों में अटक कर, और शाखाओं में उलझ कर उन्हें पीछे को खींचते थे। इस बंधन से बचने के लिए उन्हें अपने वस्त्रों को फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देना पड़ा। पर क्या इतने से ही विपत्ति की समाप्ति हो सकती थी? तीक्ष्ण काँटों से लदी हुई घनी झाड़ियों की डालियों और छोटी-छोटी टहनियों ने परस्पर ओतप्रोत होकर किसी के लिए निकलने का मार्ग न छोड़ा था। स्वामीजी को थोड़ी देर तक तो यह वन-दुर्ग उल्लंघन करना दुस्तर दीखने लगा। उस समय वे मानों कांटों के कोट में से लांघ रहे थे। सीधे खड़े-खड़े चलना वहाँ असम्भव था। टेढ़े होकर आगे बढ़ना भी महादुष्कर था। ऐसे स्थानों में स्वामीजी घुटनों के सहारे सरक कर और पेट के बल रेंग कर आगे निकले। अनेक बार उनके पाँव पर आघात हुए, तलुवे लहू से लाल हो गये, देह अगणित काँटों के चुभने से रक्तस्राव करने लगी, तन पर से कहीं-कहीं मांस की बोटियाँ उड़ गईं, परन्तु धुन के धनी स्वामी दयानन्दजी सकल विघ्न-बाधाओं को अपने साहस से पार करके अन्त को उस वन-दुर्ग पर विजयी हुए। जब वे वन से बाहर आये तो बहुत घायल थे और उनकी अवस्था अधमुई-सी हो रही थी।

उस समय सर्वत्र अन्धकार छा रहा था, दृष्टि पसारने पर कुछ भी दृष्टि-गोचर न होता था। कहीं भी मार्ग कहीं प्रतीत न होता था, पर स्वामीजी थे कि इतने कष्ट पाने पर भी उत्साहहीन नहीं हुए। उन्होंने अपनी अग्र-गति को बन्द नहीं किया। वे इस अन्धकारपूर्ण रात्रि में इस आशा से चले जा रहे थे कि कहीं तो मार्ग मिल ही जायगा। आगे जाकर ऐसे भयानक प्रदेश में पहुँचे, जहाँ चारों ओर पर्वत और टीले ही दृष्टिगत होते थे। वह स्थान वनस्पति से ढका हुआ था। परन्तु उन्हें वहां मानव-निवास के कुछ चिन्ह प्रतीत होने लगे। ज्योंही कुछ आगे गये तो उन्हें टिमटिमाते हुए दीपक दिखाई पड़े। ये दीपक मानों आनेवाले पथिक को वहाँ पहुँच जाने की बधाई देते हुए उसका स्वागत कर रहे थे। समीप जाने पर स्वामीजी को गोबर के ढेर से घिरी हुई कुछ झोपड़ियां दिखाई दीं। उन कुटियों से थोड़ी दूरी पर स्वच्छ जल की एक धारा बह रही थी। उस जलधारा के तट पर बकरियों का एक रेवड़ चर्वन कर रहा था। वहीं एक विशाल वृक्ष के नीचे स्वामीजी ने विश्राम के लिए स्थान बनाया। वह वृक्षराज खुली भूमि पर शाखाओं का एक चँदुआ-सा ताने था। इसके नीचे एक कुटिया भी थी।

उस समय स्वामीजी अपने घावों पर विशेष ध्यान न देकर निद्रादेवी की गोद में चले गये। सवेरे उठने पर शौचादि से निवृत्त होकर उन्होंने नदी-जल से अपने घावों को धोया। हाथ-पाँव प्रक्षालन किये। दण्ड को भी जल से साफ कर लिया। तत्पश्चात् सन्ध्योपासना में बैठा ही चाहते थे कि उन्हें एक घोर गर्जन सुनाई दिया। इसे उन्होंने किसी जङ्गली पशु की ध्वनि समझा। परन्तु थोड़ी देर में वे क्या देखते हैं कि एक टमटम चली आ रही है। वे समझ गये कि यह उग्र गर्जना इस गाड़ी की ही थी। कुछ काल के अनन्तर स्त्री-पुरुषों और बालक-बालिकाओं का एक समूह उन झोपड़ियों में से बाहर निकला। उनके साथ बहुत-सी गायें और बकरियां थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि वे लोग किसी धार्मिक त्योहार की रीति का पालन करने के लिए गत रात्रि को वहाँ आये थे। जब उस जन-समूह ने नदी-तीर पर एक परमहंस को बैठे देखा तो वे उनके समीप आये। उन्होंने आकार आदि से यह भी समझ लिया कि यह सन्त इस प्रान्त के नहीं, और इन स्थानों से अपरिचित हैं। उन्होंने आदर आदि प्रदर्शन करके स्वामीजी

के इर्द-गिर्द घेरा डाल लिया। अन्त में एक वृद्ध ने पूछा—"महाराज! आप कहाँ से पधारे हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं काशी से आया हूँ और नर्मदा नदी का स्रोत देखने के लिए जा रहा हूँ।" तत्पश्चात् स्वामीजी उपासना में निमग्न हो गये और वे लोग भी वहाँ से चले गये। आध घण्टे के पश्चात् उस जन-मण्डली का प्रधान पुरुष दो पर्वतीय मनुष्यों को साथ ले स्वामीजी के पास आया और एक ओर बैठ कर उसने स्वामीजी से अपनी झोपड़ियों में पधारने की प्रार्थना की। पहले आने वाले लोगों की ओर से वह वास्तव में एक प्रतिनिधि होकर आया था, परन्तु स्वामीजी ने यह जानकर कि ये सब लोग मूर्त्ति-पूजा-परायण हैं, उसका कुटियों में जाने का निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। उस प्रधान पुरुष ने अपने साथियों को अग्निप्रज्वालन का आदेश देकर कहा कि तुम दोनों यहाँ ही रहो और रात्रिभर जागते हुए सावधानी से परमहंसजी की रक्षा करो। तत्पश्चात् उस श्रद्धालु भक्त ने हाथ जोड़ कर स्वामीजी से भोजन के लिए प्रार्थना की। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैं आजकल अन्न ग्रहण नहीं करता, किन्तु कुछ दूध ही पर निर्वाह किया करता हूँ। यह सुन कर उस सदय-हृदय मुखिया पुरुष ने स्वामीजी से उनका तूँबा माँग लिया। वह उसे लेकर कुटिया की ओर चला आया। फिर, थोड़ी देर पीछे दुग्ध से आकण्ठ-पूर्ण तूँबा लेकर स्वामी-सेवा में उपस्थित हुआ। स्वामीजी ने उसमें से कुछ दूध ग्रहण कर लिया। वह प्रधान पुरुष परमहंसजी को नमस्कार आदि से पूजन करके जब स्वस्थान को जाने लगा तो उसने फिर उन दोनों पुरुषों को सचेत किया कि सारी रात जागते हुए परमहंसजी का रक्षण करना। उस मुख्य व्यक्ति के चले जाने के पश्चात् स्वामीजी उसी स्थान पर विराजते रहे और रात होने पर वहीं सो गये। पिछले दिन के परिश्रम से उनका सारा शरीर श्रान्त था, इस लिए उस रात उन्हें ऐसी गाढ़ निद्रा आई कि सूर्योदय के समय ही जागे। संध्योपासनादि से अवकाश पाकर परमहंसजी ने फिर यात्रा आरम्भ कर दी। इसी प्रकार तीन वर्ष पर्यन्त श्री परमहंसजी नर्मदा-तीर पर पर्यटन करते रहे। इस अन्तर में उन्हें अनेक सन्त-महात्माओं के सत्संग प्राप्त हुए। उन्होंने अपने अन्तःकरण के सुवर्ण को सन्तों के सत्संग और तपस्या की आग में तप्त करके, मल-विक्षेप-आवरण रूप तीनों दोषों से विमुक्त

कुन्दन बना लिया। उस समय उनका आत्मा ब्रह्मचर्याश्रम की ऊपरी पैड़ियों पर पदार्पण कर रहा था। इतने में वे स्वामी श्री विरजानन्दजी का विमल यश श्रवण कर, विशेष ज्ञान की जिज्ञासा से, मथुरा जा पहुँचे।

सातवां सर्ग

स्वामी श्री विरजानन्दजी का जन्मस्थान पञ्जाब प्रान्त के अन्तर्गत कर्तारपुर के समीपवर्ती कोई ग्रामविशेष था। कहते हैं कि उनका जन्म-ग्राम कपूरथले के पास से बहने वाली बेईं नामक नदी के तीर पर है। वे शारद शाखा के सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका गोत्र भारद्वाज था। उनके पिता का नाम नारायणदत्त था। जब विरजानन्दजी पांच वर्ष के थे तो उनपर शीतला रोग का घोर आक्रमण हुआ। जीवन तो उनका बचा रहा परन्तु वे इस रोग से चक्षु-हीन हो गये। वे अभी ग्यारह वर्ष के ही थे कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। मातृ-पितृविहीन छोटे अन्धे भाई को बड़े भाई ने अनेक प्रकार से दुःख देना आरम्भ कर दिया। विरजानन्द स्वबन्धुओं के सताने से घर छोड़ने पर विवश हुए। घरसे चलकर वे हृषीकेश में आये। यह स्थान हिमालय के एक भाग से आवृत है। यहां वे अधिक काल गङ्गा-जल में बैठकर गायत्री जप में लगाया करते थे। इस प्रकार उनका एक वर्ष बीता। एक दिन स्वप्न में उन्होंने श्रवण किया—"विरजानन्द! तुम अब यहां से चले जाओ। जो कुछ तुम्हारा होना था सो हो गया।" वे इसे देववाणी समझकर वहां से कनखल चले आये। यहां वे पूर्णानन्द स्वामी से षड्लिङ्गादि व्याकरण के भाग पढ़ते रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि विरजानन्दजी ने गृह-परित्याग के अनन्तर ही परमहंसवृत्ति धारण कर ली थी।

कनखल में अध्ययन समाप्त कर वे प्रयाग आदि तीर्थ-स्थानों के पर्यटन में प्रवृत्त हो गये। एक दिन का वर्णन है कि सोरों में गङ्गा-स्नान करके विरजानन्दजी विष्णु-स्तोत्र की आवृत्ति कर रहे थे। उस समय अलवर के राजा विनयसिंहजी वहां विद्यमान थे। वे स्तोत्र के उच्चारण और विरजानन्दजी के मधुर स्वर को सुनकर अतिशय प्रसन्न हुए। वार्त्तालाप में उनकी चमत्कारिणी प्रतिभा का

परिचय पाकर राजा आश्चर्यमय हो गये । उन्होंने विरजानन्दजी से अपने साथ चलने के लिये अनुरोध किया। अति आग्रह से विवश होकर विरजानन्दजी ने कहा कि यदि हम से तुम प्रतिदिन पढ़ा करो तो मैं तुम्हारे साथ चल सकता हूँ, नहीं तो व्यर्थ कालक्षेप करने के लिये नहीं चलूंगा। अलवर-नरेश ने अध्ययन करने की प्रबल इच्छा प्रकट की और उन्हें अपने साथ अलवर लिवा ले गये। अलवर में खान-पान का पूर्ण प्रबंध राज्य की ओर से हो गया। ऊपर के फुटकर व्यय के लिये दो रुपये दैनिक मिलने लगे। महाराजा विनय-सिंहजी नित्यप्रति तीन घण्टे उनसे अध्ययन करते। जब कभी कोई राज्य-सम्बन्धी विशेष विषय उपस्थित होता तो महाराजा स्वामीजी से भी परामर्श लिया करते। स्वामी विरजानन्दजी प्रतिदिन राजप्रासाद में ही नियत समय पर जाकर महाराज को पढ़ाया करते थे। एक दिन स्वामीजी तो समय पर राजप्रासाद में पढ़ाने के लिये गये, परन्तु अलवर-अधिपति उपस्थित न हो सके। कहते हैं कि वे उस समय वाराङ्गनाओं के नृत्य-गायन में कालक्षेप कर रहे थे। स्वामीजी स्वस्थान पर लौट आये, परन्तु इतने विरक्त हो गये कि अपने ग्रन्थादि सभी उपकरण वहीं छोड़कर सोरों में आ विराजे। वहां थोड़े दिन ठहरकर मथुरा के समीपस्थ मुरसान के राजा के पास जाकर रहने लगे। राजा बलवन्तसिंहजी के आग्रह से मुरसान से भरतपुर चले गये। वहां छः मास यापन करके फिर सोरों में चले आये। इसके पश्चात् विरजानन्दजी ने अपना स्थान मथुरा में नियत किया।

रेलवे स्टेशन से यमुना के विश्राम-घाट तक जो राजपथ जाता है उसी राजमार्ग के एक ओर एक छोटी सी अट्टालिका में विरजानन्दजी विराजा करते थे। यही छोटा-सा स्थान उनकी पाठशाला का भी काम देता था। उनके आहार के प्रबन्ध के लिये अलवर के महाराजा विनयसिंहजी सहायता देते थे और कभी-कभी जयपुर के महाराजा रामसिंहजी भी। इसके अतिरिक्त मथुरा में आने वाले अनेक धनी लोग उनके विद्याबल से प्रेरित होकर स्वेच्छा से द्रव्यादि प्रदान कर जाया करते थे। विरजानन्दजी अल्पाहार बहुत कम करते थे। उनका प्रायः दुग्ध पर ही निर्वाह था। रात को बहुत थोड़ी देर के लिये सोते थे। ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ स्नानादि करके प्राणायामपूर्वक ध्यान में निमग्न हो जाते

थे। सूर्योदय तक प्रातः-कृत्य से निवृत्त हो लेते थे। फिर अध्यापन-कार्य में प्रवृत्त हो मध्याह्न काल तक पढ़ाते रहते थे। उसके पश्चात् कुछ काल विश्राम लेकर फिर पढ़ाने लग जाते थे। चतुर्थ प्रहर तक अध्यापन होता रहता था। विद्यार्थियों को कभी-कभी विशेष शिक्षायें भी दिया करते थे। प्रतिदिन सायं समय स्नानादि करके ध्यानावस्थित हो जाया करते थे। इस शोभन वृत्ति में श्री विरजानन्दजी के पुण्यमय जीवन के दिन बीतते थे। विरजानन्दजी की विचार-शक्ति अतिशय प्रबल थी। वे विषय की तह में तुरन्त पहुँच जाते थे। वे अपनी असाधारण बुद्धि के कारण विख्यात हो गये थे। स्मरण-शक्ति और धारण-शक्ति का तो कहना ही क्या है! यदि कोई नवीन श्लोक दो-एक बार भी उनके श्रुतिगोचर हो जाता तो वे उसे इतने में ही स्मरण कर लेते, और फिर वह उनके स्मृति-पथ से कभी उतरने न पाता था। जो कुछ वे सुनते थे उनके मस्तिष्क में वह अङ्कित-सा हो जाता। ऐसी स्मृति ईश्वर ही की देन समझनी चाहिये। इस अद्भुत स्मृति के कारण अनेक ग्रन्थ उनके कण्ठाग्र थे। काशी आदि नगरों की पण्डित-मण्डली में उनका पाण्डित्य प्रख्यात था। जो भी शास्त्रीय विषय विरजानन्दजी के सम्मुख उठाया जाता था वे उसका ऐसा उत्तम आलापन करते थे कि विद्वान् जन धन्य धन्य करने लग जाते थे। विरजानन्द एक स्पष्टवक्ता, निष्कपटस्वभाव, और सरलवृत्ति, साधु थे। वे ज्ञान-ध्यान में निमग्न रहने वाले स्वामी और उत्तम कोटि के दण्डी संन्यासी थे। दण्डीजी को अनार्ष ग्रन्थों से अप्रीति हो गई थी। इसलिये उनकी पाठशाला में कौमुदी, मनोरमा, शेखर आदि कोई भी व्याकरण का अनार्ष ग्रन्थ नहीं पढ़ाया जाता था। उनके विद्यार्थी व्याकरण के निघण्टु, निरुक्त, अष्टाध्यायी और महाभाष्य प्रभृति ग्रन्थ पढ़ा करते थे। उन्हें श्रीमद्भागवत से भी अति घृणा थी। उसके पढ़ने से भी लोगों को रोका करते थे। संक्षेपतः,जिस समय स्वामी दयानन्दजी मथुरा में आये उस समय श्री विरजानन्दजी की प्रतिभा व्याकरण-विद्या की दीप्ति अद्वितीय समझी जाती थी और वे आर्ष ग्रन्थों के एक प्रबल पक्षपाती तथा प्रचारक थे। दण्डीजी की आयु उस समय इक्यासी वर्ष की थी।

सम्वत् १९१४ की भारी सैनिक हलचल प्रायः शान्त हो गई थी। अब यत्र-तत्र ही उसकी सुलगती हुई चिङ्गारियां दिखाई देती थीं। शान्ति और

समानता का घोषण-नाद भी दिग्दिगन्तर गुंजायमान कर चुका था कि कार्तिक सुदी २ सम्वत् १६१७ को स्वामी दयानन्द सरस्वती मथुरा में प्रविष्ट हुए और सीधे दण्डजी की अट्टालिका पर चढ़कर उसका द्वार खटखटाने लगे। दण्डीजी ने पूछा—"कौन है ?" उत्तर मिला—"दयानन्द सरस्वती"। "कुछ व्याकरण भी पढ़े हो ?" "महाराज ! सारस्वत आदि व्याकरण ग्रंथ पढ़ा हूँ।"

यह सुनते ही दण्डीजी ने द्वार खोल दिया। स्वामी दयानन्दजी ने भीतर प्रवेश करके अतिशय सम्मान से विरजानन्दजी को नमस्कार किया। वे निर्देश पाकर बड़े विनीत भाव से उनके समीप बैठ गये। विरजानन्दजी ने आगन्तुक से परीक्षा की रीति पर पहले थोड़ा सा कुछ पूछा। स्वामी दयानन्दजी के उत्तरों को सुनकर विरजानन्दजी ने कहा—"दयानन्दजी ! अबतक जो कुछ तुमने अध्ययन किया है उसका अधिक भाग अनार्ष ग्रन्थ हैं। ऋषि-शैली बड़ी सरल और सुन्दर है, परन्तु लोग उसका अवलम्बन नहीं करते। जबतक तुम अनार्ष पद्धति का परित्याग न करोगे तबतक आर्ष ग्रन्थों का महत्त्व और मर्म समझ न सकोगे।" दण्डीजी ने फिर कहा कि आधुनिक अनार्ष ग्रन्थों के रचयिता कैसी प्रकृति के थे इसको सारस्वत नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की कथा से समझ सकते हो। अनुभूतिस्वरूप आचार्य एक दिन विद्वानों के साथ वाद में प्रवृत्त हो रहा था। बुढ़ापे के कारण उसके अगले दाँत गिर गये थे। इसलिये वादप्रसंग में 'पुंसु' पद के स्थान उसके मुख से अशुद्ध शब्द 'पुंक्षु' निकल गया। उपस्थित पण्डितों ने 'पुंक्षु' पद पर आक्षेप किया, परन्तु अपनी अशुद्धि स्वीकार करना तो दूर रहा, उसने नूतन ग्रन्थ की रचना करके 'पुंक्षु' पद सिद्ध करने का यत्न किया। यद्यपि उसका यह यत्न सफल नहीं हुआ तो भी अनार्ष ग्रन्थों के कर्त्ताओं की प्रकृति प्रकट करने के लिये यह एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है। यदि तुम मेरे समीप अध्ययन करना चाहते हो तो मनुष्यकृत ग्रन्थों को विस्मरण कर दो। पठन-पाठन में उनसे कोई भी काम न लो। स्वामी दयानन्दजी ने दण्डीजी के इस प्रथम आदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया।

दण्डीजी ने फिर यह भी कहा कि हम संन्यासियों को नहीं पढ़ाया करते। इसका कारण यह है कि उनके भोजन का यहाँ कोई प्रबंध नहीं। इसलिए

पढ़ना आरम्भ करने के पहिले आपको अपने भोजन का प्रबन्ध अवश्य कर लेना चाहिए। निश्चिन्तता प्राप्त किये बिना अध्ययन नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्दजी ने इस दूसरे कथन को भी सादर स्वीकार करते हुए कहा—"महाराज ! आप पढ़ाना आरम्भ कर दीजिए। भोजन के विषय में निश्चिन्तता मैं थोड़े ही दिनों में लाभ कर लूँगा।"

कहते हैं कि दण्डीजी सिद्धांतकौमुदी के सम्पादक भट्टोजी दीक्षित पर इतने अप्रसन्न थे कि अपने विद्यार्थियों से उसके नाम पर जूते लगवाया करते थे, जिससे उनके मन में उसके लिए प्रतिष्ठा का लेश भी शेष न रह जाय और वे अष्टाध्यायी का पूरा सम्मान करने लग जायँ। इस आज्ञा का पालन पहले स्वामी दयानन्दजी से भी कराया गया और इसके पश्चात् उनका पाठ आरम्भ हुआ। दण्डीजी की प्रेरणा से सारे नगर से चन्दा करके स्वामी दयानन्दजी के लिए महाभाष्य की एक प्रति ३१) रुपये को मँगवाई गई।

आठवाँ सर्ग

जिस वर्ष स्वामी दयानन्दजी ने मथुरा में अध्ययन आरम्भ किया उस वर्ष देश में घोर दुष्काल पड़ रहा था। उत्तरीय भारत अतिपीड़ित था। यद्यपि बहुत सहायता की जाती थी, पर फिर भी सब के पेट की आग न बुझ सकी, सबकी भूख का विषम विषैला कीड़ा न मरा। दुर्दिन-दलित सभी दरिद्रों को दुर्भिक्षजनित दारुण वेदना दूर न हुई। सैंकड़ों नरनारी आबालवृद्ध भूख के मारे सिर पीट-पीट कर, पाँव पीट-पीट कर, पेट मसूगते हुए मर गये। बड़ा यत्न करने पर भी उस अकाल में दो लाख मनुष्य काल के गाल में जाने से न बच सके। इसके प्रभाव से मथुरा नगरी भी बची हुई न थी। स्वामीजी के वहाँ आने के पश्चात् भी छः मास तक दुर्भिक्ष बना ही रहा। मथुरावास के प्रथम दिनों में वे चिरकाल तक चनों पर निर्वाह करके अध्ययन में लगे रहे। फिर कुछ दिनों तक दुर्गाप्रसाद क्षत्रिय ने उनका आतिथ्य किया। ....

अमरलाल नामक एक आदर्श दानी मथुरा में निवास करते थे। वे बड़े ज्योतिषी थे। महाराजा सिन्धिया उनकी ज्योतिष से इतने प्रसन्न हुए थे कि

उन्होंने अमरलालजी को कुछ-एक ग्राम प्रदान कर दिये थे और साथ ही 'ज्योतिषी बाबा' की उपाधि से भी विभूषित किया था। तब से वे अमरलालजी ज्योतिषी बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके गृह पर प्रायः एक सौ ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन पाया करते थे। वे एक आनुष्ठानिक उदीच्यवंशज ब्राह्मण थे। एक दिन अमरलालजी ने श्री स्वामीजी की कीर्ति सुनकर उनका मिलाप प्राप्त किया। स्वामीजी की अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण बुद्धि, दिव्य देह और ब्रह्मचर्य-दीप्ति से चमकते हुए मुखमण्डल को देखकर वह उनकी ओर आकर्षित हो गया। उन्हें अपना वंशीय जान कर उसकी प्रीति और भी बढ़ी। उसने अनिम्म्मानपूर्वक स्वामीजी से विनय की कि आप प्रतिदिन हमारे यहाँ ही भोजन ग्रहण किया कीजिए। स्वामीजी ने उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। श्री अमरलालजी श्री स्वामीजी के इतने प्रेमी भक्त बन गये थे कि वे नित्यप्रति उन्हें अपने साथ गृह पर ले जाते। प्रथम स्वामीजी को भोजन कराते और फिर पीछे आप किया करते। यदि किसी दिन उन्हें किसी अन्य गृह पर जीमने जाना पड़ता तो प्रथम स्वगृह पर स्वामीजी को जिमा कर उसके पश्चात् जीमने जाते। इस प्रकार एक भावनावान् भक्त ने स्वामीजी को भोजन के विषय में सर्वथा निश्चिन्त कर दिया था; उनके आतिथ्य के लिए स्वामीजी ने इन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की थी—"भोजन और ग्रन्थादि के विषय में अमरलालजी ने जो मुक्तहस्त से सहायता की उसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।"

स्वामीजी रात को भी पठन कार्य्य में परायण रहते थे। उनके तेल के व्यय के लिए चार आने मासिक लाला गोवर्धन सराफ दिया करते थे। दूध का प्रबन्ध दो रुपये मासिक के व्यय से हरदेव पत्थरवाले ने किया हुआ था।

निवास के विषय में तो स्वामीजी प्रथम दिवस से ही निश्चिन्त थे। विश्रामघाट के ऊपरी भाग में स्थित लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के नीचे की एक छोटी-सी कोठरी में वे रहा करते थे। यह कोठरी, मन्दिर में द्वार प्रवेश करते दाहिने भाग में है। वह इतनी छोटी है कि स्वामी दयानन्दजी महाराज उसमें अति कठिनता से पाँव पसार कर सो सकते होंगे।

उन दिनों स्वामीजी भाल पर विभूति रमाया करते थे। गले में रुद्राक्ष

की एक माला होती थी। सिर पर उपरना बांधे रखते थे और हाथ में एक लम्बा और मोटा दण्ड हुआ करता था।

वे बहुत सवेरे उठ स्नानादि से निवृत्त हो सन्ध्योपासना में निमग्न हो जाते थे। वे समीप आने वाले ब्राह्मणादिकों और विद्यार्थियों को भी सन्ध्यादि नित्य-कर्म्मों का उपदेश देते थे। आगन्तुकों के साथ संस्कृत में वार्त्तालाप किया करते थे। कण्ठी तिलकादि साम्प्रदायिक चिह्नों का खण्डन किया करते थे। स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त वे भ्रमण करते दूर तक जाते थे। आसनादि की रीति से व्यायाम भी करते थे। इन सब क्रियाओं को करते हुए भी नियत समय पर अध्ययनार्थ गुरुसेवा में उपस्थित हो जाने में बड़े नियमबद्ध थे।

गुरु-भक्ति में भी स्वामी दयानन्दजी ने अपने को एक आदर्श शिष्य सिद्ध किया है। विरजानन्दजी महाराज ब्राह्ममुहूर्त में पुष्कल पानी से स्नान किया करते थे। परन्तु स्वामी दयानन्द इतने उद्यमी और परिश्रमी थे कि बड़ी रात रहते उठ कर, गुरु-स्नान-समय के पूर्व ही, यमुना-जल के कई घड़े अपने कन्धे पर उठा-उठा कर लाते और पर्याप्त जल इकट्ठा कर देते थे। गुरु महाराज के सायं-काल के स्नान के लिए भी वे नियमपूर्वक यमुना से जल लाते थे। स्वामी विरजा-नन्दजी पीते भी यमुना का ही पानी थे। इस लिए स्वामी दयानन्दजी यमुना के भीतर प्रवेश करके अति प्रीति से पीने योग्य पानी लाया करते थे। इस बीच में कई बार आँधियाँ आईं, बड़ी-बड़ी वर्षायें हुईं, परन्तु स्वामीजी का गुरु-सेवा-समय कभी अतिक्रान्त नहीं हुआ। अंधेरे-सवेरे, अन्धेरा-चाँदना, कीचड़-कर्दम सब कुछ समय-समय पर होता रहा, पर श्री दयानन्दजी गुरुसेवा में घटिका-यन्त्र की सूइयों के सदृश नियमनिष्ठ थे। वे जल के पन्द्रह-बीस घड़े प्रतिदिन लाया करते थे। गुरुजी की आज्ञा पालन करने में उन्होंने शीत-उष्ण और सुख-दुःख का कभी नाम तक भी नहीं लिया। वे साधु-स्वभाव और सरल-प्रकृति थे। आदेश-पालन, सेवा-शुश्रूषा और चमत्कारिणी प्रतिभा के कारण श्री दयानन्द गुरुदेव के पूर्ण कृपा-पात्र हो गए थे।

शीत, उष्ण, प्रतिकूलता तथा अनुकूल समान;
मानामान जो न गिने सो सेवक गुणवान।

सेवा में जो लीन हो करे एक दिन-रात,
हिचके न पानी पवन से, महातम वा उत्पात।
दूर निकट जाने नहीं, क्षुत्पिपासा एक मान,
दुःख सुख में भी रत रहे, सो सेवक पहचान।
जाति-जीवन सेवा है, सभा का यह सिंगार,
नर-जीवन का सार है, कुल कुटुम्ब आधार।
सेवा जहाँ न दुःख वहाँ, जहाँ सेवा न हान,
पथ है उन्नति शिखर का, स्वर्गधाम-सोपान।
आर्यजनों की रीति यह, करें सेवा निष्काम,
तन धन तक अर्पण करें, पर चाहें न दाम।
विश्वामित्र मुनिराज की, सेवा की श्रीराम,
नींद छोड़ी छः रात दिन, तब हुए पूर्ण काम।
जनक-हृदय में जगमगा, ब्रह्मज्ञान का दीप,
याज्ञवल्क्य मुनिदेव का, सेवक हुआ समीप।
वाल्मीकि नारदादि ने, इससे धोये पाप,
चरण धुलाने द्विजों के माधो धाये आप।
जितना हो सेवक बड़ा, उतना वही महान,
यह बड़ाई तात्त्विकी, शेषाडम्बर जान।

श्री स्वामीजी की स्मरण शक्ति बड़ी प्रबल थी। दो-एक बार ही के सुनने पर पाठ स्मरण कर लेते थे। उनकी धारणा-शक्ति के कारण दण्डीजी उन पर प्रसन्न भी थे। परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की कोई प्रयोगसिद्धि कुछ ऐसी क्लिष्ट आई कि स्वामीजी को अपने निवासस्थान पर जाकर विस्मृत हो गई। पूर्व ऐसा कभी न हुआ था। इसलिए स्वयं उन्हें बड़ा खेद हुआ। अन्त में गुरुजी से आकर विस्मृत प्रयोग-सिद्धि पूछी। विरजानन्दजी ने दयानन्दजी को पाठ कभी बार-बार न बताया था। इसलिये कुछ झिड़क कर कहा—"जाओ, स्मरण करके आओ; यहाँ बार-बार उसी पाठ को पढ़ाने के लिए नहीं बैठे हैं।" दो-तीन दिन तक श्री दयानन्दजी गुरुजी से प्रार्थना करते रहे "महाराज! कृपा करके एक बार फिर बता दीजिए; मैं सारा यत्न

लगा चुका, पर क्या करूं यह पाठ स्मरण ही नहीं आता।" परन्तु विरजानन्दजी ने दुबारा प्रयोग-सिद्धि न पढ़ाई और अन्त में खिन्न कर श्री दयानन्दजी को कहा—"हमने एक बार तुम्हें कह दिया है कि जब तक पहले का पढ़ा हुआ पाठ न सुना लोगे तुम्हारा पाठ आगे नहीं चलेगा। अब तुम्हें कहा जाता है कि यदि वह प्रयोग तुम्हें स्मरण न हो आवे तो यमुनाजी में भले ही डूब मरना, परन्तु मेरे पास न आना।" स्वामीजी गुरु महाराज के चरण स्पर्श करके वहां से चले आये और विश्रामघाट के समीप, सीताघाट के शिखर पर आरूढ़ होकर,विस्मृत प्रयोग-सिद्धि को स्मृति-पथ पर लाने के लिये मस्तिष्क पर बल देने लगे। उस समय उन्होंने प्रण कर लिया कि यदि आज सायंकाल तक वह प्रयोग स्मरण न हो आया तो अवश्यमेव यहीं से यमुना में कूद पड़ूंगा और अपने कलेवर को मगर आदि जलचरों का आहार बना दूंगा। इस भीषण प्रतिज्ञा को धारण करके स्वामीजी विस्मृत प्रयोग के स्मरण करने में इतने लीन हुए, इतने एकाग्र हुए कि उन्हें देश और काल का भी ध्यान न रहा। वे अपनी देह के अध्यास को भी भूल गये। उनपर स्वप्न-की-सी अवस्था आ गई। उसमें उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों कोई व्यक्ति उन्हें प्रयोग-सिद्धि सुना रहा है। जब वे सारी प्रयोग-सिद्धि सुन चुके तो सचेत हो गये और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अभी सो कर उठे हैं। स्वामीजी की प्रसन्नता का पार न रहा। दौड़े हुए गुरु-चरणों में आये और अथ से इति तक सारी प्रयोग-सिद्धि सुना दी। श्री दयानन्दजी की धारणा और धैर्य को देखकर विरजानन्दजी भी प्रेमसे पुलकित-तनु हो गये। उनकी आँखों में हर्ष के आंसू डबडबा आये। गुरुजी ने वत्सलता से दयानन्दजी को कण्ठ लगा लिया और भूरि-भूरि आशीर्वाद दिये। उस दिन से स्वामीजी को जब कभी कोई बात विस्मृत हो जाती तो वे उसी प्रकार समाविस्थ होकर स्मरण कर लिया करते थे।

नववाँ सर्ग

इस समय स्वामीजी की अवस्था ३५ वर्ष की हो चुकी थी। तप्त ताम्र और कुन्दन सुवर्ण की भाँति उनका मुखमण्डल उद्दीप्त था। अखण्ड ब्रह्मचर्य्य के कारण उनका चेहरा एक प्रकार के तेजोमय चक्र से घिरा रहता था। उनकी विशाल आकृति और दिव्य मूर्ति को देखकर, सभी लोग मुक्तकण्ठ से उनके ब्रह्मचर्य-व्रत की प्रशंसा करने लग जाते थे। स्वामीजी गुरुराज के स्नानादि के लिए जल के कोई बीस घड़े लाने के लिए अनेक बार यमुना पर जाते थे। एक प्रकार से नका आसन भी यमुना-घाट पर ही था। ऐसे स्थानों में प्रायः नाना प्रकृति के लोग वास किया करते हैं। किसी-किसी समय राह-चलतों से भी कोई-कोई व्यक्ति छेड़छाड़ और उपहासादि करने से नहीं चूकते, परन्तु स्वामीजी थे कि उनसे उपहास करने का साहस कभी किसी अधम से अधम नर-नारी को भी न हुआ। वे बाजारों में चलते, गलियों में जाते और घाट से बार-बार पानी लेते थे। इन स्थानों में सैकड़ों स्त्रियां इधर-उधर आती जाती थीं, परन्तु ढाई वर्ष में कभी किसी ने उन्हें किसी स्त्री की ओर आंख उठाकर देखते नहीं देखा। वे सदा नीची, मार्गविलोकिनी दृष्टि रखकर चला करते थे। उनकी इस वृत्ति की सारी मथुरा में धाक थी। मंदिरों में, घाटों पर, विश्रांतों में, पाठशालाओं में, बाजारों में, हाटों पर, गृहों में, चौबों के अखाड़ों में, और विजयापान की मण्डलियों में—सर्वत्र श्री दयानन्द की सुशीलता और अभंग ब्रह्मचर्य-व्रतका गुण-गान किया जाता था।

एक दिन का वर्णन है कि श्री स्वामीजी यमुना के पुलिन पर ध्यान में मग्न बैठे थे। एक स्त्री स्नान करके आई। उसने देखा कि सामने एक परमहंस पद्मासन लगाये समाधिस्थ हैं। श्रद्धावती देवी ने भक्तिभाव से अति निकट आकर स्वामीजी के चरण-कमलों पर सिर रखकर नमस्कार किया। भीगे हुए शीतल वस्त्र के स्पर्श का अनुभव करके स्वामीजी ने ज्योंही नेत्र खोले तो उन्होंने पैरों पर एक माई का सिर पड़ा देखा। वे चौंक पड़े और माता माता कहते हुए सहसा उस स्थान से उठ गये। जहां तक बन पड़ता श्री स्वामीजी स्त्री-स्पर्श नहीं किया करते थे, परन्तु उस दिन एक स्त्री ने ध्यानदशा में उनके

पाँव पर सिर रख दिया, इसलिए वे वहाँ से उठ गोवर्द्धन की ओर जा, निर्जन एकान्त स्थान में स्थित एक टूटे-फूटे मन्दिर में तीन दिन और तीन रात निराहार ध्यान और चिन्तन में लीन रहे। चौथे दिन जब पाठ के लिए गुरु-सेवा में उपस्थित हुए तो गुरुजी ने तीन दिवस की अनुपस्थिति के लिए उनकी भर्त्सना की और उसका कारण पूछा। स्वामीजी ने प्रायश्चित्त की कथा आदि से अन्त-पर्यन्त गुरुचरणों में निवेदन कर दी। स्वशिष्य की व्रत-वार्ता सुनकर श्री विरजानन्दजी को प्रसन्नता से रोमांच हो आया। अनेक साधुवाद देते हुए उन्होंने उनकी प्रभूत प्रशंसा की। यदि कभी श्री दण्डीजी पठन-पाठन में, कारणवश, कुपित हो जाते और आवेश में स्वामीजी को ताड़ना-तर्जना भी कर बैठते तो वे गुरुजी के कोप को कृपा के समान ही समझते थे, चिढ़ते नहीं थे। एक दिन का वर्णन है, स्वामी विरजानन्दजी ने आवेश में आकर श्री दयानन्दजी पर लाठी का एक ऐसा प्रहार किया कि उनकी भुजा पर बड़ी कड़ी चोट आई। परन्तु पीड़ा का कोई ध्यान न करके उन्होंने गुरुजी से प्रार्थना की—"महाराज! मेरा शरीर कठोर है और आपके हाथ कोमल हैं। मारने से आपको क्लेश होता होगा। इसलिए मुझे मारा न कीजिये।" कहते हैं, उस दिन के घाव का चिन्ह उनकी भुजा पर जीवन-भर बना रहा। वे उसे जब देखते थे गुरुजी के उपकारों का स्मरण करने लग जाते थे।

स्वामी श्री विरजानन्दजी की शिष्य-मण्डली में मणि-मुक्ता की भाँति आभावान्, नयनसुख नामक एक जड़िया भी था। उसकी धारणा-शक्ति बड़ी प्रबल थी। दण्डीजी की दया का वह विशेष भाजन था। वैसे पढ़ा तो कुछ भी न था, परन्तु जिस समय विद्यार्थीगण अध्ययन किया करते वह पास बैठा सुनता रहता था। अपनी उज्वल मेधा के माहात्म्य से उसने सुनते-सुनते अष्टाध्यायी और महाभाष्य कण्ठाग्र कर लिए। उसका संस्कृत उच्चारण विशुद्ध था। संस्कृत भाषा में वार्त्तालाप करने की शक्ति भी उसे इसी प्रकार प्राप्त हो गई थी। स्वामी दयानन्दजी से उसे अति प्रेम था और वह उनका बड़ा आदर-सत्कार करता था।

एक दिन ऐसा हुआ कि संथा देते समय दण्डी जी कुछ क्रुद्ध हो गये। उस समय कठोर शब्द कहते हुए उन्होंने स्वामीजी को एक लाठी भी लगाई। स्वामीजी तो समावस्था में, पहले की भाँति अपने पाठ में परायण रहे, परन्तु

पास बैठे हुए नयनसुखजी से न रहा गया। उन्होंने हाथ जोड़कर विरजानन्दजी से निवेदन किया—"स्वामीजी महाराज ! ये दयानन्दजी कोई हमारे समान गृहस्थ नहीं हैं, जिनका विशेष ध्यान न किया जाय। ये संन्यासी हैं। इनको न तो अवाच्य कहना उचित है और न मारना।" दण्डीजी ने नयनसुखजी के वचन को स्वीकार करते हुए कहा—"बहुत अच्छा, आगे को हम इन्हें आदर और प्रतिष्ठापूर्वक पढ़ायेंगे।" संथा की समाप्ति पर जब विद्यार्थीगण गुरु-कुटी से बाहर निकल आये तो स्वामी दयानन्दजी ने नयनसुख पर अप्रसन्नता प्रकाशित की कि तुम ने मेरे लिए गुरुजी को क्यों कुछ कहा? उनका हमारे साथ कोई द्वेष तो है नहीं, फिर यदि मारते हैं तो हित-बुद्धि से प्रेरित होकर ही मारते हैं। जैसे कुम्हार मिट्टी को पीट-पीटकर उसका एक सुडौल सुन्दर घड़ा बनाता है, ठीक उसी प्रकार श्री गुरुदेव हमारी कल्याण-कामना के वशीभूत होकर ही हमें ताड़ना करते हैं।

एक समय श्री दण्डी विरजानन्दजी का शास्त्रार्थ रंगाचार्य से वृन्दावन में हुआ। उस समय स्वामी दयानन्दजी भी साथ गये। वहां रंगाचार्य के किसी चेले ने संस्कृत में कुछ कथन आरम्भ किया, परन्तु वह बोलता अति अशुद्ध था। उसका उच्चारण भी बड़ा भद्दा था। इस पर स्वामी दयानन्दजी ने आक्षेप करते हुए उसे रोका, परन्तु दण्डीजी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। दण्डीजी महाराज वैसे तो एक निःस्पृह संन्यासी थे, परन्तु अपनी प्रकृति से राजेश थे। उनकी बातचीत में भी राजाओं के सदृश परिभाषायें पाई जाती थीं। ठीक तो है—

> चाह चिन्ता का दूर कर हुआ जो विगतक्लेश,
> इन्द्रियगण को दमन कर वही राजराजेश।
> कलह कल्पना मेटक निरपेक्षित परिव्राट्,
> उसके मानसमहल में सोहे राजसी ठाठ।

एक समय का वृत्त है कि दण्डीजी का कोई दूर-समीप का सम्बन्धी मथुरा में आया। वहाँ आकर उसे दण्डीजी के मिलाप की भी बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। परन्तु दण्डीजी ने उन दिनों आज्ञा दे रक्खी थी कि विद्यार्थियों के बिना दूसरा

कोई भी मेरे स्थान पर न आये। इससे उनका गत्यन्थी अतिशय दुःखित हुआ। एक दिन कहीं मार्ग में स्वामी दयानन्दजी को मिला और बड़ी विनय से बोला—"महाराज ! किसी प्रकार मुझे दण्डीजी का दर्शन करा दीजिए; मैं बड़ी दूर से आया हूँ। यदि यहाँ आकर भी उनके दर्शन से वञ्चित रहा तो फिर जन्म-भर में दूसरी बार अवकाश मिलना दुर्लभ है।" स्वामीजी ने आगन्तुक को बहुत समझाया कि वे पढ़नेवालों के विना अपने स्थान पर किसी दूसरे को नहीं आने देते, और यदि मैं अपने साथ तुम्हें ले चलूं तो वे मुझ पर अत्यन्त अप्रसन्न हो जायँगे। परन्तु आगन्तुक ने अति आग्रह करते हुए स्वामीजी के पैर पकड़कर कहा—"मेरे लिए गुरुजी की अप्रसन्नता सह लीजिएगा, परन्तु मुझे दर्शन अवश्य करा दीजिए। मैं चुपचाप दूर से दर्शन करके चला जाऊंगा।" स्वभाव से दयालु श्री दयानन्दजी सहृदय होने के कारण उसे अपने साथ गुरु-अट्टालिका पर ले आये। थोड़ी देर तक वह मौन साधे खड़ा दण्डीजी के दुर्लभ दर्शनों का लाहा लूटता रहा, और अन्त में स्वामीजी का संकेत पाकर शनैः शनैः पीछे चला गया। स्वामीजी भी उसके साथ विश्रामघाट पर जाने के लिए वहां से उतर आये। दोनों सीढ़ियों से उतर ही रहे थे कि स्वामीजी को अपना एक सहाध्यायी मिला। उन्होंने उसे संकेत से समझा दिया, परन्तु उसने जाकर स्वामी विरजानन्दजी को कह ही दिया—"महाराज ! आज दयानन्द के साथ आपके पास जो व्यक्ति आया था वह कौन था ? पहरावे से तो पञ्जाबी प्रतीत होता था।" यह जानकर कि मेरे पास कोई चुपचाप आया और फिर कर लौट गया, श्री विरजानन्दजी क्रोध में आ गये। स्वामी दयानन्द के आने पर उन्हें बहुत झिड़कियाँ दीं और कहा—"तूने मुझे नेत्रहीन जान कर ऐसा किया है। यहाँ से चले जाओ। तुम्हारे लिए ड्योढ़ी बन्द कर दी गई है।" स्वामीजी उसी समय गुरु-चरण ग्रहण कर क्षमा-याचना करने लगे, परन्तु सुनवाई न हुई। अन्त में, कई दिनों के अनन्तर, नयनसुखजी ने विनय करके श्री दयानन्दजी का विरजानन्द दण्डी के दरबार में आना खुलवा दिया। जैसे पवन-कम्पित प्रफुल्ल पद्म पर से भ्रमर उड़कर, फिर पराग के अनुराग से वहीं आ बैठता है, ऐसे ही गुरु-गुण-गरिमा से मोहित श्री दयानन्दजी, तिरस्कार होने पर भी, गुरु-चरणों के समीप बार-बार आ जाते थे।

स्वामीजी का दरबार में आना एक बार फिर बन्द हुआ। उसका वर्णन यों है कि एक दिन श्री दयानन्दजी ने गुरुजी की बैठक के स्थान में झाड़ू देकर कूड़ा-कर्कट एक कोने में इकट्ठा कर दिया और बुहारी रखकर कूड़ा-कर्कट फेंकने के लिए किसी वस्तु का अन्वेषण करने लगे। इतने में श्री दण्डीजी टहलते हुए उसी ओर आ गये और उनका पाँव उस कूड़े में पड़ गया। इससे वे क्रोधावेश में आ गये। स्वामी दयानन्दजी को आलसी, अनुधर्मी आदि अनेक वचन कहकर उनकी देवढ़ी बंद कर दी। उस समय स्वामीजी का अध्ययन समाप्त होने में भी थोड़ा समय शेष रह गया था। स्वामीजी नन्दन चौबे और नयनसुख के पास गये। उन्हें कहा कि "गुरु जी वास्तव में तो कुपित नहीं हैं, फिर भी कुछ आवेश में आकर उन्होंने मेरा आना-जाना बंद कर दिया है। अब मेरे विद्या-समाप्ति के दिन भी समीप आ रहे हैं। इस लिए मैं नहीं चाहता कि मेरे विषय में गुरुजी की उदासीनता बनी रहे। आप दोनों साथ चलकर मेरे अपराध क्षमा करा दीजिए।" दोनों को साथ लेकर स्वामीजी महाराज आये और दोनों हाथों से गुरुचरणों का ग्रहण कर अपराध-क्षमा कराये। श्री विरजानन्दजी यद्यपि शिष्यों पर कभी-कभी कोप का प्रकाश किया करते थे, परन्तु उनका कोप दूध के उबाल और पानी की लकीर की भाँति क्षणिक हुआ करता था। वे शान्त भी तुरन्त ही जाते थे। स्वामी दयानन्दजी पर भी तत्काल ही प्रसन्न हो गये।

दसवाँ सर्ग

महात्मा विरजानन्दजी अपने शिष्यों से विपुल प्रेमबद्ध भी थे। एक दिन सायं समय उन्हें पता लगा कि उनका एक शिष्य आज इस लिए अध्ययनार्थ नहीं आया कि वह किसी पीड़ा विशेष से अत्यन्त पीड़ित है। उसी समय एक दूसरे शिष्य को संग लेकर उस शिष्य के गृह पर पहुँचे और आश्वासन देते हुए बड़ी देर तक उसके पास बैठे रहे। स्वामी दयानन्दजी पर तो उनकी अपार प्रीति थी। उन्होंने अपने सारे शिष्यों के समक्ष कई बार यह कहा कि मेरे शिष्यों में योग्य तो एक दयानन्द ही है। यही एक मेरे आशय को

पूर्ण रीति से समझा है। मुझे इस पर भरोसा है कि यह अपनी विद्या को सफल करेगा।

श्री दयानन्दजी की तर्क-शैली पर भी श्री विरजानन्दजी मोहित थे। विद्या-विनोद में किसी-किसी दिन गुरु-शिष्य में परस्पर युक्ति-प्रत्युक्ति की बाण-वर्षा होने लग जाती तो द्रोण-अर्जुन संग्राम का समय बंध जाता था। विरजानन्दजी अपने शिष्य के तर्क-चातुर्य की प्रशंसा करने लग जाते थे। कभी-कभी तो विरजानन्दजी कह देते थे, "दयानन्द! तुमसे कोई क्या वाद करे? तुम तो कालजिव्ह हो! जैसे काल सब पर बली है वैसे तुम्हारी तर्क-शक्ति भी प्रबल है, सब कुमतों का खण्डन करने में समर्थ है।"

श्री विरजानन्दजी के निकट दयानन्दजी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक शिष्य अध्ययन करते थे; परन्तु उनकी तर्क-शक्ति प्रबल न थी। गुरुजी जैसा पाठ पढ़ाते, शास्त्र की जैसी व्याख्या करते, वे सब सुनते चले जाते थे। बीच में कोई प्रश्नोत्तर करने का साहस न करता था। परन्तु जब श्री दयानन्दजी अध्ययन करने आते थे तो मध्य में बार-बार प्रश्नोत्तर छिड़ जाते थे, तर्क की झड़ी लग जाती थी, युक्तियों-प्रत्युक्तियों का तार बंध जाता था। गुरुजी प्रायः कह दिया करते थे—"दयानन्द! आज तक मैंने बहुतेरे विद्यार्थियों को पढ़ाया परन्तु जो स्वाद, जो आनन्द तुम्हें पढ़ाने में आता है वह अन्य किसी को भी पढ़ाने में आज तक नहीं आया।"

शास्त्रगत वार्ताओं से पृथक्, पुस्तक-लिखित भेदों से भिन्न ऐसे कई रहस्य और मर्म होते हैं जो तत्त्वदर्शी गुरुजनों के हृदय-कोश में सुरक्षित रक्खे रहते हैं। किसी अत्यन्त श्रद्धावान्, उत्तमाधिकारी अन्तेवासी को अकेले और एकान्त में बताये जाते हैं। विरजानन्दजी अपने पवित्र प्रेम के पुनीत पात्र श्री दयानन्दजी को पाठ-काल से अतिरिक्त समय देकर ऐसे सारे रहस्य समझाया करते थे। एकान्त समय में गुरु-शिष्य में चिरकाल तक वार्त्तालाप होता रहता था। प्रायः गूढ़ तत्त्वों की ही चर्चा चला करती थी। इसी प्रकार श्री विरजानन्द महाराज ने उन अमूल्य रत्नों को, जो उन्होंने युवा-काल से लेकर उस समय तक अन्तःकरण में संचित किये थे, एक-एक करके श्री स्वामीजी को सौंप दिये और इस दान से वे अति सन्तुष्ट हुए।

स्वामीजी महाराज ने ढाई वर्ष तक महात्मा विरजानन्दजी के पदपद्मों में बैठकर अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्तसूत्र तथा अन्य अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया। इतने काल का गुरु-सत्संग स्वामी महाराज के लिये सुवर्ण और सुगंधि का योग हो गया। अपने आपको विद्या से भरपूर कर लेने के पश्चात् उनको इच्छा हुई कि गुरु-महाराज का आदेश लेकर देशाटन करें। श्री विरजानन्दजी एक तो अपने विद्यार्थियों से द्रव्य लेना ही उचित न समझते थे और दूसरे श्री स्वामी दयानन्दजी के पास द्रव्य था भी नहीं। स्वामीजी ने विदा होने के समय, पुरातन आर्य मर्यादा के अनुसार, गुरुजी के समीप रीते हाथ जाना उचित न समझा। जाते हु कुछ लौंग ले गये। लौंग निकट रखकर गुरु महाराज के चरणों को स्पर्श करके नमस्कार किया और कहा—"महाराज ! आपने मुझपर असीम कृपा करके मुझे विद्यादान दिया है। उसके लिये मेरा रोम-रोम आपका धन्यवाद करता है। प्रभो! अब आपका आज्ञाकारी शिष्य आपसे देशाटन की आज्ञा ग्रहण करना चाहता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपकी भेंट कर सकूं, परन्तु सेवक के पास ये कुछ लौंग हैं, जो सन्मानपूर्वक श्री-सेवा में समर्पित हैं।"

सच्चे गुरुओं के समीप सच्चे शिष्य किसी अवस्था में सन्तान से भी अधिक स्नेह के पात्र हुआ करते हैं महात्मा विरजानन्दजी ने तो सन्तान-स्नेह का आस्वादन ही न किया था; उनके लिये तो शिष्य से परे इस संसार में स्नेह-पात्र और कोई दूसरा सम्बन्ध ही न था। शिष्यों में भी वह शिष्य—जिसे सम्पूर्ण शास्त्रीय भेद बताये, जिसके आगे हृदय खोलकर रख दिया, जिससे कुछ भी छिपा न रक्खा, जो स्वयं उज्ज्वल ज्वलन्त बुद्धि का धनी था—आज पृथक् होता है, यह जानकर उनका जी भर आया। पांव में नम्रीभूत शिष्य के सिर को हाथ से स्पर्श करके कहा—"वत्स ! मैं आपके लिये मंगल-कामना करता हूं। ईश्वर आपकी विद्या को सफलता प्रदान करें। परन्तु गुरु-दक्षिणा में इन लौंगों से भिन्न वस्तु मांगता हूँ। वह वस्तु तुम्हारे पास भी है।"

स्वामीजी ने निवेदन किया—"गुरुदेव ! यह सेवक अपने मनसहित तन को आपके चरणों में अर्पण किये हुए है। श्रीमुख से जो भी आदेश होगा उसे शिरोधार्य करूंगा—आजीवन निभाऊंगा। गुरुमहाराज ! आज्ञा कीजिये।" अपने प्यारे शिष्य के प्रोत्साहनपूर्ण वाक्य सुनकर विरजानन्दजी का

रोमराजी हर्षित हो गया—उनके हृदय में शिष्य-स्नेह का स्रोत प्रबलता से प्रवाहित होने लगा। उन्होंने फिर आशीर्वादपूर्वक स्वामीजी को कहा—"वत्स! भारत देश में दीन-हीन जन अनेक विधि दुःख पा रहे हैं। जाओ, उनका उद्धार करो। मत-मतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं उन्हें निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो। आर्य-सन्तान का उपकार करो। ऋषि-शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ। गंगा-यमुना के निरन्तर गतिशील प्रवाह की भाँति लोक-हित-कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र! गुरु-दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो। अन्य किसी सांसारिक पदार्थ की मुझे चाह नहीं है।"

स्वामी दयानन्दजी ने गुरुदेव के एक-एक वचन को स्वीकार किया और गद्‌गद्‌ कण्ठ से कहा कि "श्रीमहाराज देखेंगे कि उनका प्रिय शिष्य इन आज्ञाओं का किस प्रकार प्राणपण से पालन करता है।" श्री विरजानन्दजी ने पुलकित गात्र होकर अन्त में फिर नतशिर शिष्य के सिर पर हाथ रक्खा, और भूयोभूय आशीर्वाद देकर कहा, "बहुत अच्छा, दयानन्दजी जाइए। ईश्वर आपको सुख-सफलता सम्पन्न करे! आप सफल-मनोरथ, सिद्ध-काम होवें।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी गुरु-चरण-कमलों का गाढ़ आलिंगन करके वहाँ से विदा हुए और आगरे को जाने की तैयारी करने लगे। पृथक् होते समय शिष्य को विरजानन्दजी ने जो अन्तिम बात कही वह यह थी—"दयानन्द! स्मरण रखना, मनुष्यकृत ग्रन्थों में परमात्मा और ऋषि-मुनियों की निन्दा भरी पड़ी है, परन्तु आर्ष ग्रन्थों में इस दोष का लेश भी नहीं है। आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की यही बड़ी परख है। इस कसौटी को हाथ से कभी न छोड़ना।"

गङ्गा काण्ड

पहला सर्ग

पूर्व समय में लोकहितार्थ मृत्यु को भी वश मे करने वाले महायोगी महात्मा अगस्त्य के आश्रम से जैसे श्री रामजी दिव्य-अस्त्र-सम्पन्न होकर जनस्थान को अग्रसर हुए थे, वैसे ही महात्मा विरजानन्दजी की कुटी से महाराज दयानन्द विद्या के अलौकिक अस्त्रों से सुसज्जित होकर कार्यक्षेत्राभिमुख हुए। श्रीकृष्ण से प्रोत्साहन को पाकर जैसे श्री अर्जुन की नाड़ी-नाड़ी और नस-नस में वीरता का रक्त खौलने लग गया था, ऐसे ही विरजानन्दजी के वचन-विद्युत् ने श्री दयानन्दजी की काया में क्रियात्मक जीवन की कल्पनातीत गति उत्पन्न कर दी। वे एक सुशिक्षित, निपुण सेनापति की भांति अति साहस से उस क्षेत्र में उतर आये जहाँ मत-मतान्तरों का घोर संग्राम हो रहा था, ईर्ष्या-द्वेष के धूम्र से लोगों के सांस घुटे जाते थे, आंखें बंद हुई जाती थीं; पैशुन, निन्दा और लांछना की जहां धूल उड़ रही थी; और जहां बड़े-बड़े वीरों ने भी स्वार्थ पाठ का ही सबसे अधिक माहात्म्य मान रक्खा था।

स्वामी महाराज के पास परहित-साधना और परमार्थोपदेशरूपी दो वरुणास्त्र थे। इन्हीं को लेकर वे रण-रङ्ग में अपनी वीरता का परिचय देकर साम्प्रदायिक सैनिकों के उत्पन्न किये हुए धुर्वे-धूल को उपशमन करने में प्रवृत्त हुए।

महाराज वैशाख सम्वत् १६२० के अन्त में आगरा नगर में पधारे। यह नगर उस समय बड़ी रौनक पर था। हाईकोर्ट वहां होने से इस नगर की बड़ी शोभा थी। स्वामीजी ने वहां यमुना के किनारे भैरव मन्दिर के निकट लाला गल्लामल रूपचन्द अग्रवाल के बगीचे में अपना आसन किया। उसी उद्यान में एक और साधु निवास करता था। वह स्वामीजी के दर्शनों से ही उनका श्रद्धालु भक्त बन गया और पोस्टमास्टर-जनरल के कार्यालय में रायबहादुर पंडित सुन्दरलालजी को और नगर में अनेक सद्गृहस्थों को जाकर समाचार दिया कि

अमुक उद्यान में एक बड़े विद्वान् परमहंस पधारे हैं। उनका उपदेश तो पृथक् रहा, उनके दर्शनों से ही शान्ति प्राप्त हो जाती है।

अब स्वामीजी के पास बहुत से नगरवासी आने लगे। पं० सुन्दरलालजी ने दर्शन करके अति तृप्ति प्राप्त की। उन्हीं दिनों में एक कैलाशपर्वत नामक संन्यासी उसी उद्यान में आकर ठहरे। स्वामीजी से भी उनका मेलजोल हो गया। एक दिन कैलाशस्वामीजी से किसी भक्त ने पूछा "महाराज! गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस पद का अर्थ समझाइए।" कैलाश-स्वामीजी ने जो अर्थ किया उससे लोगों को सन्तोष न हुआ। उन में से एक जन ने यही निवेदन स्वामी दयानन्दजी से जा किया। स्वामीजी ने कहा कि इस पद में जो समास है उसमें अकार का लोप हुआ है, इस लिए "सर्व अधर्मों को छोड़ कर" अर्थ करना चाहिए।

यह सुन कर लोग परम सन्तुष्ट हुए और धन्य धन्य करने लगे। इस यशो-गान में कैलाशजी ने भी भाग लिया। उन्होंने लोगों से यह भी कहा "वास्तव में दयानन्द बहुत बड़े विद्वान् हैं। यदि आप में से किसी को कुछ पढ़ना हो तो उन्हीं से पढ़ना चाहिए।" इस वृत्तान्त ने नगर में बड़ा विस्तार प्राप्त किया, जिससे श्री स्वामीजी की धवल-कीर्ति, पूर्णमासी के चाँद की चाँदनी की भाँति सारे नगर में चमकने लगी, और धर्म-जिज्ञासुओं की मण्डलियाँ उनके पास आने लगीं।

कैलाश स्वामी तो दस दिन पर्यन्त उद्यान में रह कर भरतपुर चले गये, परन्तु स्वामीजी वहीं रहे। उन्होंने भगवद्गीता की कथा करना आरम्भ कर दिया। उनकी गीता के अर्थों को वर्णन करने की शैली मनोरंजक और अपूर्व थी। उनके श्लोक-उच्चारण पर, अर्थ-वर्णन पर, व्याख्या-आलापन पर, रस-सम्पादन पर, और वचन-माधुर्य पर श्रोताजन मोहित हो जाते थे। प्रायः घरों को लौटते समय यह कहते जाते थे "गीता का ऐसा रसीला और सारगर्भित व्याख्यान हमने पहले कभी नहीं सुना।" यह कथा एक मास से अधिक काल तक, प्रतिदिन रात को दो घण्टेपर्यन्त होती रही। स्वामीजी ने लोगों के कहने पर कुछ दिन पंचदशी की भी व्याख्या की। परन्तु पढ़ते हुए एक दिन उस में यह पद आया कि कदाचित् ईश्वर को भी भ्रम हो जाता है। इस पर

उन्होंने उसे भ्रममूलक समझ कर पटक दिया। स्वामीजी के सत्संग में नगर के साधारण और गण्य-मान्य सभी लोग आते थे। पण्डितवर भी प्रायः उपस्थित हुआ करते थे।

एक बार आदित्यवार के दिन पं० सुन्दरलालजी ने स्वामीजी से निवेदन किया "संस्कृत भाषा तो अब मृत मानी जाती है, कहीं व्यवहार में काम नहीं आती, तो आपने इस पर इतना परिश्रम क्यों किया?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "इससे अपना परलोक सुधारेंगे और यदि कोई अन्य पुरुष भी स्व-कल्याण करना चाहे तो साहाय्य देने के लिए उद्यत हैं।" इस उत्तर से प्रेरित होकर पं० सुन्दरलालजी और बालमुकुन्दजी ने अष्टाध्यायी अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। पं० सुन्दरलाल के मस्तक में कोई दोष था, जिसमे सुगन्धि-दुर्गन्धिका ज्ञान उन्हें नहीं होता था। स्वामीजी ने नेती, धोती, और न्योली कर्म विधिपूर्वक कराकर उन्हें स्वस्थ कर दिया और उनका वह दोष सर्वथा दूर हो गया। अन्य भी अनेक जन स्वामीजी से योग-क्रियायें सीखने लग गये थे। कुछ-एक ने अच्छी उन्नति भी कर ली थी; परन्तु जब स्वामीजी वहाँ से चलने लगे तो नेती आदि कर्म उन से छुड़वा दिये, क्योंकि गृहस्थ होने के कारण वे निभा नहीं सकते थे।

आगरे में रहते हुए स्वामीजी की देह पर फुंसियाँ निकल आईं। एक दिन कुछ मनुष्यों के साथ वे यमुना के राजघाट पर गये और वहाँ उन्होंने वस्ती कर्म की विधि से तीन चार बार मूलाधार से अँतड़ियों में जल भरकर न्योली-कर्म-विधि से नाभि-चक्र को घुमा कर जल को बाहर निकाल दिया। फिर स्नान करके स्वस्थान पर आ गये। उस दिन उन्होंने केवल दालभात ही ग्रहण किया। स्वामीजी कहते थे कि यह क्रिया उन्होंने नर्मदा के समीप विन्ध्याचल पर रहनेवाले एक कन-फटे नाथ के पास कई दिन रहकर सीखी थी। इस क्रिया से उनकी फुंसियाँ शान्त हो गईं। उन्होंने वहाँ यह भी कहा था कि हम जल में बहुत देर तक बैठकर तप करते रहे हैं, इसलिए सिर पर शीत का अधिक प्रभाव हो गया है। उसके निवारणार्थ कभी-कभी अभ्रक भस्म का सेवन कर लिया करते हैं। पं० सुन्दरलालजी ने स्वामीजी से अभ्रक-भस्म-विधान भी सीखा था।

आगरे में ही स्वामीजी ने सन्ध्या की एक पुस्तक का सम्पादन किया था। उसके अन्त में लक्ष्मीसूक्त रक्खा गया था। महाशय रूपलालजी ने डेढ़ सहस्र रुपये लगा कर उस पुस्तक की तीस सहस्र प्रतियां छपवाई थीं। उसमें विनियोग न होने से अनेक पण्डितों ने पहले आक्षेप किया, परन्तु अन्त में सब ने उसे क्रय कर लिया। स्वामीजी तीनों वर्णों के लिए सन्ध्या करना शास्त्रसम्मत बताते थे।

उस समय स्वामीजी प्रतिमा पूजन का खण्डन किया करते थे। इस पर प्रसिद्ध पण्डित चेतुलाल और कालीदासजी के साथ बात-चीत भी हुई। वे दोनों स्वामीजी के साथ सहमत तो हो गये, परन्तु कहने लगे कि गृहस्थ होने से हम स्वतन्त्र नहीं, इस लिए इसके विरुद्ध नहीं कह सकते। कहते हैं कि स्वामीजी के उपदेश से पं० सुन्दरलालजी ने भी शिवपूजन छोड़ दिया था। स्वामीजी भागवत का बड़ा कड़ा खण्डन किया करते और महाभारत को विचारा करते थे।

एक मथुरावासी पण्डित, घासीराम आगरे में आया। वह स्वामीजी के सत्संग से इतना प्रभावित हुआ कि मूर्त्ति-पूजा से उसे अति घृणा हो गई।

एक अपढ़ ब्राह्मण वहां आया। वह योग के चौंसठ आसन लगाना जानता था। स्वामीजी ने उसे वस्त्रादि धोने के कार्य पर पास रख लिया। वह था जितेन्द्रिय और सदाचारी। कभी-कभी विनोदवश उससे आसन लगवा कर देखा करते थे। एक ब्रह्मचारी भोजन बनाने वाला उनके साथ था। लिहाफ के बिना दूसरा कोई सिला हुआ वस्त्र नहीं पहरते थे। महाभाष्य आदि पुस्तकें उनके पास थीं। उन्हीं दिनों भागवत-खण्डन पर एक 'पाखण्ड-खण्डन' नामक पुस्तक उन्होंने संस्कृत में लिखी थी। वेद को विचारने का आपका बहुत विचार था। कालीदासजी वेद के पत्रे आप के पास लाये; पर उनसे काम न चला। कहा जाता है कि पं० सुन्दरलालजी ने जयपुर से वेद मंगवा कर स्वामीजी को दिया था। यदि किसी विषय में सन्देह हो जाता तो स्वामीजी पत्र-व्यवहार द्वारा अथवा स्वयं जाकर गुरुजी से निवारण करा लेते थे।

स्वामीजी उन दिनों दोनों समय नियम से योगारूढ़ हुआ करते थे। किसी-किसी दिन पहरों अचल भाव से ध्यानावस्थित रहते थे। आगरे में लोगों ने उनको अठारह घण्टों तक भी समाधिस्थ देखा था।

आगरे से वेदों के अन्वेषण में चलकर श्री स्वामीजी धौलपुर पधारे। वहां पन्द्रह दिन तक ठहर कर फिर आबू पर्वत पर चले गये।

माघ वदी १२ सम्वत् १६२१ को स्वामीजी महाराज ग्वालियर में आये। उस समय उनके साथ चार विद्यार्थी थे। यहां उन्होंने रामकुई बापूआपाड़ जरनैल के गङ्गा-मन्दिर में डेरा किया। उन दिनों महाराजाजी ने राजधानी में भागवत का सप्ताह बड़ी धूमधाम से बिठलाया था। दूर-दूर के पण्डित लोग बुलाये गये थे। श्रीमहाराज ने अपने कर्मचारियों द्वारा भागवत-सप्ताह का माहात्म्य श्री स्वामीजी से भी पुछवाया। उत्तर में श्री स्वामीजी महाराज ने कहा "ऐसे कार्यों के फल कष्ट-क्लेश से भिन्न कुछ नहीं हुआ करते। विश्वास न हो तो करके देख लो।" यह सुनकर महाराजा हंस कर बोले, "स्वामीजी संन्यासी हैं, इसलिए चाहे जो कह सकते हैं; परन्तु हम गृहस्थ हैं। हमें तो सब कुछ करना ही पड़ता है। अब तो वैसे भी सप्ताह की सामग्री का उद्योग पूर्ण कर लिया गया है।" अन्त में स्वामीजी को महाराजा की ओर से कथा में सम्मिलित होने के निमित्त निमन्त्रण आया। उसके उत्तर में स्वामीजी ने कहला भेजा "गायत्री का पुरश्चरण होना चाहिए। भागवत के सप्ताह में हम सम्मिलित नहीं होंगे।" इस विषय में भी राजा ने यही कहा कि भागवत-सप्ताह का तो अब पूर्ण रीति से उद्योग हो चुका है। ऐसे समय में गायत्री-पुरश्चरण कैसे किया जा सकता है!

सम्पूर्ण राज्य में प्रसन्नता का सागर उमड़ा पड़ा था। सारा नगर स्वच्छ, सुसिक्त और सुसज्जित था। काशी के, कलकत्ते के, दक्षिण के, तथा अन्यान्य स्थानों के अनेक शास्त्री-शिरोमणि निमन्त्रित होकर आये थे। आसपास के राज्यों के सुप्रतिष्ठित सज्जन और राजा लोग तथा राजबन्धुवर्ग आकर स्ववेष-भूषा से नगर की शोभा बढ़ा रहे थे। समग्र राज्य की विभूति यहां एकत्रित हो रही थी। उत्तुङ्ग राज-प्रासाद से लेकर एक घसियारे की पर्ण-कुटी तक, सब कहीं एक उत्सव मनाया जा रहा था। घर-बाहर, हाट-बाट, जहां देखो भागवत कथा की चर्चा चल रही थी। उसी समय श्री स्वामीजी महाराज ने रामकुई पर भागवत-खण्डन पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। उन निर्भय परमहंसजी के व्याख्यानों में भी भारी भीड़ होने लगी। स्वामीजी की अभयता ने नगरनिवा-

मियों को भी निडर बना दिया। वे उत्साह से भागवत-खण्डन सुनते और स्वामी कथन की सत्यता को स्वीकार करते थे। स्वामीजी यह भी कहते थे कि लश्कर में बड़ा भारी विघ्न होने वाला है। महा उपद्रव उपस्थित हुआ है।

सप्ताह-समाप्ति पर सारी राजधानी में प्रसन्नता के बाजे बजे, परन्तु तुरन्त ही जब लोगों ने सुना कि 'महारानी का पंचमासिक गर्भ गिर गया है' तो सारी प्रसन्नता एकाएक शोक-सागर में डूब गई। उसी मास विषूचिका महारोग भीषण रूप से नगर में फैला। छोटे राजकुमार, जिनकी दीर्घायु की कामना से कथा बिठलाई गई थी और जिस कुमार को सप्ताह समाप्ति पर पण्डितों ने आशीर्वाद दिया था, उसका देहान्त हो गया। इससे नगरी-सहित सारे राज्य में हाहाकार मच गया।

स्वामीजी नित्यप्रति व्याख्यान में पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहे, विज्ञापनों द्वारा भी निमन्त्रित करते रहे। परन्तु इतने विख्यात विद्वानों में से एक ने भी उनके सम्मुख आने का साहस न किया। विषूचिका के कारण रामकुई पर बहुत रोना पीटना होने लगा, इसलिए स्वामीजी वहां से डेरा उठाकर बाबाजी के उद्यान में चले गये।

दूसरा सर्ग

ग्वालियर से चल कर श्री स्वामीजी अन्तिम मई के लगभग करौली में पधारे। वहां श्री राजाजी के साथ धर्म-विषय पर वार्त्तालाप होता रहा। पण्डितों से भी कुछ थोड़ी-बहुत शास्त्र-चर्चा चलती रही। उस स्थान में स्वामीजी वेदाभ्यास में विशेष समय लगाया करते थे। करौली में स्वामीजी ने कई मास तक निवास किया।

करौली से प्रस्थान कर आश्विन १६२२ में आप जयपुर आये। वहां रामकुमार और नन्दराम मोदी के उद्यान में डेरा किया। उस समय उनके साथ सच्चिदानन्द, चेतराम और एक ब्रह्मचारी, ये तीन विद्यार्थी थे। सच्चिदानन्द ने स्वामीजी से गायत्री का उपदेश लिया था और प्रतिदिन सायंकाल सूर्याभिमुख खड़े होकर जप किया करता था। घाटमें एक गोपालानन्द नामक परमहंस निवास

करता था। उसने जीव-ब्रह्म-विषयक कुछ प्रश्न स्वामीजी की सेवा में भेजे। स्वामीजी ने उनका उत्तर ऐसा उत्तम और पांडित्यपूर्ण दिया कि वह उसे पढ़कर स्वामीजी की विद्वत्ता पर लट्टू हो गया। यहां तक कि अपना स्थान छोड़कर स्वामीजी के समीप ही आकर ठहर गया और रात दिन अपने सन्देह निवृत्त करता रहा।

श्रवणनाथ के शिष्य लक्ष्मणनाथजी वहां निवास करते थे। उनको महाराजा रामसिंहजी जोधपुर से लाये थे। उन्होंने स्वामीजी के साथ ब्रजनन्दनजी के मन्दिर में संभाषण किया। उन्हें निश्चय हो गया कि ये सकल-शास्त्र-ज्ञाता और योगीजन हैं। स्वामीजी से उन्होंने निवेदन किया "कृपा करके श्रीमन्त इसी मन्दिर में विराजें। हमारा साम्प्रदायिक लोगों के साथ एक शास्त्रार्थ होने वाला है। दया कर इसमें सहायता दीजियेगा।" स्वामीजी ने कहा "यदि शास्त्रार्थ में मुझे बुलाना चाहते हो तो स्मरण रखो कि मैं वहां जो कुछ कहूंगा अपने निश्चय के अनुकूल ही कहूंगा।" नाथजी ने यह बात स्वीकार करली।

जयपुर में स्वामीजी ने व्याकरण-सम्बन्धी पन्द्रह प्रश्न लिख कर पण्डितों के पास भेजे। पण्डित-प्रवरों ने उत्तर में गाली प्रदान करना ही पर्याप्त समझा। स्वामीजी ने उनके लेख में आठ प्रकार के दोष निकाल कर हरिश्चन्द्र आदि भद्र पुरुषों के पास पत्र भेजा। उन्होंने स्वामीजी के पक्ष की पुष्टि करते हुए पण्डितों के व्यवहार की अति निन्दा की। स्वामीजी ने पण्डितों के पास जो प्रश्न भेजे थे उनमें दो ये भी थे—१."कल्म च किं भवति ?" २. "येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत्कर्म ?"

एक दिन सब पण्डित मिलकर व्यास बख्शीरामजी के निकट गये और बोले "किसी प्रकार आप स्वामी दयानन्दजी से हमारा शास्त्रार्थ करा दीजिए।" पण्डितों की प्रेरणा से व्यासजी ने स्वामीजी को महलों में निमन्त्रित किया। पण्डित भी वहां एकत्रित हो गये। सब पण्डितों की ओर से एक पण्डित ने स्वामीजी से पूछा "*क्या पन्द्रह प्रश्न और आठ प्रकार के दोष आपने ही लिख कर भेजे थे ?*" स्वामीजी ने कहा "हां, मैंने भेजे थे।" तत्पश्चात् पण्डित ने 'कल्म' शब्द की व्याख्या की। स्वामीजी ने उसका तुरन्त खण्डन कर दिया। इसपर पण्डित लोग अति विस्मित हुए और कहने लगे, "अच्छा, इसका

अर्थ आप ही कीजिए।" स्वामीजी ने कहा कि जो कुछ परस्पर कथन हो वह लिखा जाना चाहिए, परन्तु पण्डितों ने स्वीकार न किया। तब स्वामीजी ने 'कल्म' शब्द की बड़ी योग्यता से व्याख्या की। अन्य पण्डित तो चुपचाप सुनते रहे, परन्तु एक मैथिल पण्डित ने आक्षेप करते हुए कहा, "यह अर्थ कहाँ लिखा है ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया "जो मैंने वर्णन किया है उसका तात्पर्य महाभाष्य के अनुकूल है।" मैथिल पण्डितजी ने कहा, "महाभाष्य तो व्याकरण ही नहीं।" यह सुनकर स्वामीजी ने उसे यही बात कि महाभाष्य की गिनती व्याकरण में नहीं है, लिखदेने के लिए बाधित किया। परन्तु वे पण्डित यह कहते हुए "अब जाने दो, रात बहुत बीत गई, आपको भी नगर से बाहर उद्यान में जाना है, द्वार बन्द हो जायँगे, फिर आपको कष्ट होगा" वहाँ से उठ खड़े हुए। स्वामीजी ने उठते हुए कहा "यह एक विलक्षण सभा है, जिसमें महाभाष्य व्याकरण नहीं माना जाता और यह पण्डितजी भी एक विचित्र बुद्धिके धनी हैं जो भाष्य को गणना व्याकरण में नहीं करते।"

तदनन्तर एक जैन-गुरु ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने उत्तर भिजवा दिया कि "जब आपका जी चाहे पधारिये, मैं वार्त्तालाप के लिए उद्यत हूँ।" जैन यति ने कहलवा भेजा कि "किसी के स्थान पर जाने से हमारे नियमों में बाधा पड़ती है, परन्तु यदि कहीं आने-जाते उद्यान आदि में मिलाप हुआ तो धर्मचर्चा करेंगे।" स्वामीजी ने यह कह कर कि जब ऐसा मिलाप होगा तो देखा जायगा, १९ प्रश्न लिख कर जैन यति के पास भेज दिये। प्रश्नों का उत्तर तो यतिजी की समझ में ही नहीं आया, परन्तु स्वमतानुसार आठ प्रश्न लिखकर स्वामीजी की सेवा में पहुँचवा दिये। उनका उत्तर तत्काल प्राप्त करके यतिजी मौनावलम्बी हो गये।

अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंहजी एक सत्संगी पुरुष थे। साधु-सन्तों में उनकी बड़ी भक्ति थी। वे राधाकृष्ण नाम का जाप करते और इन्हीं के उपासक थे। बीकानेर राज्य के निवासी ठाकुर हमीरसिंह, किसी मुकद्दमे में जयपुर आये हुए थे। वे स्वामीजी से भी परिचित थे। मूर्ति-पूजा में अनास्थावान् थे। एक दिन उन्होंने अचरौल के ठाकुरजी को समझाया "आप पूजा-पाठ के किस

मिथ्याडम्बर में खचित हो रहे हैं ? यदि अन्तःकरण में आत्मिक कल्याण कामना है तो सन्मार्ग का अवलम्बन कीजिए।"

श्री रणजीतसिंहजी अपने मित्र के वचनों को सुनकर विस्मय के साथ बोले, "तो इस पूजा-पाठ को छोड़कर हम किस से सदुपदेश ग्रहण करें ?" तब ठाकुर हमीरसिंहजी ने कहा "इस समय सद्गुरु स्वामी श्री दयानन्दजी महाराज हैं। उनके उपदेश से सत्य का बोध हो जाता है और सौभाग्यवश वे आजकल जयपुर में ही विराजमान हैं।" इन शब्दों ने ठाकुरजी के हृदय में स्वामीजी के प्रति श्रद्धा का स्रोत खोल दिया। वे स्वामीजी के दर्शनार्थ जयपुर आये और अचरौल पधारने के लिए अतिशय सम्मानपूर्वक निमन्त्रण दे गये। स्वामीजी को लिवा लाने के लिए अगले दिन उन्होंने एक मस्कोली भिजवाई, परन्तु वे पैदल ही चलकर वहां पहुंच गये। स्वामी-सत्संग से ठाकुरजी को बड़ा लाभ हुआ। उनके सारे भ्रम मिट गये, सम्पूर्ण संशय निवृत्त होकर उन्हें सन्मार्ग का ज्ञान प्राप्त हो गया और उनकी मूर्ति-पूजा से धारणा उठ गई।

प्रथम चार दिवस तो स्वामीजी का आसन राजमन्दिर में ही लगा रहा। परन्तु स्वामीजी एकान्तसेवी थे, इसलिए उनकी आज्ञा से एक विविक्त प्रदेश में ठाकुरजी ने एक स्वच्छ पर्ण-कुटी प्रस्तुत करा दी। वह पर्णकुटी बारहदरी के आकार पर निर्मित हुई थी। वहां प्रतिदिन ठाकुरजी तथा अन्य अनेक सत्संगी सज्जन श्री स्वामी-सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। स्वामीजी मनुस्मृति, उपनिषद् और गीता आदि ग्रन्थों के प्रकरण सुनाकर कृतार्थ किया करते थे। बहुत से विद्यार्थी भी स्वामीजी के पास जाते थे। उन्हें वे ब्रह्मचर्य आदि का उपदेश देते थे। एक दिन का वर्णन है कि ठाकुरजी का कार्यकर्त्ता हीरालाल कायस्थ मदिरापान किये हुए उसी मार्ग से जारहा था जिसके समीप स्वामीजी की कुटी थी। उसे वहां पहुंच कर स्मरण हो आया कि स्वामीजी को श्री ठाकुरजी ने बुलवाया है, उनके पास भी चलना चाहिए। वह स्वामीजी के पास चला गया और नमस्कार करके विनीत भाव से पास बैठकर सुनने लगा। उस समय स्वामीजी मनुस्मृति का प्रायश्चित्ताध्याय सुना रहे थे। गोवध, सुवर्ण-चोरी, सुरापान आदि पापों के जो फल अगले जन्म में मिलते उनका व्याख्यान स्वामीजी ने कुछ ऐसे शब्दों में—कुछ ऐसे भाव में, कुछ

ऐसे ढंग से—किया कि हीरालाल का भय के मारे हृदय कांप उठा; वह रोमांचित हो गया। पूर्वकर्मों पर पश्चात्ताप के अश्रु पात करते हुए उसने वहीं यह व्रत धारण किया कि भविष्य में वह दुराचरण कदापि नहीं करूंगा। उस दिन के अनन्तर, भ्रमण करने जाते समय, वह प्रतिदिन स्वामी-शरण में आया करता था।

स्वामीजी महाराज चार मास के लगभग वहां टिके। नित्यप्रति उपनिषदों और गीता की कथा सुनाया करते थे। प्रतिमा-पूजन का खण्डन करते थे और कहते थे कि ध्यान भीतर करना चाहिये। उस समय उन्होंने भागवत-खण्डन में एक पत्र भी छपवाया था। एक पत्र 'तत्त्वबोध' के नाम से लिख कर ठाकुरजी को दिया था। स्वामीजी शिव से निराकार ईश्वर का वर्णन करते थे और पार्वती के पति, पौराणिक शिव का उनके कथन में कोई संकेत न होता था।

उन्हीं दिनों में महाराजा रामसिंहजी वैष्णवों और शैवों के शास्त्रार्थ-संग्राम का उद्योग-पर्व करा रहे थे। दोनों सम्प्रदायों के सन्त-महन्त, प्रवर पण्डित एकत्रित हो रहे थे। इस समर के सूत्रपातकर्त्ता शैव सम्प्रदाय के सेनापति लक्ष्मणनाथजी थे। यद्यपि नाथजी के कारण शैव प्रबल थे, परन्तु शास्त्रवाद में जीतने का भरोसा वे अपने किसी भी पण्डित पर न रखते थे। व्यास बखीराम और उनके भाई कन्नीराम, ये दोनों शास्त्रार्थ-सम्बन्धी प्रबन्ध के अधिष्ठाता थे। स्वामी महाराज के विद्याबल और अतिशय बुद्धि-शक्ति का ये लोग, पण्डितों के प्रथम सम्वाद में, परिचय पा ही चुके थे। वे जानते थे कि दयानन्द के समक्ष खड़े होने का साहस कोई विरला ही कर सकता है। उसे जीतना नितान्त असम्भव है। अपनी विजय को निश्चित बनाने के लिए व्यास बखीराम आदि शैव पण्डितों ने, साम्प्रदायिक संग्राम में, अपनी ओर से स्वामीजी को सेनापति नियत करने का निश्चय कर लिया। इस विषय में वार्त्तालाप करने के लिए व्यास बखीरामजी स्वामीजी के पास भी गये और महाराजाजी से मिलने के लिए भी कहा; पर स्वामीजी ने इसे उपेक्षाभाव से सुना। बखीरामजी ने फिर महाराजा रामसिंहजी से निवेदन किया कि स्वामी दयानन्दजी अखण्ड ब्रह्मचारी और अद्वितीय विद्वान् हैं। आगामी शैव-वैष्णव-संग्राम में वे वैष्णव मत निराकरण करने के लिए शैव सम्प्रदायकी ओर ही खड़े होंगे। आप उनके दर्शन अवश्य करें। महाराजा के

हृदय में स्वामी-दर्शन-लालसा का भाव जागृत हो गया। उन्होंने ठाकुर रणजीत-सिंह द्वारा स्वामीजी को राजभवन में लाने के लिए यत्न किया। प्रातःकाल वही कनीराम व्यास स्वामीजी के पास आ गया। दिन के दस बजे स्वामीजी पीनस पर आरोहण करके राजराजेश्वर के मन्दिर में जा विराजे।

स्वामीजी के जीवन में, शिवरात्रि की घटना के अनन्तर, प्रतिमा-पूजन के भाव का लेशमात्र भी शेष न रह गया था। इसलिए मन्दिर में प्रवेश करते समय उन्होंने मूर्त्तियों के लिए कोई सम्मान प्रदर्शित न किया। व्यास बख्शीरामजी, स्वामीजी को यह कह कर कि मैं आपके शुभागमन की सूचना महाराजा को देता हूं, वहां से चल पड़े। परन्तु किसी मनुष्य ने व्यासजी को समझाया कि स्वामीजी तो सब देवताओं की मूर्त्तियों का खण्डन करते हैं, यदि इनका मेल-मिलाप श्री महाराजाजी से हो गया तो तुम्हारी बात बिगड़ जायगी—वर्षोंकी जमी हुई पटड़ी सदा के लिए उखड़ जायगी। इससे व्यास के हृदय में भी स्वार्थवश आशङ्का उत्पन्न हो गई। अन्त में कोई बहाना बनाकर संन्यासी-राज के मिलाप से महाराजा को वंचित रक्खा गया।

दो जातियों के संग्राम के समय जैसे किसी निरपेक्ष जाति का वीर सेनानी, समर-रस से संचालित होकर, स्वजाति से अपेक्षाकृत अधिक सम्बंध सूत्र आबद्ध जाति के पक्ष में संग्राम-भूमि में उतर आवे, ठीक उसी प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक समीपवर्ती शैव सम्प्रदाय के पक्ष को अवलम्बन करके, शास्त्रीय-रण-रंग-रसिक स्वामी दयानन्द वैष्णवाचार्यों के साथ भिड़ गये। उनका प्रतिपक्षी, वैष्णव सम्प्रदाय का परम पण्डित श्रीयुत हरिश्चन्द्र था। स्वामीजी को यह सिद्ध करना था कि वैष्णव सम्प्रदाय बहुत आधुनिक है, काल्पनिक है, निर्मूल है, और भद्र भी नहीं है। स्वामीजी ने जब वैष्णव धर्म की पुस्तकों से प्रमाण दे-देकर इस सम्प्रदाय की समालोचना की तो जहां वैष्णवों को लज्जा और पराजय ने अभिभूत कर लिया वहां शैवों की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। मारे हर्ष के शैव उछल रहे थे। उनके मुखमण्डल प्रफुल्ल कमल वन रहे थे। उस विजय से प्रभावित होकर लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे। कण्ठियों का स्थान रुद्राक्ष की मालायें लेने लगीं। महाराजा रामसिंह ने भी शैव सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया। इससे राजकीय हाथियों और घोड़ों के गले में

श्री महाराज की मालायें पड़ गईं। स्वामीजी के हाथ से भी मालायें वितरण कराई गईं।

वैष्णव सम्प्रदाय के दिग्गज को जीतने से स्वामी-केसरी की कीर्ति दसों दिशाओं में विस्तृत हो गई। उनके पाण्डित्य का सिक्का पण्डितमात्र पर बैठ गया। इस प्रकार साढ़े चार मास स्वामीजी ने जयपुर में निवास किया। उस राज्य के अनेक ठाकुर उनके भक्त हो गये। बगरू के ठाकुरजी ने अपने ग्राम में पधारने के लिए स्वामीजी से बहुत प्रार्थना की। इस प्रार्थना को स्वीकार कर श्री महाराज वहाँ गये और दो दिन विराज कर फिर दूदू को चले गये। दूदू के ठाकुर इन्द्रसिंहजी ने दो दिन तक स्वामीजी के उपदेश श्रवण किये और वे भक्तिमात्र से स्वामीजी के शिष्य बन गए। तत्पश्चात् श्री स्वामीजी कृष्णगढ़ में जाकर दो दिन रहे। वहाँ से अजमेर पधारे और राय दौलतरामजी के उद्यान में चार दिन ठहरे। इसके पश्चात् आप पुष्करराज चले गये।

तीसरा सर्ग

स्वामीजी महाराज चैत्र कृष्णपक्ष ११ सम्वत् १९२२ को पुष्कर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपना डेरा ब्रह्मा के मन्दिर में किया। मन्दिर के बाहरी भाग के द्वार से भीतर जाने पर दहिने भाग में स्वामीजी का निवास था। वहाँ आकर उन्होंने प्रतिमा-पूजन का खण्डन बड़े बलपूर्वक करना आरम्भ कर दिया। बहुत से ब्राह्मण चिढ़कर स्वामीजी के पास शास्त्रार्थ के लिए आये; परन्तु वहाँ पहुँचकर उनमें से किसी को भी स्वामीजी का सामना करने का साहस न हुआ। वे सब मिलकर व्यंकट शास्त्री के समीप गये। वह पण्डित बालशास्त्री के समान विद्वान् था। तर्कशास्त्र में अति निपुण था। नागपर्वत की एक कन्दरा में रहा करता था। उसका गुरु एक अघोरी था। व्यंकट शास्त्री ने प्रथम तो स्वामीजी के समीप जाकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया, परन्तु अन्त में वह आने से टल गया। उसे टलता हुआ जान श्री स्वामीजी स्वयं उसके पास जा खड़े हुए। उस समय कोई तीन चार सौ ब्राह्मण वहाँ एकत्रित हो गये थे। वाद का विषय नियत हुआ,'भागवत'। शास्त्रीजी ने भागवत का मण्डन किया, परन्तु स्वामीजी ने

अपने समय में उसका खण्डन इतनी प्रबल युक्तियों से इतने प्रबल प्रमाणों से किया कि व्यंकटजी को अपना बचाव उस विषय से किनारा खींचने में ही सूझा। वह एक शब्द के शुद्धाशुद्ध उच्चारण पर वाद करने लगा। स्वामीजी उस शब्द को "दैवासुर" कहते थे और वह "देवासुर" कहता था। अन्त में उसने स्वामी-पक्ष को स्वीकार करते हुए कहा कि स्वामीजी की विद्या बड़ी प्रबल है। स्वामीजी ने शास्त्रीजी से व्याकरण पर भी घण्टा भर वाद किया और विजयी हुए। शास्त्रीजी ने स्वामीजी की विद्या की प्रभूत प्रशंसा की और उन्हें अपने अघोरी गुरु-जी से भी मिलाया। वह अघोरी अति हृष्ट-पुष्ट, बड़ा लम्बा-चौड़ा मनुष्य था। जो कोई उसके पास जाता उसे वह पत्थर उठा-उठा कर मारा करता था, गालियां भी दे दिया करता था। मृतकों की देहों को चिताओं पर से उठा कर खा जाया करता था। परन्तु संस्कृत भाषा का एक अच्छा विद्वान् था। स्वामीजी महाराज उसके साथ देर तक बातें करते रहे। समाप्ति पर उसने सबको अभिमुख करके संस्कृत में कहा "दयानन्दजी का कथन सत्य है; इनसे झगड़ा न करो।" फिर उन्हीं शब्दों को व्यंकटजी ने आर्यभाषा में सब उपस्थित जनों को सुनाते हुए कहा "स्वामी दयानन्दजी का पक्ष सर्वथा सत्य है। इनसे व्यर्थ की कलह न करो।" यह सुन सब ब्राह्मण उदासीनमुख हो कर वहां से चले गये। व्यंकट शास्त्री जी का उतने ही समय में स्वामीजी के साथ इतना सख्यभाव हो गया कि स्वामीजी को उसने कहा "जब कभी आप को शास्त्रार्थ में सहायता की आवश्यकता पड़े तो मुझे स्मरण कीजियेगा। मैं बिना विलम्ब उपस्थित हो जाऊंगा।"

मेले की बड़ी धूम-धाम थी। उधर स्वामीजी महाराज भी कुरीतियों का धुंआधार खण्डन कर रहे थे, जिससे उस महामेले में एक भारी हल-चल मच गई थी। साम्प्रदायिक सागर, श्री दयानन्दजी के वाणी-वायु से विचलित हो कर संशय के झकोले खाने लगा था। स्वामीजी महाराज के उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कण्ठियां उतार-उतार कर गङ्गाजी के मन्दिर के एक कोने में ढेर लगा दिया। ब्राह्मण लोग भागते हुए फिर व्यंकट शास्त्री के समीप गये। उसने कहा "हम उनसे क्या वाद-विवाद करें? जो कुछ वह कहता है सब सत्य कहता है। परन्तु इतना अवश्य है कि उसकी चलेगी तब, जब कोई राजा-महाराजा उसका शिष्य बन जायगा।"

एक दिन स्वामीजी ने पण्डित नानूराम नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को कहा कि "आप इस कण्ठी का क्या यहांह गले में डाले हुए हैं ? इस अवैदिक चिन्ह को उतार क्यों नहीं डालते ?" उसने उत्तर दिया कि "यदि आप लोगों में ब्राह्मण संन्यासी न बने तो मैं भी कण्ठी बांधना छोड़ दूंगा"। स्वामीजी ने कहा "हम क्या करें ? यहां तो प्रवाह ही बदला पड़ा है। यदि मुझ से हो तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि विद्वान् ब्राह्मण के बिना अन्य किसी को भी संन्यास लेने का अधिकार नहीं है"।

ब्रह्माजी के मन्दिर के महन्त मानपुरीजी थे। वे बड़े सज्जन पुरुष थे। पहले-पहल एक बार जब मूर्त्ति-भोग के अनन्तर स्वामीजी को उन्होंने दूध दिया तो स्वामीजी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि पत्थर-पूजा का मैं दूध नहीं पीता। उस समय मानपुरीजी रुष्ट हो गये और स्वामीजी को दूध देना बंद कर दिया। परन्तु पीछे से प्रसन्न हो कर उनके सहायक बन गये। स्वामीजी के साथ उनका सौहार्द भी हो गया। स्वामीजी विनोद में कभी-कभी उन्हें कह दिया करते थे "पुरीजी ! आप को तो यह ढाई मन की मूर्त्ति पारस पत्थर मिल गया है। इससे जितनी स्वर्ण सिद्धि करो वह साधु-संन्यासियों की सद्वृद्धि आदि से समाचेन करने में समर्पण कर दिया करो। भांड धूर्त्त लोगों के लिये कुत्सित व्यय न किया करो।" महन्त मानपुरीजी सुदृढ़-अंग और बलवान् थे। वे स्वामीजी की सहायता के लिये बद्धपरिकर रहते थे।

एक दिन का वर्णन है कि बहुत से ब्राह्मणों ने ऐक्य करके स्वामीजी को शास्त्रार्थ करने के लिए गौ-घाट पर आह्वान किया। वे तो सदा ही सन्नद्ध रहते थे। समाहूत होने पर तुरन्त वहां पहुँच गये। शास्त्रार्थ थोड़ी देर ही चला था कि पण्डितों के पैर उखड़ गये। निरुत्तर हो कर लगे दायें-बायें झांकने। इतने में कई लठैत बीच में आ कूदे और स्वामीजी को अवाच्य बकने लगे। वे लोग उस समय ऊधम मचाना ही चाहते थे कि मानपुरीजी भी वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने डांट डपट कर उन लोगों को वहां से खदेड़ दिया। उसी समय सैंकड़ों मनुष्यों ने कण्ठियां उतार कर पुष्करार्पण कर दीं।

स्वामीजी ने वहां रामानुजाइयों को भी शास्त्रार्थ के लिए पत्र लिखा, परन्तु उन्हें शास्त्रार्थ का साहस न हुआ। स्वामीजी महाराज-इस सम्प्रदाय के भ्रममूलक

विचारों का खण्डन करते हुए कहते थे "तप्ततनूः स्वर्गं गच्छति" यह श्लोक ही ठीक नहीं। और यदि इसे मान भी लिया जाय तो इसका अच्छा अर्थ यह है कि शम-दम, जप-तप, स्वाध्याय आदि तपस्या से तप्त तन वाला स्वर्ग को जाता है। तप्त का अर्थ 'जलाना' करना भूल है।

एक पण्डा स्वामीजी को कहने लगा कि मैं संन्यासियों का पुरोहित हूँ। आगे कई संन्यासियों ने मुझे श्लोक बना दिये हैं, आप भी बना दीजिए। स्वामीजी ने उसे हँसकर कहा कि अरे तू हमारा भी पुरोहित बनता है। उन्होंने श्लोक तो न बना कर दिया, परन्तु उपदेश करके उसके कण्ठ से कण्ठी उतरवा दी।

उन्हीं दिनों में एक द्रविड़ संन्यासी चन्द्रघाट पर आकर ठहरा था। वह पुराणों की कथा करा कर महाभोज कराया करता था। उसके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए कोई दो सौ ब्राह्मण स्वामीजी को वहाँ ले गये। परन्तु द्रविड़ संन्यासी सम्मुख नहीं हुए।

शिवदयाल नामक एक पुजारी ब्रह्मा की पूजा किया करता था। स्वामीजी ने उसे कहा कि शिवदयालजी! क्या आपका देव आप से वार्त्तालाप भी किया करता है? जब वह नकारा बजाता तो महाराज उससे कहते कि चमड़ा कूटने से क्या लाभ है? झाँझ बजाने से भी उसे रोकते थे। शिवदयाल ने प्रार्थना की कि मुझे ईश्वर का नाम बताइये। स्वामीजी ने उसे ईश्वर का नाम 'सच्चिदानन्द' बताया। उसने स्वामीजी से उपदेश लेकर कण्ठी उतार दी, मूर्ति-पूजन छोड़ दिया और घाटों पर अन्य पण्डों की भाँति मांगने जाना भी त्याग दिया। डाक-घर में नौकरी करके निर्वाह करने लगा।

एक दिन एक वृद्धा देवी ब्रह्माजी के मन्दिर में मूर्ति-दर्शन करके लौटते समय स्वामीजी के दर्शनार्थ भी पधारी। स्वामीजी ने पूछा "माता कहां से आ रही हो?" उसने कहा "ब्रह्माजी के दर्शन करके आई हूँ।" स्वामीजी बोले "क्या ब्रह्माजी ने आपको कोई उपदेश भी दिया है?" वृद्धा ने कहा "हाँ, दिया है।" तब स्वामीजी तुरन्त अपने आसन से उठ खड़े हुए और उसी वृद्धा देवी को साथ लेकर ब्रह्माजी की प्रतिमा के समीप जा उपस्थित हुए और उस

वृद्धा को बोले "माता ! अब मेरे सम्मुख इस मूर्ति को कहो कि बोले।" उस वृद्धा ने हँसकर कहा—"स्वामीजी ! यह मूर्ति तो क्या, आप के सामने सभी चुप हो जाते हैं। जो बोलता है आपकी चोट पीछे ही बोलता है।"

एक दिन एक सेठ ने स्वामीजी से आकर पूछा "महाराज ! मैं मन्दिर बनवाना चाहता हूँ। इसमें आप क्या सम्मति देते हैं ?" महाराज ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया "सेठजी ! किसी अन्य धर्म्म-कार्य में धनव्यय करो, जिससे अपना और दूसरों का कल्याण हो। मन्दिर बनाना तो सन्तति के लिए अविद्या का एक गहरा गढ़ा खोद कर छोड़ जाना है।" स्वामीजी का उपदेश सुन कर उस सेठ ने मन्दिर बनाने का विचार छोड़ दिया।

स्वामीजी प्रायः कहा करते थे कि अनेक स्तोत्र, जो आचार्यों के नाम से प्रचलित हैं, वास्तव में पण्डितों ने बनाकर उनके नाम से विख्यात किये हैं। भागवत भी व्यासकृत नहीं, किन्तु बोपदेव का बनाया हुआ है। वे पण्डे-पुरोहितों को कहा करते थे कि सत्य के प्रचार से इसलिए न हिचकिचाओ कि आजीविका जाती रहेगी। खीर पूड़ी आदि प्रारब्धजन्य भोग तुम्हें सत्य-प्रचार से भी पुष्कल प्राप्त होते रहेंगे। यहाँ रंगाचार्य के एक शिष्य ने भी स्वामीजी से गीता के एक श्लोक पर कुछ वार्तालाप किया था, परन्तु वह अत्यन्त हठीला था।

एक जन के पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि "शिव कल्याणकारी परमेश्वर का नाम है। उसे मैं मानता हूँ; परन्तु पार्वती के पति में मैं विश्वास नहीं रखता।"

स्वामीजी के सन्तोष, क्षमा, शान्ति और सरलता का सभी भक्त लोग यश गाते थे। उनकी विद्वत्ता का लोहा सारी पण्डित-मण्डली ने मान लिया था। उनके विजय-नाद की गम्भीर ध्वनि से पुष्कर से लेकर मरुभूमि के दूर-दूर के प्रदेश गुंजायमान होगये थे। अनेक सज्जनों ने स्वामीजी को अपने-अपने नगरों में पधारने के लिए निमन्त्रण भी दिये। जोधपुर के एक वकील महाशय भी आये और अपने नगर में पधारने के लिए आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने लगे। स्वामीजी स्वयं भी मारवाड़ की यात्रा के इच्छुक थे। परन्तु अचरौल के ठाकुर के भेजे हुए जोशी रामस्वरूप स्वामीजी को अचरौल लिवा ले जाने के लिए वहाँ बहुत दिनों से डेरा डाले बैठे थे। उनके अत्याग्रह से स्वामीजी ने अपनी यात्रा का पथ-परिवर्तन कर लिया।

पुष्कर से तीन कोस पूर्व की ओर मार्कण्डेय की एक गुफा है। पुष्कर-निवास के दिनों में स्वामीजी वहाँ से विभूति मँगाकर रमाया करते थे। उनके कण्ठ में रुद्राक्ष की माला थी। उसके बीच-बीच में एक-एक दाना श्वेत काँच का भी था। स्वामीजी उन दिनों में उपनिषदों का अनुशीलन किया करते थे। इस प्रकार २२ दिन पुष्कर मे निवास करके श्री स्वामीजी ने अजमेर को ओर प्रस्थान किया।

चौथा सर्ग

द्वितीय ज्येष्ठ वदी प्रथमा १९२३ को स्वामीजी अजमेर में पहुँचे और बंसीलालजी के उद्यान में उतरे। उस समय स्वामीजी के साथ पाँच मनुष्य थे, जिनमें से एक ६० वर्ष का वृद्ध ब्रह्मचारी संस्कृत का विद्वान् था। उनके आतिथ्य का प्रबंध सेठ कृष्णचन्द्रजी करते थे।

स्वामीजी ने आते ही सारे नगर में विज्ञापन लगवा दिये कि मूर्ति-पूजन आदि विषयों पर किसी को शंका हो तो आये, समाधान किया जायगा। कुछ लोग इधर-उधर की बातें तो बनाते रहे, परन्तु सम्मुख कोई न हुआ। पण्डितों ने प्रश्न लिखकर स्वामीजी के समीप भेजे कि संन्यासी को तीन दिन से अधिक किसी ग्राम में ठहरना उचित नहीं है। बग्घी आदि यान पर आरोहण नहीं करना चाहिए। स्वामीजी ने उत्तर में लिख भेजा कि उपकार के लिए संन्यासी को एक स्थान में अधिक काल ठहरने में कोई दोष नहीं है। शुभ वृत्ति में यदि याना-रोहण करना पड़े तो वह भी निर्दोष है। महाराज ने उनके पत्र में बहुत सी अशुद्धियाँ भी प्रदर्शित कीं। मन्दिर को वे अड्डा कहा करते थे। बहुत मनुष्यों ने उन से भागवत की भूलों के विषय में पूछा, तो उन्होंने तीन चार पत्र अपने हाथ से लिखकर लोगों को दिये। वहाँ उन्होंने शैव सम्प्रदाय का भी बहुत खण्डन किया।

अजमेर में स्वामीजी का पादरी राबिन्सन, ग्रे और शूलब्रेड के साथ जीव, ईश्वर, सृष्टि-क्रम और वेद विषय पर तीन दिन तक सम्वाद होता रहा। स्वामीजी बड़ी योग्यता से उत्तर देते रहे। चार दिन ईसा का ईश्वर होना, मर कर जी उठना, फिर आकाश पर आरोहण करना इत्यादि बातों पर स्वामीजी ने प्रश्न किये। इनका पादरियों से कोई उत्तर न बन आया। इसपर लड़कों ने ताली पीट दी।

परन्तु स्वामीजी ने उनको ऐसा करने से रोक दिया। उस शास्त्रार्थ में पादरियों में एक वेद-मंत्र का नाम लेकर कुछ पाठ पढ़ा। परन्तु स्वामीजी ने जब उनको पता पूछा तो वे कुछ न बता सके। अगले दिन सम्वाद के लिए पादरी नहीं आये। कहते हैं कि बाद में, किसी आवेश के कारण चिढ़कर, पादरी गूलमेंड ने स्वामीजी से कहा कि ऐसी बातों से आप कभी कारागार में पड़े जायंगे। स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से मुस्कराते हुए कहा "सत्य के लिए कारागार कोई लज्जाजनक बात नहीं है। धर्म-पथ पर आरूढ़ हो कर मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूँ। प्रतिपक्षी लोग यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहाँ कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरंग भी न उत्पन्न होगी वहाँ मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण-कामना भी कभी नहीं करूँगा। पादरीजी! मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फाँसी पर लटका ही तो दिया था।"

बड़े पादरी राबिन्सन के निमन्त्रण पर स्वामीजी उनसे मिलने गये। शिष्टाचार के अनन्तर पादरीजी ने पूछा कि ब्रह्माजी ने जो अपनी पुत्री से व्यभिचार किया था उसका आप क्या समाधान करते हैं? स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया कि एक नाम के अनेक मनुष्य हुआ करते हैं। इसमें कोई प्रमाण नहीं कि यह वही ब्रह्मा थे। महर्षि ब्रह्मा तो अत्यन्त पवित्र थे। स्वामीजी के कथन पर पादरी अति प्रसन्न हुए और उनको अपने हाथ से लिख कर एक पत्र दिया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों का एक विख्यात विद्वान् है। मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में इन जैसा संस्कृत का पण्डित दूसरा नहीं देखा। ऐसे महापुरुष संसार में बहुत थोड़े होते हैं। इनसे जो भी मिलेगा लाभ ही उठायेगा, जो सज्जन इनसे मिले इनका सम्मान करे।

मेजर ए. जी. डेविडसन महाशय से मिलने के लिए भी स्वामीजी गये थे। वार्तालाप के क्रम में स्वामीजी ने कहा "राजा प्रजा के लिए पितावत् होता है और प्रजा राजा के निकट पुत्रतुल्य होती है। यदि कोई पुत्र विपरीत मार्ग पर चले तो पिता का कर्त्तव्य है कि उसे सन्मार्ग पर लाये। आप भी एक प्रकार के राजा हैं। देश में अन्धकार फैल रहा है। आप के शासन में मत-मतान्तरों के लोग भोली प्रजा को नोच-नोच कर खा रहे हैं। इससे भारतीय प्रजा में अगणित

दुःखों की सृष्टि हो गई है। आप का धर्म्म है कि इसका कोई प्रबन्ध करके प्रजा का रक्षण करें।" कमिश्नर महाशय ने उत्तर दिया "यह विषय धर्म्म से सम्बन्ध रखता है। शासक लोग इस में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि किसी अन्य प्रकार की सहायता आपको चाहिए तो वह दी जा सकती है।" इसके पश्चात् आप सहायक कमिश्नर रेपटन महाशय से भी मिले।

उन दिनों कर्नल ब्रुक महाशय गवर्नर-जनरल के एजण्ट थे। वे गेरुए कपड़ों वालों से बहुत चिढ़ा करते थे। एक दिन का वर्णन है कि वे लाला बंशीलाल के उद्यान में आ गये। स्वामीजी उस समय कुरसी पर बैठे थे। समीप उपस्थित लोगों ने दूर से कर्नल ब्रुक को आते देख स्वामीजी को कुरसी हटा लेने के लिए कहा, परन्तु स्वामीजी ने उलटा कुरसी और भी आगे बढ़ा ली। कर्नल महाशय भीतर प्रवेश कर आये। उस समय लोग और भी अधिक घबराने लगे, परन्तु स्वामीजी ने उन्हें कहा कि डरो नहीं, शान्त रहो। जब वे समीप आये तो स्वामीजी कुरसी से उठकर टहलने लग गये। समीप आते ही श्री कर्नल महाशय टोपी उतार कर स्वामीजी की ओर बढ़े। स्वामीजी भी सम्मुख हुए और दोनों ने हाथ मिला कर परस्पर सम्मान प्रदर्शन किया। फिर दोनों आमने-सामने कुर-सियों पर बैठकर शिष्टाचार के वार्त्तालाप में प्रवृत्त हुए। तत्पश्चात् श्री स्वामीजी ने कहा कि आप धर्म की स्थापना करते हो अथवा उत्थापन? कर्नल महाशय ने उत्तर दिया कि धर्म की स्थापना को तो हम भी अच्छा समझते हैं, परन्तु जिस में लाभ होता है वही किया जाता है। स्वामीजी ने कहा कि मैं तो यही कहूँगा कि आप लोग लाभ का काम नहीं करते, किन्तु हानि का करते हैं। उन्होंने पूछा, भला कैसे? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यह तो आप भी मानते होंगे कि एक गाय के जीवन से कितना बड़ा लाभ होता है और उसे मार कर खा जाने में कितनी भारी हानि है। एजण्ट महाशय ने स्वीकार किया कि गोवध से हानि अवश्य होती है। तब स्वामीजी ने कहा कि फिर आप गोवध क्यों करते हैं? एजण्ट महाशय ने कहा "आपकी यह बात हम मानते हैं। आप कल हमारे बंगले पर आइयेगा। उस समय फिर वार्त्तालाप करेंगे।" अगले दिन श्रीमान् कर्नल ब्रुक के यहां से स्वामीजी के लिए गाड़ी आगई। स्वामीजी जोशी रामस्वरूप सहित गाड़ी में बैठ बंगले पर पहुंच गये। कोई पौन घंटा भर गो-

रक्षा विषय पर वार्त्तालाप होता रहा। जब कर्नल महाराय ने गो-रक्षा से लाभ और वध से हानि स्वीकार कर ली तो स्वामीजी ने कहा कि आप यत्न करके गोवध बन्द करा दीजिए। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि "स्वामीजी महाराज! गोवध बन्द कराना मेरे अधिकार में नहीं है। मैं आपको चिट्ठी देता हूं, आप लाट महाशय को मिलें। अन्य भी जिस राजकर्मचारी को आप मेरी चिट्ठी दिखायेंगे वह आपको अवश्य सन्मानपूर्वक मिलेगा।" वह चिट्ठी लेकर स्वामीजी स्व-स्थान को चले आये।

श्रीमान् कर्नल ब्रुक ने स्वामीजी से जयपुर का समाचार सुन कर एक पत्र महाराजा रामसिंहजी को भी लिखा था कि शोक आपने एक अपूर्व पण्डित के साथ सम्भाषण न किया। उस पत्र को पढ़ कर महाराजाजी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और अचरौल के ठाकुरजी के द्वारा स्वामीजी के दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे।

एक दिन साँवले रङ्ग के दो युवक तपस्वी, नाग-पर्वत के जङ्गल से, स्वामीजी के मिलापार्थ वहाँ आये। स्वामीजी ने उन्हें बड़े आदर-सत्कार से बिठलाया। वे संस्कृत के बिना किसी दूसरी भाषा में बातचीत नहीं करते थे। कुछ काल तक योग-सम्बन्धी चर्चा होती रही। चलते समय वे कहने लगे "स्वामीजी! हम तो अब तृप्त हैं, पूर्ण शान्त हैं।" स्वामीजी ने कुछ हंस कर कहा, "नहीं, महात्माजी! अभी अहंकार जीतना शेष है।" उन्होंने कहा, "हमने अहंकार सर्वथा जीत लिया है।" तपस्वी अभी भीतर से निकल कर बाहर गये ही थे कि स्वामीजी के संकेत से एक ब्रह्मचारी ने उनसे कलह करना आरम्भ कर दिया। वह झगड़ा इतना बढ़ा कि दोनों तपस्वी और ब्रह्मचारी आपस में गुत्थमगुत्था हो गये और एक दूसरे को पटकते हुए ऊपर नीचे होने लगे। कलह का कलकल नाद सुन कर भीतर बैठे हुए सब मनुष्य स्वामीजी सहित बाहर आ गये और उन्हें पृथक् पृथक् कर दिया। फिर स्वामीजी महाराज ने उन तपस्वियों को भीतर ले जा कर समझाया कि आप हमारा कहना नहीं मानते थे, परन्तु अब परीक्षा से सिद्ध हो गया कि आप में अहङ्कार की कला अभी मन्द नहीं हुई। मुनियों को और विशेषतः अभ्यासियों को अभिमान कदापि नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

कलश पूर्ण छलके नहीं घोषण ऊना करे,
गर्व करें न ज्ञानी जन अज्ञानी दम्भ करे।
गरजे बहुत बरसे नहीं ओछे में अहंकार,
बजे घना थोथा चना कह गये ज्ञानी सार।

उन दोनों तपस्वियों ने महाराज से क्षमा-याचना की और 'नमोनारायण' कह कर चले गये। वे तपस्वी स्वामीजी के दर्शनों को दो बार आये।

उन दिनों अजमेर में रामस्नेहियों के सबसे बड़े महन्त आये हुए थे। स्वामीजी ने उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिये आहूत किया। उन्होंने उत्तर दिया कि हमारा आप से शास्त्रार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि हम किसी के स्थान पर नहीं जाते और यदि कोई हमारे स्थान पर आये तो हम अपनी गद्दी से उतर कर उसका अभ्युत्थान आदि आदर-सत्कार नहीं करते। जब स्वामीजी को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने कहला भेजा कि मुझे आव-भगत की कोई आवश्यकता नहीं, आप सुखपूर्वक अचल आसन से गद्दी पर बैठे रहिए, परन्तु शास्त्रार्थ कीजिये। जब महन्त ने देखा कि वह मानादिका कोई ध्यान न करके यहाँ ही आना चाहते हैं तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि भाई, हम तो राम राम रटते हैं और भोजन आदि पाकर सुख से समय बिताते हैं। हमें शास्त्र आदि कुछ नहीं आता। इस पर स्वामीजी ने संस्कृत में एक पत्र लिख कर उस महन्त के पास भेजा। उसमें रामस्नेही मत पर प्रश्न थे। "इसका कल उत्तर देंगे" यह कह कर महन्तजी ने वह प्रश्न-पत्र रख लिया, परन्तु अगले दिन प्रातःकाल ही वहाँ से अपना अस्त्र-वस्त्र समेट कर भाग गये।

पण्डित हरिश्चन्द्र के गुरु-भाई देहलीनिवासी अजमेर में आये। स्वामीजी से उपनिषदों और मनुस्मृति पर सम्वाद करते रहे और सन्तोष पाकर अति प्रसन्न हुए।

पन्नालाल नामक एक ढुंढ श्रावक अपने मत की एक पुस्तक ले कर स्वामीजी के निकट आया। उसने कुछ प्रश्न भी किये। स्वामीजी ने उनका यथायोग्य उत्तर देकर उसके हाथ से पुस्तक ले ली और अपने पास रख ली। साथ ही कहा कि फिर यहाँ आइएगा, आपका समाधान भली भांति कर

दिया जायगा। वह उस समय तो चला गया, परन्तु घर जाकर उसके हृदय में न जाने क्या विचार उत्पन्न हुआ। स्वामीजी के समीप उस पुस्तक के रह जाने से न जाने किन गुप्त भेदों के प्रकट हो जाने का भय उसे प्रतीत होने लगा। उसने कमिश्नर को प्रार्थनापत्र दे कर अपनी पुस्तक स्वामीजी से मंगा ली।

एक दिन बहुत-सी देवियाँ स्वामीजी के समीप आईं। स्वामीजी ने पूछा, "बहनो! कहाँ से आई हो?"

उन्होंने उत्तर दिया, "महाराज, साधुओं के पास से हो कर यहाँ आई हैं।"

स्वामीजी बोले, "साधुओं के पास क्यों गई थीं?"

"आप कहें तो आपके पास आ जाया करें।"

"हमारे पास आने का क्या प्रयोजन है?"

"महाराज हम उपदेश लेना चाहती हैं।"

"यदि यही प्रयोजन है तो हम स्त्रियों को उपदेश नहीं दिया करते। अपने पतियों को हमारे पास भेज देना। वे यहाँ से उपदेश सुन कर आपको भी सुना देंगे।"

यह सुन कर वे चली गईं और फिर कभी नहीं आईं।

यहाँ भी बहुत से लोगों ने कण्ठियाँ उतार दीं। सावर के ठाकुरजी स्वामीजी के उपदेश सुनने आये और प्रभावित होकर गये।

जयपुराधीश महाराजा रामसिंह ने लाट महोदय के मिलापार्थ आगरे जाना था। उन्होंने सोचा कि मथुरा में उतरने पर यदि रङ्गाचार्य से शास्त्रार्थ हो गया तो बड़ी कठिनाई होगी। वे यह भी जानते थे कि स्वामी दयानन्दजी को छोड़ कर, उसको निश्चितरूप से परास्त करने वाला, दूसरा कोई भी नहीं। इस लिये उन्होंने, अचरौल के ठाकुर द्वारा, स्वामीजी की सेवा में जयपुर पधारने के लिये अजमेर में फिर निवेदन किया।

स्वामीजी को दो-एक भक्त कृष्णगढ़ ले गये और शुभसागर के तीर पर उनका उतारा कराया। यहाँ के सुयोग्य पण्डित कृष्णवल्लभ जोशी और महेशदास ओसवाल स्वामीजी से अति प्रेम करते थे। महेशदास ने स्वामीजी का आतिथ्य भी किया। कृष्णगढ़ के राजा वल्लभ-कुलसेवक थे। जब उन्होंने सुना कि एक स्वामी भागवत पर तीव्र आलोचना करता है, तो अनेक पण्डितों के साथ

ठाकुर गोपालसिंहजी को विघ्न-बाधा करने के लिये भेजा। मनुष्यों के अन्तरंग को जानने वाली दृष्टि से स्वामीजी ने उनके गुप्त भावों को लख लिया। स्वामीजी शौच, स्नानादि से निवृत्त हो कर, तन पर विभूति रमा, काष्ठ के आसन पर आ बैठे। महाराज ने उस मण्डली से यहाँ आने का कारण पूछा। उस समय एक ब्राह्मण ने कुछ पत्रे उथल-पुथल कर स्वामीजी के आगे रक्खे। महाराज ने कहा, "तुम स्वयं पढ़ो।" तब पण्डित ने वे पत्रे पढ़े। उनका तात्पर्य यह था कि वल्लभ-मत ही सर्वोत्तम है। यह सुन कर स्वामीजी ने उसका बहुत ही खण्डन किया। इसका उत्तर तो उनसे कुछ न बन पड़ा, परन्तु हुल्ला-गुल्ला करने पर उतारु हो गये। उनके इस गड़बड़ाध्याय को देख, स्वामीजी महाराज अपने काष्ठासन पर खड़े हो कर, गम्भीर गर्जनापूर्वक बोले, "मुझे अकेला समझ कर आगे हाथ न बढ़ाना। अकेला तो मैं अवश्य हूं, परन्तु तुम सब की हेकड़ी तोड़ने के लिये पर्याप्त हूं। यदि शास्त्रार्थ करना हो तो कटिबद्ध हूं, परन्तु यदि 'शस्त्रार्थ' ही करना चाहते हो तो भी पीछे नहीं हटूंगा, तुम्हारा मान-मर्दन करने को सुसज्जित हूं।"

इतने में श्रीमाली वंश के ब्राह्मण, तीस चालीस की संख्या में, स्वामीजी की सहायता के लिये आ पहुंचे और उसी समय कलह-प्रिय लोग वहाँ से भाग गये।

रव शृगाल-समूह का यथा सुन सिंह-सुत वीर,
हस्ति-यूथ को देख कर होय नहीं अधीर।
तथा साहस सुभावयुत डरे न पुरुष प्रधान,
क्षुद्र मनुज मिल कर करें चाहे विरोध महान।

पाँचवाँ सर्ग

कृष्णगढ़ से चल कर स्वामीजी महाराज दूदू पधारे और राजमन्दिर में ठहरे। यहाँ तीन दिन उपदेश हुए। फिर एक रात बगरू में ठहर कर जयपुर चले गये। अचरौल के ठाकुरजी ने श्री स्वामीजी के पधारने का समाचार महाराजा को दे दिया। उन्होंने श्याम पचौराम को स्वामीजी की सेवा में भेज कर निवेदन किया कि कृपया राजमन्दिर में पधार कर कृतार्थ कीजिए। स्वामीजी ने

स्वामीजी को कहा कि आप भली भांति जानते हैं कि राममन्दिर में जाने की मुझे कुछ भी आकांक्षा नहीं है। यदि महाराजाजी कुछ वार्तालाप करना चाहते हैं तो किसी समय वे यहीं आ जायँ। स्वामीजी ने यही बातें महाराजाजी से जाकर निवेदन कर दीं। तत्पश्चात् महाराजाजी ने ठाकुर रणजीतसिंहजी को कहा कि आप किसी प्रकार श्री स्वामीजी को यहां लाकर मुझे दर्शन करायें। ठाकुर श्री रणजीतसिंहजी ने अन्य अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों को साथ ले, श्रीस्वामीजी की सेवा में उपस्थित हो, राममन्दिर में पधारने के लिये बड़ी अनुनय-विनय की। अत्याग्रह पर स्वामीजी ने स्वीकार कर लिया और वे वहां से आकर मौजमन्दिर में विराजमान हुये।

उस समय पण्डित लोग भी बड़े समारोह से वहां एकत्रित हुए थे। कारणवश महाराजा रामसिंह अन्तःपुर में गए हुए थे, इसलिए चेले ने आकर कहा कि इस समय महाराजाजी का आना न हो सकेगा। यह सुन सब उठकर चले आये। उसके पश्चात् महाराजा रामसिंह ने बहुत प्रयत्न किया कि श्री स्वामीजी राममन्दिर में पधारें, परन्तु स्वामीजी सर्वथा अस्वीकार करते रहे। इस बार स्वामीजी वहां आश्विन मास के अन्त तक ठहरे। जब वहां से आगरे जाने लगे तो ठाकुर रणजीतसिंहजी तथा उनके कार्यकर्ता रामदयालजी को रुलाई आगई। उनको अश्रुमोचन करते देख स्वामीजी ने कहा कि हमने जो उपदेश आपको दिया है वह हँसाने वाला है, न कि रुलाने वाला। फिर प्रतिष्ठित पुरुषों ने अतिशय सम्मान से स्वामीजी को विदा किया।

कार्तिक बदी नवमी सम्वत् १९२३ को श्री स्वामीजी आगरे में पधारे। वहां बड़े समारोह के साथ एक भारी दरबार होने वाला था। दूर-दूर से राजे-महाराजे बुलाए गये थे। उस समय वहां एक अद्भुत सजधज और ठाठ-बाठ था। स्वामीजी महाराज ने भी धर्मोपदेश के लिए ऐसे समय को उपयोगी समझा। मौखिक उपदेशों के अतिरिक्त, सात-आठ पृष्ठ की, एक छोटी सी पुस्तक भागवत-खण्डन पर लिखी। इसकी कई सहस्र प्रतियाँ छपवाकर वहां वितीर्ण करा दीं और कई सहस्र हरिद्वार पर बांटने के लिये, मथुरा जाते हुए, साथ ले गये।

पांच विद्यार्थियों सहित स्वामीजी अपने गुरु के चरण-शरण में गये और नम्रीभूत होकर गुरुराज को नमस्कार किया। एक सुवर्ण-मुद्रा और एक मलमल

का थान भेंट किया। भागवत-खण्डन की पुस्तक का परिचय भी कराया गुरुदेव अपने कृपापात्र, सुयोग्य और विजयी शिष्य को मिलकर अति प्रसन्न हुए। कृपा-हाथ सिर पर फेर कर भूरि २ आशीर्वाद प्रदान करने लगे। उनका हृदय हर्षोत्कर्ष के पूर से भर गया और उन्हें यह जानकर पूर्ण सन्तोष हुआ कि उनके लगाये हुए पेड़ पर मनोवांछित फल आया है, उनका उद्देश्य भली भांति सिद्ध हो रहा है।

स्वामीजी महाराज कई दिन तक गुरु-सेवा में रहकर संदेहास्पद विषयों को पूछते रहे, शास्त्रीय तत्त्वों को समझते रहे, और फिर हरिद्वार का कुम्भमेला समीप आया जान वहां जाने के लिये उन्होंने गुरुदेव से अनुमति की प्रार्थना की। गुरु-महाराज का आदेश उपलब्ध कर विनीत नमस्कारपूर्वक वे गुरुचरणों से विदा हुए। आदर्श गुरु और आदर्श शिष्य का यह अन्तिम ही मिलाप था।

मथुरा से चलकर श्री स्वामीजी मेरठ में आये और एक देवी के मन्दिर में आसन किया। उस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। स्वामीजी दोशाला ओढ़ते थे, पांव में जुराब रखते थे और उनके गले में स्फटिक की एक माला भी होती थी। गङ्गाराम नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से उनका साक्षात् हो गया। स्वामीजी ने उसे कहा कि गो-रक्षा और वैदिक शिक्षा का प्रचार इस समय बड़ा आवश्यक कार्य है। उन्होंने यह भी कहा कि इस शुभ कार्य में सुयोग देने के लिए, आगरा दरबार में सम्मिलित हुए राजाओं ने हमें अभि-वचन दिया है। गङ्गारामजी ने कहा कि यदि राजा लोग सहायतार्थ अग्रसर हुए तो हम लोग अति प्रसन्नता से सम्मिलित हो जायेंगे।

गङ्गारामजी ने एक दिन अभ्रक भस्म की चर्चा चलाई। स्वामीजी ने कृष्ण अभ्रक के भस्म की एक पुड़िया उसे दी। उसने सारी भस्म भी देखनी चाही। स्वामीजी ने वह भी उसे दिखा दी। गङ्गाराम ने कहा, "स्वामीजी! अभ्रक तो बड़ा वाजीकरण औषध है। इसका सेवन करके, सबको वशीभूत करने वाले कामदेव से आप कैसे बच गये हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "कामवासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में रहे, नाच आदि कभी न देखे। अनुचित स्वरूप का देखना, अनुचित शब्द का सुनना और अनुचित वस्तुओं का स्मरण करना परित्याग कर देवे। स्त्रियों की ओर न निहारे,

नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इन साधनों से वासना मन्द हो जाती है। मनुष्य जितना वासना की तृप्ति का यत्न करेगा वह शान्त न होकर उतनी ही बढ़ती चली जायगी। इस लिए विषय-वासना का चिन्तन भी न करे। जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात-दिन प्रणव का जप करना चाहिये। रात को यदि जप करते हुए आलस्य बहुत बढ़ जाय तो दो घण्टा भर गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और पूर्ववत् प्रणव पवित्र का जाप करना आरम्भ कर दे। बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लग जाते हैं, ये जितेन्द्रिय जन के लिये अनिष्ट हैं। प्रातःकाल माह्रकंगनी के पांच दाने खा लिया करे। इस प्रकार जप आदि साधनों से काम-वासना जीत ली जाती है।

विषय का विषधर जब डसे ओम् जड़ी को चबा,
है नाग-दमन हि ओषधी ढूँढन दूर न जा।
उपशम होवे वासना मन के मिटें विकार,
यदि विधि से यह लीजिये नाम अमोल अपार।

स्वामीजी यहां कई दिन निवास करने के पश्चात् हरिद्वार को चल पड़े। इतने चिर से मण्डन के क्षेत्र में उतर कर महाराज ने मूर्तियों का खण्डन किया; वैष्णव, शैव, और शाक्त आदि सम्प्रदायों को अमूलक प्रमाणित किया; वाम आदि कु-पन्थों की पोल खोली; कण्ठी तिलक, छाप, माला का निराकरण किया; अवतारवाद और पुराण-उपपुराण वेदविरुद्ध सिद्ध किये; गङ्गादि नदियों के स्नान और एकादशी आदि व्रतों के माहात्म्य को अलीक ठहराया; और वेद तथा आर्ष ग्रन्थों को प्रामाणिक बताया।

छठा सर्ग

हरिद्वार का कुम्भ-मेला, समस्त आर्यावर्त में, एक अद्भुत और अद्वितीय मेला होता है। साधु-सन्त, जपी-तपस्वी और चारों वर्णों के उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट कोटि के गृहस्थ लाखों की संख्या में दूर-दूर से यहां एकत्रित होते हैं। संन्यासियों तथा गुसाइयों के मठ, उदासियों और निर्मलों के अखाड़े साधु-सन्तों से भर जाते हैं। वैरागी लोग सहस्रों की संख्या में यहां रहते हैं। धन्य

छोटे-छोटे सम्प्रदायों के लोग भी अपनी-अपनी टोलियां बनाकर वहां निवास करते हैं। मण्डलेश्वर साधु-महात्मा, मण्डलियों सहित विविक्त प्रदेशों में पर्ण-कुटियां डालकर, कथा-वार्ता करने और शिष्यों से परस्पर वाद-वितण्डा कराते हुए, अति गौरवसूचक ढंग से कालयापन करते हैं। परन्तु विरक्त सन्त इस कोलाहल-आकुल स्थान से अति दूर एकान्त और निर्जन भू-भाग में रह कर आत्माकार वृत्ति में निमग्न संन्यास धर्म का एक ज्वलन्त उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार यहां आकर अपनी उदारता का द्वार खोल देते है। जप-तप, भजन-पाठ, पूजन-आराधन, ज्ञान-ध्यान और दान-पुण्य करते हुए सहस्रों नर-नारी उस समय उस स्थान के वायुमण्डल को बदल देते हैं। सर्वत्र एक अपूर्व शोभा छा जाती है।

स्वामी दयानन्द महाराज ने ऐसे समय को अपने उद्देश्य की उद्घोषणा के लिये बहुत अनुकूल समझा। इस लिये कुम्भ संक्रान्ति के एक मास पूर्व, चैत्र संवत् १९२४ के आरम्भ में, तदनुसार फाल्गुन सुदी ७ सं० १९२३ को वे हरिद्वार पधारे। वहाँ भीमगोड़े के ऊपर, सप्तस्रोत पर एक बाड़ा बाँध, कुछ पर्णकुटियाँ निर्माण कर, वहाँ शंकरानन्दजी आदि पाँच छः जनों के साथ रहने लगे। महाराज ने सत्य के प्रचार के स्थान पर एक "पाखण्ड-खण्डिनी" नामक पताका स्थापित कर दी और प्रति दिन सत्य का उपदेश करना आरम्भ कर दिया। जिस दिन साम्प्रदायिक धर्म की राजधानी में पौराणिक धर्म के केन्द्र मे, एक निर्भय आत्मत्यागी महात्मा ने सत्य का नाद बजाया वह दिन धर्म के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। पौराणिक धर्म के उस गढ में उन्होंने वैदिक धर्म की घोषणा की। साम्प्रदायिक सघन वन पर समालोचना के कठोर कुठाराघात किये। पौराणिक कथा और माहात्म्य की कोमल, ललित लताओं पर तीव्र खण्डन का प्रखर खड्गप्रहार किया। स्वामीजी महाराज के आश्रम पर झूलते हुए निराले झंडे को देखकर लोग शत-शत संख्या में भीतर चले जाते और उनमें से बहुतेरे स्वामीजी के कथनों को स्वीकार कर लेते थे। उस सारे महा-मेले , जहां सुनो, श्रीमद्दयानन्दजी के प्रबल प्रचार की ही चर्चा सुनाई देती थी। आजतक लोगों ने एक संन्यासी के मुख से मूर्ति-पूजन का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का उन्मूलकपन, पुराणों तथा उपपुराणों का

काल्पनिक होना और धर्म-धाम माहात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था। इस लिए कई लोग इस नवीन दृश्य को अति विस्मय से देखते थे। कई एक इसका दोष कलिकाल के माथे मढ़ते थे। और फिर कितने ही पण्डित संन्यासी को 'नास्तिक' कहकर अपने शिष्यों, सेवकों और यजमानों का मुँह मूँदने की चेष्टा करते थे। पण्डितों और साधुओं ने स्वामीजी के विरुद्ध व्याख्यान देना भी आरम्भ कर दिया। उनके प्रति कुवाच्य कहने में भी उन्होंने कोई त्रुटि उठा न रक्खी। परन्तु वहाँ तो इतना भारी भूकम्प हो रहा था कि देवमालारूपी गिरिमाला उसके धक्के से बार-बार हिल-हिल जाती थी। बहुत से ब्राह्मण और साधु स्वामीजी की कुटी पर शास्त्रार्थ करने जाते और दो-एक प्रश्नोत्तर में ही निरुत्तर हो जाते थे।

एक दिन सन्त अमीरसिंह निर्मले ने चित्सुखी की एक पंक्ति स्वामीजी से पूछी। स्वामीजी ने उसे उत्तर देते हुए कहा कि आपके लिए मैं इसका अर्थ कर देता हूँ, परन्तु यह अनार्ष ग्रन्थ है, इसे प्रमाण-कोटी में नहीं मानना चाहिए।

स्वामी महानन्दजी संस्कृत-पठित थे। उन्होंने अपने जीवन में पहली ही बार वेदों के दर्शन श्री स्वामीजी के पास किये। कनखल पाठशाला के प्रसिद्ध पण्डित वस्तीरामजी ने स्वामीजी से व्याकरण पर सम्वाद किया। अन्य भी अनेक विद्वान् और वादीजन श्रीसंगति में आते रहे। जो सन्त-महन्त, अपनी गद्दी के गौरव से, कहीं आते-जाते नहीं थे वे अपने शिष्यों को भेज स्वामीजी की बातें सुनते थे। कुछ-एक राजे-महाराजे भी संन्यासीराज के दर्शनों को पधारे थे।

काशी के सुप्रसिद्ध पण्डित स्वामी विशुद्धानन्दजी ने एक दिन "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः, ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत" इस मंत्र का अर्थ यह किया कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य ऊरु से, और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं। स्वामीजी ने विशुद्धानन्दजी के अर्थों पर कटाक्ष करते हुए श्रोताओं को सदर्थ सुनाया कि चतुर्वर्ण-युक्त मनुष्य-समाज में ब्राह्मण मुख हैं अर्थात् मुख-सदृश हैं, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य ऊरु हैं और शूद्र पाँव हैं।

उन्हीं दिनों में गुसाइयों और स्वामी विशुद्धानन्द में परस्पर खटपट हो गई, जिससे गुसाइयों ने स्वामी विशुद्धानन्द पर अभियोग चला दिया। गुसाईं

स्वामीजी के समीप जा सहायतार्थ प्रार्थी हुए। स्वामीजी ने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि इस विषय में तुम दोनों हमारे लिए समान हो। इस लिए हम किसी एक की सहायता नहीं कर सकते।

उस महा-मेले पर स्वामीजी ने बहुत से व्याख्यान दिये। अनेक शास्त्रार्थ किये। बीसियों वादियों को जीता। सैंकड़ों जिज्ञासुओं को समझाया और भागवत-खण्डन की सैंकड़ों पुस्तकें बाँटीं। परन्तु अन्त को उनके निर्मल चित्तचन्द्र में उदासीनता की एक रेखा उभर आई। स्वामी दयानन्दजी ने अकाल-पीड़ित प्राणियों के करुण क्रन्दन को अपने कानों सुना था। अवध आदि प्रांतों में भ्रमण करके वहाँ दीन दुर्बल दुःखियों की हृदय-विदारक दशा को अपनी आँखों देखा था। विंध्याचल आदि प्रदेशों की यात्रा करते हुए कोल, भील और संथाल आदि भारतमाता के पुत्रों को अमानुष अवस्था में अवलोकन किया था। उन्होंने क्षत्रियों की तेजोहीन क्षीण देहों को, उनके ऐतिहासिक स्थानों में जाकर, दृष्टि-गोचर किया था। वैश्यों की अवस्था भी उनसे छिपी न थी। सत्य धर्म के सूर्य को साम्प्रदायिक राहु ने ग्रस लिया है, यह वे जानते ही थे। ईसाई धर्म की बढ़ती हुई बाढ़ किस प्रकार अबोध ग्रामीण प्रजा को प्लावित किये जा रही है, यह उन्हें विदित हो ही गया था। मिथ्या संस्कारों का विषम विषैला कीड़ा जातीय जीवन की जड़ों में किस प्रकार घुसा जाता है, यह उन्हें ज्ञात हो चुका था। वे यह भी जानते थे कि पश्चिमी विचार पुरातन आर्य सभ्यता को, आर्य संस्कारों को, आर्य धर्म-कर्म को और रीति-नीति को किस प्रकार घुन के सदृश खोखला किए जा रहे हैं। इसी कारण उनके अन्तःकरण में ऊष्मा बढ़ गई थी, हृदय-स्रोत से भूतदया का प्रबल प्रवाह प्रवाहित होगया था। मस्तिष्क-तन्तु-जाल में एक विचित्र संचालन उत्पन्न हो आया था, और काया में क्रियात्मक जीवन की एक अद्भुत उत्तेजना का प्रादुर्भाव हुआ था। किसी भी महान् कार्य का एकाकी सिद्ध करना सुगम नहीं। इस लिए सहायतार्थ स्वामीजी ने पहले आर्य जाति के सिर को हिलाया। ब्राह्मणों को जगाने में वे यत्नशील हुए। उन्होंने पंडितों-पुरोहितों को बहुतेरा उकसाया, भड़काया, उत्तेजित किया, प्रोत्साहन दिया; परन्तु ऋषि-मुनियों के वंशजों के, पुरातन आर्य सन्तानों के अंग इतने शिथिल हो गये थे; उनके मस्तक-मज्जातन्तु इतने मन्द पड़ गये,

थे कि उनमें गति उत्पन्न होने में ही न आई। उनके चित्र, काल-चक्र की विचित्र पेचीली चाल से सचेत न हो सके। आगरा, ग्वालियर, जयपुर, पुष्कर और अजमेर आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए उन्हें प्रत्यक्ष हो गया था कि ये पण्डित-पुरोहित जन अपने पुरातन पुरुषों के पौरुष को खो चुके हैं। ये तो अब इतने असमर्थ हो गये हैं कि परोपकार के लिए एक साधारण-सी सामयिक स्वार्थ-शृंखला को तोड़ने का भी साहस नहीं करते। विरोध के घनघोर घटाटोप सहित निराशा और हताशा की महातमोमयी अमावस्या की रात्रि में उन्हें अति दूर पर, आशा का एक टिमटिमाता हुआ दीपक दिखाई दिया, और वह हरिद्वार के द्वादशवर्षीय कुम्भ पर साधु-संन्यासियों का सम्मिलन था। स्वामीजी के हृदय-कमल में आशा की ऐसी सुगन्ध का उद्भव होना स्वाभाविक था कि साधु-संन्यासी लोग घर-बारत्यागी हैं, विरक्त हैं, भिक्षामात्रोपजीवी होने से स्वार्थ-कीचड़ से पार पा गये हैं, ब्रह्मचिन्तन के कारण आत्मज्ञानी और समदृष्टि हैं, लोभ-मोह के बन्धन तोड़ बैठे हैं। यदि ये जागृत हो जायँ, सत्य के सहायक बन जायँ, भूतदया के प्रभाव से प्रभावित हो जायँ, परहितकामना से कटिबद्ध होकर कार्य-क्षेत्र में उतर आयें, तो आर्य सन्तान के सिर पर से दुःख-दरिद्र के दिन दूर होते देर न लगेगी। इसके भाग्य का पूर्ण चन्द्रमा उन्नति के विशाल, विमल, नील नभ में फिर से चमकने लग जाएगा। आर्य धर्म का प्रचार, आर्यावर्त में ही क्यों, देश-देशान्तरों में भी हो जायगा। सर्वत्र ही आर्य ग्रन्थों का पठन-पाठन प्रवृत्त हो जायगा। परन्तु सारा बल लगाने पर भी वहां महा-मेले में एक भी सत्य का सहायक साधु-संन्यासी न मिला, हिमालय के चरणों में उन्होंने एक भी ऐसा यति न देखा जो बन्धु-प्रेम से प्रेरित हुआ हो, जो पर-पीड़ा के लिए अनुकम्पा भाव रखता हो। एक ब्रह्मज्ञानी कर्मवीर भी जागतिक हित की जोत जगा कर सब ठौर चांदना कर देता है, परन्तु वहां सैकड़ों ब्रह्मज्ञानपर्का अभिमान करने वालों में किंचित भी क्रिया-धर्म और पराक्रम न पाया। गङ्गा के निर्मल नीर के तीर पर एक भी भगवद्भक्ति और प्रजा-प्रेम की इकट्ठी माला जपता हुआ न मिला। वेष था, नाम था, आकृति थी, रङ्ग था, परन्तु उस सारे मेले में वह आत्मा नहीं था जो अनुभव करता—जो सत्यपरायण होकर स्वामीजी का संगी-साथी बन जाता। उस समय सचमुच महाराज ने अपने आपको अकेला अनुभव किया।

जिस में जातीय हित नहीं पर सुधार उपकार,
धर्म-उत्तेजना रहित जो सो नर देह असार।
जीना परहित-शून्य का ऐसा जग में जान,
धौंकनी ज्यों लुहार की ले सांस नहीं प्राण।
लिए सत्य के जो जिए सत्यता करे प्रचार,
पर-हित में भी रत रहे उस पै जाइए वार।

उन्होंने सोचा कि परोपकार एक महायज्ञ है। इसी को पूर्ण करने के लिए मैं दीक्षित हुआ हूं। परन्तु यह सर्वोपरि यज्ञ तब तक सिद्ध न होगा जब तक इसकी पूर्णाहुति मे सर्वस्व स्वाहा न किया जायगा। स्वामीजी ने सारे उपकरण वहीं त्याग दिये और महाभाष्य की एक पुस्तक, एक स्वर्णमुद्रा और मलमल का एक थान श्री गुरुदेव की सेवा में मथुरा भेज दिया। कैलासपर्वतजी ने पुस्तकें आदि त्यागते देख कर स्वामीजी से पूछा कि यह क्या करने लगे हो? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि जब तक आवश्यकतायें अल्प न की जायँ, पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता। मैं सब पन्थाईयों के विरुद्ध स्पष्ट-स्पष्ट कहना चाहता हूं। इसके लिए निर्द्वन्द्व होना परमावश्यक है।

स्वामीजी पुस्तकें आदि सब त्यागकर सारे तन पर राख रमा एक कौपीन-मात्रधारी मौनावलम्बी हो गये। व्याख्यान देना और वादविवाद करना तो दूर, वाणी का व्यापार भी बंद करके केवल अपनी कुटी में ही रहने लगे। जो केसरी अपने गम्भीर नाद से सारे मठों को हिला रहा था, अखिल अखाड़ों को कंपा रहा था, जिसकी गर्जना से सब सम्प्रदायी थर्राते थे, वही स्वदेशवासियों की अकर्मण्यता के कारण मौन धारण करके चुप हो गया। वाणी का सर्व व्यापार निरोध कर अपनी कुटी ही में काल काटने लगा।

परन्तु जिस महात्मा ने "मौनात्सत्यं विशिष्यते" अर्थात् "चुप्पी साधने से सत्य बोलना बढ़िया है" यह पाठ पढ़ा हो वह भला कब तक मौन रह सकता है? हरद्वार में ही एक दिन किसी मनुष्य ने स्वामीजी के कुटी-द्वार पर आकर यह वाक्य उच्चारण किया "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" वेद से भागवत उत्तम है। असत्य का सम्मान और सत्य का हनन स्वामीजी से कैसे सहन

हो सकता था ? उन्होंने यह वाक्य सुनते ही मौन-व्रत छोड़ कर भागवत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया।

स्वामीजी के कुटी-स्थान से ठीक उत्तर को, सप्तस्रोत से ऊपर की ओर, हिमालय की अनेक ऊंची चोटियाँ दिखाई देती हैं। ये वास्तव में परोपकार, परहित और तप की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ये ही हैं जो सागर से उत्थित आकाशविहारी वरुण को, तिब्बत में जाकर बरसने से रोक, भारत को सौंप देती हैं; आकाश-सागर के असंख्य धक्के सहन कर लेती हैं, परन्तु उसे सीमा का उल्लंघन नहीं करने देतीं; जो वेगवान् तरङ्ग उनके सिर के ऊपर से उछल कर पार जाना चाहते हैं उन्हें ये घनीभूत हिम बनाकर अपने ऊपर बैठा लेती हैं; हिम के लाखों मन बोझ से दिनों-दिन जर्जरीभूत हो रही हैं, परन्तु भारत भूमि की रक्षा में सदा तत्पर हैं। इन्हीं के तपो-बल से वर्षा है, इन्हीं के प्रताप से गङ्गा आदि नदियों की सृष्टि है, लाखों एकड़ भूमि सिंचन होती है और करोड़ों प्राणी पालन पाते हैं। यदि ये न होतीं तो सारा आर्यावर्त्त मरुस्थल बन जाता। स्वामीजी के अति समीप कल-कल ध्वनि करता हुआ गङ्गाजी का प्रवाह बह रहा था; जो शीत में, ग्रीष्म में, वर्षा में, रात में, दिन में निरन्तर बहा करता है। यह कुम्भ-मेले की महा-पूजा से न ही प्रसन्न और इसके अङ्ग-भङ्ग करके नहर निकलने से न कुछ उदास होता है। यद्यपि गङ्गा-जल स्वच्छ है, शीतल है, कोमल है, पतला है; परन्तु इसके विश्रामरहित अश्रान्त कर्मयोग ने, पर्वत-मालाओं के वक्ष-स्थलों को घोल-घोलकर, अपना मार्ग बनाया है। गति में बाधक चट्टानों को चूर-चूर करके बालू में बदल दिया है। निरन्तर-गति से, निरन्तर कर्म से, क्या-क्या नूतन परिणाम निकलते चले जाते हैं—इसका ज्वलन्त उदाहरण गङ्गाजी का प्रवाह स्वामीजी के सम्मुख उपस्थित था।

प्रकृति के पुस्तकालय में स्वाध्याय करने वाले श्री स्वामीजी ने प्रण कर लिया कि ईश्वर-कृपा से जितना ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है धर्म्म-प्रचार और लोक-हित करते हुए मैं उसे सफल बनाऊंगा। देव-वाणी में वार्त्तालाप करता हुआ कुछ काल के लिए गङ्गा के किनारे-किनारे भ्रमण करूंगा। क्रियात्मक जीवन के ज्योति-स्तम्भ, कर्मयोग के उच्च आदर्श भगवान् दयानन्द सप्त-स्रोत से उठकर हृषीकेश चले गये। फिर पाँच छः दिन के अनन्तर वहाँ से लौट कर हरिद्वार,

कनखल होते हुए लण्ढोरा में आ विराजे। यहां वे तीन दिन से निराहार थे। भूख ने जब बहुत बाधित किया तो उन्होंने गङ्गा-तीर के समीपवर्ती खेत के स्वामी से बैंगन मांगे और उससे तीन बैंगन लेकर क्षुधा-वेदना को शांत किया। वहां से चल कर शुकताल और परीक्षितगढ़ होते हुए वे गढ़मुक्तेश्वर में पहुंचे। यहां पंद्रह दिन निवास किया। उन दिनों में स्वामीजी एक मांझी की कुटी के समीप रात-दिन रेत में पड़े रहते थे। जो कोई पास आता उसे संस्कृत ही में उपदेश देते थे। यहां पण्डितों से भी कुछ वार्तालाप हुआ था। यहाँ भी आप तीन दिन तक निराहार पड़े रहे। चौथे दिन जब मांझी की रोटी आई तो उसने विचारा कि यह परमहंस तीन दिन से यहीं पड़ा है। न तो उसके पास कोई अन्न लाया है और न ही यह मांगने गया है। निरन्नपेट है। उसने स्वामीजी के पास जाकर अपनी रोटी में से आधी तोड़कर आदर से उन्हें दी, जिसे स्वामीजी ने ग्रहण कर लिया।

इसके पश्चात् मीरांपुर, चासी आदि स्थानों में होते हुए कर्णवास आये। यहाँ एक दिन गङ्गा के पुलिन पर आसन लगाये बैठे थे कि दो विद्यार्थी एक दो सज्जनों के साथ वहाँ आ निकले। उन्होंने देखा कि एक परमहंस बालू पर विराजमान है। समीप जाकर वे उनके तन पर गङ्गा-रज लगाने लगे। स्वामीजी ने विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी, उपनिषद् और मनुस्मृति अध्ययन करने का उपदेश दिया। फिर क्रमशः विचरते हुए ज्येष्ठ १६२४ में फ़रुखाबाद पहुँचे और विश्रान्त-घाट पर ठहरे। एक दिन बहुत से सज्जन स्वामीजी के दर्शनार्थ गये। उस समय स्वामीजी ध्यानावस्थित थे, इसलिए वे लोग चुपचाप बैठे रहे। जब उन्होंने समाधि खोली तो पण्डित मणिलाल ने पूछा "महाराज, गङ्गा और सूर्य क्या वस्तु हैं?" स्वामीजी ने कहा कि ये जड़ पदार्थ हैं।

फ़रुखाबाद में दो तीन दिन निवास करके स्वामीजी फिर विचरते हुए चासी आये। यहां पर पण्डित नन्दराम ने लोगों को शंख चक्र आदि से दीक्षा देकर वैरागी बनाने का बड़ा कोलाहल मचा रक्खा था। इसका वर्णन यहाँ के छत्रसिंह नामक जाट ने स्वामीजी से कर्णवास में भी किया था, और यह भी निवेदन किया था कि कभी चासी में पधार कर उपदेश दीजिएगा। छत्रसिंह ने सबको कह दिया कि स्वामी दयानन्दजी इस समय सर्वोत्तम पण्डित हैं। यदि

वे कह दें कि वैरागी धर्म ग्रहण कर लो तो मुझे स्वीकार है। कोई बीस पचीस सुपठित ब्राह्मण और जाट मिलकर पण्डित नन्दराम को साथ लिये स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। नन्दराम को जब स्वामीजी का पूरा परिचय प्राप्त हुआ तो वह वहाँ से आते ही चुपका खिसक कर परली धारा की ओर चला गया। जब बुलाने के लिए वहाँ मनुष्य भेजा गया तो वहाँ से भाग कर अहार में जा पहुँचा। चाहे नन्दराम ने शास्त्रार्थ न किया, परन्तु भागने से ही उसकी पूरी पोल खुल गई। सारे जाट वैरागी मत से बच गये। वहाँ महाराज १४ दिन तक उपदेश देकर लोगों को कृतार्थ करते रहे।

चासी से चलकर श्री महाराज धारपुर गये और फिर रामघाट में आकर एक पर्ण-कुटी में निवास करने लगे। रामघाट में टीकाराम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह वास्तव में कर्णवास का निवासी था। आषाढ़ सुदी ९ सं० १६२४ का वर्णन है कि टीकाराम बिना 'नमोनारायण' कहे स्वामीजी की कुटिया के पास से चला गया। उसे क्या मालूम था कि इस कुटी में विराजमान महात्मा एक दिन अपने धर्मगुरु बनेंगे! जब धनखएडी में उसने केशवदेव ब्रह्मचारी से स्वामीजी के गुण सुने तो ब्रह्मचारी को साथ लेकर श्री स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुआ और 'नमोनारायण' निवेदन करके बैठ गया। स्वामीजी ने पूछा, "कौन होते हो?" उसने कहा, "ब्राह्मण हूँ।"

"क्या सन्ध्यादि पढ़ा है?"

"नहीं महाराज, परन्तु गायत्री कण्ठाग्र है।"

"अच्छा, सुनाओ।"

"किसी के सम्मुख गायत्री का पाठ करना गुरु ने विवर्जित किया है।"

"भद्र! संन्यासी ब्राह्मणों का भी गुरु होता है, इस लिए हमारे सामने पढ़ते हुए कोई संकोच न करो।"

ब्रह्मचारी ने भी टीकाराम को गायत्री सुनाने के लिए प्रेरित किया। उसके मुख से गायत्री का शुद्धोच्चारण सुनकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए, और उन्होंने प्रोत्साहित करके सन्ध्यादि कर्मों में उसकी रुचि उत्पन्न कर दी। स्वामीजी ने उसे सन्ध्या का सारा पाठ अपने करकमलों से लिख कर दिया।

टीकाराम ने सिद्धान्तकौमुदी पर कुछ वार्त्तालाप किया, परन्तु स्वामीजी की विद्या को अथाह देखकर शान्त हो गया। प्रतिदिन के सत्संग और प्रश्नोत्तरों से उसके सारे सन्देह मिट गये। श्री-उपदेशों से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने विष्णुसहस्रनाम, गङ्गालहरी आदि सभी स्तोत्र, एक रुद्री को छोड़ कर, गङ्गा-अर्पण कर दिये। अपने ठाकुरों को भी उसी महानद में स्थापित कर दिया। अन्य भी अनेक पण्डित स्वामी-सेवा में आते रहे और उनके कथनों को सुनकर स्वीकार करते रहे। स्वामीजी के विद्याबल को सभी ब्राह्मण प्रशंसा करते थे। प्रति सायं चार बजे सैकड़ों मनुष्य सत्संग करने आते थे। गुसाईं शम्भुगिरिजी आते हुए तुलसी-दल ले आते और स्वामीजी को समर्पण करके विनोद में कहते कि स्वामीजी महाराज, हमारे तो आप ही शालिग्राम हो। उन दिनों स्वामीजी के मसूड़ों में पीड़ा हुआ करती थी, इस लिए वे तम्बाकू मला करते थे।

सातवाँ सर्ग

श्री पण्डित टीकारामजी स्वामीजी से उपदेश लेकर अपने पुराने पूजा-पाठ के कामों से विरक्त हो गये। नवीन विचारों की उत्तेजना भी कुछ कम न थी। वे सीधे कर्णवास आये और ठाकुर गोपालसिंह, जयरामसिंह आदि यजमानों को एकत्रित करके कहने लगे कि रामघाट में एक स्वामी ठहरे हुए हैं। वे अद्वितीय विद्वान् और महात्मा जन हैं। उनके सत्संग से मुझे विश्वास हो गया है कि कण्ठी, तिलक आदि चिह्न पन्थाइयों के मन-घड़न्त हैं, अशास्त्रीय हैं। वेद-शास्त्र में प्रतिमा-पूजन का विधान नहीं है। पुराण, तीर्थ, व्रत, माहात्म्य ये सब कल्पित हैं। तीनों वर्णों के लिए एक ही गायत्री है। भाई ! मेरा निश्चय परिवर्तित हो गया है, इस लिए मैं अब आपके मन्दिर की पूजा नहीं करूँगा। अच्छा तो यही है कि आप भी गुरु महाराज के दर्शनों से अपने भ्रम नाश करके यज्ञोपवीत धारण कर लें, मूर्ति-पूजा आदि अमूलक कार्यों का परित्याग कर दें।

अपने पुरोहित की नूतन वार्ता को सुनकर सारे ठाकुर एक वार तो आश्चर्य-निमग्न हो गये, परन्तु तुरन्त ही एक ऐसे महापुरुष के दर्शनों की लालसा से

लालायित होकर ठाकुर धर्मसिंह और गोपालसिंहजी ने टीकारामजी को भेज कर स्वामीजी को कर्णवास में लिवा लाने का प्रस्ताव किया। उधर प्रस्ताव अभी होने ही पाया था कि स्वामीजी स्वयं कर्णवास में आ विराजे। उन्होंने गागाराम की मढ़ी के आगे बर्गद वृक्ष के तले आसन लगाया। अगले दिन टीकाराम रामघाट से लौट आये और उन्होंने स्वामीजी के पधारने का समाचार ठाकुरों को दिया। फिर सब मिलकर श्री-दर्शनों को गये। ठाकुर गोपालसिंहजी ने नीचे बिछाने के लिये घास लाकर दी।

ठाकुर धर्मसिंह कुछ संस्कृत भी जानते थे। उन्होंने स्वामीजी के समीप जाकर संस्कृत में अपना नाम, गोत्र आदि उच्चारण करके उनको नमस्कार किया। प्रत्युत्तर में आशीर्वाद देकर स्वामीजी ने उनको बड़े प्रेम से समझाना आरम्भ किया। प्रश्न करके स्वामीजी ने जान लिया कि ये क्षत्रिय हैं और कुल की रीति के कारण अभी तक यज्ञोपवीतविहीन हैं। स्वामीजी ने सशोक कहा कि यहां के पण्डित-पुरोहितों ने लोगों में भ्रष्टाचार फैलाया हुआ है। भला, इससे बढ़कर अनाचार और कु-रीति और क्या होगी कि क्षत्रियों के पुत्रों के दाढ़ी-मूंछ मुंह पर निकलने लगी हैं, परन्तु अभी तक यज्ञोपवीत नहीं हुआ! इन्हीं अधर्माचरणों के कारण यह देश दिनोंदिन अधोगति को प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार स्वामीजी ने युवकों को उपनयन के लिये बड़ा उत्तेजित किया।

एक दिन एक पण्डित ने स्वामीजी को निमन्त्रित किया और ठाकुरों को भोग लगाकर उन्हें देने लगा। स्वामीजी ने यह कह कर कि हम उच्छिष्ट नहीं खाया करते, उसे ग्रहण नहीं किया।

कर्णवास से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी महाराज अनूपशहर में सुशोभित हुए। पहले तो एक सप्ताह तक वार्नों के ढाल के निकट एक कुटिया में निवास किया। उस समय स्वामीजी कुछ रुग्ण हो गये थे, इस लिए ढाल के अधिपति लाला गौरीशङ्करजी ने तुलसी के पत्ते काली मिर्चों के साथ घोल कर पिलाये और सोंठ डाल कर मूंग की दाल का पथ्य दिया। इससे स्वामीजी स्वस्थ हो गये। बूंदी के राजा के गुरु रामदास वैरागी वहीं रहते थे। वे बड़े सज्जन पुरुष थे और मूर्त्ति-पूजन नहीं करते थे। स्वामीजी उनसे बड़े प्रसन्न थे। एक दाक्षिणी स्वामी भी वहां रहा करता था। वह सूर्यपुरी को स्वामीजी के पास प्रश्न पूछने

के लिये बार-बार भेजा करता था। एक दिन सूर्यपुरी ने उनसे एक ऐसा प्रश्न पूछा जो उसकी अपनी समझ की पहुँच से परे था। महाराज ने कहा कि यदि कोई विचारवान् जिज्ञासु होता तो हम उसे इसका तात्पर्य समझा देते, परन्तु आप तो सीखे हुए प्रश्न पूछते हो। आपकी स्थूल बुद्धि इसके सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकती। बालू में मिश्रित चीनी के कण चिऊँटी निकाल सकती है, परन्तु हाथी की सूँड की पकड़ में वे नहीं आ सकते।

स्वामीजी टाल से उठकर नगर के दूसरी ओर निवास करने के विचार से जब चलने लगे तो रामदासजी ने कहा, "भगवन्, नगर में आजकल भागवत की कथा बड़ी धूमधाम से हो रही है और आप भागवत का तीव्र खण्डन करते हैं। कहीं ऐसा न हो कि नगर में मांगी मधुकड़ी भी न मिले।" स्वामीजी ने मुस्करा कर कहा, "इसकी कोई चिन्ता नहीं। हमारा प्रारब्ध हमारे साथ है।"

१० भाद्रपद १९२४ को स्वामीजी अनूपशहर के निकट लाला बाबू की कोठी में एक सप्ताह पर्यन्त रहे। इसके पश्चात् नर्मदेश्वर के मन्दिर के समीप सती की मढ़ी में निवास किया। सती की मढ़ी से कोई दस बारह पैर के अन्तर पर नवलजङ्ग नामक महामल्ल का अखाड़ा था। कहा जाता है कि उसकी जन्मभूमि पञ्जाब थी। वह सारस्वत ब्राह्मण था और किसी कारण से यहां आकर रहने लगा था। वह बारह मासों में ही, जब चाहे, तैर कर गङ्गा पार कर जाता था। बड़ा सदाचारी और सुशील था। उसकी एक ब्रह्मचारिणी बहिन भी थी। वह भी ऐसी शक्तिमती थी कि वर्षा ऋतु में एक हाथ में तलवार लेकर तैरती हुई गङ्गा को पार कर जाया करती थी। नवलजङ्ग श्रीस्वामी-चरणों का प्रिय भक्त बन गया था। वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नानादि करके गङ्गा की शुद्ध मिट्टी लाता और अति प्रीति से चन्दन की भांति रगड़ कर स्वामीजी के सम्पूर्ण शरीर पर रमा देता। श्री स्वामीजी अपने कार्य कदाचित् ही किसी से कराते थे, परन्तु भक्त की भावना के वशीभूत होकर उन्हें इस सेवा का सौभाग्य नवलजङ्ग को देना ही पड़ा था।

एक दिन ऐसा हुआ कि अकस्मात् छः सात वामी हाथ में मदिरा की बोतल लिये, मुख से ऊटपटांग बकते, स्वामीजी के आसन की ओर आये। वे यह भी

कह रहे थे कि आज हम दयानन्द को वारुणी-स्नान कराकर ही छोड़ेंगे। समीप आते ही उन्होंने चिल्लाकर पुकारा "अरे दयानन्द, निकल बाहर, तुझे शुद्ध करें, और बनाएँ। अब हम तुझे यह बनाकर ही जायंगे कि शास्त्रधर्म-खण्डन का फल कितना मीठा है।" स्वामीजी ने जब देखा कि वे दुष्ट जन मद में मत्त—औंदाने, यद-पद करते हुए—सीधे मढ़ी की ओर चले आ रहे हैं तो उन्होंने पुकार कर कहा "नवलजन्न, भाई ये मदिरा में मतवाले धामी कोलाहल कर रहे हैं। आगे आकर इनका मद उतारना।" स्वामीजी के वचन सुनकर भक्त नवलजन्न उन मदान्ध, पामर धामियों पर ऐसे दौड़ा जैसे मदोन्मत्त हाथियों पर शार्दूल दौड़ता है। नवलजन्न को आते देख वे धामी तुरन्त पिछले पाँव भाग गये और फिर कभी नहीं आये। उसके पश्चात् नवलजन्न बड़ी सावधानी से स्वामी-रक्षण में तत्पर रहता था।

एक मथुरानिवासी पण्डित वहां भागवत की कथा करने आया। उसका साक्षात् होने पर स्वामीजी ने उससे एक पद पूछा। उसका वह उत्तर तो न दे सका, परन्तु कुपित होकर लगा स्वामीजी को कोसने। स्वामीजी तो उसकी बाल-बुद्धि पर हंसते ही रहे, परन्तु लोगों ने उस कथक्कड़ को लज्जित करके शान्त कर दिया।

पण्डित अम्बादत्तजी से स्वामीजी का बड़ा मनोरंजक शास्त्रार्थ हुआ। उस दिन पण्डितों का समारोह स्वामी-स्थान पर उमड़ आया था। वार्तालाप में जब स्वामीजी ने युक्ति और प्रमाणों की झड़ी लगा दी तो जहां अन्य पण्डित आश्चर्य-सागर में डूब गए वहां अम्बादत्तजी का हृदय उखड़ गया। मन में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता छा गई। सांस फूल गया और लगे हांपने। स्वामीजी ने धैर्य और आश्वासन देकर कहा कि घबड़ाइये नहीं। आप वृद्ध भी हैं और सम्भवतया आपको अधिक बोलने का अभ्यास भी न हो।

जब अम्बादत्तजी का श्वास-प्रश्वास ठिकाने आया और हृदय का धड़कना भी बन्द हो गया तो फिर महादेव की पूजा का प्रकरण चलाया गया। स्वामीजी ने इस पर समालोचना की कि जब महादेव अपनी ही रक्षा करने में समर्थ नहीं तो उसकी पूजा से मनुष्यों को क्या लाभ होगा? तुम यह भी कहा करते हो कि महादेव कैलाश पर निवास करते हैं और विष्णु वैकुण्ठ में; इससे भी

यही परिणाम निकलता है कि वे दोनों देव यहां मन्दिरों में नहीं हैं। जब वे यहां हैं ही नहीं तो फिर पूजा किसकी सिद्ध करना चाहते हो? अन्त में अम्बादत्तजी स्वामीजी के साथ सहमत हो गये।

इस शास्त्रार्थ का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे भगवान्वल्लभ वैद्य और पण्डित रविशंकर आदि सज्जनों ने अपने शालिग्राम गङ्गा में प्रवाहित कर दिये, कण्ठियां तोड़ डालीं।

उसी नगर में 'बुद्धा' नामक संस्कृत का एक धुरन्धर विद्वान् वास करता था। वह भी स्वामीजी से वाद करने के लिए आया और बड़ी देरतक धाराप्रवाह संस्कृत बोलता हुआ शास्त्रार्थ करता रहा। अन्त में स्वामी-सिंह के सन्मुख स्व-सामर्थ्य को अति तुच्छ समझ कर नम्रशिर हो गया। उसने स्वामीजी के कथनों को स्वीकार कर लिया। यह प्रबल बुद्धि का धनी स्वामी-प्रेमियों में प्रथम समझा जाने लगा। स्वामीजी भी उस पर अति प्रसन्न थे और वत्सलता से उसे 'बुद्धि-सागर' नाम से पुकारा करते थे।

अनूपशहर में स्वामीजी ने रामलीला का भी खण्डन किया। वे कहा करते थे कि श्रीराम जैसे महाराजों और जानकी जैसी देवियों के स्वांग बना कर गली-बाजारों में घुमाते फिरना एक अपमानजनक और लज्जास्पद कर्म है। इस कथन का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और आगामी वर्ष उन्होंने रामलीला नहीं की।

राजा जयकृष्णजी स्वामीजी के दर्शनों से पहले-पहल अनूपशहर में ही कृतार्थ हुए। एक रात स्वामीजी की सेवा में रह कर फिर चले गये।

उन दिनों सय्यद मुहम्मद वहां के तहसीलदार थे। वे अरबी फारसी के एक अच्छे विद्वान् थे। नित्यप्रति स्वामीजी के समीप आया करते थे। स्वामीजी के सत्संग के प्रभाव से, उनके कथन के माधुर्य्य से और विद्याबल से मोहित होकर वे एक प्रकार से स्वामीजी के भक्तों में ही सम्मिलित हो गये थे।

स्वामीजी के उपदेशों से अनेक लोग बहुत चिढ़ गये थे। उनको नानाविध विघ्न-बाधाओं और विविध वेदनाओं से पीड़ित करने में भी आगा-पीछा नहीं देखते थे। शत्रु बन कर, मित्र बन कर, जैसे भी हो, कभी-कभी उस कल्पतरु का समूलोच्छेदन करने पर तुल जाते थे।

एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के समीप आया। विनयपूर्वक नमस्कार करके उसने स्वामीजी के सामने पान निवेदन किया। महाराज ने सहज स्वभाव से वह पान मुख में रख लिया, परन्तु उसका रस लेते ही वे जान गये कि यह विषयुक्त है। पर उन्होंने उस नराधम को कहा-सुना कुछ नहीं, परन्तु वस्ती और न्योली कर्म करने के लिये आप गङ्गा पार चले गये। देर तक क्रिया करके फिर आसन पर आ विराजे। जैसे रुई में लपेटी हुई आग छिप नहीं सकती, ऐसे पाप भी छिपा नहीं रहता। स्वामीजी को विष देने का भेद किसी प्रकार तहसीलदार महाशय को भी ज्ञात हो गया। स्वामी-चरणों में श्रद्धा होने के कारण अतिकोपाविष्ट होकर उसने तुरन्त उस पापिष्ठ पामर को पकड़ मंगवाया और बन्दीगृह में डाल दिया। तत्पश्चात् स्वामीजी के दर्शनार्थ चला। मार्ग में प्रसन्नता से उसके हृदय में ये विचार उत्पन्न होते थे कि आज मैंने स्वामीजी के शत्रु को दण्ड देकर उनका बदला लिया है, इसलिये सम्मुख जाने पर वे प्रफुल्ल वदन से आशीर्वाद देंगे। परन्तु निकट जाने पर जब स्वामीजी ने उसे देख कर दृष्टि हटा ली और बोलना तक बन्द कर दिया तो उसके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। बड़ी प्रार्थना से तहसीलदार महाशय ने स्वामीजी से उनकी अप्रसन्नता का कारण पूछा। स्वामीजी ने कहा, "मैंने सुना है कि मेरे लिये आज आपने एक मनुष्य को आबद्ध किया है; परन्तु मैं मनुष्यों को बंधवाने नहीं आया हूँ, किन्तु छुड़वाने आया हूँ। यदि दुष्ट अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ते तो हम क्यों स्व-श्रेष्ठता का परित्याग करें?" ये शब्द सुनकर तहसीलदार के रोमांच हो आये। उसने आज तक क्षमा का ऐसा धनी, प्रशान्त पुरुष दूसरा न देखा था। वह महाराज को कर जोड़, नमस्कार करके चला गया और उसने जाते ही उस ब्राह्मण को स्वतन्त्र कर दिया।

स्वामीजी महाराज आधा मास से अधिक काल तक सतों की मढ़ी में रहे और फिर वहां से रामघाट को प्रस्थान कर गये।

आठवाँ सर्ग

मार्गशीर्ष सम्वत् १९२४ मे स्वामीजी रामघाट में आकर गङ्गा के बालू पर आसीन हो गये। बैठे-बैठे जब सायंकाल हो गया तो क्षेमकरण नामक एक ब्रह्मचारी अपने मित्र सहित उधर आ निकला और पद्मासनस्थित एक संन्यासी को अवलोकन कर सोचने लगा कि सम्भव है ये सवेरे से निराहार बैठे हों। उस समय उसने "ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः" यह पद गान किया। इसे सुन स्वामीजी ने मुस्करा कर 'हूँ' कहा। फिर उनके निवेदन से स्वामीजी वनखण्डी महादेव में चले गये और वहां रामचन्द्रजी ने उनका आतिथ्य किया। अनेक पण्डित वहां आये, परन्तु स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का किसी को भी साहस न हुआ।

स्वामी कृष्णानन्द नामक एक संन्यासी स्वामीजी से थोड़े अन्तर पर ठहरा हुआ था। बहुत से ब्राह्मण मिल कर उसके पास गये और कहा कि दयानन्दजी यहां आये हुए हैं। वे भागवत आदि सब पुराणों का खण्डन करते हैं। देवता और देव-मूर्तियों के विरुद्ध बोलते हैं। इस लिये आप चलिये और शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त कीजिये। परन्तु वह समुद्यत न हुआ। स्वामीजी ने भी उसे आहूत किया, परन्तु निष्फल। अन्त में, लोगों के अत्यन्त विवश करने पर, 'आज कल' करते हुए, वह तीसरे दिन स्वामीजी के समीप आकर इस बात पर अड़ गया कि पहले कोई मध्यस्थ नियत करो। स्वामीजी ने कहा कि शास्त्र ही मध्यस्थ हैं। बड़ी कठिनता से कृष्णानन्दजी ने इस बात को स्वीकार किया। वाद का विषय वेदान्त था। कृष्णानन्दजी ने कहा कि जगत् ऐसा ही मिथ्या है जैसे रज्जु का सर्प। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि सच्चे सर्प का ज्ञान मनुष्य के अन्तःकरण में विद्यमान होता है। केवल भय के कारण रज्जु को तदाकार देख कर सर्प मान लेता है। परन्तु ज्योंही सच्चे सर्प के लक्षणों को रज्जु के साथ मिलाने लगता है उसी समय भय निवृत्त हो जाता है। अब आप बतायें कि सच्चे सर्प की तरह वह सत्य जगत् कौन-सा है जिसकी सदृशता की भ्रांति इस जगत् में हो रही है?

इतने में एक बैरागी ने स्वामीजी को कु-वचन कहना आरम्भ कर दिया। टीकारामजी ने इसे डांट-डपट कर ठण्डा कर दिया। तीन दिन तक प्रतिसायं

कृष्णानन्दजी और स्वामीजी का शास्त्रार्थ होता रहा। एक दिन शास्त्रार्थ के समय किसी ने कृष्णानन्दजी से कहा, "महाराज, महादेव पर जल चढ़ा आऊं?" स्वामीजी ने बीच में कह दिया कि वहाँ तो पत्थर है, महादेव नहीं। इससे चिढ़ कर कृष्णानन्दजी ने साकारवाद का अवलम्बन किया और इसी पर शास्त्रार्थ चलाया। स्वामीजी का तो यह मन-चाहता विषय था। उन्होंने धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हुए निराकार सिद्धान्त पर वेदों और उपनिषदों के प्रमाणों की एक लड़ी पिरो दी, और कृष्णानन्दजी को उनका अर्थ मानने के लिए बाधित किया। कृष्णानन्द कोई प्रमाण न दे सका। केवल गीता का यह श्लोक "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत" लोगों की ओर मुँह करके पढ़ने लगा। स्वामीजी ने गर्ज कर कहा कि आप वाद मेरे साथ करते हैं, इसलिए मुझे ही अभिमुख कीजिये। परन्तु उसके तो विचार ही उखड़ गये थे; वह चौकड़ी ही भूल चुका था। मुख में झाग आ गई। गले में घिघी बँध गई। चेहरा फीका पड़ गया। किसी प्रकार लाज रह जाय इससे उसने तर्क-शास्त्र की शरण ले कर स्वामीजी को कहा कि अच्छा, लक्षण का लक्षण बताइए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि जैसे कारण का कारण नहीं वैसे ही लक्षण का लक्षण भी नहीं है। लोगों ने अपनी हँसी से कृष्णानन्दजी की हार प्रकाशित कर दी और वह घबरा कर वहाँ से चलता बना।

क्षेमकरणजी के पास नाना देवताओं की मूर्तियां थीं। वह बहुत-सा समय उन्हीं के पूजनार्चन में बिताया करता था। परन्तु स्वामीजी के सत्संग से उसे यह सब पाखण्ड मालूम होने लगा। वह रुद्राक्ष की मालायें भी रखा करता था। उनके धारण करने से स्वामीजी वर्जा करते थे। परन्तु वह उन्हें त्यागने से झिझकता था। स्वामीजी का भक्त जान कर एक दिन कृष्णानन्द ने उसे चिढ़ाया। इससे उसने वह सारा पाखण्ड परित्याग कर दिया।

वहाँ पण्डित बालमुकुन्दजी आदि अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी स्वामीजी के पास आते और अपने संशय निवारण कराते थे। प्रायः सभी लोग स्वामीजी के उपदेशों की सत्यता को तो स्वीकार कर लेते, परन्तु आजीविका-वश वेद-विरुद्ध कर्मों को त्यागने का साहस नहीं करते थे। इस पर भी बीसियों धीर ऐसे निकल आये थे जो निर्भय होकर मूर्तियों को जलार्पण करने में किंचित्

भी संकोच न करते थे। नन्दकिशोर ब्रह्मचारी आदि अनेक विवेकियों ने, आस्था उठ जाने पर मूर्त्तियों को जल में विसर्जन कर दिया।

स्वामीजी यहाँ लोगों को सन्ध्योपासना और पञ्चमहायज्ञों के करने का यत्नपूर्वक उपदेश देते रहे। उन्होंने सहस्रों वर्षों की आयु का होना वेदविरुद्ध बताया। रामघाट के स्वामी-भक्तों में भैरवनाथजी भी बड़े श्रद्धालु थे। वे विशुद्धानन्द आदि सभी पण्डितों से स्वामीजी को विद्या कहीं अधिक मानते थे। भोजन के अनन्तर स्वामीजी तुलसी के पत्ते चबाया करते थे और कहा करते थे कि इससे मुख शुद्ध हो जाता है। घर के आँगन में तुलसी का पेड़ हो तो घर का पवन भी पवित्र रहता है।

रामघाट के लोगों को कृतार्थ करके स्वामीजी विचरते-विचरते बेलौन आये और खेरा के स्थान पर पीपल के नीचे आसन लगाया। लोगों ने स्वामीजी के आसन के ऊपर के स्थान को सिरकियों से आच्छादित कर दिया।

श्रीकृष्ण नामक पण्डे ने श्रीरामजी तथा श्रीकृष्णजी के विषय में पूछा। इस पर स्वामीजी ने कहा कि वे अवतार नहीं थे, किन्तु प्रतापी राजे थे। साथ ही कहा कि रास-लीला से तो कृष्णजी का गौरव घट जाता है।

जो भी कोई श्री-संगति में आता उसे नित्यकर्म करने के लिए बल देते। पूछने पर जो यह कहता कि मुझे गायत्री-पाठ नहीं आता तो उसे स्वयं सिखाने लग जाते। पण्डित इन्द्रमणि नामक एक सम्भ्रान्त व्यक्ति वहाँ रहते थे। उन्होंने गायत्री की अनेक प्रतियां लिख कर स्वामीजी के निकट रख दीं। स्वामीजी उन्हें लोगों में बाँटते थे। उनके नीचे सहस्र का अङ्क होता था, जिसका तात्पर्य यह था कि सहस्र बार इसका जप करना चाहिए। स्वामीजी ने वहाँ कोई पचास मनुष्यों को गायत्री-पाठ सिखाया होगा। वहाँ के अनेक सज्जन महाराज के प्रेमी बन गये थे।

एक जन ने पूछा—स्वामीजी, आप देह पर गङ्गा की मिट्टी क्यों लगाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा करने से शरीर पर मच्छर काटने का प्रभाव नहीं होता।

एक सज्जन ने समीप आ कर कहा, "स्वामजी, दण्डवत्"।

स्वामीजी ने हँस कर कहा, "दण्डवत् तुम ही होओ।"

यहां महाराज केवल तीन चार दिन ही रहे।

बेलौन से प्रस्थान कर स्वामीजी कर्णवास पधारे। उनके आते ही पण्डितों ने शास्त्रार्थ करने का कोलाहल मचाया और पण्डित अम्बादत्त अनूपशहरनिवासी को इस कार्य में कुशल समझ कर बुला भेजा। वह तो पहले ही अनूपशहर में स्वामी-वचनों के सामने सिर झुका चुका था। इसलिये कर्णवास में थोड़े से वार्तालाप के पश्चात् ही स्वामीजी के कथनों को 'सत्य है' कह कर नम्रीभूत हो गया। स्वामीजी की इस विजय से ठाकुरों के उत्साह चौगुने बढ़ गए, और वे यज्ञोपवीत परिग्रहण करने का दृढ़ संकल्प करके स्वामीजी से पूछने लगे कि यज्ञोपवीत ग्रहण करने के समय क्या-क्या कर्म कर्त्तव्य है? महाराज ने उन्हें सम्पूर्ण विधि बता दी। उसके अनुसार बड़ी आयु वालों को प्रायश्चित्त कराना निश्चित हुआ। अनूपशहर, दानपुर, अहमदगढ़, रामघाट, जहाँगीराबाद और कर्णवास के पण्डित गायत्री-जप के लिये निमन्त्रित हो कर अनुष्ठान करने लगे। यह गायत्रीपुरश्चरण आधे शुक्लपक्ष में समाप्त हो गया और स्वामीजी की कुटिया पर एक बृहद् हवन हुआ। उसमें होता, उद्गाता और ऋत्विज् कर्णवास के ही पण्डित थे। इसके अनन्तर श्री स्वामीजी ने टीकाराम के छोटे भाई को और गोपालसिंह, भूमसिंहजी आदि दस बारह क्षत्रिय युवकों को यज्ञोपवीत दे कर दीक्षित किया और श्रीमुख से गायत्री का उपदेश दिया। यज्ञ की समाप्ति पर सब उपस्थित जनों में यज्ञशेष बाँटा गया, जप और यज्ञ के कर्त्ताओं को भी सामर्थ्यानुसार दक्षिणा द्वारा संतुष्ट किया गया। ठाकुरों के इस यज्ञ की चर्चा कर्णवास के आस-पास सर्वत्र फैल गई। इस शुभ कर्म का सभी यश गाते थे। उसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य टोलियां बना कर जाह्नवी के तट पर श्रीमद्दयानन्दजी के पास आते और उनके शुभ कर-कमल से जनेऊ ग्रहण करते। ठाकुरों में यह कार्य नूतन था, और कर्णवास के ठाकुरों की प्रतिष्ठा भी बहुत थी। इस लिये राजपूतों में इसका प्रभाव बड़ी उत्तेजना के साथ फैलता चला गया। कोई, दो-दो सौ कोस के राजपूतों ने आ कर स्वामीजी के हाथ से उपवीत लिये। जो राजपूत गंगा-स्नान करने आते थे, वे साथ ही यह भी एक माहात्म्य समझते थे कि स्वामी दयानन्दजी से दीक्षा लेकर गायत्री का उपदेश ग्रहण

किया जाय। चालीस चालीस, पचास पचास राजपूत पंक्ति बांध कर गंगा के किनारे खड़े हो जाते और स्वामी दयानन्दजी महाराज उन्हें यज्ञोपवीत दे कर पतितपावनी, त्रिलोकतारिणी, भगवती गायत्री का उपदेश देते। गंगा-तीर पर विचरते हुए भगवान् दयानन्द ने इस प्रकार गायत्री के उपदेश से सहस्रों मनुष्यों का कल्याण किया।

कर्णवास में तो इस यज्ञ का विलक्षण प्रभाव पड़ गया था। प्रायः सभी छोटे बड़े स्वामीजी से दीक्षित हो रहे थे। घरों में, गलियों में, बाजारों में, हाटों पर, घाटों पर, जिधर जाओ नर-नारी यही कथा कहते थे—दयानन्द ही के गीत गाते थे।

वहाँ एक ६० वर्ष की वृद्धा बालविधवा हंसा ठकुरानी रहा करती थी। यह देवी ठाकुर गोपालसिंह की ताई थी। यद्यपि वह पांच छः ग्रामों की स्वामिनी थी, परन्तु उसका भोजन था जौ की रोटी और मूंग की दाल। और वह इसे बनाती भी अपने हाथ से ही थी। ठाकुरों के परिवारों में उसका बड़ा आदर था। छोटी बड़ी सभी बहू-बेटियां उसको मानती थीं और मां कह कर पुकारा करती थीं। जब सब ठाकुर एक एक करके श्री स्वामीजी के शिष्य हो गये तो उस देवी ने भी स्वामी-दर्शनों की लालसा प्रकट की। ठाकुर गोपालसिंह के पूछने पर स्वामीजी ने उसको आने की आज्ञा दे दी। वह वृद्धा स्वामीजी के समीप आई। उसने अतिशय श्रद्धा से भूमि के साथ सिर लगा कर स्वामीजी को नमस्कार किया। हाथ जोड़कर स्व-कल्याण का,जन्म-सुधार का पथ पूछा। महाराज ने उसे ठाकुर-पूजा छोड़ देने को कहा और गायत्री मन्त्र का उपदेश किया। साथ ही ओम् पवित्र का जप करते करने की शिक्षा दी। चिरकाल पश्चात्, यह प्रथम समय था जब दयालु दयानन्दजी द्वारा एक स्त्री को गायत्री जप करने का अधिकार उपलब्ध हुआ। हंसा देवी इस प्रकार श्री-उपदेश से निहाल हो कर स्वगृह को लौट आई और अन्तिम दिन तक स्वामी-वचन-परायण रही।

पण्डित हीरावल्लभ भी एक बड़ा विद्वान था। ऋग्वेद और यजुर्वेद उसे कण्ठाग्र थे। दर्शनों में भी वह निपुण था। व्याकरण में तो वह प्रसिद्ध पण्डित माना ही जाता था। एक दिन अन्य अनेक पण्डितों सहित वह अनूप-शहर से स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये कर्णवास में आया। वह पौष का

मास था। जिस समय हीरावल्लभजी स्वामीजी के समीप आये उस समय वहां कोई दो सहस्र मनुष्यों की भीड़भाड़ हो गई थी। उन्होंने आते ही सभास्थल के मध्य में एक छोटे-से सुन्दर सिंहासन पर गोमती चक्र, बालमुकुन्द और शालिग्राम आदि मूर्तियाँ स्थापित करके ऊंचे स्वर से प्रतिज्ञा की कि अब मैं यहाँ से तब उठूंगा, जब स्वामीजी के हाथ से इन्हें भोग लगवा लूंगा। पहला दिन तो अविराम संस्कृत भाषण में ही बीता। अगले दिन फिर शास्त्र-संग्राम प्रारम्भ हो गया। हीरावल्लभ को उसके साथी भी पर्याप्त सहायता देते थे, परन्तु वह प्रत्येक दिवस उदासीन ही लौटा करता था। यह वाद लगातार छः दिन तक चलता रहा। एक दिन तो नौ घण्टों तक विराम-विश्राम रहित वाद होता रहा। 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्र पर भी वाद चला, परन्तु स्वामीजी के महाभाष्य के प्रमाणों को सुनकर हीरावल्लभ पराभूत हो गया। उसमें आगे बोलने की साहस न रहा। सारी सभा के समक्ष उसने कहा—"स्वामीजी जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य है, प्रामाणिक है। इनकी विद्या अगाध है। इनका शास्त्रानुशीलन अपार है।" उसने उसी समय मूर्तियों को सिंहासन पर से उठा कर गङ्गा में फेंक दिया और उनके स्थान सिंहासन पर वेद स्थापित कर दिये।

स्वामीजी ने हीरावल्लभजी के सारग्राही होने की प्रभूत प्रशंसा की। हीरावल्लभ के परास्त होने से प्रतिमा-पूजन से अनेक सज्जनों की आस्था उठ गई। उन्होंने भी पण्डितप्रवर का अनुकरण करते हुए अपने शालिग्राम जल-तल में लीन कर दिये।

यहाँ कृष्णवल्लभ से भी वार्तालाप हुआ। स्वामीजी महाराज ने उसे अनन्द नाम के एक पण्डित की भूलें प्रदर्शित कीं। नन्दकिशोर पुजारी को महाराज ने कहा कि मन्दिर में जाकर टन-टन पूं-पूं करने से कोई लाभ नहीं। पुजारी ने कहा कि महाराज हम तो इसी पूजा-पाठ के प्रताप से सात सहस्र के स्वामी बन गये हैं। इस पर स्वामीजी ने उपदेश दिया कि जो कुछ तुम्हें मिल रहा है वह तुम्हारा प्रारब्ध है, पूर्वार्जित भोग है। वह जितना नियत है, पाखण्ड परित्याग करने पर भी उतना मिलकर ही रहेगा।

यहाँ से स्वामीजी ने एक विद्यार्थी को प्रेरित करके मथुरा में स्वामी विरजानन्दजी के पास अध्ययनार्थ भिजवाया।

दारोगा अल्फ़ख़ाँ ने कुरान के सम्बन्ध में कुछ बातचीत की, परन्तु स्वामीजी के उत्तर सुनकर वे फिर न बोले। धर्म्मपुर के नवीन अधिपति मुसलमान ने स्वामीजी से पूछा कि क्या मैं भी किसी प्रकार शुद्ध हो सकता हूँ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हां, वेदानुकूल आचार-व्यवहार करने से आप अवश्य शुद्ध हो सकते हैं।

नववाँ सर्ग

माघ बदी १४ सम्वत् १६२४ को सूर्यग्रहण था। इस लिए सहस्रों नर-नारी स्नानार्थ कर्णवास आ रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि आज जन-सागर में ज्वार-भाटा आ रहा है। स्वामीजी महाराज भी उस सुसमय को अनुकूल समझ कर अपने भोले-भाले भारतवासी भाइयों को विवेकदान देने लगे। उनके चरित्र-चन्द्र की चटकीली चाँदनी पहले ही दूर-दूर तक छिटक रही थी; इस लिए मनुष्यों के झुण्ड-के-झुण्ड दर्शनों को आते, प्रश्न पूछते, संशय निवारण कराते, और उपदेश सुनकर धन्य-धन्य करने लग जाते थे। उस महामेले में लोगों के लिए कोई चित्ताकर्षक वस्तु थी तो आनन्द-कन्द श्री दयानन्द; कोई दर्शनीय सुन्दर आकृति थी तो दयानन्द की मन-मोहिनी मधुरिमामयी मूर्ति; कोई श्रोतव्य वचन थे तो श्री दयानन्दजी महाराज के सारगर्भित रसीले सत्योपदेश। सारांश यह कि सारा मेला उन्हीं की ओर झुका पड़ा था।

महाराज वसेन्दू के नीचे बैठे हुए धर्म्म-कर्म्म और आचार-विचार का उपदेश करते थे। साथ ही वे इन आठ गप्पों का भी खण्डन करते थे।

१. प्रथम गप्प अठारह पुराण व्यासकृत हैं।

२. मूर्ति-पूजन।

३. शैव, शाक्त और रामानुजादि वैष्णव सम्प्रदाय।

४. तंत्र-ग्रन्थ, वाममार्ग आदि।

५. मदिरा, भाँग इत्यादि मादक वस्तुयें।

६. व्यभिचार।

७. चोरी करना।

८. छल, कपट, अभिमान, झूठ इत्यादि।

इन आठों गप्पों का मनुष्यों को परित्याग करना चाहिये। इस मेले में भी सैकड़ों मनुष्यों ने स्वामीजी से गायत्री का उपदेश लिया।

डिबाई निवासी शिवदयालजी सूर्य-ग्रहण के अवसर पर वहां आये हुए थे। उन्होंने स्वामीजी से पूछा कि ग्रहण लगा हो तो भोजन किस समय करना चाहिये। महाराज ने उत्तर दिया कि जब भूख लगे खा लेना चाहिये।

शिवदयाल ने यज्ञोपवीत के विषय में पूछा कि इसका किसको अधिकार है? इसके न धारण करने से क्या दोष हैं और धारण करने में क्या गुण है? स्वामीजी ने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के बालकों को जनेऊ लेने का अधिकार है। जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया वह वैदिक कर्म करने का अधिकारी नहीं हो सकता। यह सूत्र आर्यों का धार्मिक चिन्ह है और कर्तव्य-चिन्ह है।

शिवदयालजी ने संस्कारों के लाभ पूछे, जिस पर स्वामीजी ने वर्णन किया कि संस्कारों से जाति प्रबल हो जाती है; जैसे एकीकरण से सूत्र के तारों में बल आ जाता है, जैसे वस्त्रों को धोने से उनमें श्वेतता तथा दृढ़ता का आविर्भाव हो जाता है, और जैसे औषधियों को पुट और भावना देने से उनका प्रभाव बढ़ जाता है, ऐसे ही संस्कार मनुष्य के जन्म को प्रबल बनाने में कारण हैं।

स्वामीजी संस्कृत ही में उत्तर देते थे, परन्तु जो लोग संस्कृत नहीं जानते थे उनको टीकारामजी भाषानुवाद करके समझा दिया करते थे।

उस समय लाला इन्द्रमणिजी ने स्वामीजी को कहा कि आप अवधूत होकर इतने खण्डन-मण्डन के झगड़ों में क्यों फंस गये हैं? उन्होंने उत्तर में कहा कि मेरे लिये यह कार्य झगड़ा नहीं है, किन्तु ऋषि-ऋण का उतारना है। स्वार्थी लोग इस समय ऋषि-सन्तान को कुमार्ग पर चलाकर, उसे कुरीतियों के नुकीले कांटों पर घसीट कर छलनी बना रहे हैं। मुझ से आर्य-सन्तान की यह दीन-दुर्दशा देखी नहीं जाती। मैंने प्रण कर लिया है कि इसे सन्मार्ग पर लाने का प्राणपण से प्रयत्न करूंगा।

कर्णवास में एक दिन बुलन्दशहर के कलेक्टर महाशय पधारे। स्वामीजी की कीर्ति उन्होंने पहले ही सुन रक्खी थी, परन्तु कर्णवास में आकर जब उन्होंने

स्वामी-यश सुना और साथ ही उन्हें यह भी पता लगा कि वह परमहंस महात्मा यहीं टिके हुए हैं तो मिलापार्थ स्वामी-कुटी पर जा पहुंचे। उस समय महाराज कुटिया के भीतर ज्ञान-ध्यान में परायण थे। कुटी से दूरी पर खड़े होकर कलेक्टर महाशय ने एक मनुष्य को स्वामीजी की सेवा में भेजा और दर्शनों की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि मुझे इस समय अवकाश नहीं। कलेक्टर ने फिर पुछवाया कि आपको अवकाश किस समय होगा? उत्तर में स्वामीजी ने पूछा कि कलेक्टर महाशय को किस समय अवकाश होगा? कलेक्टर महाशय ने इसका उत्तर भिजवाया कि मुझे चार घण्टे पश्चात् अवकाश ही अवकाश है। यह वाक्य सुनते ही स्वामीजी कुटी से बाहर निकल आये; शिष्टाचार के पश्चात् वेद-मंत्रों और मनुस्मृति के श्लोकों से कलेक्टर महाशय को राज्य-धर्म्म का उपदेश देते हुए बोले "जिसके सिर पर एक परिवार के भरण-पोषण का भार होता है उसे बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ती है, रातों जागना पड़ता है और सिर खुजलाने का भी अवकाश नहीं मिलता, परन्तु आपके कथन से बड़ा आश्चर्य हुआ कि सहस्रों मनुष्यों का बोझ आपके कन्धों पर है, दीन-दुखियों के संकट निवारण करना आपका कर्तव्य है, और तिस पर भी आपको चार घण्टों के पश्चात् अवकाश-ही-अवकाश है।" स्वामीजी के स्पष्ट कथन को कलेक्टर महाशय ने स्वीकार किया और वे प्रसन्नतापूर्वक वहां से विदा होकर चले आये।

स्वामीजी का तेज आगन्तुक को कुछ ऐसा प्रभावित कर लेता था कि उनके समीप आने पर अहङ्कार में ऐंठे हुए बड़े-बड़े अभिमानियों का गर्व भी गल जाता था। रत्तीराम एक बड़ा प्रसिद्ध पहलवान था। वह अपने बल पर अति घमण्ड किया करता था। एक दिन वह अभिमान-मद में मस्त, झूमता-झामता स्वामीजी के आसन के पास आ निकला। महाराज को देखकर उसने तिरस्कारपूर्वक कहा, "अरे यह बाबा तो बड़ा हृष्ट-पुष्ट है।" यही वाक्य दुहराते-दुहराते जब वह स्वामीजी के बहुत निकट आ पहुंचा तो महाराज ने उस पर एक दृष्टि डाली। उनके नेत्र-स्रोत से उस समय कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति स्रावित हुई कि रत्तीराम दौड़कर श्री-चरणों में आ गिरा और पद-पद्म-रज बार-बार भालपर रमाने लगा। इस दृश्य को देखकर सभी दर्शक श्रद्धामय हो गये।

बहुत से पण्डित लोग जब स्वस्थान से स्वामीजी के पास आते तो अपने मन में युक्तियों और प्रमाणों की मालायें पिरो लाया करते थे, उत्तर-प्रत्युत्तर सब सोच विचार कर आते थे। परन्तु स्वामीजी के सम्मुख आते ही सब सट्टी-पट्टी भूल जाते थे।

एक दिन का वृत्तान्त है कि अहमदगढ़ के पण्डित कमलनयन और अलीगढ़ के पण्डित सुखदेव अपने साथी पन्द्रह पण्डितों सहित स्वामीजी के पास आये। उन्होंने पूछने के लिये कुछ अति कठिन प्रश्न चुने हुए थे। विद्या में भी वे कुछ साधारण न थे। जिस समय वे स्वामीजी के आसन पर पहुँचे उस समय महाराज गंगा पर गए हुए थे। स्वल्पकाल के प्रतीक्षण के अनन्तर ही स्वामीजी आते दिखाई दिये। उनके समीप आने पर सब ने अभ्युत्थानपूर्वक विनीत नमस्कार किया। महाराज मृगासन पर बैठ कर कुछ काल तक अचल-भाव से ध्यानावस्थित रहे। फिर आँखें खोल कर सबकी ओर देख उपदेश करने लगे। महाराज के विशाल भाल, मोहन मुखमण्डल, दिव्य तेजोमयी मूर्ति और वचन-माधुर्य का पण्डित-मण्डली पर ऐसा प्रभाव पड़ा—वे ऐसे विमोहित हुए—कि स्वामीजी के यह कहने पर भी कि आप कोई प्रश्न करना चाहते हैं तो कीजिये, उन्हें कुछ भी पूछने का साहस न हुआ। स्वामीजी के वचनों को सत्य-सत्य कहते हुए कु-रीतियों का खण्डन सुनते रहे। दिन बहुत चढ़ आया था, इसलिए वे गंगा पर स्नानार्थ चले गये।

वे मार्ग में एक दूसरे से कहने लगे कि घर से चलते समय तो प्रश्नों के बहुतेरे बांधनू बाँध कर चले थे, परन्तु स्वामीजी का कुछ प्रभाव ही ऐसा है कि उनके सामने आकर एक भी बात न सूझी। भाई, यह स्वामी तो सचमुच कोई सिद्ध पुरुष है।

स्वामीजी की ज्ञानदृष्टि कभी-कभी आँखों से ओझल बात का भी पता दे दिया करती थी। इस से स्वामी-भक्त आश्चर्यमय हो जाया करते थे।

एक दिन नन्दकिशोर उपाध्याय स्वामीजी के समीप आते समय एक खेत से रमास की कुछ फलियां तोड़ ले गये और वहां पहुंच कर स्वामीजी की भेंट कीं। स्वामीजी ने कहा तुम चोरी कर्म से यह फलियां लाये हो, इस लिए हम ग्रहण नहीं करते। उसने कहा, स्वामीजी! आप यह क्या कह रहे हैं?

मैंने किसी की चोरी नहीं की। स्वामीजी ने हंस कर कहा—अच्छा बताओ, जिस खेत से यह लाये हो, क्या लेते समय तुमने उसके स्वामी से पूछ लिया था? नन्दकिशोर का सिर नीचा होगया और वह मन-ही-मन स्वामीजी के ज्ञान और व्रत की प्रशंसा करने लगा।

स्वामीजी बड़े तपस्वी थे। उन्होंने भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि सब द्वन्द्व जीते हुए थे। पौष माघ का शीत पड़ता था, घास-तृण पर हिम दिखाई देने लग जाता था, खेतों पर कुहरा चमकने लगता था, जोहड़ों का जल जम जाता था, पर कोपीनमात्रधारी परमहंसजी कभी-कभी गङ्गा की अत्यन्त शीतल रेती ही में पद्मासन लगाये सारी-सारी रात बिता देते थे। महाराज को इस दशा में देख कभी कोई भक्त उनके तन पर कम्बल भी डाल जाता तो भी उसे नहीं ओढ़ते थे। यदि वह अपने आप खिसक कर न उतर जाय तो ध्यानादि से निवृत्त होने पर उसे स्वयं उतार देते थे।

माघ मास का वर्णन है कि एक दिन प्रातःकाल अत्यन्त शीतल पछुवा पवन बड़े वेग से बह रहा था। स्वामीजी महाराज स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर कुटिया से बाहर बद्धपद्मासन बैठे थे और दर्शन को आए हुये ठाकुर लोग श्रीमुखवचन श्रवण कर रहे थे। यद्यपि उन सम्पन्न लोगों ने रुई और ऊन के वस्त्र पहन रक्खे थे, परन्तु अतिशीतपात से उन के अंग ठिठुर रहे थे। तन कांपते थे; नाक से, आँखों से पानी बह रहा था। हाथ-पांव शून्य हुए जाते थे। परन्तु श्रीमद्दयानन्द थे कि निश्चल भाव से उपदेश-कार्य में संलग्न थे। बाणों की भांति आर-पार करने वाला वायु शरीर को स्पर्श कर रहा था। पर वे अटल थे, अकम्प थे। सारे भक्त अपने भक्ति-भाजन की इस सहन-शीलता को अवलोकन कर आश्चर्यनिमग्न थे।

उस समय ठाकुर गोपालसिंहजी ने हाथ जोड़कर पूछा, "भगवन्! घोर शीतपात के कारण हम सबके शरीर सिकुड़ रहे हैं, दांतों से दांत बज रहे हैं, परन्तु महाराज पर इस महाशीत का किंचित् भी प्रभाव दिखाई नहीं देता। इसका क्या कारण है?" स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा कि "ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है।" उसने कहा, "तो हम कैसे जानें?" उस समय स्वामीजी ने अपने हाथ के अंगूठे घुटनों पर रखकर ऐसे बल से दबाये

कि तत्काल ही उनके भाल पर ओस के कणों की तरह प्रस्वेद के बिन्दु चमकने लगे, तन पर रमाई हुई सारी मिट्टी भीग गई, बगलों में से पसीना टपटप करके टपक पड़ा। शीतकाल के भरे यौवन में, इतनी ठण्डी पवन के तीव्र प्रवाह में, शरीर का इस प्रकार पसीना-पसीना हो जाना दर्शकों के लिये एक कल्पनातीत दृश्य था। सभी लोग मुक्त कण्ठ से स्वामीजी के योगबल की प्रशंसा कर उठे।

स्वामीजी से एक जन ने पूछा कि आप गङ्गा को क्या मानते हैं? महाराज ने कहा कि जो कुछ दीखता है। उसने कहा, आपको क्या दीखती है? स्वामीजी ने उत्तर दिया, जो आपको दीखती है, परन्तु कहना सत्य ही सत्य। वह बोला, मुझे तो जल दीखता है। स्वामीजी ने कहा, सो मैं भी यही मानता हूँ।

कर्णवास से प्रस्थान कर स्वामीजी ग्रामानुग्राम विचरने लगे। एक रात स्वामीजी गङ्गा के दूसरे किनारे आसन लगाये समाधिस्थ थे। अधिक रात हो जाने के कारण गङ्गा के गरगराने के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द सुनाई न पड़ता था। कभी-कभी बीच में कूलपात की 'धड़ाम' ध्वनि अवश्य सुनाई देती थी। शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा विस्तीर्ण निर्मल व्योम की शोभा बढ़ा रहा था। उसकी शुभ्र ज्योत्स्ना में मानो भूमि अपने वनों-उपवनों सहित स्नान कर रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो रुपहरे सागर ने उमड़ कर आज भूम्याकाश को एकाकार कर दिया है। रेती पर चांदनी और भी चमक उठी थी। उसके साथ नीलम की लम्बायमान रेखा के सदृश गङ्गा-धारा अपूर्व सौन्दर्य दिखा रही थी। ऐसे समय में, बदायूँ के कलेक्टर अपने किसी योरूपीय मित्र-सहित आखेट के लिये गङ्गातीर पर फिर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि उस स्थान पर जा पड़ी जहां स्वामी दयानन्द योगारूढ आसीन थे। वे साथी सहित समीप जा पहुँचे। चांदी की विशाल शिला पर जैसे तप्त स्वर्ण की प्रतिमा विराजमान हो उसी प्रकार दीप्तिमान् स्वामी-देह को उन्होंने बालू पर विराजते देखा। बड़ी देर तक विस्मयोत्फुल्ल लोचनों से संन्यासी के सुन्दर रूप को, समाधिस्थ निमग्नता को, तपश्चर्या को, वे अवलोकन करते रहे। अन्त में जब महामुनि ने नेत्र उन्मीलन किये तो शिष्टाचार-प्रदर्शन में प्रवृत्त हुए। चलते समय कलेक्टर महाशय ने विनयपूर्वक कहा, "हमें बड़ा आश्चर्य है कि इतना शीत पड़ रहा है, नदी का किनारा है, रात्रि का समय है, और आप हिममय

शीतल रेती पर लङ्गोट मात्र लगाये मग्न बैठे हैं! क्या आपको पाला नहीं लगता!" स्वामीजी उत्तर देने ही लगे थे कि कलेक्टर महाशय का साथी बीच में बोल उठा, "हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हैं, खाने को अच्छे माल मिलते होंगे, इन्हें पाला क्या करे?" स्वामीजी ने हंस कर कहा कि "हम दाल चपाती के खाने वाले क्या माल खायेंगे? बहुत बल लगाया तो कुछ दूध पी लिया। परन्तु आप मांस अण्डे आदि पौष्टिक पदार्थ खाते हैं और समय पड़ने पर मदिरापान में भी कोई अड़चन न होती होगी, इस लिए यदि माल खाकर शीत सहा जाता है तो कपड़े उतार कर आइए और थोड़ी देर मेरे साथ बैठिये।" इस पर वह लज्जित हो गया और विषय बदल कर कहने लगा "अच्छा तो बताइए आपको शीत क्यों नहीं लगता?" उत्तर में महाराज ने कहा, "इसका सहज से समझ में आने योग्य एक कारण तो अभ्यास है। आपका मुख सदा नग्न रहता है, इसलिए आपको उसे ढाँपने की आवश्यकता इस समय भी प्रतीत नहीं होती।" कलेक्टर महाशय ने संकेत करके साथी को बहुत बोलने से रोक दिया और वे स्वामीजी को नमस्कार करके चले गये। कहते हैं, कलेक्टर का वह साथी कोई पादरी था जो कारणवश उनके साथ आया था।

दसवां सर्ग

स्वामीजी महाराज सैकड़ों राजपूतों को जनेऊ धारण कराते हुए, सहस्रों मनुष्यों को उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हुए फरुखाबाद तक गये और फिर वहां से लौट कर विचरते हुए चासी में आ गये।

चासी अहार से कोई ढाई मील के अन्तर पर है। गङ्गा का तीर है, वनस्थान है; अति एकान्त, शान्त और रमणीक प्रदेश है। वहां स्वामीजी एक कुटिया में टिके। उनके पास ग्रामीण लोग बहुत आने लगे। वे महाराज का अति सम्मान करते थे। इससे वहाँ रहने वाला एक वैरागी बहुत चिढ़ गया। वह रातदिन इसी उधेड़बुन में रहने लगा कि किस प्रकार दयानन्द को यहाँ से चलता किया जाय। स्वामीजी का नियम था कि जो पहले भोजन ला देता वे उसे ही खा लेते। वैरागी ने उसी नियम से लाभ उठाना चाहा। वह सबसे

पहले एक दो जले-भुने टिक्कड़ स्वामीजी के आगे रख देता और वे वीतराग वही पा जाते। परन्तु कुछ काल के अनन्तर वही वैरागी महाराज का अनुरागी हो गया। उसके पीछे एक जाट महाराज को नियम से भोजन लाकर दिया करता था।

ठाकुर महावीरसिंहजी चाँदोंयनिवासी स्वामीजी के श्रद्धालु भक्त थे। वे आठ दिवस तक कासगंज में स्वामीजी की सेवा में रहे। उन्हें आठ दिन तक श्री-संगति में रह कर जो लाभ और जो आनन्द प्राप्त हुआ उसका अनुभव उन्होंने अपने जीवन में अन्यत्र कहीं नहीं किया।

जहांगीराबादनिवासी ओंकारदास बहुरा गङ्गा-स्नानार्थ कासगंज में गया। उस समय भी स्वामीजी वहीं विराजमान थे। वह जब दर्शनार्थ स्वामीजी के समीप गया तो उनके पवित्र स्वरूप से ऐसा प्रभावित हुआ कि उसके हृदय में स्वामी-श्रद्धा का स्रोत स्रावित हो आया। उसने कुछ भोज्य पदार्थ स्वामीजी के समर्पित किया, जिसे महाराज ने ग्रहण कर लिया। एक दिन तो सत्संग में अपने आत्मा की पिपासा को शान्त करूँ, इस सङ्कल्प से उसने स्वामीजी की कुटी के निकट डेरा डाल दिया। ओंकारदास व्यायाम करने वाला था। पुष्ट, सुगठित और बलवान् था। सायंकाल होने पर उसके हृदय में इस भाव का प्रादुर्भाव हुआ कि चलो पाँव दाबकर स्वामीजी की सेवा करूँ। इससे स्वामीजी के बल का भी ज्ञान प्राप्त हो जायगा। ओंकारदास ने प्रार्थना की कि सेवक को पाँव दबाने की सेवा प्रदान कीजिए। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हमारे पाँव दबे दबाये हैं। परन्तु अत्याग्रह से वह चरण-सेवा करने लग ही गया। उसने जब महाराज की पिण्डलियों पर हाथ लगाया तो वे उसे लोहे के दण्ड के सदृश कड़ी प्रतीत हुईं। उसमें हाथ न धसता था; कहीं बल न पड़ता था; सम्पूर्ण बल लगाने पर भी मांस हाथों में न आता था। ओंकारदास थोड़ी ही देर में एड़ी से चोटी तक पसीने से तर होकर हांपता हुआ पाँव दबाने से पीछे हट गया। उसने स्वामीजी जैसा बलिष्ठ व्यक्ति अपने सारे जन्म में नहीं देखा था।

पण्डित गङ्गाप्रसादजी भी स्वामीजी के एक श्रद्धालु अनुयायी थे। जिस प्रकार प्रशंसित परमहंस जाटों को, राजपूतों को, बनियों को यज्ञोपवीत देते थे उनका अनुकरण करके गङ्गाप्रसादजी उसी प्रकार गाँव-गाँव में विचरण करते हुए जनेऊ

धारण कराते थे। उनके इस कार्य से स्वामीजी बहुत प्रसन्न थे। एक दिन गङ्गाप्रसादजी ने स्वामी-चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया कि महाराज! मैंने बहुत बड़ी जन-संख्या को जनेऊ धारण कराये हैं। स्वामीजी ने उसके इस कार्य की आशीर्वादसहित स्तुति करते हुए कहा कि यज्ञोपवीत देते ही जाते हो कि किसी का उतारते भी हो? उसने विनय की—"भगवन्! कभी जनेऊ उतारा भी जाता है?" स्वामीजी ने कहा—हाँ,जो जन धर्म्म-कर्म्म-हीन हो जाएँ उनसे उपवीत उतार लेने चाहिएँ।

पण्डित गङ्गाप्रसाद का गुरु प्रायः स्वामीजी के निकट आया जाया करता था। एक दिन वह स्वामीजी की कुटिया पर अपने वस्त्र रख, गङ्गा-तीर पर स्नानार्थ जाने लगा। स्वामीजी की दृष्टि उसकी भुजा में धारण किये हुए अनन्त पर जा पड़ी। महाराज ने विस्मयाचार में पूछा कि आपकी भुजा में क्या है? वह बोला—महाराज, यह 'अनन्त' है। स्वामीजी झट उसके पास चले गये और उङ्गलियों से नाप कर कहने लगे कि यह तो इतने अंगुल का है, अनन्त कहाँ है? उसने लज्जा के मारे वह अनन्त तुरन्त उतार कर गङ्गा में बहा दिया।

स्वामीजी नवीन वेदान्तियों के वचनमात्र के ब्रह्मवाद से घोर घृणा करते थे। वे कहा करते थे कि आलस्य-निमग्न साधु-पण्डितों ने, धर्म्म-कर्म्म और लोक-हित करने से बचने के लिए मायावाद का ढकोसला बना रक्खा है। ये लोग ब्रह्मसत्ता का अनुभव तो करते ही नहीं, उलटे "अहं ब्रह्म जगन्मिथ्या" कह कर रात-दिन मिथ्या वचन बोलने के भागी बनते हैं।

खन्दोई गाँव का निवासी छत्रसिंह जाट, जो स्वामीजी का प्रेमी तो था परन्तु वैसे था पक्का नवीन मायावादी, एक दिन स्वामीजी के पास आया। नमस्कारादि करके वेदान्त-विषय पर वार्त्तालाप करने लगा। वार्त्तालाप क्रम में छत्रसिंह ने कहा, "स्वामीजी! आप चाहे जो कहें, परन्तु यह दृश्यमान जगत् आकाश-पुष्प समान मिथ्या है, स्वप्न-सृष्टि के तुल्य भ्रममात्र है, वन्ध्या-पुत्र समान कल्पित है, शश-शृङ्गवत् असत्य है। वास्तव में यह है ही नहीं।"

स्वामीजी ने हाथ को थोड़ा-सा आगे बढ़ाकर छत्रसिंह के मुख पर एक हलका-सा थप्पड़ लगाया। चपत खाते ही वह चौंक उठा और कपोल मलता हुआ कहने लगा, "महाराज! सिद्धान्त-भेद होने पर ही, विचार न मिलने

पर ही आप ऐसे ज्ञानी जनों को आवेश में आकर थप्पड़ मार देना शोभा नहीं देता।" स्वामीजी ने मन्द मुस्कान सहित कहा "चौधरीजी, जब आपके निश्चयानुसार सब ही एक वस्तु है, दूसरी कोई भी नहीं, और जो कुछ दिखाई पड़ता है यह सब मिथ्या है, तो वह आपसे भिन्न दूसरा कौन है जिसने आपके थप्पड़ लगाया है ? आपको मिथ्या की प्रतीति कैसे हो गई ?"

दत्तसिंह ने यह सुनकर स्वामीजी के चरण पकड़ लिए और कहा, "महाराज ! आपने मेरी आँखें खोल दीं। वास्तव में हम लोग अनुभवशून्य हैं। केवल तोता के समान की भांति वेदान्तवाद की बड़-बड़ करते चले जाते हैं।"

एक धुनिया विनयपूर्वक नित्यप्रति स्वामीजी की सत्सङ्ग-गङ्गा में स्नान करके अपने अन्तरङ्ग को निर्मल बनाया करता था। स्वामीजी ने उस पर अपार दया करके उसे 'ओ३म्' पवित्र का जप करना सिखाया। एक दिन भक्त धुनिए ने श्रीसेवा में प्रार्थना की कि स्वामीजी ! जप के अतिरिक्त मुझे और क्या कर्म करना चाहिए जिससे मेरा कल्याण हो ? स्वामीजी ने कहा, "सदाचारपूर्वक जीवन बिताओ। जितनी रुई किसी से लो धुनकर उतनी ही उसे पीछे लौटा दो। यही सद्व्यवहार तुम्हारे लिए एक उत्तम कल्याणकारी कर्म है।"

चासी से स्वामीजी बीच-बीच में कभी-कभी कर्णवासादि स्थानों में भी हो आया करते थे, परन्तु विश्राम यहीं करते थे। महाराज रात्रि का अधिक भाग ध्यान ही में व्यतीत करते थे। वह स्थान उनको इतना अनुकूल प्रतीत हुआ कि यहां वे चार-पाँच मास पर्यन्त टिके रहे।

चासी से उठ कर श्रीमहाराज अनूपशहर पधारे। वहां उन्होंने नर्मदेश्वर के समीप सतों की मढ़ी में आसन लगाया। प्रत्येक समय वीसियों पण्डितों और अनेक श्रोताजनों की वहां भीड़ लगी रहती थी। स्वामीजी पुराणादि ग्रन्थों का बड़े बल से खण्डन करते थे, परन्तु शास्त्रार्थ का अब कोई प्रतिपक्षी नाम तक न लेता था। यहां भी लोगों ने अपनी देव-मूर्तियां जल-मग्न कर दीं।

ठाकुर गिरवरसिंह चाँदोकनिवासी यहां स्वामीजी की सेवा में आये। उस समय उनके पास नर्मदा के मंगवाये हुए गोल पिण्ड भी थे। वे उनका प्रति दिन पूजन किया करते थे। ठाकुर महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि क्या शिव-पूजा अच्छी है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इससे तो चिऊँटियों की पूजा

करना अच्छा है, क्योंकि जो नैवेद्य उस पर चढ़ाया जाता है उसे वह बटिया नो नहीं खा सकती परन्तु चिऊँटियों पर चढ़ाओगे तो वे अवश्य खा जायंगी।

ठाकुर महाशय ने फिर ईश्वर-सिद्धि पर प्रश्न किया। इसका उत्तर देते हुए महाराज ने कहा कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। इस जगत् में जो गति है इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण ईश्वर है। तीनों गुणों की साम्यावस्था में विषमताजनक वस्तु प्रकृति से भिन्न ही होनी चाहिए। सो वह परमात्मा ही है। सृष्टि मे जो नियम दीख पड़ता है उसका नियन्ता सर्वज्ञ परमेश्वर के बिना अन्य कोई भी नहीं हो सकता। ठाकुर महाशय अन्त में स्वामीजी के अनुगामी हो गये। महाराज ने उन्हें कहा कि जब तक आप जनेऊ धारण न कर सकें तब तक यह प्रार्थना किया करो। स्वामीजी ने उन्हें यह प्रार्थना लिखवा दीः—" हे परमेश्वर, हे सर्वजगत्पिता, हे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, हे सर्वसुहृद्, हे सर्वान्तर्यामिन्, हे धर्मार्थकाममोक्षप्रद, भवत्कृपया धर्म्मे मे सदा प्रीतिर्भवेत्, नाधर्म्मे कदाचित्। अधर्म्मे बुद्धीन्द्रियाणां च प्रवृत्तिर्न भवेत्।"

स्वामीजी ने यह जप भी लिखाया :—'ओम् नमः परमेश्वराय, सच्चिदानन्दस्वरूपाय सर्वगुरवे नमः।"

श्री स्वामीजी में दया का भाव बहुत था। दुःखित को देख वे कृपा-पूर से प्लावित हो जाया करते थे, और उसके दुःख को दूर करने के लिए भरसक यत्न करते थे। बरौली के राव कर्णसिंह वैष्णव मत की दीक्षा लेकर कुछ ऐसे हठीले पक्षपाती हो गये थे कि अपने अधीन सबको वैष्णव बनाना चाहते थे। उनको इतना रंग चढ़ा था कि नौकर-चाकरों के भी माथे पर तिलक और गले में कण्ठियां पड़ गई थीं। यहां तक कि गाय, भैंस और घोड़े तक के माथे पर तिलक विराजता था।

एक दिन राव महाशय ने अपने पुरोहित को पकड़ कर बलात्कार से चक्राङ्कित कर दिया। वह किसी प्रकार वहां से छुटकारा पाकर भागता हुआ स्वामीजी के समीप आया और रोदन करके अपने घाव दिखाने लगा। स्वामीजी ने उसे आश्वासन दिया और उसके घाव पर अपने हाथ से औषध आदिक

उपचार किया। जब तक उनके घाव पूरा न भर गये तब तक महाराज ने उसे अपने पास ही रक्खा।

स्वामीजी की दृष्टि सम थी। वे आर्यों में छूताछूत के बखेड़े को अति घृणा की दृष्टि से देखते थे और शुद्ध शूद्रों का बनाया हुआ भोजन पा लेने में कोई भी दोष नहीं मानते थे; किन्तु वे कहा करते थे कि पाक-क्रिया का विधान ही शूद्रों के लिए है।

एक उमेदा नाई अनूपशहर में रहता था। उसके भी हृदय-मंदिर में स्वामीजी का महत्त्व बस गया। एक दिन वह भक्ति-भावना से थाल में भोजन परस कर स्वामीजी की सेवा में लाया। स्वामीजी ने भक्त के भोजन को लेकर भोग लगाना आरम्भ कर दिया। उस समय वहां कोई बीस पच्चीस ब्राह्मण विद्यमान थे। वे कह उठे "छिः छिः! स्वामीजी क्या करते हो? यह रोटी तो नाई की है!" महाराज ने हंसते हुए कहा "नहीं, यह रोटी तो गेहूँ की है, इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊँगा।"

स्वामीजी के स्वर में विधाता ने अपूर्व माधुर्य भरा था। उनके कोमल कण्ठ से निःसृत नाद कोकिल-कूजन का भी तिरस्कार करता था। एक दिन सत्संगियों ने नम्र निवेदन किया कि हम श्री-मुख से साम-गान सुनने के इच्छुक हैं। स्वामीजी ने 'बहुत अच्छा' कह कर साम का आलाप आरम्भ कर दिया। वह गान क्या था, आनन्द की वर्षा थी; आत्मा में सुधा का संचार था। उनके स्वर के मिठास से, नाद की मोहिनी शक्ति से और अश्रुतपूर्व संगीत से लोग धीरे-धीरे ऐसे प्रभावित हुए कि सारी सभा, देश और काल के भाव को भूल कर, संगीत रस-सागर में हिलोरें लेने लग गई। किसी को कुछ पता न रहा कि मैं कहाँ बैठा हूँ। सबकी चित्त-वृत्तियां मुद्रित हो गई। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों नर्मदेश्वर का मन्दिर, सती की मढ़ी, नवलजंग का अखाड़ा, ये सब स्वामी-स्वर का अनुकरण कर रहे हैं, उत्तालतरङ्गसंकुल गङ्गा भी अपने कूलों सहित गा रही है। कोई आध घड़ी से अधिक काल तक लोग संगीत-रस आस्वादन करते रहे। स्वामीजी के गाना बन्द करने के उपरान्त भी, कई पलों तक, वही समय बंधा रहा। लोग वैसे ही मौन, निस्तब्ध बने रहे। तत्पश्चात् उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि मानों अमृत से सिंचित किये गये हैं, सुख की

नींद सोकर अभी उठे हैं। एक भक्त ने पूछा कि महाराज, पुराकाल में जैसी उत्तम, मनोवाञ्छित, सुपात्र सन्तान हुआ करती थी वैसी अब क्यों नहीं होती ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि प्राचीन काल में आर्य्यजन वैदिक संस्कार किया करते थे, वैदिक आचारयुक्त होते थे, इसलिए उनकी सन्तान में ओज होता था, तेज होता था और शूरवीरता होती थी। परन्तु इस युग में लोग इन्द्रियाराम और विषयानन्द ही को प्रधानता दिये हुए हैं, वैदिक संस्कारों का त्याग कर बैठे हैं। लोगों के गृहों में कु-रीतियों की भरमार है। इसीलिए उनकी सन्तान भी निस्तेज, दीन, दुखिया उत्पन्न होती है।

अनूपशहर में सुखानन्दजी ने श्राद्धों पर विचार किया, जिसमें स्वामीजी ने *श्राद्धों का बलपूर्वक खण्डन करके यह सिद्ध कर दिखाया कि श्राद्ध जीवित पितरों का ही होना चाहिए।*

अनूपशहर से चल कर महाराज फाल्गुन मास में कर्णवास पधारे। इस बार भी एक महायज्ञ किया गया। दस दिन तक गायत्री का जप होता रहा और फिर बारह भद्र जनों ने यज्ञोपवीत धारण किये। अबकी बार महाराज वहां दस पन्द्रह दिन ही ठहरे।

गढ़िया में स्वामीजी ने चक्राङ्कितों से बातचीत करके उन्हें परास्त किया। अनेक पण्डितों सहित गुसाईं बलदेवगिरिजी स्वामीजी के दर्शनों को गये। उनकी भव्य मूर्ति के दर्शन और वार्तालाप से वे ऐसे विमोहित हुए कि प्रतिदिन स्वामी-सेवा में उपस्थित होने लगे। उन्होंने एक मास तक स्वामीजी का भावनापूर्वक आदरातिथ्य किया।

स्वामीजी को वहां ठहरे एक मास हो चुका था कि एक दिन श्रोडेसर का ठाकुर चार साथियों सहित वहां आया। उनमें से दो के हाथों में खड्ग थे। वह ठाकुर आते ही स्वामीजी के बराबर बैठ गया। गुसाईंजी उपस्थित थे। उन्होंने *उसे ऐसा करने से वर्जा कि गृहस्थों को संन्यासियों के समीप समान आसन पर* बैठना उचित नहीं है। पर वह कड़ा वैष्णव था। उसने गुसाईंजी की एक न सुनी और वहीं अकड़ा बैठा रहा। स्वामीजी ने महाभारत का एक श्लोक पढ़कर उसे समझाया पर उसने इधर ध्यान ही न दिया। अन्त में, यह सोचकर कि ऐसे मूढ़ से क्या माथापच्ची करें, स्वामीजी कुटिया के भीतर चले गये। उष्ण काल था,

इसलिए गुसाईंजी मङ्गा गिर लिए बैठे थे। ठाकुर महाशय का कोप-वज्र उन्हीं पर बरसने लगा। आपने अपने साथियों को आज्ञा दी कि यह मङ्गे गिर वाला क्या बक रहा है? इसे पकड़ कर सीधा करो। गुसाईंजी भी सामर्थ्यवान् थे। ज्योंही ठाकुर के मनुष्य उन्हें पकड़ने के लिए आगे बढ़े उन्होंने एक के हाथ और दूसरे के पाँव को पकड़ कर दूर फेंक दिया। शेष की गम उन्होंने शिष्यों ने बना दी। गुसाईंजी को कोई भय था तो यह कि कहीं उनकी इस कौतुक-क्रीड़ा से स्वामीजी अप्रसन्न न हों। परन्तु स्वामीजी ने उनके साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करके उन्हें प्रोत्साहन दिया।

दैवयोग से नदिया में कैलाशपर्वतजी आ मिलते। सायं समय वे गङ्गा-तीर पर अपना नित्यकर्म कर रहे थे कि उन्हें सिर पर एक सन्यासी खड़ा दिखाई दिया। पूछा "कौन है?" उत्तर मिला "मैं दयानन्द सरस्वती हूं।" यह सुनते ही कैलाशपर्वतजी ने स्वामीजी को समीप बैठा लिया और हरिद्वार के त्याग के पीछे का वृत्तान्त पूछने लगे। सब वृत्तान्त सुनते हुए महाराज ने कहा "कैलाशपर्वतजी! मैं आपसे सहायता लेने आया हूं।" उन्होंने कहा "सहायता किस प्रकार की?" स्वामीजी ने कहा "रामानुज वल्लभ आदि साम्प्रदायिक मतों ने पुरातन धर्म-कर्म, रीति-नीति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। सो आप इनके खण्डन में मेरे सहायक बनें।" कैलाशजी ने कहा, "आपका विचार उत्तम है। इन मतों का खण्डन अत्यावश्यक है। मैं आपकी प्रत्येक प्रकार की सहायता देने को भी प्रस्तुत हूं, परन्तु आप प्रथम मेरी दो बातें स्वीकार कर लीजिए। एक तो मूर्ति-पूजा का खण्डन करना परित्याग कर दीजिए। मन्दिर सर्वत्र बने हुए हैं और इनमें अज्ञानी लोगों को लाभ भी बड़ा है। सैकड़ों की आजीविका लगी हुई है। दूसरे आप पुराणों का खण्डन भी छोड़ दीजिए। यह न कहिये कि ये व्यासकृत नहीं हैं और स्वार्थी लोगों के निर्माण किए हुए हैं।"

स्वामीजी ने कहा, "महात्मन! इन सम्प्रदायों का आधार-आश्रय यही मूर्ति-पूजा और पुराण हैं। इन्हीं दो की आड़ में मत-वाले अपने-अपने मतों का प्रचार करते हैं। इसी टट्टी की ओट में मत-मृगया हो रही है। जब तक इनका खण्डन न होगा आर्ष ग्रन्थों का आदर न हो सकेगा। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित

धर्म्म को लोग नहीं समझ सकेंगे। कृपया आप बद्धपरिकर होकर जयपुराधीश आदि राजाओं को वैदिक धर्म्म पर लाइए। आप संन्यासी हैं, निर्भयता से लोगों में सत्य का प्रचार कीजिए।"

कैलासपर्वतजी विद्वान् तो थे ही, पर साथ ही वयोवृद्ध भी थे। इससे स्वामीजी उनका समादर करते थे। उनके समीप निवास भी कर लिया करते थे। साम्प्रदायिक संग्राम में सम्मिलित होने की संधि करने के लिए कैलासपर्वतजी ने जो दो बातें उपस्थित की थीं उन्हीं का घोर प्रतिवाद करते-करते सारी रात बीत गई और सवेरा हो गया। स्वामीजी एक वृद्ध संन्यासी से निराश होकर स्वस्थान को जाने के लिए प्रस्तुत हुए। कैलासपर्वतजी ने कहा "दयानन्दजी अभी न जाइये। भिक्षा पाकर मध्यान्होत्तर काल में चले जाइएगा। इतनी क्या शीघ्रता है?" परन्तु स्वामीजी यह कहते हुए वहां से चल पड़े कि "मैं आपके पास कोई भिक्षा का भूखा न आया था। मैं आया था कि आप सत्य में मेरी सहायता करेंगे। सो आपने नहीं की। ऐसी अवस्था में ईश्वर ही सहायता करेगा।"

कैलासपर्वतजी स्वामीजी के सत्याग्रह से अतिशय प्रसन्न थे। वे कहा करते थे, "दयानन्द जैसा धैर्य का धनी, सुदृढ़-संकल्प संन्यासी न हमने कहीं देखा और न ही सुना है। यह अप्रतिम पुरुष है।"

गुसाईं बलदेवगिरि का मठ सोरों ही में था। वे नित्य निवेदन करते थे कि स्वामीजी! सोरों चलिए। वहां अत्युपकार होगा। सोरों से कुछ भक्तजन भी स्वामीजी की सेवा में उपस्थित होकर वहां पधारने के लिए प्रार्थी हुए। उन सब के आग्रह से स्वामीजी सोरों पधारे। गङ्गा के तीर पर गुसाईंजी के मन्दिर में ठहरे। अगले दिन गुसाईंजी ने उन्हें अभ्यागत के स्थान में जा टिकाया।

सोरों में स्नान-माहात्म्य का बड़ा भारी मेला था। कोई दस सहस्र तो ब्राह्मण ही वहां एकत्रित हुए होंगे। वहां बहुत से चक्राङ्कित पण्डित स्वामीजी के समीप वाद करने के लिए आए, परन्तु आधी घड़ी भी कोई सामने न ठहर सका। वैष्णवों का मुखिया हरगोविन्द था और स्वामीजी का सहायक रामनारायण तिवाड़ी था। चक्राङ्कित हुल्लड़ बहुत मचाते थे, जिससे विवश होकर रामनारायण और गुसाईंजी उन लोगों को झिड़कना भर्त्सना भी करते थे। जैसे

समुद्र के उत्ताल तरल तरङ्ग प्रबल चट्टान से टक्कर खाकर हत-प्रतिहत होकर उपशम हो जाते हैं—पीछे हट जाते हैं—ऐसे ही पौराणिक पण्डित और साम्प्रदायिक वादीगण बड़े आवेश में स्वामीजी के निकट आते और युक्ति-प्रमाणों से प्रतिहत होकर, प्रत्याघात खाकर शान्त हो जाते अथवा लौट जाते थे।

कुछ एक उपद्रवी लोगों ने परस्पर मिल, स्वामीजी को विष देकर मार डालने अथवा जलमग्न कर देने का षड्यन्त्र रचा। एक रात वे मिल कर आये। उस समय स्वामीजी के समीपवर्ती स्थान में एक और साधु सुख से सो रहा था। उन्होंने उसी को दयानन्द समझकर खटिया सहित उठा लिया और ले जाकर गङ्गा की धारा में फेंक दिया। जब उसने डूबते हुए चिल्ला कर बचाने की याचना की तो उन धूर्तों को ज्ञात हुआ कि यह दयानन्द नहीं है। इस पर वह साधु जल में से निकाल लिया गया।

श्री स्वामीजी एक दिन उपदेश दे रहे थे और बीसियों मनुष्य दत्तचित्त होकर श्रवण कर रहे थे। उस समय वहां एक हट्टा-कट्टा डण्डपेल पहलवान-सा जाट आ गया। एक मोटा सोटा कन्धे पर रक्खे सभा-सरोवर को चीरता-फाड़ता सीधा स्वामीजी की ओर बढ़ा। उसका चेहरा मारे क्रोध के तमतमा रहा था। आंखें रक्तवर्ण थीं, भौंवें तन रहीं थीं और माथे पर त्योरी पड़ी हुई थी। होंठों को चबाता और दांतों को पीसता हुआ वह बोला:—"अरे साधु, तू ठाकुर-पूजा का खण्डन करता है और श्री गङ्गामैया की निन्दा करता है, देवताओं के विरुद्ध बोलता है? झटपट बता, तेरे किस अंग पर यह सोटा मार कर तेरी समाप्ति कर दूं?" ये वचन सुनकर एक बार तो सारी सभा विचलित हो गई। परन्तु श्री स्वामीजी महाराज की गम्भीरता में रत्ती भर भी न्यूनता न आई। उन्होंने प्रशान्त भाव से मुस्कराते हुए कहा कि "भद्र! यदि तेरे विचार में मेरा धर्म-प्रचार करना कोई अपराध है तो इस अपराध का प्रेरक मेरा मस्तिष्क ही है। यही मुझे खण्डन की बातें सुझाता है। सो यदि तू अपराधी को दण्ड देना चाहता है तो मेरे शिर पर सोटा मार, इसी को दण्डित कर।" इन वाक्यों के साथ ही स्वामीजी ने अपने नेत्रों की ज्योति उसकी आंखों में डालकर उसे देखा। जैसे बिजली कौंध कर रह जाती है, धधकता हुआ अङ्गारा जलधारा-पान से शान्त हो जाता है, वैसे ही तत्काल वह बलिष्ठ व्यक्ति ठण्डा हो गया,

श्री-चरणों में गिर पड़ा; अविरत अश्रुमोचन करता हुआ अपना अपराध क्षमा कराने की याचना करने लगा। स्वामीजी ने उसे आश्वासन दिया और कहा, "तुमने कोई अपराध नहीं किया। मुझे मारते तो भी कोई बात थी, अब योंही क्यों रो रहे हो? जाओ, ईश्वर तुम्हें सत्य मार्ग प्रदान करे।"

इस दृश्य को देख लोग स्वामीजी की सहनशीलता की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए आपस में कहते थे कि सोरों में बहुतेरे साधु-सन्त आये, परन्तु ऐसा शान्त, ऐसा निर्भय, ऐसा क्षमावान् कभी कोई न आया होगा।

स्वामीजी विचरते हुए मादोल में आ विराजे। उनके उपदेशों से वहाँ ठाकुर हुलाससिंह तथा अन्य सज्जन पक्के आर्य-धर्मावलम्बी बन गये।

गढ़ी में वैरागी लोग स्वामीजी का बड़ा विरोध करते थे। इसका कारण यह था कि जिस समृद्ध ठाकुर के स्थान पर स्वामीजी ठहरे हुए थे उसने कण्ठी तोड़ डाली थी, मूर्तिपूजा छोड़ दी थी। वह कई ग्रामों का भूमिहार था। इस लिए वैरागियों को अपनी आजीविका के जाते रहने का भय था। स्वामीजी भी वैरागियों से सदा ही सावधान रहते थे। उन्होंने सुन रक्खा था कि कानपुर से चार कोस के अन्तर पर वैरागियों का डेरा है। वहां विरजानन्द नामक एक साधु जा निकला। वैरागियों ने उसे दयानन्द समझ कर पकड़ लिया और गङ्गा में ढकेल दिया। वह था तैरनेवाला, इसलिए हाथ-पैर मार कहीं किनारे जा ही लगा।

उदासी साधु मायाराम गढ़ी में स्वामीजी की निन्दा सुन उनके पास आकर कहने लगा कि दयानन्दजी! आप इस खण्डन-मण्डन के झमेले में क्यों पड़ गये? हमारी तरह आनन्द से खा-पीकर सुख में रहा करो। क्यों वैर बढ़ाते हो? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हम तो ब्रह्मानन्द में रहते हैं, और जो आनन्द वेद-प्रचार में आता है वह तो तुलनातीत है।

ग्यारहवाँ सर्ग

ज्येष्ठ बदि १३ सम्वत् १९२९ को स्वामीजी कर्णवास में अपनी पुरातन कुटिया में ही आकर ठहरे। उसी मास में गङ्गा-स्नान का मेला था। सहस्रों नरनारी एकत्रित हुए। उस समय राव कर्णसिंह भी स्नानार्थ आए।

राव महाशय जब से वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी रङ्गाचार्य के चेले बने थे, तब ही से वे अति पक्षपाती हो गये थे। कर्णवास में उनकी सुसराल भी थी। वे स्वामीजी की कुटिया के थोड़े अन्तर पर ही उतरे थे। रात्रि के समय उनके उतारे पर रास होने लगा। कुछ पण्डित लोग स्वामीजी को भी बुलाने आये। परन्तु स्वामीजी ने कहा कि हम ऐसे निन्दनीय कार्य में कदापि सम्मिलित नहीं हो सकते। तुम लोग जो अपने पुरुषार्थों के स्वांग बना कर नचाते हो यह अति लज्जास्पद, शोक की बात है। स्वांग भरना मनुस्मृति में दोष वर्णन किया है।

अगले दिन पण्डित लोगों ने स्वामीजी के कथन को, अपनी टीका-टिप्पणी सहित, दुहरा कर राव महाशय को बहुत भड़काया। वे भी उत्तेजित हो कर पण्डितों और अपने नौकरों को साथ ले स्वामीजी की कुटिया पर चढ़ आये। सायं समय था। महाराज उपदेश कर रहे थे। श्रोतागण एकाग्रचित्त उपदेशा-मृत-पान करने में निमग्न थे। ऐसे समय में खट-खट करती हुई राव महाशय की सेना आ पहुंची। स्वामीजी महाराज ने 'आइए, बैठिये' इत्यादि शब्दों से उनका सत्कार किया, परन्तु राव महाशय अपनी ग्रीवा की ऐंठन किंचित् भी न्यून न करके बोले "कहां बैठें?" स्वामीजी भी उनके अहङ्कार के पारे की चढ़ी मात्रा को ताड़ गये। इसलिये उत्तर में बोले, "जहाँ इच्छा है बैठ जाइए।" राव महाशय बोले "जहाँ तुम बैठे हो वहीं बैठेंगे।" स्वामीजी ने सीतलपाटी हटा ली और कहा, "आइए, यहीं बैठिए।"

"आप हमारे यहाँ रास में क्यों नहीं आये? संन्यासी हो कर ऐसा करना अत्यन्त बुरा कर्म है। हमारे स्थान पर जब राम-लीला होती है तो सभी पण्डित संन्यासी सम्मिलित होते हैं।"

"आपके सम्मुख आपके पूज्य पुरुषाओं के रूप भर कर मलिन मनुष्य आते हैं, नाचते हैं और आप लोग बैठे-बैठे देखा करते हैं! उस समय आप लोगों को लज्जा नहीं आती? आश्चर्य है! आप कैसे क्षत्रिय हैं? किसी साधारण पुरुष के माता-पिता, परिजन का स्वरूप भर कर कोई नचावे तो उसे कितना बुरा लगता है? परन्तु आप कुलीन लोग अपने मान्य महापुरुषों के स्वांग बना कर नचाते हैं और प्रसन्न होते हैं।

"हम तुम से बातचीत करने आये हैं। हमने सुना है कि तुम अवतारों की और गङ्गाजी की निन्दा करते हो। स्मरण रक्खो, यदि मेरे सामने निन्दा की तो मैं बुरी तरह वर्त्ताव करूंगा।"

"मैं निन्दा नहीं करता हूँ, किन्तु जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहता हूँ। गङ्गा भी जैसी और जितनी है उसे वैसी और उतनी ही वर्णन करता हूँ। सत्य के कथन करने में सर्वथा निर्भय हूँ।"

"तो फिर गङ्गा कितनी है?"

स्वामीजी अपना कमण्डलु उठा कर बोले, "मेरे लिए तो इतना जल उपयुक्त है, सो यह इतनी ही है।"

राव कर्णसिंह बोलाः—"गङ्गा गंगेति" इत्यादि श्लोकों में नाम, कीर्त्तन, दर्शन, स्पर्शन से पाप-नाश कहा है।"

"ये श्लोक साधारण लोगों के कपोलकल्पित हैं। माहात्म्य सब गप्प है। पाप-नाश और मोक्ष-प्राप्ति वेदानुकूल आचरण से होगी, अन्यथा नहीं।"

स्वामीजी ने पूछा "राव महाशय, आपके भाल पर यह रेखा-सी क्या है?" राव महाशय ने उत्तर में कहा "यह श्री है। जो इस श्री को धारण नहीं करता वह चाण्डाल है।" "आप कब से वैष्णव हुए हैं?" "कुछ बरसों से।" "क्या आपके पिता भी वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे?"

"नहीं, वे नहीं हुए।"

"तब तो आप ही के कथनानुसार आप के पिता और कुछ वर्षों के पूर्व आप भी चाण्डाल सिद्ध हो गये।"

इस बात पर राव महाशय को क्रोध आ गया और वे तलवार पर हाथ रख कर बोले, "मुँह सम्भाल कर बोलो।" उनके साथी दस बारह जन भी शस्त्र-सन्नद्ध थे, इसलिए टीकाराम भयभीत हो गये। परन्तु स्वामीजी ने उन्हें कहा, डरते क्यों हो? कोई चिन्ता की बात नहीं। हमने जो कुछ कहा है सत्य कहा है।"

उधर, राव महाशय छड़ी से छेड़े हुए नाग की भाँति कोपावेश में बल खा रहे थे। उनकी आँखों में लहू उतर आया। चेहरा क्रोधानल से लाल हो गया, उसने स्वामीजी पर कुवचन-वर्षा की झड़ी-सी लगा दी। परन्तु स्वामीजी हँसते

हुए कहने लगे, "राव महाशय ! यदि शास्त्रार्थ करना अभीष्ट है तो वृन्दावन से रङ्गाचार्य्यजी को मँगाइए। उसमें जो हार जाय वह दूसरे के सिद्धान्त को स्वीकार करेगा, यह प्रतिज्ञा हो जानी चाहिये।" राव महाशय ने कोप से कड़क कर कहा कि तुम रङ्गाचार्य से क्या वादविवाद कर सकते हो? तुम्हारे जैसे जन तो उनकी जूतियाँ झाड़ते हैं। इन बातों के साथ राव महाशय गाली भी प्रदान करते जाते थे, और बायें हाथ से थामे हुए खड्गकोश की मुट्ठी पर बार-बार दाहिना हाथ रखते थे। इस पर स्वामीजी ने हंसते हुए कहा कि "राव महाशय! खड्ग को बारबार क्यों संचालन करते हो? शास्त्रार्थ करना हो तो अपने गुरुजी को यहाँ ले आइए, हम कटिबद्ध हैं। परन्तु यदि आपको शस्त्रार्थ करने का चाव है तो संन्यासी से क्यों टकराते हो? जयपुर जोधपुर से जा भिड़ो।"

फिर क्या था, राव महाशय आपे से बाहर हो गये। उनकी आँखों से चिङ्गारियाँ छूटने लगीं। हाथों की मुट्ठियाँ ऐंठ गईं। होंठ फड़क उठे। भीषण रूप धारण करके वे, उचितानुचित का कोई विचार किये बिना, मुख से खरी-खोटी बातें सुनाते खड्गहस्त स्वामीजी की ओर लपके। स्वामीजी ने "अरे धूर्त" कहते हुए उन्हें हाथ से ढकेल दिया। इस से राव महाशय एक बार तो लुढ़क गए, परन्तु फिर सम्भल कर चौगुने कोपावेश में, महाराज पर तलवार का वार करने के लिए आगे बढ़े। वे तलवार चलाना ही चाहते थे कि महाराज ने झपट कर उसे उनके हाथ से छीन लिया और भूमि के साथ टेक दे कर दबाने से उसके दो टुकड़े कर डाले। स्वामीजी ने राव महाशय का हाथ पकड़ कर कहा, "क्या तुम यह चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूं?" राव महाशय का मुख पीला पड़ गया, तन पर मूर्च्छा सी आ गई। उस समय स्वामीजी ने कहा, "मैं संन्यासी हूं, तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिड़कर तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करूंगा। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करें।" महाराज ने तलवार के दोनों खण्ड दूर फेंक कर राव-महाशय को विदा कर दिया।

जिस समय यह घोर घटना घटित हुई स्वामीजी के समीप कोई पचास मनुष्य बैठे थे। वे सब राव कर्णसिंहजी के कु-कर्म की निन्दा करते हुए स्वामीजी को सम्मति देने लगे कि राजकर्मचारियों को सूचना देकर इसका पूरा परिणाम निकलवाना चाहिए। स्वामीजी ने कहा, हम अभियोग कदापि न चलायेंगे।

हमारा धर्म्म तो संतोप करना है। यदि वह अपने क्षत्रियत्व का पालन नहीं कर सका तो हम अपने ब्राह्मणत्व से क्यों गिरें ? जो धर्म का हनन करता है अन्त को उसका अपना हनन हो जाता है। इस पर स्वामीजी ने मनु का यह श्लोक सुना कर लोगों को शान्त किया:—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

यहाँ अनेक पण्डितों और स्वामी विशुद्धानन्द, कृष्णानन्द आदि संन्यासियों से धर्म्म-मीमांसा होती रही, और कार्तिक तक महाराज ने वहीं निवास किया।

स्वामीजी सोरों में पधार कर अम्बागढ में विराजमान हुए। श्रद्धालुगण और वादीगण प्रत्येक समय आते रहते थे। पण्डित अंगद उस समय न्याय और व्याकरण में तुलनातीत विद्वान् समझा जाता था। कोई भी विद्वान् उसके साथ शास्त्रार्थ करने का साहस न करता था। वह पहले पहल विरजानन्दजी से कौमुदी पढ़ता रहा था।

रामनारायण पण्डित, जो स्वामीजी के विचारों को उनके पिछले आगमन मे मान चुका था, अंगद शास्त्री के पास गया और कहने लगा कि स्वामी दयानन्दजी के तेज मे सभी पण्डित अभिभूत हो रहे हैं। अब आप चलिये और उनसे शास्त्रार्थ कीजिये।

साम्प्रदायिक धर्म्म की नौका को गंगा में निमज्जित होता देख अंगदजी स्वामीजी के निकट आकर मूर्ति-पूजा सिद्ध करने में प्रवृत्त हुए। स्वामीजी ने शास्त्रीय प्रमाणों की प्रबलता से उसके पक्ष का खण्डन करके भागवतादि की भी तीव्र आलोचना की। स्वामीजी ने भागवत की कविता पर भी ऐसे आक्षेप किये कि जिन्हें अंगदजी ने भी अंगीकार कर लिया। शास्त्रीजी ने कुछ देर तक तो अपने पक्ष के पोषण में बहुतेरे हाथ-पैर मारे, परन्तु अन्त में स्वामीजी की शुद्ध, सरल, धारा-प्रवाह संस्कृत वक्तृता से, ओजस्विनी कथनशैली से, अकाट्य युक्तियों से, प्रभूत पुष्ट प्रमाणों से, समयोचित तात्कालिक उत्तर-प्रत्युत्तर प्रदान से और अप्रतिम प्रतिभा-प्रभा से वे ऐसे चकित हुए, ऐसे विमोहित हुए कि मुक्त-कण्ठ से कह उठे, "स्वामीजी महाराज ! आप जो कुछ कह रहे हैं वह सब

सत्य है। अब पुराणपोल अधिक सुनने की आवश्यकता नहीं रही।" शास्त्रीजी ने तत्काल अपनी कण्ठी तोड़ दी, शालिग्राम गङ्गागत कर दिये और आगे के लिए भागवत-कथा कहने का परित्याग कर दिया। उनके सम्बन्धियों ने भी उनका अनुगमन करते हुए अपनी मूर्तियां जलमग्न कर दीं। उस समय गुसाईं बलदेव-गिरिजी को भी आवेश आ गया। उन्होंने भी अपनी प्रतिमायें गङ्गा के प्रवाह में विदा कर दीं।

अङ्गद शास्त्रीजी उस समय पण्डित-मण्डल में संस्कृत विद्या का सूर्य माने जाते थे। उनकी सर्वत्र धाक थी। बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् भी उनके सामने आते हुए दूर ही से पथ-परिवर्तन करके निकल जाते थे। जब वही विद्या-दिग्गज परास्त हो गये, उन्होंने हार मान ली, श्री स्वामीजी महाराज की विजय-वैजयन्ती अनिवार्य रूप से फहराने लगी, उनकी निर्दोष कीर्ति-चन्द्रिका सर्वत्र विस्तृत हो गई, सुगुण सुमनों को सुगन्धि वायु-वेग से दसों दिशाओं में संचरित हो गई।

रङ्गाचार्य प्रत्येक वर्ष सोरों आदि स्थानों में आया करता था। लोगों को दीक्षा देता था, चक्राङ्कित करता था। परन्तु अङ्गदजी के पराजय का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसके सैकड़ों शिष्यों ने कण्ठियां तोड़ डालीं; प्रतिमायें बहा दीं, पर जैसे केसरी की गुहा के समीप जाने से हस्ती भयभीत होता है ऐसे रङ्गाचार्य भी श्री दयानन्दजी के आतङ्क से कम्पित था। इसलिए उस ओर आने का उसने नाम तक न लिया।

सोरों में इतना धर्म्म-प्रचार हुआ कि ब्राह्मणादि कुलों के सैकड़ों लोग कण्ठियां त्याग कर, मूर्तियां छोड़ कर भागवत-कथा के स्थान महाभारत और मनुस्मृति सुनने लग गये।

चौबे रामदयाल वैद्य स्वामीजी के दर्शनार्थ वहाँ आये। उस समय महाराज संध्या और गायत्री का वर्णन कर रहे थे। और तो और, ब्राह्मण कुलों की यह अवस्था थी कि सहस्रों ब्राह्मणवंशीय यज्ञोपवीत-विहीन, सन्ध्या-गायत्री से शून्य थे। वैद्यजी स्वामीजी के मनोहर भाषण से प्रसन्न हुए। स्वामीजी ने उन्हें सन्ध्या लिख कर बाँटने की प्रेरणा की।

स्वामीजी के कथनों के प्रभाव से गङ्गा के आस-पास के सहस्रों लोग नित्य-कर्मों में परायण हो गये।

बदरिया-निवासी अङ्गदशास्त्री, जिन्होंने स्वामीजी के समीप अपना पराजय स्वीकार कर सब पाखण्ड-जाल तोड़ डाला था, एक अच्छे कवि भी थे। कैलास-पर्वतजी की प्रेरणा से उन्होंने वराह-स्तुति के सौ श्लोक रचे थे। जब वे स्वामीजी के शिष्य बन गये तो उन्होंने स्वामीजी के कार्य के अनुकूल बहुत से श्लोक निर्माण किये।

पण्डित जगन्नाथ बाँसबरेली वाले ने स्वामीजी के निकट आने का तो साहस न किया, परन्तु "इतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि श्रावयेत्" यह मनुवाक्य लिख भेजे। स्वामीजीने उत्तर में लिखा कि यहाँ पुराण से तात्पर्य पुरातन से है, न कि भागवत आदि से।

वैद्य रामदयालजी ने स्वामीजी से कहा कि ग्वालियर राज्य का रहने वाला एक ब्राह्मण हमें कसुरा में मिला था। वह कहता था कि मेरे पास कालीदासरचित संजीवनी नामक एक पुस्तक है। उसमें कालीदास ने अपने समय में महाभारत के ग्यारह सहस्र श्लोकों और दस पुराणों की विद्यमानता प्रकट की है।

बंग प्रान्तान्तर्गत मकसूदाबाद परगणे के शक्तिपुर नामक ग्राम के निवासी बोपदेव और जयदेव दो भाइयों ने भागवत पुराण की रचना की थी। श्रीधर तिलक भी इसे बोपदेवनिर्मित बताता है। स्वामीजी ने उस पुस्तक को लेने की रुचि प्रकट की, परन्तु रामदयालजी यत्न करने पर भी उसे न ले सके।

पीलीभीतनिवासी एक पण्डित अङ्गद भी सोरों में आया था। वह भूतल पर अपने समान किसी को न समझता था। जब वह स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए उत्सुक हुआ तो महाराज ने अपने शिष्य बदरिया के अङ्गदशास्त्री को आज्ञा दी। पीलीभीत का पण्डित स्वामीजी के शिष्य ही से परास्त होकर पलायन कर गया।

स्वामीजी महाराज को यदि कभी लहर आ जाती तो मूळे के घर तक पहुँच जाते और अन्त में उसके पैर निकाल कर ही पीछे हटते। चिदनानन्द नामक एक संन्यासी मूर्तिपूजा सिद्ध करने के लिये सोरों में आ गये। स्वामीजी ने उनको शास्त्रार्थ-सम्बन्धी निमन्त्रण-पत्र में लिखा कि सत्यासत्य का निर्णय करने के

लिये कहा तो मैं आपके स्थान पर आने के लिये उद्यत हूं, नहीं तो आप मेरे आसन पर पधारिये। परन्तु उन तिलों में तेल न था। वह दूर ही से बातें बनाता रहा। न आप सामने आया और न स्वामीजी को ही आहूत किया। एक दिन चार घड़ी दिन रहे वह गङ्गा की ओर निकला। पता लगने पर श्री स्वामीजी भी उसके पीछे हो लिये। अन्त में पौन कोस के अन्तर पर उसे पकड़ ही लिया। वहीं दोनों बैठ गये। श्री स्वामीजी ने कहा कि चिद्घनानन्दजी! आप प्रतिमा-पूजन सिद्ध करते हो, भला उसकी पुष्टि में कोई मन्त्र प्रमाण तो दो। जो दशा सूर्य्य-तेज से अभिभूत ग्रह-नक्षत्रों की होती है, उस समय चिद्घनानन्दजी की भी ठीक वही हुई। सिंह के पंजे में पड़ा हुआ हिरन अब निकले तो किस प्रकार? वह तो उसी चिन्ता में चूर हो गया। मौन साध कर उसने कुछ भी उत्तर न दिया। जब ऐसे ही बैठे हुए एक घण्टा बीत गया तो स्वामीजी ने कहा, "असत्य ने आपके मुख पर मुद्र लगा दी है। यदि आपका पक्ष यथार्थ है तो फिर मुँह मूँदे क्यों बैठे हो?" पर बोलता कौन? वहाँ तो वह दशा हो रही थी जो राम के बाण को देख कर परशुरामजी की हुई थी। अन्तपर्यन्त उस साधु ने अपनी चुप्पी न खोली। तब स्वामीजी अपने डेरे पर आ विराजे।

कैलासपर्वतजी को भी शास्त्रार्थ करने के लिये उत्तेजना दी गई। परन्तु वे दो कारणों से स्वामीजी के अभिमुख न हुए। एक तो वे स्वामीजी की विद्वत्ता से भली-भांति परिचित थे। दूसरे, स्वामीजी के कार्यों के साथ कुछ सहानुभूति भी रखते थे। उनको वराह के मन्दिर से बड़ी भारी आय थी। राजा-महाराजों में प्रतिष्ठा का भी कोई पार न था। इस कारण वही नहीं कि प्रकट रूप से अनु-मोदन न करके वे स्वामीजी के कार्यों के सहायक ही न बनते थे, प्रत्युत लोक-मनोरञ्जन के लिये उन्होंने स्वामीजी के विरुद्ध एक पुस्तक भी प्रकाशित की थी। कैलासपर्वतजी भीरु भी बहुत थे। चटपट लोगों के डराने और बहकाने में आ जाते थे।

एक दिन बलदेवगिरि के विरोधियों ने उन्हें जा बहकाया कि वह मूर्त्तियां आदि गङ्गा में फेंक कर दयानन्द का अनुयायी हो गया है। समय पाने पर आप को अवश्य पीट डालेगा। यदि हमें एक सहस्र रुपया दो तो हम बलदेवगिरि को

पहले ही पीट कर ठीक कर दें। कैलासजी सहमत हो गये। बलदेवगिरि के पास और स्वामीजी के स्थान पर आना-जाना छोड़ बैठे। भेद ज्ञात होने पर बलदेवगिरिजी स्वयं उनके निकट गये और समझाया कि आपको धूर्त लोग यों ही बहकाते हैं। आप और हम में कोई वैर-विरोध तो है ही नहीं, तो फिर मैं आपको क्यों मारूंगा? और स्मरण रखिये कि यदि आपने धूर्तों को मुझ पर आक्रमण करने के लिये भेजा तो उनके पिटने अथवा मेरे मार खाने पर भी आप पकड़े जाओगे—बचे नहीं रहोगे।

कैलासजी की मति सन्मार्ग पर आ गई और जिस वाटिका में स्वामीजी उतरे हुए थे वहाँ पूर्ववत् आने-जाने लग गये। स्वामीजी उनकी स्वार्थपरता, उनकी लोकलाज और भीरुता पर तो प्रसन्न न थे, परन्तु उन्हें विद्वान् और वृद्ध जान कर, उनका आदर-सत्कार ही किया करते थे। कभी-कभी उपहास रस में भी उन्हें पुकार लिया करते थे। एक दिन कुटिया के भीतर कैलासपर्वतजी ने प्रवेश किया तो स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "अहो! इतना बड़ा कैलासपर्वत इस छोटीसी कुटी में कैसे आ गया?"

एक दिन, गङ्गा-तीर पर एक साधु कमण्डलु आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत्त था। वह था एक घुटा हुआ मायावादी। दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामीजी भी वहीं जा पहुँचे। उसने स्वामी जी को सम्बोधन करके कहा—"इतने त्यागी परमहंस—अवधूत—हो कर आप खण्डनमण्डनरूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो? निर्लेप हो कर क्यों नहीं विचरते?" महाराज मुस्करा कर बोले, "हम तो यह सब कुछ करते हुए भी निर्लेप हैं। अब रही प्रवृत्ति की बात, सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित हो कर सब ही को करना उचित है।"

साधुजी ने कहा, "प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो? आत्मा से प्रेम करो, जिसके लिये कि श्रुति पुकार रही है।" उस समय उसने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के सम्वाद के वाक्य भी बोले। तब स्वामीजी ने पूछा, "महात्मन्! आप किससे प्रेम करते हैं?" साधु बोला, "आत्मा से"। स्वामीजी ने पूछा, "वह प्रेममय आत्मा कहाँ है?" साधु ने कहा, "वह राजा से लेकर रङ्कपर्यन्त और हस्ती से ले कर कीट तक सर्वत्र ऊँच-नीच में परिपूर्ण है।" स्वामीजी बोले,

"जो आत्मा सब में रमा हुआ है क्या आप सचमुच उससे प्रेम करते हैं?" साधु ने उत्तर दिया "तो क्या हमने मिथ्या वचन बोला है?" तत्पश्चात् स्वामीजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "नहीं, आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्वल बनाने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है जो आपके देश में लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन, बारहों महीने, भीतर-ही-भीतर जल कर राख हो रहे हैं? सहस्रों मनुष्य आप के देश में ऐसे हैं जिन्हें आजीवन-उदर भर कर खाने को अन्न नहीं जुड़ता। उनके तन पर सड़े-गले मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों निर्धन, दीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भांति गन्दे कीचड़ और कूड़े के ढेरों से घिरे हुए सड़े-गले झोंपड़ों में लोटते हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन-दुखिया भारतवासी हैं, जिनकी सार-सम्भार कोई भूले भटके भी नहीं लेता। बहुतेरे कुसमय में राजमार्ग में पड़े-पड़े पांव पीट कर मर जाते हैं, परन्तु उनकी बात तक पूछने वाला कोई नहीं मिलता! महात्मन्! यदि आत्मा से और विराट आत्मा से प्रेम करना है तो अपने अंगों की भांति सबको अपनाना होगा। अपनी क्षुधा-निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी। सच्चा परमात्म-प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊंच-नीच की भेदभावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट-क्लेश काटता है, जितने से वह अपने करता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।" वह साधु यह सुनकर स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा, अपने अपराध को क्षमा कराने लगा।

बारहवाँ सर्ग

कासगंज के बहुत से भद्रजन स्वामीजी को अपने नगर में लिवा ले जाने के लिये आये। स्वामीजी ने कहा कि अभी तो मैं गंगा के तीर पर प्रचार कर रहा हूं, इससे दूर जाना नहीं चाहता, परन्तु यदि पाठशाला स्थापित करने का कोई प्रबन्ध हो तो जा भी सकता हूं। कासगंज के सभ्यों ने स्वनगर में

थाकर इस बात पर पूर्ण रीति से विचार किया और पाठशाला की योजना करने के लिये समुद्यत हो गये। तत्पश्चात्, पण्डित सुखानन्दजी आदि एक सौ के लगभग भद्रजन सोरों में स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और अपना प्रयत्न निवेदन करके स्वामीजी को बलदेवगिरिजी की बग्घी में ले आये। नगर के समीप पहुँच कर गाड़ी ठहरा ली गई। जब नगरवासी बड़ी भारी संख्या में स्वामीजी के स्वागत के लिये वहां पहुंच गये तो महाराज का नगर में शुभागमन अति समारोह के साथ कराया गया। परमहंसराज को आगे करके नगरनिवासी बड़े भक्ति-भाव से पीछे धीरे-धीरे चलते थे। सोरों-द्वार से प्रवेश करके बाजार में से होते हुए नगर की दूसरी ओर से निकल पंडित मुकुन्दराम के उद्यान में जा पहुंचे। यहाँ स्वामीजी का निवास कराया गया। उस नगर के सज्जनों ने परस्पर मिलकर चन्दा किया और स्वामीजी के हाथ से पाठशाला स्थापित करा दी। यहां स्वामीजी ज्येष्ठ १९२२ में पधारे थे। यहां से चले जाने पर भी सोरों और कर्णवास आदि स्थानों से कभी-कभी आकर पाठशाला को देख जाया करते थे।

कासगंजवासियों ने कुँवार बदी १३ सम्वत् १९२५ को स्वामी विरजानन्दजी महाराज के देहान्त हो जाने का जब समाचार सुना तो वे इसकी सूचना देने के लिये स्वामी दयानन्दजी को ढूँढने लगे। सोरों में उनको पता न लगा। ज्ञात होने पर पण्डित चैनसिंहजी आदि तीन भद्र पुरुष शाहबाज़पुर में पहुँचे। नमस्कार के अनन्तर उन्होंने श्री स्वामीजी को महात्मा विरजानन्दजी की मृत्यु का समाचार सुनाया। वज्रपात से मूर्छित लता के कोमल पुष्पों की भांति स्वामीजी का मुखमण्डल तत्काल कुम्हला गया। कुछ देर तक सच से चुप रह कर कहने लगे, "आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।" जिस महापुरुष ने स्वाभाविक स्नेह-रस से सने हुए अपने सगे सम्बन्धियों को, इष्ट मित्रों को और सम्पत्तिशाली घर-बार को त्यागते हुए कुछ भी चिन्ता नहीं की थी, ज्ञान-गुरु का मरण-समाचार सुनकर उस दिन उसके भी चित्त-चन्द्रमा पर शोक-राहु की छाया पड़ गई। वास्तव में आदर्श गुरु-शिष्य का सम्बन्ध एक अलौकिक सम्बन्ध है।

उन दिनों में स्वामीजी की सचमुच वही अवस्था थी जो एक आनबान वाले महावीर सैनिक की संग्राम-स्थल में हुआ करती है। भेद केवल इतना ही था कि महाराज सब मत-मतान्तरों से अकेले संग्राम कर रहे थे। उनको धरा-धाम से

उठा देने के लिये स्थान-स्थान पर कुछ जन नाना भांति के षड्यन्त्र रचते थे, परन्तु वे अपनी धारणा पर अटल थे। शाहबाजपुर में दो वैरागी बाबे ठाकुर गंगासिंहजी के पास जाकर कहने लगे कि हम इस गप्पाष्टक दयानन्द को तलवार के घाट उतारना चाहते हैं, इस लिए आप हमें अपना खड्ग दीजिये। ठाकुर महाशय उन साधु-वेष-विडम्बकों की वार्ता सुनकर कहने लगे कि मैंने उन महात्माजी के श्रीमुखवाक्य श्रवण किये हैं। वे एक उत्तम सन्त हैं। यदि तुमने फिर ऐसे शब्द कहे तो तुम्हारी दुर्गति की जायगी। जाओ, मेरे स्थान से निकल कर दूर हो जाओ। इसके अनंतर वह ठाकुर महाशय दो चार मनुष्य साथ ले, शस्त्रसन्नद्ध हो, स्वामीजी के निकट आया। उसने वैरागियों की सारी दुष्ट-लीला कह सुनाई। स्वामीजी ने कहा कि उनका क्या सामर्थ्य है कि मेरा वध कर सकें। परन्तु ठाकुर महाशय के चित्त में चिन्ता वैसी ही बनी रही, इसलिए वह रात भर स्वामीजी के आसन पर पहरा देता हुआ जागता रहा।

सं० १९२९ आश्विन सुदी ११ से १९ तक ककोड़े में मेला था। उस मेले पर प्रचार करने के लिए श्री स्वामीजी भी पधारे। महाराज को ढूँढते हुए भक्त बलदेवगिरिजी भी अन्य सज्जनों सहित वहां आ गये। स्वामीजी के निवासार्थ सोरों के लोगों ने एक पर्णकुटिया बना दी थी। परन्तु बलदेवगिरिजी को महाराज का उसमें निवास शोभाजनक न प्रतीत हुआ। उन्होंने आते ही एक कनात लगवा दी और उसमें उचित स्थान पर गद्दी लगाकर उस पर महाराज को बिठाया। सारे मेले में महाराज के प्रचार की धूम थी। सैकड़ों वैष्णव आते रहे और शान्त तथा मौन होकर लौट जाते रहे। पादरियों और मौलवियों ने भी प्रश्न किये, परन्तु स्वामीजी के प्रखर तर्क-आतप को वे देर तक सहार न सके।

पण्डित उमादत्तजी ने कई पण्डितों सहित आकर मूर्ति-पूजन पर वाद चलाया, परन्तु अल्प समय में ही वे लड़खड़ा गये। जब कहीं पांव न टिका तो कहने लगे कि देखो, एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर पूजा की थी। स्वामीजी ने कहा कि एक अज्ञानी भील का कर्म प्रमाण नहीं हो सकता, किसी सभ्य मनुष्य का प्रमाण दो। तब उसने, दुर्योधन का उदाहरण दिया, जिस पर स्वामीजी ने कहा कि महामूढ़ दुर्योधन का कथन-कर्म भी धर्म्म में अमान्य है

स्वामीजी के पूछने पर पण्डित श्यामलाल ने कहा कि मैं कायमगंज में रहता हूँ, पुराणों की कथा कहा करता हूँ, और आजकल ब्रह्मवैवर्त का श्रीकृष्णखण्ड सुना रहा हूँ। स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा कि शीघ्र समाप्त कर लो, नहीं तो तुम्हारी हानि होगी; क्योंकि यह शरीर बीस दिन तक वहां पहुंच जायगा। इस ब्रह्मवैवर्त में तो सबसे अधिक गप्पें भरी पड़ी हैं।

एक दिन संस्कृत का पण्डित गोविन्ददास कायस्थ आठ दस विद्यार्थियों सहित आकर स्वामीजी से मिला। उन लोगों ने अपने हाथ गोमुखियों में डाल रक्खे थे। वह सबको "हरि भजो, छोड़ दो धन्धा" यह जप सिखाता था। महाराज पुलिन पर बैठकर गोविन्ददास को कहने लगे कि आप सारे कर्म छोड़ने का उपदेश क्यों देते हैं? भला सत्य कर्म कैसे छोड़े जा सकते हैं? और यदि कोई आपके कथन पर चले तो क्या आंख, नाक, कान, जीभ आदि अंगों के व्यापार और अन्न-जल छोड़ दे या अन्य कुछ? साथ ही महाराज ने अनवरत संस्कृत भाषण करते हुए ऐसे निष्क्रिय वादों और कुमतों का प्रभूत खण्डन किया। गोविन्ददास को स्वामीजी के कथन का एक भी उत्तर न सूझा और वह सारा समय अवाक् बैठा रहा।

महाराज ने मेले की समाप्ति पर गुसाईं बलदेवगिरि आदि को विदा करते हुए कहा कि वत्स, अब आप भी स्वगृहों को जाइए। हम यहां से काशी की ओर जायेंगे।

ककोड़े के मेले में कलक्टर महाशय भी आये हुए थे। वे भी स्वामीजी के सत्संग में टोपी उतार, नमस्कारपूर्वक आकर बैठा करते थे।

ककोड़े से चलकर स्वामीजी नरोली पधारे। वहां उनके उपदेशों से गुसाईं रामपुरी इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने ठाकुर गंगा की धारा में बहा दिये। नरोली से कपला रामघाट होते हुए महाराज अनरोली में पधारे। वहां भैरव के मन्दिर में आसन किया। वहां एक भैरवनाथ सारस्वत ब्राह्मण ने स्वामीजी से कहा कि सामवेद के ब्राह्मण में यह लिखा है कि प्रतिमा हंसती है, रोती है—उसे पसीना आता है। स्वामीजी ने उसी वाक्य को लेकर मूर्ति-पूजन का खण्डन कर दिया।

फर्रुखाबाद में स्वामीजी कार्तिक के अन्त में आये थे और दस दिवस तक ठहरकर वहां से प्रस्थान कर गये।

गंगा-तीर पर विचरते हुए स्वामीजी का जीवन एक उग्र तपस्वी का जीवन था। उनके तन पर कौपीन के बिना अन्य कुछ न होता था। इस दिगम्बर दशा में उन्होंने वनों में, जङ्गलों में, जन-रहित स्थानों में, गंगा की रेती में पौष-माघ की लम्बी शीतल रातें काटीं; वैशाख-ज्येष्ठ की कड़ी धूपें और तन को झुलस देने वाली लूयें सहन कीं; वर्षाऋतु की बोछारें—सावन-भादों की झड़ियां झेलीं। वे स्नान एकान्त स्थान में जाकर किया करते थे। कौपीन धोकर सूखने डाल देते और आप सिद्धासन लगाकर बालू पर बैठ जाते। जब कौपीन सूख जाती तो फिर उसे बांधकर अपने आसन पर और मनुष्यों के गमनागमन के स्थान पर आते थे। योगिराज का रात्रि का समय प्रायः तुर्यावस्था में बीता करता। कई परीक्षक जन आधीरात, तीसरे पहर उन्हें देखने गये परन्तु महाराज को ध्यानावस्थित ही पाया।

वे प्रायः मांगने नहीं जाते थे, इस लिये रूखा-सूखा जैसा भी अन्न कोई पहले लाकर दे देता श्रीमहाराज वही पा लेते थे। उन्होंने किसी की दी मधूकड़ी का दोष कभी भी प्रदर्शित नहीं किया। भोजन-सम्बन्धी व्यंजन आदि की न्यूनाधिकता की चर्चा कभी नहीं चलाई।

उनके सत्संग में लोक-निन्दा, व्यक्तिगत कथा, परदोषवर्णन, जनवाद, भोजनवाद कुछ भी नहीं होता था। श्री-चरणों में आकर सभी लोग धर्म-कर्म पर ही वार्त्तालाप किया करते।

श्रीमहाराज अपने आगमन का समाचार किसी को नहीं देते थे। प्रायः अचानक ही आ पहुंचते थे। स्थान-स्थान पर उनके शिष्य थे और अतिप्रेमी शिष्य थे, परन्तु प्रभु दयानन्द प्रस्थान समय ऐसे चुपचाप चले जाते थे कि किसी को पता तक न लगता था। जो कुछ भी वस्तु किसी की उनकी कुटी में पड़ी होती, वह उसे किसी को बिना सौंपे ही चल देते। उनके इस निर्मोह और निःस्पृहा की सर्वत्र प्रशंसा होती थी।

महाराज से बड़े-बड़े ठाकुरों ने, सम्पन्न और समर्थ लोगों ने यज्ञोपवीत धारण किये थे। वे लोग श्रीगुरु-चरणों में अत्यन्त श्रद्धा, अतिशय भक्ति-भावना

रखते थे। समय पड़ने पर तन, धन और प्राण तक न्योछावर कर देने के लिये समुद्यत थे। परन्तु महाराज ऐसे वीतराग थे, ऐसे समदृष्टि थे, ऐसे साम्य-वादी थे कि उनकी एक-रसवर्षिणी कृपा पर पक्षपात का कटाक्ष कभी किसी विरोधी ने भी नहीं किया। जो सवेरे कु-वचन बाणों से वेधता गया था, सायंकाल फिर आजाने पर उसके साथ भी मन्द-मुस्कानसहित वैसे ही मीठी बातें करने लग जाते जैसे कि अपने अन्य भक्तों और प्रेमियों के साथ करते थे। उनके हृदय-स्फटिक में कोई रंग नहीं रहता था। उनके अन्तरंग-गंग में राग-द्वेष की कोई रेखा स्थिरता नहीं पकड़ सकती थी। उनके समीप ऊँच-नीच, सधन-निर्धन, अपने-पराये सब समान आदर पाते थे।

शिष्य-समूह-सरोवर में भी कमलपत्र की भांति ममता के लेप से निर्लेप रहने वाले भगवान दयानन्दजी ने गंगासमीपवासी सहस्रों जनों को जनेऊ देकर द्विज बनाया, सन्ध्या सिखाई, गायत्री का जप बताया और लाखों जनों को सदुपदेश से सन्मार्ग दिखाया। ढाई वर्ष तक भगवती भागीरथी के साथ-साथ विचरते हुए स्वामीजी महाराज श्रोताओं की भीतरी प्यास शान्त करने में, ज्ञान में स्नान कराकर पाप-मल धोने से तरणतारिणी गंगा बने रहे।

स्वामीजी महाराज परिभ्रमण करते हुए मार्गशीर्ष संवत् १६२९ वि० को कायमगंज पधार कर हरिशङ्कर पाण्डेय के शिवालय में उतरे। 'कोई योग्य परमहंस पधारे हैं' यह सुनकर पण्डित गंगाप्रसादजी आदि सज्जन दर्शनार्थ आये। महाराज को स्नान के लिये कहा गया तो कहने लगे कि इस समय स्नान तो करना है, परन्तु एक-कोपीनमात्रधारी होने से यहां नहीं कर सकते। तब भक्त लोग स्वामीजी को लाला गिरधारीलालजी के एकान्त स्थान में ले गये। उन्होंने वहीं स्नान किया और भोजन भी पाया।

उस स्थान के पांच भद्र पुरुषों ने स्वामीजी से संध्या लिख कर कण्ठ कर ली। कायमगंज में कोई विशेष शास्त्रार्थ नहीं हुआ, परन्तु फिर भी पौराणिक लोग आकर अपनी शङ्का निवारण करते रहे। मुरादाबाद के दस पंद्रह मुसलमानों ने आकर कुछ पूछा। उसका उचित उत्तर पाकर वे मौन हो गये।

कई ईसाई सज्जन स्वामीजी के डेरे पर आए और इधर-उधर ऊँचे स्थानों पर बैठ गये। स्वामीजी के भक्तों ने इसे बुरा मनाया, परन्तु महाराज ने कहा कि

एक के केवल ऊँचे स्थान पर बैठ जाने से दूसरा नीचा नहीं हो जाता। यदि उसी में ऊँचाई हो तो पक्षी भी तो सबसे ऊँचे स्थान पर बैठते हैं। पादरियों के पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि पाप क्षमा नहीं किया जाता।

भागवत शिवालय और शिव-पूजन का भी स्वामीजी ने खण्डन किया। एक ने कहा कि सत्यनारायण की कथा के लिए हम लोग एक रुपये की मनौती मनाते हैं तो कार्य सिद्ध हो जाता है। इसे आप कैसे मिथ्या कहेंगे? महाराज ने कहा कि हम पांच रुपये मनौती मे दिलाते हैं कि लखपति हो जायँ, तो क्या हो जायेंगे?

यहां तिलक का भी युक्ति युक्त खण्डन किया गया।

भोग-विलास के जीवन को स्वामीजी ने अतिदुःखदायक वर्णन करके उसके अनिष्ट के परिणामों के उदाहरण मे एक दुर्बल मनुष्य की ओर संकेत किया और संयम के जीवन के दृष्टान्त में एक पुष्ट व्यक्ति को दिखाकर कहा कि यह गृहस्थ नियम से रहता है, इसलिए हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ है।

स्वामीजी ने लोगों को संध्या-गायत्री, हवन-यज्ञ का बहुत उपदेश दिया, जिससे लोग इन कर्मों के करने में प्रवृत्त भी हो गए। भक्तजन आधी-आधी रात तक सत्संग में बैठे उपदेश श्रवण किया करते थे।

कायमगंज में श्रीमहाराज की रसोई बनाने के लिये एक पहाड़ी ब्राह्मण नियत था। लोग उत्तम पदार्थ उस रसोइए को दे जाते थे कि स्वामीजी को खिला देना। परन्तु वे तो सादा और नियमित भोजन पाते थे, वह सामग्री लोगों को बांट दी जाती थी। महाराज बहुत थोड़ी नींद लिया करते थे।

तेरहवाँ सर्ग

कायमगंज से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी शमसाबाद होते हुए सम्वत् १९२५ के पौष मास के आरम्भ में फरुखाबाद पधारे और लाला जगन्नाथ के विश्रान्त-घाट पर ठहरे। महाराज के यहां पहुँचते ही उनकी कीर्त्ति वायु-वेग से सारे नगर में फैल गई। प्रत्येक श्रेणी के सहस्रों नागर नित्य श्री-सत्संग में आते, प्रश्न पूछते, भ्रम मिटाते और संध्या-गायत्री सीखते थे। लोक-

हित की बातों का भी स्वामीजी उपदेश दिया करते थे। पण्डित विश्वम्भर-दासजी एक दार्शनिक विद्वान् थे। वे स्वामीजी के उपदेशों से मोहित होकर उनके अनुगामी बन गये।

स्वामीजी के समझाने की शैली अत्युत्तम थी। वे बातों के चक्र में डाल कर वादी के ही मुख से उसकी भूल स्वीकार करा लेते थे।

पण्डित गंगारामशास्त्री ने प्रसिद्ध कर दिया कि मैं स्वामीजी से शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त करूंगा। उसने परीक्षा के लिये अपने पुत्र और एक विद्यार्थी को स्वामीजी के निकट भेजा। जब वे दोनों आये तो स्वामीजी महाशय दुर्गाप्रसादजी के पुरोहित को मनुस्मृति पढ़ा रहे थे। आगन्तुक युवकों में से एक ने कहा कि अहंकारी चाण्डाल होता है। जब स्वामीजी अध्ययन करा चुके तो उस विद्यार्थी से पूछने लगे कि तूने क्या कहा था? उसने वही शब्द फिर दुहरा दिये। स्वामीजी ने कहा कि भद्र! तू तो अभी यह भी नहीं जानता कि अहंकार क्या वस्तु है; परन्तु यह तो बताओ कि क्या तुमने ऐसा शब्द कहते हुए अहङ्कार नहीं किया? युवक ने कहा, महानुभावों को तो कदापि नहीं करना चाहिये। फिर स्वामीजी ने कहा कि तुमने अभी शास्त्रानुशीलन नहीं किया। तुम्हारा ज्ञान अति संकुचित है, इसलिये तुम महापुरुषों की गति-मति नहीं जान सकते। महात्माजन मिथ्याभिमान कदापि नहीं करते, परन्तु सच्चा अहङ्कार उनमें अवश्यमेव होता है। अच्छा, मैं तुमसे पूछता हूं कि श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णजी महापुरुष थे कि नहीं? इस पर युवक निरुत्तर होकर अपने साथीसहित वहां से चला गया। इसके पश्चात् गंगाराम ने भी स्वामीजी के सन्मुख आने का साहस न किया।

स्वामीजी ने गंगाराम को गीता का एक श्लोक लिखकर भेजा और कहा कि तुम गीता की कथा कहते हो, यदि इसका ठीक-ठीक अर्थ कर दो तो हम इतने ही में अपनी हार मान लेंगे। परन्तु उस कथक्कड़ से कुछ भी न बन पड़ा।

एक दिन कायमगंजनिवासी पण्डित बलदेवप्रसाद और चौबे परमानन्दजी स्वामीजी के निकट गये। बलदेवप्रसादजी ने हाथ जोड़कर पूछा कि यदि राजादि क्षत्रिय लोग हिंस्र जीवों का वध कर दें तो इस कर्म में पाप क्यों नहीं माना जाता? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हिंस्र जीवों के मारने पर पाप इस लिये नहीं

है कि उनके वध से किसी को कोई हानि नहीं होती। बलदेवप्रसाद ने फिर पूछा कि आपके विचार में पाप क्या है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि इस विषय में मैं पाप हानि को मानता हूं। तदनन्तर यह प्रश्न उठाया गया कि सब तो निकम्मे और वृद्ध मनुष्य के वध में पाप न होना चाहिए। इस पर महाराज ने कहा कि अति वयोवृद्ध और निकम्मे जन के मारने में कृतघ्नता का महादोष है और गाय आदि अत्यन्त उपयोगी पशुओं के हनन में भी कृतघ्नतारूप पाप होता है।

लाला जगन्नाथजी ने पूछा कि महाराज! मनुष्य का कर्तव्य क्या समझा जाय? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि आदर्श प्राप्ति के लिए कर्तव्य कर्म किया जाता है। मनुष्य के आगे आदर्श-प्राप्ति 'परमात्मा की प्राप्ति' करना है, इस लिए इसका कर्तव्य है कि जैसे दयालु ईश्वर सब पर दया करता है, यह भी सब पर दया करे। ईश्वर सत्य स्वरूप है, मनुष्य भी सत्यवादी बने, इस प्रकार ईश्वर के गुणों को अपने में धारण करने का अभ्यास करे और अन्त में परमेश्वर को उपलब्ध करे।

फर्रुखाबाद में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें वहां के रहने वाले 'साधु' कहते हैं। वे सभी काम-धन्धा करके निर्वाह करते हैं और घर-बारी होते हैं। उनके हाथ का बना हुआ भोजन ब्राह्मण-वैश्यादि नहीं खाते। एक दिन ऐसा हुआ कि एक साधु कढ़ी और भात थाल में परस कर बड़ी प्रीति से स्वामीजी के लिए लाया। महाराज ने उस अन्न को प्रसन्नता से ग्रहण कर लिया। परन्तु इस पर ब्राह्मण लोग असंतोष प्रकट करते हुए कहने लगे "स्वामीजी! आप तो साधु का भोजन पाकर भ्रष्ट हो गये। आपको ऐसा करना कदापि उचित न था।"

स्वामीजी ने हंसते हुए कहा "अन्न दो प्रकार से दूषित होता है। एक तो तब जब दूसरे को दुःख देकर प्राप्त किया जाय, और दूसरे जब कोई मलीन वस्तु उस पर अथवा उसमें पड़ जाय। इन लोगों का अन्न परिश्रम के पैसे का है और पवित्र है। इसलिए इसके ग्रहण करने में दोष का लेश भी नहीं है।"

फर्रुखाबाद में भी स्वामीजी ने लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराए। एक पण्डित ने कहा कि शुक्र अस्त हो रहा है, इसलिए ऐसे समय में यज्ञोपवीत धारण कराने का निषेध है। स्वामीजी ने कहा, "जिनका शुक्र अस्त हो गया हो

वे न करायें, परन्तु हमारा तो अस्त नहीं हुआ। इसलिए हम अवश्य करायेंगे।"

लाला जगन्नाथजी के यज्ञोपवीत पर ग्यारह पण्डित प्रतिदिन एक सहस्र गायत्रीजप करने के लिए नियत हुए। यजमान को भी एक सहस्र गायत्री जपने का आदेश था। यजमान से उपवास भी कराए गए। यह जपादि कर्म और बृहद् हवन सब स्वामीजी के निरीक्षण में, उन्हीं के डेरे के स्थान में, ग्यारह दिन तक होता रहा। यज्ञोपवीत नगर में होना था, इसलिए स्वामीजी ने गायत्री मंत्र एक यजुर्वेदी ब्राह्मण को लिख कर कह दिया कि इसका उपदेश दे देना। अति विनय करने पर भी आप नगर में न गये। लाला जगन्नाथ को जनेऊ यद्यपि एक पण्डित ने धारण कराया, परन्तु उन्होंने अपना गुरु श्री स्वामीजी को ही माना।

श्री भीष्म गंगा नदी के पुत्र थे, इसका स्वामीजी ने खण्डन किया। सन्ध्या दो काल ही में करनी चाहिए, इसकी पुष्टि में उन्होंने महाभारत से श्रीकृष्णजी की द्वारका से हस्तिनापुर की यात्रा का प्रसंग निकाल कर दिखाया।

एक दिन तीसरे प्रहर चार पांच मुसलमान स्वामीजी के निकट आकर पूछने लगे कि आपके विचार में परमेश्वर ने श्री मुहम्मद को हमारे लिए भेजा है कि नहीं? स्वामीजी ने उत्तर देते समय उन्हें तीन बार कहा कि 'हमारे कथन से अप्रसन्न न हूजियेगा'। हम तो मुहम्मदजी को अच्छा नहीं समझते हैं। आप लोगों ने भी अच्छा नहीं किया जो उसके अनुयायी बन गए। जब चोटी के बाल कटवा डाले थे तो इतनी लम्बी दाढ़ी रखने से क्या लाभ?

फर्रुखाबाद में स्वामीजी ने नामधारी ब्राह्मणों का खण्डन करते हुए कहा "गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मण होता है"। इस पर नगरवासी ब्राह्मण अति क्षुब्ध और कुपित हो अपने बचाव की चेष्टा करने लगे। उन्होंने मेरठ से हरिगोपाल शास्त्री को बुला कर शास्त्रार्थ के लिए सुसज्जित किया। शास्त्रार्थ के लिए स्वामीजी का द्वार तो सदा खुला ही रहता था। इसलिए पौराणिक लोगों का एक बड़ा दल वहां पहुँच गया। पण्डित पीताम्बरदासजी मध्यस्थ नियत हुए। पूर्वपक्ष स्थापन करते हुए हरिगोपालजी ने कहा, "स्वामीजी!

मूर्ति-पूजा तो सब ग्रन्थों में मिलती है, तो फिर आप उसका खण्डन कैसे करते हैं ?

स्वामीजी ने उनसे पूछा "बताइये किस आर्ष ग्रन्थ में मूर्ति-पूजन का विधान है ?" इस पर शास्त्रीजी ने "देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च" यह मनुवाक्य कहा और इसका अर्थ करते हुए देवता शब्द से प्रतिमा-पूजन बताया।

उत्तर में हरिगोपालजी क पक्ष का खण्डन करते हुए स्वामीजी ने व्युत्पत्ति से, युक्तियों से और प्रकरण-क्रम से यह सिद्ध कर दिया कि यहां मनु महाराज का देवार्चन से तात्पर्य अग्नि-होत्र और विद्वानों का आतिथ्य-सत्कार है। शास्त्रीजी इसके पश्चात् थोड़े समय तक तो इधर-उधर की बातें बनाकर गिर-पड़ा संकट टालते रहे, परन्तु अन्त में भाग जाने के बिना उन्हें बचाव का कोई अन्य मार्ग दिखाई न दिया।

हरिगोपालजी स्वामीजी के पास से तो अपना-सा मुँह लेकर चले आये, परन्तु कुछ नगरवासी ब्राह्मणों को साथ मिलाकर दूसरे प्रकार की प्रवंचना की चोटें चलाने लगे। उन्होंने काशी में पहुंच कर मूर्ति-पूजन की पुष्टि में वहां के पण्डितों की हस्ताक्षरयुक्त व्यवस्था प्राप्त की। फिर फर्रुखाबाद में आकर स्वामीजी के डेरे के निकट एक विस्तृत खुले स्थल में झंडा गाड़ दिया और लोगों को वह व्यवस्था-पत्र सुनाने लगे। वहां सहस्रों मनुष्य एकत्रित हो गये और अत्यन्त कोलाहल मचने लगा। स्वामीजी के समीप भी मनुष्य पर मनुष्य भेजा जाता था कि खुले स्थान में आओ और शास्त्रार्थ करो। परन्तु स्वामीजी उनके कपट-कौशल को भली-भांति जानते थे, इसलिए उन्होंने निरे ऊधम मचाने वालों के मण्डल में जाना उचित न समझा, और बार-बार यही कहला भेजते रहे कि नीचे खड़े गड़बड़ क्यों कर रहे हो ? शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो ऊपर हमारे यहां क्यों नहीं चले आते ? इसके उत्तर में हरिगोपाल कहते थे कि "मैं स्वामी दयानन्द के निवासस्थान पर नहीं जाऊंगा। उसने विश्रान्त को कील रक्खा है। इसलिए वहां जाने से हार अवश्य हो जायेगी।"

इस हल्ले-गुल्ले का समाचार कलेक्टर महाशय को भी मिल गया। उन्होंने कोतवाल को वहां तत्काल पहुंचने की आज्ञा की। आज्ञा पाते ही कोतवाल महाशय सीधे स्वामीजी के स्थान पर पहुंचे और स्वामीजी को बाहर बुलवाया।

महाराज भीतर बैठे थे। वे बाहर नहीं आये। अन्त में लाला जगन्नाथ ने कोतवाल को कहा कि त्यागी संन्यासी को आप चपरासी द्वारा बाहर बुलाते हैं, यह उचित नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि दौड़ते हुए आपके पास चले आयें ?

तत्पश्चात् कोतवाल स्वामीजी के आसन के समीप चला गया और कहने लगा "बाबाजी ! यह क्या बखेड़ा हो रहा है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया "हम तो अपने स्थान पर बैठे हुए हैं। न किसी को कोई कटुवचन कहते हैं और न किसी से झगड़ते हैं। यहां तक कि लोग कु-वचन भी कहते हैं तो भी मौन और शान्त रहते हैं। आप राजकर्मचारी हैं। आपका कर्त्तव्य है कि उनसे जा कर पूछें जो सचमुच बखेड़ा कर रहे हैं।" कोतवाल ने वास्तविक वार्त्ता को समझ कर स्वामीजी के स्थान पर दो सिपाहियों का पहरा नियत कर दिया कि वे किसी क्षुद्राशय, उपद्रवी मनुष्य को वहां न जाने दें।

तदनन्तर कोतवाल महाशय ने पण्डित हरिगोपाल को आहूत किया। कोतवाल का नाम सुनते ही उसके प्राण कांप गये। परन्तु करता क्या ! सामने आना ही पड़ा। कोतवाल ने उसे ऐसा डांटा कि वह मारे डर के नगर ही छोड़ कर चला गया।

हरिगोपाल के किये हुए गोलमाल के दो तीन दिन पश्चात्, उसका साथी ज्वालाप्रसाद मदिरा में चूर, एक कुर्सी लिये स्वामीजी के स्थान पर आया। वहां कुर्सी रख कर उस पर बैठ गया और लगा अनाप-शनाप बकने। उपस्थित जनों ने उसे ऐसा करने से बहुतेरा रोका, परन्तु वह गालीप्रदान से न रुका। मणिलाल आदि स्वामीजी के सेवक अपने आवेश को न थाम सके। स्वामीजी यह कहते ही रहे कि 'यह उन्मत्त है, इसे कुछ न कहो' परन्तु उन्होंने उस उद्दण्ड मनुष्य को पकड़ कर बहुत पीटा और उसकी कुर्सी वहीं जला दी।

अगले दिन लाला जगन्नाथ स्वामीजी के पास आये। वृत्तान्त ज्ञात होने पर कहने लगे, "स्वामीजी ! यदि वह दुष्ट राजद्वार में जा कर आपके सेवकों पर मार-पीट का अभियोग चलावे और आपको वहाँ साक्षी देने के लिए बुलावें तब आप क्या कहेंगे ?" स्वामीजी ने कहा, "कोई मिथ्या कथन थोड़े ही करेंगे ! जो कुछ हुआ है वह सब कह देंगे।"

उसी ज्वालाप्रसाद का सम्बन्धी ठाकुरदास भी बीस पचीस मनुष्य लेकर स्वामीजी को मारने आया, परन्तु महाराज के सामर्थ्य से और पकड़े जाने के भय से पीछे भाग गया। दुष्ट जनों के आक्रमण का वृत्तान्त सुनकर लाला जगन्नाथजी कुछ मनुष्यों सहित तुरन्त विश्रान्त में पहुंच गये, परन्तु उनके आने से पूर्व ही उपद्रवी लोग वहाँ से चले गये थे।

उस समय लाला जगन्नाथ ने श्री-चरणों में विनती की, "क्षुद्र लोग आपके अमूल्य जीवन को लेने के लिए बार-बार आक्रमण करने लगे हैं, इसलिए आप हमारे भीतर के स्थान में चलकर रहना स्वीकार कीजिए।" स्वामीजी ने कहा, "महाराज जी ! यहाँ तो इस प्रकार मेरी आप रक्षा कर लेंगे, परन्तु अन्यत्र कौन करेगा ? मेरी रक्षा तो सर्वत्र परमात्मदेव ही करते हैं। इसीलिए मैं सर्वथा निर्भय हूं।"

विश्रान्तिस्थान में एक दिन सहस्रों मनुष्य महाराज का उपदेश सुनने के लिए एकत्रित हो रहे थे। उस समय एक पण्डित ने खड़े होकर मूर्ति-पूजन पर प्रश्न करना आरम्भ कर दिया। महाराज भी उसे सन्तोषजनक उत्तर देने लगे। बीच में काली के उपासक, मद्य में मत्त, एक ब्राह्मण ने उठकर कुवचन बोलते हुए महाराज पर जूता फेंका। जूता स्वामीजी तक न पहुंचकर बीच में ही गिर पड़ा। परन्तु इससे सत्संग में बैठे हुए सत्यनामिये साधुओं की आँखों में लहू उतर आया। उन्होंने तुरन्त ही उस नराधम को पकड़ लिया और लगे पीटने। उसको पिटते देख स्वामीजी को अति अनुकम्पा आ गई। महाराज ने साधुओं को समझाया, "इसकी चेष्टा से हमें कोई दुःख नहीं हुआ; और यदि जूता लग भी जाता तो भी कौन सा रामबाण था ? इसने जो कुछ किया है अज्ञान और सुरा के वशीभूत होकर किया है। इसलिए इस पर दया करो, इसे छोड़ दो।" तब साधुओं ने उसे छोड़ दिया। ये सत्य-नामी साधु स्वामीजी के बड़े प्रेमी थे; उनकी सहायता में सदा तत्पर रहते थे।

उन दिनों में वहाँ के सम्पत्तिशाली लोग प्रायः हाथ में दो-चार ऐसे उद्दण्ड लठैत रखते थे, जो समय पड़ने पर काम आयें। ऐसे मनुष्यों से प्रायः मार-पीट का काम लिया जाता था। बहुत से उपद्रवियों ने एक प्रसिद्ध महाबली गुण्डे को स्वमीजी को पीटने के लिए समुद्यत किया। उसने पुष्कल द्रव्य लेकर

उनको वचन दिया कि मैं लाठियों से दयानन्द की ऐसी गत बनाऊंगा कि यदि किसी प्रकार वह जीता भी बच गया तो शास्त्रार्थ करने के योग्य तो कदापि न रहेगा।

एक दिन वह उद्दण्ड व्यक्ति समय ताक कर स्वामी-स्थान में प्रविष्ट हुआ। स्वामीजी ने भी देखा कि सामने से एक हट्टा-कट्टा बलवान् व्यक्ति, एक मोटा लट्ठ उठाये, झूमता हुआ सीधा चला आता है। समीप आकर उस उद्दण्ड मनुष्य ने कहा कि बाबा! क्या तुम मूर्ति को ईश्वर नहीं मानते हो? स्वामीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया कि भद्र! तुम जानते हो ईश्वर का स्वरूप क्या है? वह बोला कि हां मैं जानता हूं। स्वामीजी ने कहा कि फिर बताइए तो। वह बोला कि ईश्वर सच्चिदानन्द है, सर्वशक्तिमान् है, भक्त-वत्सल दयालु देव है और सर्वत्र परिपूर्ण है। तब स्वामीजी ने किंचित् हंसकर कहा कि ईश्वर के जो गुण तुमने कथन किये हैं वे सब सत्य हैं। तुम्हारी इस समझ की मैं प्रशंसा करता हूं। परन्तु अब तुम ही इन वर्णित ईश्वरीय गुणों को मन्दिर की मूर्तियों के गुणों के साथ मिलाओ। यदि वे मिल गए तो मैं तुम्हारा साथी बन जाऊंगा, और यदि न मिले तो तुम्हें भी वही मानना चाहिए जिसकी साक्षी तुम्हारा आत्मा देता है।

समझाने के इस ढंग से उसका चित्त पिघल गया और वह लट्ठ को फेंक कर श्रीचरण-शरण में गिर पड़ा। उस दिन से उसकी काया पलट गई। वह सारे बुरे कर्मों को त्याग कर धीरे-धीरे साधु-स्वभाव और सदाचारी बन गया।

पण्डित हरिगोपाल के परास्त हो जाने से कुछ पौराणिक भक्त लज्जित-से थे, इसलिए लाला प्रेमदास आदि ने हलधर ओझा को कानपुर से मंगवाया। उसके आने पर प्रसिद्ध किया गया कि कोई पता लगाए तो शास्त्रार्थ हो सकता है। यह बात लाला जगन्नाथ तक भी पहुंच गई। उन्होंने झटपट ढाई सहस्र रुपये एक ब्राह्मण के हाथ लाला देवीदास के पास भिजवाकर कहलवाया कि इतने ही रुपये आप अपने पास से डाल कर किसी सेठ के पास रख दीजिए। शास्त्रार्थ में यदि स्वामीजी विजयी हुए तो रुपये मैं ले लूंगा और यदि हलधर की विजय हुई तो आप ले लीजिएगा। देवीदास ने रुपये पीछे लौटा दिये कि पण्डित हलधर मैथिल कानपुर से आये हुए थे। हमने उन्हें यहाँ इसलिए बुलाया है कि स्वामीजी के स्थान पर ले जा कर बातचीत करायेंगे।

ज्येष्ठ सुदी १० सम्वत् १९२६ को रात के ६ बजे लाला देवीदासजी आदि मित्रों और अनेक पण्डितों के साथ हलधर ओझा स्वामीजी के स्थान पर आये। लाला जगन्नाथ ने आगे जाकर उनके आगमन का समाचार स्वामीजी को दिया। अतिथियों के आने पर महाराज ने उनको यथायोग्य सत्कार से उचित स्थान पर बैठाया। शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति-पूजन था; परन्तु हलधर थे पक्के तांत्रिक, इसलिए उन्होंने आरम्भ में ही सुरापान पर बातचीत चला दी। मदिरापान करना चाहिए, इस पक्ष की स्थापना में उन्होंने "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्" यज्ञों में मदिरापान करे, यह प्रमाण उपस्थित किया।

स्वामीजी ने हलधर के पक्ष में दोष प्रदर्शित करते हुए कहा कि वहाँ यज्ञ में मदिरा-पान का विधान नहीं है, किन्तु सोमलता के रस से तात्पर्य है।

फिर हलधर ने स्वामीजी से संन्यासी के लक्षण पूछे। उन्होंने संन्यासी के लक्षण बताते हुए हलधर को कहा कि आप ब्राह्मण के लक्षण बताइये। इसका उत्तर तो उसने कुछ न दिया, परन्तु गड़बड़ करने लग गया। इसपर महाराज ने उसे कहा कि प्रकरण से बाहर न जाइये, विषय पर ही बोलिए।

हलधर बचना तो चाहता ही था, इसलिए वह तुरन्त कह उठा कि आप बार-बार प्रकरण शब्द का उच्चारण करते हैं, भला यह तो बताइए कि यह शब्द बनता कैसे है? महाराज ने कहा प्र पूर्वक 'कृ' धातु से 'ल्युट्' करने पर प्रकरण शब्द सिद्ध होता है। तब हलधर बोला—"कृ धातु समर्थ है वा असमर्थ?" स्वामीजी ने कहा, "वह समर्थ है"। फिर उसने पूछा—"अच्छा तो यह बताइए, 'समर्थ' किसे कहते हैं?" इस पर स्वामीजी ने वहां भाष्य का एक वाक्य बोल कर कहा, "अपेक्षा करने वाले को असमर्थ कहते हैं।" उसने कहा कि यह वाक्य आपकी संस्कृत है, महाभाष्य का नहीं। स्वामीजी की आज्ञा से पण्डित व्रज-किशोरजी ने महाभाष्य निकाल कर दूसरे अध्याय के प्रथमाह्निक में वह वाक्य दिखा दिया। उस पर उसने कहा कि मैं इसे प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि मैं भी महाभाष्य के कर्त्ता से कुछ न्यून विद्वान् नहीं हूँ, मेरी विद्या भी उसके समान ही है। तब स्वामीजी ने कहा, "तुम महाभाष्य के कर्त्ता के सामने तुच्छ हो।"

इस प्रकार रात के एक बजे तक वाद होता रहा। अन्त में उठते समय यह निश्चित हुआ कि "समर्थः पदविधिः" सूत्र यदि सर्वत्र लगे तो स्वामीजी की

जय समझी जाय, और यदि यह सूत्र एक स्थान पर लगे तो हलधर की।

दूसरे दिन लाला जगन्नाथ और लाला मणिलालजी स्वामीजी के समीप आकर विनय करने लगे कि रात को जाते समय सारे पण्डित कह रहे थे कि हलधर का पक्ष सत्य था, स्वामीजी व्यर्थ ही हठ करते हैं, सो यदि वह सूत्र सर्वत्र न लगता हो तो यथा-तथा करके वाद-विवाद का बखेड़ा टाल दिया जाय। स्वामीजी अपने प्रेमियों को स्वपक्ष का परिचय देते हुए कहने लगे कि यदि आप उसे न लावें तो आपको गोहत्या का पाप लगेगा और यदि वह न आया तो वह भी गोहत्या के पाप का भागी बनेगा।

दूसरी रात फिर सभा लगी। महाराज भी आकर चटाई पर विराजमान हुए। प्रथम रात्रि में जो प्रतिज्ञा हुई थी उसकी महाराज ने उद्घोषणा की। और तो सबने उसका समर्थन किया, परन्तु हलधरजी मौन बैठे रहे। कुछ लोग उपद्रव भी करना चाहते थे, परन्तु उनको कह दिया गया गया कि यदि किसी ने कुछ भी गड़बड़ की तो उसे तुरन्त यहाँ से निकाल दिया जायगा। इससे शान्ति स्थापित हो गई।

श्रीमहाराज ने हलधर को हँसते हुए कहा कि हलधर ! हम तो संन्यासी हैं, यदि हार गये तो कोई बात नहीं। परन्तु आप घरबारी गृहस्थ हैं; पराजय होने पर आपकी बड़ी भारी हानि होगी। किन्तु हलधर यही कहता था कि मैं हारूंगा क्यों ? मेरा तो पक्ष सर्वथा सत्य है।

रात चाँदनी थी, इसलिए पहले दीपक का प्रबन्ध नहीं किया गया था। महाराज ने बजकिशोरजी को पुकारकर कहा कि दीपक और महाभाष्य की पुस्तक ले आइए। वे तत्काल दोनों वस्तुयें लेकर श्री-सेवा में उपस्थित हो गये। महाराज ने महाभाष्य खोल कर उस सूत्र को सर्वत्र लगाकर दिखाया। यह देख कर हलधर चुप हो गया।

कुछ पण्डित बीच में दूसरी बात छेड़ना चाहते थे, परन्तु स्वामीजी ने बल-पूर्वक कहा कि प्रथम इसका निर्णय कीजिए कि जय किसकी हुई। एक बार तो सारे पण्डित शून्य-से हो गये। परन्तु लाला जगन्नाथ के यह कहने पर कि आप सत्य-सत्य कहने से क्यों झिझकते हैं, सब ने एकवाक्य हो कर कह दिया कि गत दिन के निश्चयानुसार आज हलधरजी की प्रतिज्ञा अशुद्ध सिद्ध हो गई।

पण्डितों के व्यवस्था-वचन हलधर के कानों पर वज्र समान गिरे। उसका हृदय चूर-चूर हो गया। मान मर्दित और घमण्ड खण्ड-खण्ड होकर उसकी गौरव-गरिमा मिट्टी में मिल गई। उसने इस पराजयजन्य धक्के को यहाँ तक अनुभव किया कि मूर्छा खाकर गिरने लगा। परन्तु लोगों ने उसे थाम लिया और वे वहाँ से उठाकर ले गये। उस दिन वहाँ जन-संघट्ट भी अत्यधिक था। स्वामीजी की विजय से सारा जन-समूह चकित हो गया। उनके पाण्डित्य का गौरव सब पर छा गया। उनकी धाराप्रवाह संस्कृत, चमत्कारिणी बुद्धि, तात्कालिक उपज और अकाट्य युक्तियाँ सब को प्रभावित किये हुए थीं। उस समय प्रत्येक पुरुष की हृदयतन्त्री के तार, सुर मिलाकर, परमहंस श्रीदयानन्द के जयकार की झंकार कर रहे थे।

मूर्छित हलधर को उठा ले जाने के पश्चात् प्रेमपूर्वक ज्ञान-चर्चा करते हुए सवेरा हो गया। तब सभागत सज्जन स्वामीजी को नमस्कार कर श्री-सत्संग से विदा हुए और स्नानादि करके अपने घरों को चले गये।

उस समय वेश्याओं का रखना, समृद्ध लोगों में बड़ाई का एक अंग समझा जाता था। इसमें लोक-लाज और जाति-बिरादरी का किंचित् भी भय न होता था। मान्य और धनी लोग खुलम-खुल्ला वेश्यायें लिये डोलते थे और कोई किन्तु-परन्तु तक न करता था। स्वामी दयानन्दजी महाराज ने इस सर्वनाशी कु-व्यसन का घोर खण्डन आरम्भ कर दिया। महाराज के दृष्टान्तों से, युक्तियों से और समझाने की शैली से युवक और परिपक्व आयु के जन इतने प्रभावित हो जाते थे कि बरसों के व्यसनी भी इस कर्म को त्यागने लग गये, इस नीचता के कीच से निकल कर पार पा गये। लोगों में इस दुर्व्यसन के लिए घृणा का भाव उत्पन्न हो गया। सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया कि वेश्याओं के विकट जाल में फँसने से बचाने के लिए, उनके दाँव-पेच से निकालने के लिए महात्मा दयानन्दजी के उपदेश मोहिनी मन्त्र हैं।

सेठ पन्नालालजी स्वामीजी के एक श्रद्धालु भक्त थे। उनको एक प्रतिष्ठित पुरुष ने कहा कि यदि आप मेरे लड़के को स्वामीजी से सुधरवा दें तो मैं आपका बड़ा भारी उपकार मानूंगा। इससे मेरे वंश को बचा लोगे।

यह युवक बहुत बिगड़ा हुआ था। अपने घर की भूमिहारी की कुछ भी सार-सम्भाल न किया करता था। प्रतिदिन वाराङ्गनाओं के साथ उद्यान-विहार के लिए जाता और रात-दिन उन्हीं के यहाँ पड़ा रहता था।

पन्नालालजी ने उस युवक की दशा का श्रीगुरु-चरणों में वर्णन करके उसके सुधारने की विनय की। महाराज ने कहा कि यदि आप उसे एक बार मेरे निकट ले आयें तो मैं उसका पाप-कर्म छुड़ा दूंगा। पन्नालालजी ने घर जाकर दो सुशील युवकों को बुलाया और कहा कि किसी प्रकार उस कु-व्यसनी युवक को समझा-बुझाकर स्वामीजी के पास ले चलो। वे सुशील कुमार पहिले भी उसके अच्छे परिचित थे। इसलिए दो तीन दिन ही के मेल-मिलाप से परस्पर प्रेम-बद्ध हो गये। समय पाने पर वे युवक उस कु-व्यसन-ग्रस्त युवक को स्वामीजी के दर्शन करने की बार-बार प्रेरणा करते थे और कहते थे कि स्वामीजी बड़े त्यागी परमहंस हैं, न किसी से कुछ लेते हैं और न झगड़ते हैं, अति शान्त स्वरूप हैं। उनके वचनों में बड़ा माधुर्य है। उनकी युक्तियों में बड़ा रस है। ऐसा साधु संन्यासी हमारे नगर में पहले कभी नहीं आया।

जैसे चम्पा के पुष्पों के संसर्ग से तेल में भी सुगंधि का संचार हो जाता है, ऐसे ही उस व्यसनी युवक का हृदय उन सुशील कुमारों के सत्संग से स्वामी-श्रद्धा की सुगंधि से सुवासित हो गया। एक दिन तीनों युवक स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और विनीतता से नमस्कार करके बैठ गये।

महाराज अपने प्रेम-भरे नेत्रों की पवित्र ज्योति से युवकों के मुखमण्डलों को उज्वल करते हुए उपदेश देने लगे, "सौम्य युवको! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं, परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की बान सहज में पड़ जाती है। सभ्य वेष, सभ्य भाषा, सभ्याचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। कुलाचार पर कठोर कुठाराघात हो जाता है। रात-दिन राग-रङ्ग में मग्न रहने से व्यवहार-बुद्धि का अभाव होने लगता है। ऐसा व्यसनी धर्म्म-कर्म्म से सदा दूर भागता है। वाराङ्गना अपने वशीभूत जन के मन को कृत्रिम प्रेम से, बनावटी बातों से और हाव-भाव से सदा उत्तेजित रखती है, जिससे व्यसनी लोग अल्पकाल ही में निस्तेज और जीर्ण-शीर्ण-शरीर

हो जाते हैं। वेश्या का प्रेम स्वार्थपूर्ण होता है। जब तक सिद्धि नहीं होती तो यह बात तक नहीं पूछती।"

"वेश्यासक्त के परिवार में आचार की शुद्धि नहीं रहती। उसका वंश नष्ट हो जाता है। यदि वंश नष्ट न भी हो, तो भी उसकी सन्तान का सदाचारी होना महाकठिन है।"

महाराज ने फिर कहा, "युवको! भला यह तो बताओ कि वेश्यासक्ति से यदि लड़की उत्पन्न हो तो वह लड़की किसकी हुई?" युवकों ने कहा, "उस वेश्यासक्त पुरुष की।" तब स्वामीजी ने पूछा कि "वह युवती होकर क्या काम करेगी?" युवक बोला, "और क्या करेगी? वेश्या बनकर बाज़ार में बैठेगी।" तब स्वामीजी ने मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा, "देखिए, संसार में कोई भी भला मनुष्य नहीं चाहता कि उसकी पुत्री वेश्या बनकर बाज़ार में बैठे, परन्तु वेश्या के अनुरक्त जन ही ऐसे हैं जो अपनी बेटियों को वेश्या बनाते हैं, चकले में बैठाते हैं, और द्वार-द्वार पर नचाते हैं। तुम ही सोचो कि क्या यह बहुत बुरी बात नहीं है?"

यह उपदेश सुनकर कु-व्यसनी युवक के रोंगटे खड़े हो गये। उसका अन्तःकरण पाप-कर्म से काँप उठा। उसके सारे शरीर में सनसनी छा गई और उसने भी अपने साथियों-सहित यह कहा कि स्वामीजी! आपका कथन सत्य है। वास्तव में वेश्या-प्रेम एक घृणित नीच कर्म है। उस व्यसनी युवक ने स्वामीजी के चरण छूकर वहीं यह प्रण किया कि आज से मैं वेश्याओं के समीप नहीं जाऊंगा, और जो रक्खी हुई हैं उनका अब परित्याग करता हूं।

भगवान् दयानन्द ने उसे साधुवाद सहित आशीर्वाद दिया और कहा कि सौम्य! ईश्वरकृपा से तेरा जीवन पवित्र हो, तेरी इस समय की बुद्धि सदा बनी रहे।

उस युवक ने फिर श्रीपदपद्म को स्पर्श करके अपने नये जीवन-दाता को नमस्कार किया और साथियों-सहित अपने घर को चला आया। पीछे से वह युवक स्वामीजी का एक भावनावान् शिष्य बन गया और उनके स्थानीय तथा प्रान्तीय कार्यों में बड़ी सहायता देता रहा।

एक दिन स्वामीजी के व्याख्यान में बहुत-सी वेश्यायें भी यह देखने गई थीं कि यह कौन ऐसा मनुष्य है जो हमारे पिंजड़े में से पखेरुओं को निकाल, हमारी आजीविका का सत्यानाश कर रहा है।

स्वामीजी के विषय में यह प्रसिद्ध था कि वे पूर्ण योगी हैं और सम्पूर्ण आध्यात्मिक तत्त्वों को जानते हैं। सारी रात समाधि में लीन रहते हैं।

एक दिन गढ़ी के नवाब ने पूछा कि क्या महाराज! कोई ऐसी विद्या भी है जिससे दूर स्थान के समाचार का ज्ञान हो सके? स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि योगीजन ऐसी गुप्त बातों के जानने की इच्छा नहीं करते। उनका मुख्योद्देश्य तो सब वस्तुओं से गुप्त ब्रह्म-सत्ता को जानना है। इस उत्तर से नवाब महाशय को अति सन्तोष प्राप्त हुआ।

फर्रुखाबाद में लाला वंशीलालजी एक प्रतिष्ठित पुरुष थे। उन्होंने एक शिवालय बनवाया था और उसमें शिव-प्रतिमा स्थापित करने को ही थे कि स्वामीजी के उपदेश सुनकर उनका निश्चय बदल गया। मूर्ति-पूजन उन्हें वेद-विरुद्ध कर्म दिखाई देने लगा। उधर श्री स्वामीजी पाठशाला की स्थापना करने का यत्न कर रहे थे। वंशीलालजी ने स्वामीजी से विनय करके वहीं, शिवालय के स्थान पर, पाठशाला स्थापित करा दी।

उस पाठशाला में पचास के लगभग विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। सभी अष्टाध्यायी पढ़ने लगे। स्वामीजी ने महाशय दुर्गाप्रसादजी को धर्म्म-कर्म्म का पवित्र जीवन प्रदान किया था, इसलिए वे गुरु महाराज के कार्य में पूरे सहायक थे। विद्यार्थियों के भोजन और वस्त्रों की व्यवस्था वे ही करते थे। पण्डित व्रजकिशोर अध्यापक नियत किए गए। उनके ३०) तीस रुपए मासिक वेतन का भार लाला पन्नालालजी ने अपने ऊपर ले लिया। स्वामीजी ने वहीं जर्मनी से वेद मंगाये थे।

एक दिन स्वामीजी गङ्गा में पाँव फैलाये पड़े थे। कुछ लड़कों ने उन्हें देख कर परस्पर कहा कि देखो, यह कितना मोटा मनुष्य है। वे गीले रेत के गोले बना-बना कर स्वामीजी पर मारने लगे। महाराज बहुत देर तक तो उन अबोध बालकों के क्रीड़ास्थल बने रहे, परन्तु जब बालूकण आँखों में पड़ने लगे तो उस स्थान से उठकर चले गये।

एक दिनका वर्णन है कि स्वामीजी के बल की चर्चा सुनकर बहुत-से मल्ल उन्हें देखने आये। उस समय स्वामीजी स्नान करके आ ही रहे थे। महाराज ने अपने दाहिने हाथ से कोपीन को पकड़कर बलपूर्वक निचोड़ डाला और फिर उन मल्लों को कहा कि यदि आप में से किसी को अपने बल का अभिमान हो तो वह इस कोपीन में से पानी की एक भी बूंद निकाल कर दिखाये। उन सब ने एक-एक करके बल लगाया। वे दोनों हाथों से दबा-दबा कर थक गये, परन्तु पानी की एक बूंद भी न निकाल सके।

महाराज में क्षमा अपार थी। दूसरा कोई उनका कितना ही अपकार करता, उनको कितना ही कटु-वचन कहता, पर वे सब भुला देते थे। ऐसी बातों की गाँठ उनके चित्त में कभी नहीं पड़ती थी।

स्वामीजी एक दिन प्रातःकाल घूमने जा रहे थे। मार्ग में एक मनुष्य ने उन्हें बहुत ही कु-वचन कहे। उसने यह भी कहा कि तू ईसाइयों का नौकर है। हमें कृस्तान बनाना चाहता है। महाराज उसकी अज्ञान-लीला पर मुस्कराते ही रहे और घूमकर अपने आसन पर आ विराजे।

वही गाली देने वाला मनुष्य यह सोचकर कि अब दयानन्द को उसके स्थान पर जाकर चिढ़ायें, महाराज के समीप आया। स्वामीजी ने उसका 'आइये, बैठिये' इत्यादि शब्दों से स्वागत किया और मधुर वचनों से उसके वहाँ आने का कारण पूछा। वह मनुष्य यद्यपि हृदय पाषाण समान कठोर रखता था, स्वामीजी को सताने आया था; परन्तु उनके कृपाभाव से, वीतराग स्वभाव से, सुजनता के बर्ताव से उसका मन मोम होगया; पश्चात्ताप के उद्वेग से उसका जी भर आया। श्री-चरणों को अपने अनर्गल अश्रुओं से सिंचन करके क्षमा की याचना करने लगा। स्वामीजी ने उसे ढाढस बँधाया और कहा—"शब्द आकाश में उत्पन्न होकर वहीं लय होजाता है, इसलिए तुम्हारे वे वचन भी नष्ट हो गये हैं। वे मेरे पास नहीं हैं। उन्होंने मुझे स्पर्श नहीं किया। इसी कारण उनसे मुझे यत्किंचित् भी दुःख नहीं हुआ।"

स्वामीजी के आने से पूर्व वहाँ के युवक एक बड़ी संख्या में ईसाई होने लगे थे। परन्तु जब स्वामीजी ने आकर ईसाई धर्म के भी दोष प्रदर्शित किये तो वे युवक प्रभावित हो गये। उन्होंने पादरियों को कह दिया कि अब हमको के आ

धर्म्म में कोई ऐसी विशेषता नहीं दिखाई देती जिसके लिये हम अपने पुरातन धर्म्म का परित्याग करें। इस प्रकार आर्य जाति के युवकों के ईसाई होने से बच जाने से—जाति के अङ्गों के न टूटने से—विचारवान् लोग स्वामीजी की स्थान-स्थान पर प्रशंसा करते थे। परन्तु कुछ ऐसे स्वार्थ-सिन्धु भी विद्यमान थे जिनका धर्म्म-कर्म पेटपूजा से परे न था! उन्होंने अपनी यह नीति बना रक्खी थी कि जैसे भी हो, आदर्श संस्कारक दयानन्द को लोगों की दृष्टि में गिराया जाय। वे सर्वत्र कहते फिरते थे कि यह ईसाई है, ईसाइयों का नौकर है। संन्यासी का वेष धारण करके लोगों को किरानी बनाने का यत्न कर रहा है।

अनेक भद्र पुरुष स्वामीजी के दर्शनों से इस कारण भी वञ्चित रहे कि वे उन पेटू पुरोहितों की कोरी कपट-लीला को नहीं समझ सके।

एक सरवरिया धुरन्धर पण्डित उन्हीं दिनों फरुखाबाद में आया था। उसको वहाँ एक पण्डित ने कहा कि बहुत लोग दयानन्द को ईसाइयों का मनुष्य कहते हैं। चलो, किसी समय उसके पास चलें और इस बात का पूरा पता लगायें। वे दोनों रात के दो बजे स्वामीजी के समीप पहुँचे। महाराज उस समय आसन लगाये बैठे थे। शिष्टाचार के पश्चात् सरयूपारी पण्डित ने स्वामीजी से अनेक श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक प्रश्न पूछे। उनका उत्तर पाकर वह परम तृप्त होगया। चलते समय श्रीचरणस्पर्श करके कहने लगा, "भगवन्! हमने सुना तो यह था कि आप कपटवेषी, प्रच्छन्न ईसाई हैं, परन्तु दर्शनों से पता लगा कि आप एक धर्म्मावतार हैं।" अगले दिन उस ब्राह्मणवर्य्य ने सर्वसाधारण को कहना आरम्भ कर दिया, "श्री दयानन्दजी ऐसा दूसरा पण्डित भारत भर में नहीं है। उन्होंने मुझे ऐसे शास्त्रीय रहस्य बताये हैं कि जो मैंने पहिले कभी नहीं सुने थे। उनका कथन स [illegible] में सत्य है।"

चौदहवाँ सर्ग

फरुखाबाद से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी श्री शृङ्गी रामपुर में दो दिन ठहरे, और फिर वहाँ से जलालाबाद पधारे। वहाँ पहले तो आप एक उजड़े उद्यान में ठहरे, परन्तु जब गयाप्रसाद शुक्ल को पता लगा तो वे बड़ी विनय से उन्हें सरनदास उदासी की कुटिया में ले गये। बिछौने के लिए बहुत

कहा गया परन्तु महाराज ने स्वीकार न किया। सोते समय ईंटों का ही सिरहाना बना कर सो गये।

आषाढ़ बदी सं० १६२६ के अन्त में स्वामीजी कन्नौज आ गये। यहां हरिश्चन्द्र नाम का एक प्रसिद्ध पण्डित था। वह स्वामीजी के साथ महाभाष्य आदि व्याकरण-ग्रन्थों के विषयों पर वार्तालाप करने लगा। स्वामीजी प्रमाण में ग्रन्थों के स्थलों के पते इस प्रकार देते कि सुनने वाले पण्डित उनकी स्मृति की प्रशंसा करने लग जाते थे।

महाराज ने हरिश्चन्द्र को पञ्चयज्ञों के करने का भी उपदेश किया। हरिश्चन्द्र ने कहा कि मूर्ति-पूजा करना सदाचार है। स्वामीजी ने इसका खण्डन करके बताया कि पञ्च महायज्ञों का करना ही सदाचार है, प्रतिमा-पूजन को ये लोग सदाचार कहने लग गये हैं जिनसे बलिवैश्वदेव नहीं होता।

उपहास-रस में स्वामीजी ने हरिश्चन्द्र को यह भी कहा कि आपका नाम अच्छा नहीं है। देखिए, हरि के दो अर्थ होते हैं—एक वानर और दूसरा चोर। यहां के लोग नाम तक रखना नहीं जानते।

एक दूसरे ब्राह्मण का नाम गयादीन था। स्वामीजी ने उसे भी कहा कि आपका नाम भूंडा और भद्दा-सा है। भला जिसका दीन (धर्म) चला गया उसका शेष रहा ही क्या? उस समय महाराज ने आर्य नाम रखने की रीति का एक अत्युत्तम उपदेश दिया।

रामप्रसादजी के पूछने पर महाराज ने कहा कि कायस्थ वैश्य हैं। अपने को चित्रगुप्त का वंशीय बताते हैं। और गुप्त शब्द वैश्य लोगों के लिये ही उपयुक्त होता है। परन्तु आजकल ये लोग अधिकांश मांसमदिरा का सेवन करने लग गये हैं। इसे छोड़ दें तो फिर उत्तरोत्तर उन्नत हो सकते हैं।

कन्नौज में भी एक तुच्छ प्रकृति का मनुष्य श्रीचरणों का अनिष्ट-चिन्तन करता रहा, उनके हनन करने की डींग मारता रहा, परन्तु उसे कभी उनके पास तक जाने का साहस न हुआ।

वर्षाऋतु के आरम्भ में श्री स्वामीजी महाराज कानपुर में सुशोभित हुए। भैरव के मन्दिर के निकट, गङ्गा के तट पर, दरगाहीलाल की विश्रान्त में ठहरे। उनका आतिथ्य प्रायः पण्डित हृदयनारायण जी करते थे।

स्वामीजी ने इस नगर में आते ही उपदेश देना आरम्भ कर दिया और स्थान-स्थान पर विज्ञापन लगवा लोगों को सत्य की खोज के लिये उत्तेजित किया। यह विज्ञापन संस्कृत भाषा में था। महाराज ने चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग, श्वेताश्वतर और कैवल्यसहित दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, कात्यायनादि सूत्र, योगभाष्य, वाकोवाक्य, मनुस्मृति और महाभारत—ये ग्रन्थ प्रमाण रूप से स्वीकार किये। इनमें भी जो वेद से भिन्न ग्रन्थ हैं, यदि उनमें कोई वेद-विरुद्ध बात पाई जाय तो वह भी अप्रमाण माननी चाहिये, यह प्रकाशित कर दिया।

महाराज ने उस विज्ञापन में पुराण आदि आठ गप्पों का खण्डन और निम्नलिखित आठ सत्यों का मण्डन किया:—

१. ऋग्वेद से महाभारत पर्यन्त परमेश्वर और ऋषि प्रणीत ग्रन्थ सत्य हैं।

२. ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु-सेवापूर्वक अपने धर्म-अनुष्ठान निभाते हुये वेदाध्ययन करना चाहिए।

३. वेदोक्त वर्णाश्रम का धर्म्म और सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि कर्म करने उचित हैं।

४. जैसा धर्म्मशास्त्र में ऋतुकाल आदि के नियमों से गृहस्थ-धर्म लिखा है उसके अनुसार चलना। पञ्च महायज्ञों और श्रौत-स्मार्त कर्मों का करना कर्त्तव्य है।

५. शम, दम, तपश्चरण का धारण, यम आदि से समाधिपर्यन्त उपासना का करना और सत्संगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान करना विधिविहित है।

६. विचार, विवेक, वैराग्य, पराविद्या का अभ्यास करना और संन्यास ग्रहण करके सकल कर्मों के फल की वांछा को छोड़ देना उचित है।

७. जन्म-मरण, हर्ष-शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह और संग-दोष ये सब अनर्थकारी हैं, इसलिए इन्हें त्यागना शुभ है।

८. अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश रूप क्लेशों से तमस्-रजस्-सत्त्व गुणों से निवृत्ति पाकर पंचमहाभूतों से अतीत मोक्षरूप स्वराज्य को प्राप्त करना परम लक्ष्य है।

स्वामीजी के उपदेशों से, उनके विज्ञापन में छिपे हुए श्राठ गप्पों के खण्डन से, नया पुराना सारा कानपुर एक प्रकार से चलायमान हो गया। श्रद्धालु लोगों में उत्साह से, नये सुधार से, आवेश था; और विरोधीजन ईर्ष्या-द्वेष के आवेश में आपे से बाहर हो रहे थे। उस समय विरोधियों के शिरोमणि महानन्द सरस्वती बने हुए थे। वह स्थान-स्थान पर इस बात का प्रचार करते फिरते थे कि दयानन्द के पास नहीं जाना चाहिये। उसका तो मुख देखना भी पातक है। वह नास्तिक है, देव-निन्दक है, कृस्तान है, और धर्म भ्रष्ट करने आया है। उसे भैरवघाट से निकाल देना चाहिये। महानन्द कुछ पण्डितों को साथ लेकर एक दिन स्वामीजी के पास गया भी, परन्तु गालीप्रदान करके चला आया।

महानन्द तो अपनी प्रकृति के कारण ही स्वामीजी के विरुद्ध उधार खाये बैठा था; परन्तु दो बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति, प्रयागनारायण और गुरुप्रसाद, भी स्वामीजी के प्रतिपक्ष में खड़े हो गये। इसका कारण यह था कि इन दोनों ने कैलाश और वैकुण्ठ नाम के दो मन्दिर बनवाये थे। जब वे दोनों महाशय स्वामीजी को मिले तो उन्होंने उपदेश किया कि "आपने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर खड़े किये हैं, परन्तु यह तो बताइए इससे लाभ क्या हुआ है? अनधिकारियों को खिला-पिला कर, ईंट-पत्थर में व्यय करके आपने इतना रुपया यों ही खो दिया है। क्या ही अच्छा होता यदि यह द्रव्य जाति और देश के भले में लगता, मनुष्यमात्र के हितकर कार्य में व्यय होता! तीस-तीस वर्ष की बड़ी लड़कियां, बिना ब्याही कनौजियों के घरों में बैठी हैं। यदि उनके ब्याह करा देते अथवा बालक-बालिकाओं की कोई पाठशाला स्थापित करके जनहित का परिचय देते तो भी अच्छा था। देश में शिल्प का अभाव है। इस द्रव्य से आप यदि एक शिल्पशाला स्थापित करके स्वदेशवासियों में कला-कौशल का प्रचार करते तो कितना भारी लोक-हित होता!"

उन महाशयों को ऐसी खरी-खरी स्पष्ट बातों के सुनने का स्वभाव न था, इसलिए वे स्वामीजी से कुछ रुष्ट होकर वहां से चले आये और महानन्द आदि के साथ मिलकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिये हलधर ओझा को समुद्यत करने लगे। अन्त को श्रावण वदी ८ सं० १९२६ को लक्ष्मण शास्त्री और

हलधर श्रोझा शास्त्रार्थ के लिये समुद्यत हो गये। सारे नगर में प्रसिद्ध होगया कि आज एक बड़ा भारी शास्त्रार्थ होगा। भैरवघाट पर दरियां बिछ गईं। नगर के सेठ-साहूकार सब आकर एकत्रित होने लगे। ठीक शास्त्रार्थ के समय वहां बीस-पच्चीस सहस्र मनुष्यों की भीड़ लग गई। इस शास्त्रार्थ में अनेक उच्च पदाधिकारी-कर्मचारी भी आये। सहायक कलेक्टर महाशय थेन भी वहां विद्यमान थे। वे संस्कृत भाषा के भी ज्ञाता थे, इसलिए सर्वसम्मति से श्रीमान् थेन को ही मध्यस्थ नियत किया गया।

लोग तो दिन के एक बजे से पहले आगए थे, परन्तु शास्त्रार्थ नियमानुसार दिन के दो बजे आरम्भ किया गया। प्रारम्भ करते समय हलधर ने कहा, "स्वामीजी! आपने विज्ञापन में जो 'गप्पम्' लिखा है वह व्याकरण की रीति से अशुद्ध है।" इस पर स्वामीजी ने कहा, "आप इस समय मूर्ति-पूजन आदि में से किसी विषय पर वाद चलाएं। शुद्धाशुद्ध पर वाद करते रहना विद्यार्थियों का काम है। इन सहस्रों मनुष्यों का समय इस शुष्क वाद में क्यों गंवाना चाहते हो? इस बात को पूछना ही हो तो कल मेरे पास आ जाइएगा। प्रमाणसहित उत्तर दे दूंगा।"

फिर हलधर ने पूछा, "आप महाभारत को मानते हैं या नहीं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हां मानता हूं।" ओझा ने एक श्लोक पढ़ कर कहा, "इसका यह अर्थ है कि एकलव्य भील ने द्रोणाचार्य की मूर्ति सामने रख कर धनुर्विद्या सीखी थी।" इस पर स्वामीजी ने कहा, "मैं यह कह रहा हूं कि वेद-शास्त्र में कहीं प्रतिमा-पूजन की आज्ञा दिखाओ। आपने जो प्रमाण दिया है उसमें प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है। केवल यही लिखा है कि एक भील ने ऐसा किया था। उसको ऐसा करने की किसी ने शिक्षा नहीं दी थी, और न ही वह आप भी कोई ऋषि-मुनि था, जिससे उसका कर्म प्रमाण माना जाय। जैसे अङ्गरेज लोग चांदमारी करते हैं वैसे ही वह भी लक्ष्यवेध का अभ्यास करता था। कोई पूजन करने के लिये द्रोण की प्रतिमा उसने भी नहीं रक्खी थी। यदि कहो कि द्रोण की प्रतिमा पास रखने से वह धनुर्विद्या में निपुण हो गया था तो यह भी मिथ्या है। धनुर्विद्या में प्रवीण होने का कारण मूर्ति नहीं थी, किन्तु उसका निरन्तर अभ्यास था।"

यह उत्तर सुन ओझा थोड़ी देर तो चुप रहा, परन्तु फिर उसने दूसरे ढंग से पूछा कि यदि वेद में मूर्ति-पूजा का विधान नहीं है तो निषेध कहाँ है ? इस पर महाराज बोले, "जब कोई स्वामी अपने सेवक को कहता है कि तुम पश्चिम को जाओ, तो अन्य तीन दिशाओं का निषेध अपने आप समझ लिया जाता है।"

उस समय महाराज ने शास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि वेद आदि धर्म्म-ग्रन्थ ईश्वर के स्वरूप को निराकार, सर्वत्र परिपूर्ण और अमूर्त मानने की आज्ञा करते हैं। स्वामीजी ने ओझा को बलपूर्वक कहा कि आप अपने पक्ष में वेद का एक तो प्रमाण दीजिए। परन्तु वह न दे सका।

विषय को टालने की इच्छा से लक्ष्मणशास्त्री ने कहा, स्वामी जी ! शास्त्र में कहा है कि गुरु, देवता, राजा और कोरी मनुष्य की छाया को लांघना नहीं चाहिए। पर ग्रन्थों में लिखा है कि देवता की छाया नहीं होती। इसलिए यहाँ देवता की छाया से तात्पर्य मूर्ति की छाया से है।

लक्ष्मणशास्त्री के उत्तर में स्वामी जी ने कहा, "जो आपने कहा कि देवताओं की छाया नहीं होती, यह सत्य नहीं है। पूर्वकाल में जब यजमान यज्ञ करते थे तो देवजन वहाँ आ जाया करते थे। देवों और दैत्यों की लड़ाइयाँ भी हुआ करती थीं। उनमें देव मारे भी जाया करते थे। उनके खान-पान आदि व्यवहारों का भी वर्णन मिलता है। यदि देवों की देह न हो तो पूर्वोक्त क्रियायें कैसे हो सकती हैं ? और जहाँ देह होती है वहाँ छाया भी अवश्य होती है। इस लिए धर्म्मशास्त्र में देवता की छाया का उल्लङ्घन न करने की आज्ञा का तात्पर्य यह है कि यज्ञादि कर्मों में उन्हें लाँघ कर अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।"

ओझा महाशय बीच में बोल उठे—यदि जड़ वस्तुओं में देवत्व नहीं है तो हवन के समय अग्नि ही में आहुति क्यों देते हैं ? और जलादि भी तो तत्त्व हैं, उन में सामग्री आदि क्यों नहीं डाली जाती ? इसका उत्तर श्री स्वामीजी ने यह दिया कि "पाँचों तत्त्वों में केवल अग्नि ही एक ऐसा तत्त्व है जिसमें डाली हुई आहुति भस्म हो जाती है। इसी लिए इसमें हवन करते हैं और वेद की भी यही आज्ञा है। परन्तु आप यह तो बतायें कि अग्निहोत्ररूप देव-पूजन के साथ पत्थर-पूजा का क्या सम्बन्ध है ? मूर्ति को किसी भी शास्त्र में देव नहीं कहा गया है।"

फिर लक्ष्मणशास्त्री ने कहा कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से मूर्ति में भी विद्यमान है,तो फिर मूर्ति-पूजन में आप क्यों दोष मानते हैं ? उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो मूर्ति में क्या विशेषता है जो उसी की पूजा की जाय ? और चेतन को छोड़ कर जड़-पूजन मे कोई महत्त्व भी नहीं है।" यह सुन कर स्वामीजी के सारे प्रतिपक्षी अवाक् हो गये। किसी को आगे कुछ न फुरा। उस समय थेन महाशय ने हलधर से कुछ प्रश्न किए और फिर थोड़ी देर स्वामीजी से वार्तालाप करके उनको नमस्कार किया और फिर वह उठ कर चले गये।

मध्यस्थ के उठने पर सारी सभा में भूकम्प-सा आ गया, कोलाहल मच गया; और उस गड़बड़ में विरोधियों ने महाराज पर ईंटें भी बरसाईं। उसी समय प्रयागनारायण तिवारी ने एक रुपये के पैसे हलधर के सिर पर से न्योछावर कर लुटा दिये और कहा कि उन्हीं की विजय हुई है। फिर क्या था ! 'गङ्गा की जय' और 'हलधर की जय' के नाद गूंजने लगे। पौराणिक लोग विजय मनाते बड़े समारोह से नगर में आये और उन्होंने 'शोलातूर' समाचारपत्र में भी अपनी जय-घोषणा कर दी। कुछ आर्य पुरुष 'शोलातूर' समाचारपत्र लेकर श्री स्वामीजी के समीप गये और उन्होंने पौराणिकों की मिथ्या जय-घोषणा का लेख पढ़ कर सुनाया। स्वामीजी ने कहा, "शास्त्रार्थ तो सत्यासत्य के निर्णय के लिये किया जाता है। उसमें यदि वे लोग अपनी जीत समझते हैं तो उन्हें प्रसन्न हो लेने दो। मुझे इसका कुछ भी हर्ष-शोक नहीं है।"

परन्तु स्वामीजी के भक्तों का मन कब मानता था कि यों ही मिथ्या समाचार फैल जाय और वे मौन बैठे रहें ! वे सहायक कलेक्टर महाशय थेन के पास गए और उन्हें सारा वृत्तान्त आद्योपान्त सुना दिया। उन्होंने उसी समय निम्नलिखित व्यवस्था लिख कर उन्हें दे दीः—

"महाशयो ! मेरी सम्मति मे शास्त्रार्थ के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी को विजय हुई। उन की युक्तियाँ वेदानुकूल थीं। यदि आप चाहें तो मैं अपनी व्यवस्था की पुष्टि में कुछ दिनों में प्रमाण भी दे दूंगा।

कानपुर } आपका
थेन

स्वामीजी के प्रेमियों ने श्रीमान् थेन महाशय की व्यवस्थामहित शास्त्रार्थ का पूर्ण वृत्तान्त विज्ञापनों द्वारा सारे नगरवासियों को विदित करा दिया। समाचारपत्रों में छपवा दिया, जिससे सर्वसाधारण को सचाई का ज्ञान हो गया, स्वामीजी की विजय का पता लग गया और प्रतिपक्षियों का कोरा कपट-कौशल दीखने लगा।

मध्यस्थ महाशय के निर्णय से लोगों के हृदयों पर स्वामीजी के पक्ष की सत्यता का सिक्का बैठ गया। वे ऐसे प्रभावित हुए कि अपनी प्रतिमाओं को धड़ाधड़ जल-तलालीन करने लगे। कहते हैं कि उस समय कानपुर की यह अवस्था थी कि यदि एक घर में चार मनुष्य थे तो उनमें से दो तो अवश्य ही स्वामीजी के अनुगामी हो गये थे।

श्री स्वामीजी नसवार लिया करते थे। एक मनुष्य ने पूछा कि क्या इसमें कोई दोष नहीं है ? उन्होंने उत्तर दिया कि यदि परोपकार करते हुए शरीर के दोषनिवारणार्थ इसे ग्रहण करना पड़े तो इसमें कोई दोष नहीं।

एक दिन श्रीयुत गङ्गासहायजी ने स्वामीजी के पास जाकर पूछा कि प्रतिमा-पूजन में क्या दोष है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया, "वेदों की आज्ञा पर चलना धर्म्म है। वेदों में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है। इसलिए उनके पूजन में आज्ञा भंग करने का दोष है। पुराणों में जो मूर्तियों का पूजन लिखा है वह सब गप्प है और असार है। जो यह कहते हैं कि अपनी भावना का फल होता है उनका कथन भी सत्य नहीं है। तुम बैठे चक्रवर्ती राजा बनने की भावना करते रहो तो इतने से सार्वभौम राजा नहीं बन सकोगे। भावना भी सच्ची होनी चाहिए।"

एक महाशय रुद्राक्ष की माला धारण किये स्वामीजी के निकट आया। महाराज ने उसे हंसकर कहा कि यह क्या गुठली-सी गले में डाले डोलते हो ? ऐसी बातों से मुक्ति न होगी। मोक्ष की अभिलाषा है तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कीजिए।

उपहास में महाराज ने एक मनुष्य को कहा कि बिल्वपत्र शिव-प्रतिमा पर चढ़ाने जाते हो तो वह तो इन्हें नहीं खायगी, परन्तु यदि ऊँट के आगे डाल दो तो उसकी भूख इनसे अवश्य मिट जायगी।

भोज्य पदार्थ अर्पण कर जाता था। स्वामीजी महाराज ऐसे सम्पूर्ण पदार्थ अपने सत्संगियों में प्रसादरूप में वितरण कर दिया करते। एक दिन सायंकाल कुछ लड्डू पेड़े आदि पड़े रह गये। महाराज यह सोच ही रहे थे कि ये उत्तम भोज्य पदार्थ किसे दें कि इतने में उन्होंने देखा कि वही गाली प्रदान करने वाला गङ्गा-पुत्र सामने से आ रहा है। उन्होंने उसे आदर से अपने समीप बुलाकर प्रेमपूर्वक वे सकल पदार्थ उसे दे दिये और साथही कहा कि सायं समय नित्य ही हमारे पास आया करो, हम तुम्हें पुष्कल खाद्य वस्तुयें दिया करेंगे।

जब छः सात दिन तक वह गङ्गा-पुत्र स्वामीजी से मिष्ट मोदक पाता रहा और महाराज ने उसकी गन्दी गालियों की एक बार भी बात न चलाई तो पश्चात्ताप के उत्पन्न हो आने से उसका चित्त उसे भीतर-ही-भीतर कचोटने लगा। अन्त में वह महाराज के चरणों में आ पड़ा और आँसू भर कर कहने लगा, "भगवन्! यदि मेरी कठोरता का कोई पार नहीं तो आपकी सहनशीलता भी असीम है। आपकी सुजनता ने मेरी दुर्जनता को सर्वथा जीत लिया है। श्री-चरणों में मेरे पिछले सारे अपराध क्षमा किये जाँय।" महाराज ने उसे आश्वासन और आशीर्वाद देकर कहा, "हमने आपके वचनों को स्मृति में स्थान नहीं दिया है। आप भी अब उन गई-बीती बातों का स्मरण न कीजिए।"

महाराज एक आदर्श संन्यासी थे। कानपुर में उनके प्रेमियों की पंक्ति में धनी लोग भी सम्मिलित हो गये थे। उनके भक्त उनके लिये सुख की यथेष्ट सामग्री उपस्थित करने को समुद्यत थे, परन्तु द्वन्द्वातीत भगवान् वहीं भैरव-घाट पर, बिछौने के बिना ही, ऊँचे नीचे भूतलभाग को शय्या बनाकर, मोटी २ ईंटों को सिरहाने रक्खे, सुख से सो जाते थे। जल के लिए एक कलसा और एक कोपीन एक प्रेमी आग्रह से उनके स्थान पर रख गया था।

उस समय भक्तों में शिरोमणि हृदयनारायणजी थे। ये अपने भाइयों सहित अपने भक्तिभाजन की सेवा-शुश्रूषा में तत्पर रहते। महाराज के कानपुर-वास में सेवा करने का अधिक सौभाग्य हृदयनारायणजी को ही प्राप्त हुआ था। जैसे सूर्यदेव की किरण चन्द्रमा को प्रकाश प्रदान कर उसे चमका देती है, वैसे ही

गुरुदेव के शुभ सत्संग से हृदयनारायणजी का हृदय भी उज्वल हो गया था। संस्कृत भाषा का अध्ययन विशेष न करने पर भी वे देववाणी में बोलने तक लग गये थे। हृदयनारायणजी से श्री स्वामीजी विपुल प्रेम भी करते थे। परन्तु जब उन्होंने पूछा कि भगवन् ! सुना है अब आप इस स्थान से जाना चाहते हैं; किस दिन प्रस्थान कीजियेगा ? तो महाराज ने उत्तर दिया कि मैं नहीं बता सकता। लोगों ने पत्रव्यवहार का पता माँगा तो भी किसी को कुछ नहीं बताया। जिस दिन स्वामीजी को प्रस्थान करना था रसोइये ने पूछा कि भगवन्, भोजन बनाऊँ; तो महाराज ने उसे न कर दी। वे लोटा और नई कोपीन वहीं छोड़ कर चुपचाप चले गये। अधिक दिन चढ़ने पर प्रेमी-जन श्रीदर्शनों को आये तो स्वामीजी आसन पर न थे। भक्तजन इस विचार से कि सम्भव है श्रीमहाराज दूर तक भ्रमण करने निकल गये हों और देर से आयें, दर्शनों की लालसा से वहीं बैठ गये। जब प्रतीक्षा करते-करते सायंकाल हो गया और श्री स्वामीजी न लौटे तो भक्तों ने समझ लिया कि जिनका मोहिनी मूर्ति को तीन मास तक अपने मनोमन्दिर में अति ममता के साथ हम पूजते रहे हैं वे इतने वीतराग हैं, इतने निर्मम हैं कि चुपचाप प्रस्थान कर गये हैं। अन्त में बड़े उदास भाव से वे सब अपने-अपने घरों को लौट आये।

कानपुर से चलकर श्री स्वामीजी शिवराजपुर, फतेपुर और मिर्जापुर आदि स्थानों में उपदेश देते हुए प्रयाग पधारे। वहाँ एक शिवसहाय नाम का ब्राह्मण रहता था। उसने वाल्मीकि रामायण पर टीका रची थी। स्वामीजी ने पहले वह टीका मंगाई। उसे देखने के पश्चात् उसके रचयिता को अपने पास बुलवाया और उसकी रची हुई टीका में अनेक दोष प्रदर्शित किये। शिवसहाय था बड़ा अभिमानी। अपने दोषों को स्वीकार करना तो दूर रहा, वह उलटा शास्त्रार्थ पर उतर आया। थोड़े ही समय में, वादीगज-केसरी दयानन्द ने शिवसहाय के घमण्ड घटाटोप को अपने पाण्डित्य की प्रबल पवन से छिन्न-भिन्न कर दिया। वह ब्राह्मण वाद में इतना लज्जित और स्वामीजी से इतना भयभीत हुआ कि स्थान छोड़ कर काशी की ओर भाग निकला ! स्वामीजी भी उसके पीछे-पीछे हो लिये।

काशी काण्ड

पहला सर्ग

आश्विन वदी १ सं० १९२६ को श्री स्वामीजी रामनगर पहुँचे। पहली रात को,राजवाटिका के समीप, मिट्टी के एक ढेले को सिर के नीचे रख रेती ही में सो रहे। सवेरे नित्य कर्मों से निवृत्त हो जब एक स्थान पर विराजमान हुए तो दर्शकों का आना जाना आरम्भ हो गया। महाराज को ज्ञात था कि शिवसहाय काशीनरेश के पास आकर छिपा बैठा है। इसलिए उन्होंने उसकी टीका का खण्डन करना आरम्भ कर दिया; यहां तक कि वे राजा महाशय के द्वार पर जाकर खड़े हो गये। जो भीतर जाता उसे कहते कि शिवसहाय भीतर छिपा हुआ है, उसे बाहर निकालो। वह इन बातों से इतना लज्जित और अपमानित हुआ कि वहाँ से घर भाग गया। गङ्गा के तट पर राजाजी की हस्तिशाला थी। स्वामीजी उसी के एक स्थान में टिक गए।

मूर्ति-पूजन का खण्डन रात-दिन होता रहता था। लोगों को सन्ध्या आदि कर्म करने की प्रेरणा होती रहती। महाराज की विद्या की शुभ्र ज्योत्स्ना काशी-वासी पण्डितों के मन्दिरों और पाठशालाओं में भी अपनी छटा दिखाने लगी। वहां भी उनकी विद्वत्ता की, उनके तर्क की, खण्डन-शैली की चर्चा चलती रहती। एक धुरन्धर विद्वान् पण्डित ज्योतिःस्वरूप काशी में वास करते थे। वह उदासीन साधु थे। श्री अविनाशीलाल खत्री और हर्षशलाल, ये दो प्रतिष्ठित सज्जन एक दिन ज्योतिःस्वरूपजी के पास जाकर कहने लगे कि हमने सुना है दयानन्द नाम के एक संन्यासी रामनगर में आए हैं। वे पुराण और मूर्ति-पूजन आदि का अति खण्डन करते हैं। आप हमारे साथ उनके पास चलिए। हम सत्य जानने के उत्सुक हैं।

पण्डित ज्योतिःस्वरूपजी प्रसन्नतापूर्वक अपने प्रेमियों के साथ स्वामीजी के समीप आये और यथाविधि नमस्कार करके बैठ गए। वे तीनों दो घण्टे तक

श्री-कथनों को श्रवण करते रहे। ज्योतिःस्वरूपजी स्वामीजी के निर्मल विचारों से, अनुपम ज्ञान से और कुशाग्रबुद्धि से बहुत प्रभावित हुए। उनके हृदय-सरोवर में उसी समय स्वामीजी के लिए अनुराग की लहरें उठने लगीं। उनके दोनों साथियों ने कहा कि महाराज के कथन पर आप भी कुछ किन्तु-परन्तु कीजिये। पर उन्होंने कहा कि श्री स्वामीजी जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य और शास्त्रानुकूल है, फिर मैं क्या कहूँ ?

महात्मा ज्योतिःस्वरूपजी चौदह दिन पर्यन्त निरन्तर स्वामीजी की संगति में आते रहे और उनके विचारों के अनुकूल हो गए।

पण्डित जवाहरदासजी भी स्वामीजी के मिलापार्थ रामनगर में आया करते थे और उनके हितेच्छुक बन गये थे।

महाराजा ईश्वरीनारायणसिंहजी को भी पता लग गया कि एक अतुल प्रतिभा का धनी संन्यासी वहाँ ठहरा हुआ है और प्रतिमा-पूजन आदि को वेदविरुद्ध बताता है। उन्होंने स्वामीजी के भोजन का पूर्ण प्रबन्ध करने की आज्ञा कर दी और स्वामीजी को लिवा लाने के लिए एक चौबे को भेजा। महाराज ने कहा कि मुझे महाराजा के समीप जाने की कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि उन्हें कुछ पूछना है तो वे जब चाहें आ सकते हैं।

श्री स्वामीजी राम-लीला का खण्डन करते थे। एक दिन महाराज निरञ्जनानन्दजी के पास गौ-घाट पर बैठे थे। वहाँ काशीनरेश भी आ निकले। शिष्टाचार के पश्चात् महाराजा ने निरञ्जनानन्दजी से पूछा कि स्वामी दयानन्दजी कहते हैं वेद में मूर्ति-पूजन और रामलीला नहीं है; इसमें आपकी क्या सम्मति है ? उन्होंने उत्तर दिया कि वेद में तो नहीं, परन्तु लोकाचार चला आता है। इसलिए इसे चलाये ही रखना चाहिए। इस उत्तर से महाराजा अति असन्तुष्ट हुए।

महाराजा के दूसरे भाई वैरागी थे; इस कारण वैरागियों का वहाँ बड़ा बल था। एक दिन साठ के लगभग वैरागी इकट्ठे होकर स्वामीजी पर चढ़ आये और बहुत देर तक गालियाँ देते रहे। महाराज ने उनके इस अज्ञान-काण्ड पर ध्यान तक भी न दिया।

यह बात महाराजा श्री ईश्वरीनारायणसिंहजी को भी विदित हो गई। उन्होंने वैरागियों को कहला भेजा कि स्वामीजी से शास्त्रार्थ तो जिसका जी चाहे करे, परन्तु गाली देना अच्छा नहीं है। ये हमारे यहाँ ठहरे हुए हैं, उनका अपमान करना हमारा ही अपमान है।

महाराज ने स्वामीजी को रामलीला देखने के लिये भी आहूत किया। परन्तु स्वामीजी वहाँ नहीं गये और बोले कि ऐसी लीलायें देखना संन्यासियों का काम नहीं है।

रामनगर में निवास करके स्वामीजी ने काशी के पण्डितों के विद्याबल का, शास्त्र-सामर्थ्य का और गति-मति का पूर्ण परिमाण जान लिया। उनकी कोटियों के दुर्गों के भेदों को समझ लिया। पौराणिक महादुर्ग के दो धुरन्धर विद्वान् वीर—पण्डित ज्योतिःस्वरूप और जवाहरदासजी—अपने पोषक बना लिये, और फिर एक अस्त्र-शस्त्र-सम्पन्न सेनापति की भाँति शास्त्रसन्नद्ध होकर काशी जाने के लिए उद्यत हो गये। रामनगर से जब स्वामीजी चलने लगे तो महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह ने उन्हें कहला भेजा कि यहाँ से हमारी नौका में बैठकर जाइए और काशीजी में जाकर हमारे ही उद्यान में निवास कीजिएगा। परन्तु महाराज उनकी दोनों बातों को अस्वीकार कर यहाँ से चल पड़े।

भारत भूमि में काशी नगरी चिरकाल से अपनी महत्त्वमाला को धारण किये चली आती है। आर्यों के इतिहास में यह सदा विद्यापीठ ही बनी रही है। श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक ग्रन्थों को रहस्यों सहित जैसा इस स्थान में अध्ययन कराया जाता रहा है वैसे उत्तम अध्ययन का सौभाग्य किसी दूसरे स्थान को कदाचित् ही मिला होगा। संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य को सजीव रखने में काशी भूखण्ड ने अपनी कीर्ति को अखण्ड रूप से स्थापित कर दिया है। यह भूप्रदेश आर्य धर्म का, आर्य विद्या का, आर्य आचार का और आर्य सभ्यता का पूर्व समयों में जैसा आदर्श था वैसा ही पौराणिक काल में पौराणिक धर्म का भी प्रमाणरूप बन गया। अब भी भारत के प्रत्येक भाग से सहस्रों विद्यार्थी यहाँ आकर विद्याध्ययन करते हैं। बीसियों विद्वान् साधारण-सी वृत्ति लेकर विद्याध्ययन कराते हैं। सैकड़ों कोसों से आकर जिस त्याग भाव से, जिस सादा रहन-सहन से, जितने सहस्र विद्यार्थी इस गये-बीते

समय में भी भारत के इस एक नगर में विद्या-लाभ कर रहे हैं उसका दृष्टान्त दूसरे देशों की अति सम्पत्तिसम्पन्न जातियों में भी मिलना दुर्लभ है।

स्वामी दयानन्दजी का काशी में आने का यह प्रयोजन था कि यहाँ के पण्डितसमूह में उत्तेजना उत्पन्न करके उनमें आन्दोलन का भाव उत्पन्न करें। उन्हें जागृत अवस्था में लायें जिससे काशीवासी पण्डितगण अपने महत्त्व को, अपने सामर्थ्य को, अपने कर्त्तव्य कर्म को और निरन्तर चले आने वाले अपने विमल यश को जान जायँ, अपने चित्त-दर्पण पर से पौराणिक परदे को उठा कर वैदिक धर्म के सच्चे स्वरूप का दर्शन कर सकें, आर्य जाति की वास्तविक दशा को अच्छी तरह देख सकें।

स्वामीजी महाराज के दिव्य नेत्रों से यह भेद छिपा नहीं रह सकता था कि भारत भर में जो देवमाला के एक से गीत गाये जाते और एक स्वर होकर पौराणिक माहात्म्य मनाये जाते हैं इसका अधिकांश कारण काशी है। विद्यार्थीजन वर्षों के काशीवास से पौराणिक कल्पनाओं में ऐसे घुट जाते हैं कि वे सैकड़ों की संख्या में प्रतिवर्ष पुराण-प्रचारक बनकर निकलते हैं। यदि काशी में सुधार और नया संस्कार आ जाय तो देश-देशान्तरों से आये हुए विद्यार्थी विद्योत्तीर्ण होकर अपने-अपने प्रान्तों को एक भाषा, एक धर्म्म, एक आचार-विचार, एक रीति-नीति और एकता के सूत्र में पिरोकर एक सुन्दर माला बनाने के एक अत्युत्तम साधन बन सकते हैं।

कार्तिक वदी २ सं० १९२६ को श्री स्वामीजी काशी नगर में सुशोभित हुए। राजा माधोसिंह के आनन्दोद्यान में आसन किया। उनके शुभागमन का समाचार तार-समाचार की भाँति सारी काशी नगरी में तुरन्त फैल गया। पण्डित श्री जवाहरदासजी और ज्योतिःस्वरूपजी को ज्यों ही समाचार प्राप्त हुआ वे तत्काल महाराज के स्थान पर मिलने आये। अन्य पण्डित लोग भी मण्डलियाँ बनाकर आने और प्रश्न पूछकर अपने भ्रम निवारण कराने लगे। महाराज के समीप दिनभर विद्यार्थियों की, पण्डितों की, वादविवाद-प्रिय विद्वानों और जिज्ञासु जनों की भारी भीड़ लगी रहती थी। लोग चिढ़ाने और खिजाने की भी चेष्टा करते थे। व्यर्थ वाद में समय बिताते थे, कुटिल कटाक्षों की व्यंग-वर्षा भी करते थे। परन्तु आचार्य दयानन्दजी सब को गम्भीरता से उत्तर देते

थे और दुर्वादियों तक का भी मुँह बंद करके छोड़ते थे। चिढ़ने और खिझने को उनकी प्रकृति ही में कोई स्थान न था। उकताना और थकना मानो वे जानते ही न थे। वे अकेले, परन्तु अपने अलौकिक साहस से, आठ-आठ घण्टे तक लगातार वादी-दिग्गजों के साथ जूझते रहते थे, श्रोताओं को उपदेश देते चले जाते थे।

उदासीन साधु मायारामजी ने स्वामीजी से पूछा कि शङ्कर तो वेदान्त-भाष्य में ब्रह्म-सूत्र अद्वैत पर लगाते हैं और रामानुज आदि अपने भाष्यों में जीव ब्रह्म का भेद वर्णन करते हैं; इनमें से किसका पक्ष सत्य समझा जाय?

स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि दोनों का ही पक्ष ठीक नहीं। ईश्वर सर्व-व्यापक है, इसलिए अभेद ठीक है; और जीव एकदेशीय है, इसलिए भेद सत्य है। जो एक एक पक्ष को पकड़कर खेंचातानी कर रहे हैं उनका निश्चय मिथ्यामूलक है।

स्वामीजी के समीप ही दुर्गा-मन्दिर था। मन्दिर में आने जाने वाले लोग स्वामीजी के उपदेशों को भी सुना करते थे। स्वामीजी के कथन का इतना प्रभाव पड़ा कि मन्दिर में जाने वालों की संख्या और मन्दिर की आय दिनों-दिन घटने लगी। एक दिन पुजारियों ने स्वामीजी से आकर प्रार्थना की कि महाराज! आपके यहाँ रहने से तो हमारी आजीविका मारी जायगी, इसलिए अब कृपा करके आसन किसी दूसरे स्थान पर लगा लीजिए। स्वामीजी उनके ऐसे कथन पर हँस पड़े।

दूसरा सर्ग

महाराज ने काशी-नरेश को कहला भेजा, "आपका कर्त्तव्य है कि मूर्तिपूजा आदि विषयों पर शास्त्रार्थ कराकर सत्यासत्य का निर्णय करायें।" इधर महाराजा स्वयं भी पुराण-खण्डन के अखण्ड पाठ से घबरा उठे थे। इसलिए उन्होंने पण्डितों को बुलाकर शास्त्र-समर के लिए सुसज्जित होने की प्रेरणा की। पण्डितों ने महाराजा से निवेदन किया कि स्वामी दयानन्द वेदों के प्रमाण पूछा करता है, इसलिए वेदों के प्रमाण आदि एकत्रित करने के लिए पन्द्रह दिन का अवकाश मिलना चाहिए। पण्डितों को मुँह-माँगा अवकाश मिल गया

और वे शास्त्रार्थ में सफलता प्राप्त करने के ढंग सोचने लगे। स्वामीजी का विद्या-बल जाँचने के लिए विद्यार्थी और पण्डित भी आते थे और अनेक प्रकार से प्रश्न करते-करते अन्त में हार जाते थे, परन्तु वे उस अथाह ज्ञान-गङ्गा की थाह नहीं पा सकते थे। कहते हैं कि एक दिन राजाराम शास्त्री भी गेरुए वस्त्र धारण करके स्वामीजी के पाण्डित्य की परीक्षा लेने आये, परन्तु आगे वह पानी न था जिसकी पेंदी तक वे पहुँच सकते।

पण्डित-मण्डली ने कुछ बातें जानने के लिए शालिग्राम, राजशास्त्री आदि चार पण्डितों को स्वामीजी के निकट भेजा। उन्होंने आकर नमस्कार आदि के अनन्तर कुछ प्रश्न किये, परन्तु उस समय उनको उत्तर देना उचित न समझा गया। अतः वे लौट गये। नगर के कोतवाल महाशय स्वामीजी का बड़ा आदर करते थे; उनके आग्रह करने पर स्वामीजी ने पण्डितों को उत्तर देना मान लिया।

उन शास्त्रियों ने फिर आकर पूछा कि आप कितने ग्रन्थ प्रामाणिक मानते हैं? स्वामीजी ने उत्तर में चार वेद, चार उपवेद, छः वेदाङ्ग, छः उपाङ्ग और मनुस्मृति—ये २१ ग्रंथ लिख दिये। उन्होंने फिर पूछा कि यही ग्रन्थ प्रामाणिक हैं, इसमें क्या प्रमाण है? मनुस्मृति में कितने श्लोक मानते हो?

स्वामीजी ने कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर शास्त्रार्थ के समय दिया जायगा। तत्पश्चात् पण्डित लोग वहाँ से चले गये।

महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह ने पंडितों की दान-दक्षिणा का सारा बोझा अपने ऊपर लिया और शास्त्रार्थ की तिथि कार्तिक सुदी द्वादशी सम्वत् १९२६ नियत कर दी। इसकी सूचना कलेक्टर महाशय को भी दी गई। इस पर उन्होंने कहा कि शास्त्रार्थ यदि आदित्यवार को होता तो हम भी सम्मिलित हो सकते थे। परन्तु वहाँ तो सोच-समझकर इसी लिए मङ्गलवार नियत हुआ था कि राजकर्मचारियों की उपस्थिति में गोलमाल करना कठिन हो जायगा। शास्त्रार्थ किस स्थान पर हो, इसका निश्चय करने के लिए कोतवाल रघुनाथसहाय स्वामीजी के समीप आये। पूछने पर उन्होंने उसे कहा कि विवश करके हमें कोई चाहे कहीं ले जाय, परन्तु मैं संन्यासी हूँ, अपनी इच्छा से किसी के स्थान पर जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर नहीं करूंगा। मैं शास्त्रार्थ के लिए किसी के भी स्थान

पर नहीं जाया करता। यहाँ भी, जिसका जी चाहे, मेरे ही आसन के पास आकर प्रश्न पूछे।

स्वामीजी का उत्तर सुनकर काशीराज ने भी आनन्द-उद्यान में अपने दल-बल सहित जाना स्वीकार कर लिया।

स्वामी दयानन्द के साथ काशी के सारे पण्डितों का शास्त्रार्थ होगा, इस समाचार की सारे नगर में धूम मच गई। घाटों पर, धर्मसत्रों में, पाठशालाओं में, मन्दिरों में, गृहस्थों के घरों में, गली-कूचे में, बाजार और कचहरी में, जहाँ जाओ इसी नूतन विषय पर बात होती सुनाई देती थी। महात्मा जवाहरदासजी ने स्वामीजी को कहा, "काशी में तो अनेक पण्डित हैं, आप किसे-किसे जीतेंगे? सबको कैसे परास्त करेंगे?" उन्होंने उत्तर दिया, "काशी के सकल विद्-न्मण्डल में दक्षिणी बालशास्त्री ही ऐसा है जो कुछ काल तक हमारे साथ वार्त्तालाप कर सकेगा; शेष तो सब काकभाषा में—नवीन न्यायादि में—ही निपुण हैं। वेदार्थ में उनकी गति नहीं है।"

कार्त्तिक सुदी द्वादशी, मङ्गलवार के दिन, प्रातःकाल से ही सारे काशी नगर में एक विचित्र हलचल मच गई। काशीनरेश के यहाँ से पालकियाँ, चँवर, छत्र इत्यादि पण्डितों के निवास-स्थानों पर पहुंचाये जा रहे थे। विश्वनाथ और दुर्गा आदि के मन्दिरों में विजय के लिए प्रार्थनायें हो रही थीं। पण्डित लोग परस्पर मिलकर स्वामीजी को जीतने के लिए न्याय की पंक्तियाँ, व्याकरण की फक्किकायें, वेदान्त की कोटियाँ, चातुर्य की अनेक चालें और प्रवंचना की चोटें चलाने के ढंग सोच रहे थे; श्रुति, स्मृति आदि के प्रमाण एकत्रित करने में लगे हुए थे।

श्री काशीधाम में जहाँ प्रवर पण्डित निवास करते हैं वहाँ परले सिरे के दुर्दण्ड उपद्रवियों की भी कुछ न्यूनता नहीं। उस समय ऐसे लोग भी स्वामी-चरणों को पीड़ा देने के लिए अपने षड्यन्त्र का ताना-बाना तन रहे थे।

पूर्वोक्त दृश्य को देखकर भक्त बलदेव का हृदय थरथरा उठा। उसने अति शीघ्रता से स्वामीजी के निकट पहुंचकर निवेदन किया, "महाराज! आज आपके स्थान पर सहस्रों मनुष्यों का जमघटा लगेगा। उसमें केवल हुल्लड़ मचाने के लिए भी कुछ उद्दण्ड जन आयेंगे। यदि फर्रुखाबाद होता तो ऐसे समय में

श्रीचरणों के समीप भी बीस पचीस सेवक बैठ जाते। परन्तु यहाँ तो उपद्रव होने की बड़ी भारी आशङ्का है।"

महाराज ने मुस्कराकर कहा, "बलदेव! कुछ भी चिन्ता न कीजिए। योगी-जनों का यह दृढ़ विश्वास है कि अविद्या की तमोराशि को सत्य का सूर्य अकेला ही तुरन्त जीत लेता है। बलदेव! जो मनुष्य पक्षपात का परित्याग करके, केवल लोकहित के लिए, ईश्वर की आज्ञानुसार सत्योपदेश करता है उसे भय कहाँ है? सत्पुरुष किसी से भयभीत होकर सत्य को नहीं छुपाया करते। जीवन जाय तो जाय, परन्तु वे अन्तरात्मा के आदेश—सत्य—को नहीं छोड़ते। बलदेव! चिन्ता किस बात की है? एक मैं—आत्मा—हूँ, एक परमात्मा है और एक ही धर्म्म है। दूसरा है कौन, जिससे डरें और काँपें? उन सबको आ जाने दो। जो कुछ होगा उसी समय देख लिया जायगा।"

महाराज ने इस प्रकार बलदेव को धैर्य्य प्रदान किया। फिर क्षौर कराकर स्नान किया। तत्पश्चात् वे भोजन पाकर चटाई पर बैठ गये।

उधर पण्डितों को सवेरे से सुसज्जित होते दिन का तीसरा प्रहर आ गया। उस दिन पाठशालाओं में अनध्याय किया गया था। इसलिए नए और पुराने सभी विद्यार्थी, लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ बाँधकर, अपने-अपने गुरुओं के निवास स्थानों के आगे उपस्थित हो गये और जय-ध्वनि से ऊँची अट्टालिकाओं को प्रति-ध्वनित करने लगे। नियत समय पर, शकुन मना और मङ्गलोपचार कर, सभी पण्डितगण अपनी-अपनी पालकियों में आरूढ़ हो गये। उनके सिरों पर छत्र और चँवर झूलने लगे। गुरुजन की आज्ञा से विद्यार्थीगण जय-नाद से मन्दिर-मालाओं को और बाजार के दोनों ओर की दुकानों को निनादित करते पालकियों के आगे-आगे चलने लगे। पण्डितों की चढ़ाई को देखकर सारा नगर चला-यमान हो गया। आनन्द-उद्यान की ओर उस दिन मानो जन-सागर उमड़ पड़ा। नाना भाँति के साम्प्रदायिक चिह्नों से सुसज्जित साधु-संन्यासी भी टोलियाँ बनाकर उसी ओर चलने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि सब सम्प्रदायों की समुचित शक्ति अकेले दयानन्द पर चढ़ आई है, सारा पौराणिक बल एकाकी परमहंस पर एक बार ही टूट पड़ा है।

काशीनरेश सहित सैकड़ों विद्वान् अद्वितीय दयानन्द से शास्त्रार्थ करने पर उतारू हुए। उस पण्डित-सैन्य के प्रसिद्ध महारथी स्वामी विशुद्धानन्दजी, बालशास्त्री, शिवसहाय, माधवाचार्य, वामनाचार्य, ताराचरण, जयनारायण तर्कवाचस्पति, राधामोहन तर्कवागीश और अम्बिकादत्तजी आदि सत्ताईस-अट्ठाईस विद्वान् थे। ये लोग अपनी-अपनी सेना-पंक्ति का संचालन करते बढ़ते चले आ रहे थे। परन्तु कोतवाल महाशय इन सबके पहिले ही श्री स्वामीजी के पास पहुँच गये। उन्होंने एक कोठरी के द्वार के निकट आसन बिछा कर उसपर स्वामी जी को बैठा दिया और उनके सामने एक आसन प्रतिपक्षी पण्डित के लिए लगा दिया। काशीनरेश के लिए भी एक अलग आसन स्थापित किया गया। कोतवाल महाशय का इस प्रकार केवल तीन ही आसन लगाने का तात्पर्य यह था कि स्वामीजी के समीप एक समय में केवल एक ही पण्डित बैठें, जिससे कोई कोलाहल न होने पावे।

कोतवाल महाशय अभी आसन-व्यवस्था कर ही चुके थे कि इतने में उमड़ा हुआ पण्डित-पूर आ पहुँचा, और लगा सारे स्थान को प्लावित करने। उन्होंने आते ही भीतर आने के सभी मार्ग रोक लिए। वे स्वामीजी के सहायक पण्डित जवाहरदासजी तथा पण्डित ज्योतिःस्वरूपजी आदि को भी नहीं आने देते थे। स्वामीजी को एक भक्त ने पत्र लिख कर सूचित किया कि हमें जान-बूझ कर भीतर आने से रोका जाता है। स्वामीजी ने तब कोतवाल महाशय को कह कर अपने सहायक परमहंसों को भीतर बुला लिया और पण्डित जवाहरदासजी तथा पण्डित ज्योतिःस्वरूपजी को अपने निकट बैठाया।

पण्डित ज्योतिःस्वरूपजी एक प्रतिष्ठित और धुरन्धर विद्वान् थे। उनकी विद्या का लोहा सारे पण्डित मानते थे। उन्होंने स्वामीजी के समीप बैठते समय यह कह भी दिया, "पण्डित लोग पहले हम से तो शास्त्रार्थ कर लें। यदि फिर भी उनमें कुछ शक्ति शेष रह जाय तो पीछे से भले ही स्वामीजी से प्रश्नोत्तर करने को समुद्यत हों।"

ज्योतिःस्वरूपजी काशीवासी पण्डितों की नस-नस और नाड़ी-नाड़ी को जानते थे। वे यह भी जानते थे कि कौन कितने पानी में है। इसलिए उन्हें स्वामीजी के निकट बैठा देखकर पण्डितों का माथा ठनक गया। उनको

अपने भेदों और चालों के प्रकट हो जाने का खटका हो गया। वे यह सोच ही रहे थे कि ज्योतिःस्वरूपजी के पंजे में कैसे छूटें कि उसी समय महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह आ पहुँचे। महाराजा को आते देख सारे पण्डितों ने उठ कर उनको आशीर्वाद दिया और वे उनके साथ ही आगे बढ़ आये; यहाँ तक कि उन्होंने स्वामीजी को घेर लिया।

यदि वे लोग इस पहिले नियम को तोड़ने पर ही सन्तोष करते तो भी कोई बात न थी, परन्तु उनकी आँखों में तो ज्योतिःस्वरूपजी का वहाँ बैठना काँटे की भाँति रड़क रहा था। उन्होंने आशीर्वाद देते समय महाराजा से कह दिया, "एक तो दयानन्द स्वयं सिंह के सदृश है, उसका परास्त करना दुष्कर है; दूसरे व्याघ्र समान ज्योतिःस्वरूप उस के साथ बैठ गया है। उसकी उपस्थिति में तो किसी भी चाल से जय-लाभ करना सम्भव नहीं।"

महाराजा ने मर्म को समझ लिया और बैठते ही श्री जवाहरदास तथा श्री ज्योतिःस्वरूपजी को कहा कि यह स्थान पण्डितों के लिए नियत है। आप इससे कुछ पीछे हट कर बैठें। इतने से भी प्रतिपक्षियों की सन्तुष्टि नहीं हुई। उन के संकेत से महाराजा ने ज्योतिःस्वरूपजी को पकड़वा कर वहाँ से बाहर कर दिया।

स्वामीजी ने अपने सहायकों को अपमानित होते देखकर इस अन्याय का घोर विरोध किया और उनकी इस धींगाधींगी पर घृणा प्रकट की। परन्तु वे तो सभी एक ही रंग में रंगे हुए थे। इसलिए फल कुछ भी न निकला। कोतवाल ने भी उपालम्भ रूप से कहा कि हमारा किया नियम तोड़ दिया गया है, और इतने पण्डित अकेले स्वामीजी को घेर कर बैठ गये हैं। यह सब अनुचित है। परन्तु उस समय तो उचितानुचित की चर्चा कोई भी न सुनता था।

श्री स्वामीजी ने महाराजा को कहा कि अपने सरस्वती-भण्डार से पुस्तकें मँगा लीजिए। महाराजा के भाई ने कहा कि पुस्तकें क्या करनी हैं? यों ही शास्त्रार्थ होगा। स्वामीजी ने फिर कहा कि क्या वेद मँगा लिए हैं? इस पर महाराजा ने कहा कि वेद की पुस्तकों की कोई आवश्यकता नहीं, वे तो हमारे पण्डितों के कण्ठाग्र हैं।

तत्पश्चात् कोतवाल श्री रघुनाथसहायजी ने सबको सुनाकर कहा, "शास्त्रार्थ का यह नियम निश्चित हो गया है कि श्री स्वामीजी के साथ एक समय में एक ही पण्डित शास्त्रार्थ करेगा। इस बीच में दूसरा कोई भी न बोले।"

सबसे प्रथम पण्डित ताराचरणजी नैयायिक स्वामीजी के सम्मुख हुए। स्वामीजी ने उनसे पूछा, "क्या आप वेदों को मानते हैं?" ताराचरणजी ने कहा, "जो भी वर्णाश्रम-धर्म में हैं वे सभी वेदों को प्रामाणिक मानते हैं।" तब स्वामीजी ने कहा—"वेद में पाषाण आदि की मूर्तियों के पूजने का यदि विधान है तो उसका प्रमाण दीजिए, नहीं तो अप्रमाणता स्वीकार कीजिए।"

ताराचरण—"वेद में मूर्ति-पूजन का प्रमाण है अथवा नहीं है, यह उसे कहा जाय जो एक वेद को ही प्रमाण मानता हो।"

स्वामीजी—"अन्य ग्रन्थ प्रमाण हैं अथवा अप्रमाण, इस पर फिर विचार किया जायगा। इस समय मुख्य प्रमाण तो वेद ही है। वेदोक्त कर्म्म ही मुख्य कर्म हैं, दूसरे ग्रन्थों के बताये कर्म गौण हैं। वे वेदानुकूल होने ही से माने जा सकते हैं। इसलिए यदि वेद में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है तो उसका पूजन नहीं करना चाहिए।"

ताराचरणजी—"तो फिर आप मनुस्मृति को वेदमूलक कैसे मानते हैं।"

स्वामीजी—"सामवेद के ब्राह्मण ने कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधियों का भी औषध है।"

विशुद्धानन्दजी ने कहा, "रचना की अनुपपत्ति—असिद्धि होने से अनुमान द्वारा वर्णित प्रधान, जगत् का कारण नहीं है; व्यास के इस सूत्र को वेदमूलक सिद्ध कीजिए।"

स्वामीजी—"उपस्थित वाद के भीतर यह प्रश्न नहीं आता।"

विशुद्धानन्दजी—"प्रकरण से बाहर है तो क्या हुआ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो।"

स्वामीजी—"इसका पूर्वापर पाठ देखकर समाधान किया जा सकता है।"

विशुद्धानन्दजी—"यदि सब कुछ स्मरण नहीं था तो काशी में शास्त्रार्थ करने आये ही क्यों थे?"

स्वामीजी—"क्या आपको सब कुछ कण्ठाग्र है?"

विशुद्धानन्दजी—"हाँ, हमें सब कुछ स्मरण है।"

स्वामीजी—"तब बताइये धर्म के कितने लक्षण हैं?"

विशुद्धानन्दजी—"जो वेद में कहे फलसहित कर्म हैं वही धर्म्म हैं।"

स्वामीजी—"यह तो आपका वाक्य है। कोई शास्त्रीय प्रमाण दीजिए।"

विशुद्धानन्दजी—"धर्म्म का लक्षण 'प्रेरणा' कहा गया है।"

स्वामीजी—"यह तो ठीक है कि प्रेरणा धर्म्म का लक्षण है, परन्तु प्रेरणा कहते हैं श्रुति-स्मृति की आज्ञा को। सो श्रुति-स्मृति की प्रेरणा में धर्म्म के लक्षण कितने हैं, यह बताइए?"

विशुद्धानन्दजी—"धर्म्म का एक ही लक्षण है।"

स्वामीजी—"शास्त्र में तो धर्म्म के दस लक्षण कहे हैं। तब आप एक कैसे कहते हैं?"

विशुद्धानन्दजी—"धर्म्म के दस लक्षण किस ग्रन्थ में हैं?"

उस समय स्वामीजी ने मनु-स्मृति में वर्णित 'धृति' आदि धर्म्म के दस लक्षणों वाला श्लोक पढ़ कर सुनाया। इस पर विशुद्धानन्दजी तो अवाक् हो गये; परन्तु बालशास्त्री कहने लगे, "हमने सम्पूर्ण धर्म्मशास्त्र का अध्ययन किया है। इस विषय में कुछ पूछना हो तो हमसे पूछिए।"

स्वामीजी ने कहा, "बहुत अच्छा, आप 'धर्म्म' के लक्षण बताइए।"

बालशास्त्री को इसका उत्तर कुछ भी न सूझा, इस लिए वे मौन हो गये।

अपने मुखिया सेनापतियों के पाँव उखड़ते देख सारे पण्डित एक बार ही चिल्ला कर पूछने लगे, "बताओ, वेद में 'प्रतिमा' शब्द है अथवा नहीं?"

स्वामीजी ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "वेद में 'प्रतिमा' शब्द तो है।"

फिर उन लोगों ने क्रम से पूछा, "यदि वेद में 'प्रतिमा' शब्द है तो किस प्रकरण में? और आप इसका खण्डन क्यों करते हैं?"

स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "प्रतिमा शब्द यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय के तीसरे मंत्र में है। यह सामवेद के ब्राह्मण में भी विद्यमान है। परन्तु पाषाण आदि की प्रतिमा के पूजन का विधान कहीं भी नहीं है, इसलिए मैं इसका खण्डन करता हूँ।"

उनके पूछने पर स्वामीजी ने उन प्रकरणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया जिनमें प्रतिमा शब्द आया है। इस पर उपर्युक्त पण्डित चुप हो गये।

इतने काल में बालशास्त्रीजी को विश्राम मिल गया और वे फिर प्रश्न करने लगे। परन्तु दो-तीन प्रश्न करके फिर मौनी बन गये। इसके पश्चात् विशुद्धानन्दजी ने स्वामीजी से पूछा, "वेद कैसे उत्पन्न हुए हैं ?"

स्वामीजी—"वेदों का प्रकाशन ईश्वर ने किया है।"

विशुद्धानन्दजी:—"वेदों का प्रकाश किस ईश्वर से हुआ है ? न्यायवर्णित ईश्वर से, या योग-कथित ईश्वर से, अथवा वेदान्त-प्रतिपादित ईश्वर से ?"

स्वामीजी—"क्या आपके निश्चय में अनेक ईश्वर हैं ?"

विशुद्धानन्दजी—ईश्वर तो एक ही है, परन्तु वेदों के प्रकाशक ईश्वर का क्या लक्षण है, यह बताइए।"

स्वामीजी—"उसका लक्षण है सच्चिदानन्द।"

विशुद्धानन्दजी—"ईश्वर और वेद में क्या सम्बन्ध है ?"

स्वामीजी—"वेद और ईश्वर में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।"

विशुद्धानन्दजी—"जैसे मन में और सूर्य आदि में ब्रह्मबुद्धि करके 'प्रतीक' उपासना करनी कही है, वैसे ही शालिग्राम आदि में ईश्वरभावना करके पूजने में क्या हानि है ?"

स्वामीजी—"शास्त्र में मन आदि में ब्रह्मोपासना करने का तो विधान है, परन्तु पाषाणादि में उपासना करने का वचन किसी भी शास्त्र में नहीं मिलता।"

यह उत्तर सुनकर विशुद्धानन्दजी को तो अपनी वाणी को विराम देना पड़ा, परन्तु माधवाचार्य ने पूछा, " 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इस मंत्र में जो 'पूर्त' शब्द पड़ा है उसका आप क्या अर्थ करते हैं ? और मूर्ति-पूजन अर्थ क्यों नहीं करते ?"

स्वामीजी—"यहाँ 'पूर्त' शब्द से कूएँ, तड़ाग, वापी और उद्यान आदि लोक-हितकर कार्यों का ग्रहण किया जाता है। 'पूर्त' शब्द 'पूर्ति' का वाचक है। इससे मूर्ति-पूजा का ग्रहण नहीं हो सकता। विशेष जानना चाहते हो तो इस मन्त्र का निरुक्त और ब्राह्मण देख लीजिए।"

मूर्ति-पूजन के पक्ष में माधवाचार्य निरुत्तर हो गये और किंचिद् विश्राम लेकर फिर पूछने लगे, "पुराण शब्द वेदों में आया है कि नहीं ?"

स्वामीजी—"पुराण शब्द तो वेद के अनेक स्थलों में विद्यमान है, परन्तु वह है पुरातन काल का वाची, सनातन अर्थ का बोधक। उससे ब्रह्मवैवर्त्त और भागवतादि पुराण ग्रन्थों का ग्रहण नहीं हो सकता।"

विशुद्धानन्दजी—"बृहदारण्यक उपनिषद् में 'पुराण' शब्द आया है, वह आपको प्रमाण है कि नहीं? यदि प्रमाण है तो बताओ, वहाँ 'पुराण' शब्द किसका विशेषण है?"

स्वामीजी—"बृहदारण्यक का 'पुराण' शब्द मुझे प्रमाण है, परन्तु वह किसका विशेषण है यह पुस्तक दिखाइए, बता दूंगा।"

तब जो पुस्तक लाकर स्वामीजी क दिखाने लगे वह बृहदारण्यक नहीं थी, किन्तु गृह्यसूत्र का एक ग्रन्थ था। माधवाचार्य ने उस ग्रन्थ का पत्रा पकड़ कर कहा, "इसमें पुराण शब्द किसका विशेषण है?"

स्वामीजी—"पाठ तो पढ़िये।"

माधवाचार्यजी ने "ब्राह्मणानीतिहासपुराणानीति" यह पढ़कर सुनाया।

स्वामीजी—"यहाँ 'पुराण' शब्द 'ब्राह्मण' शब्द का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण पुरातन अर्थात् सनातन हैं।"

बालशास्त्रीजी—"क्या कोई ब्राह्मण नूतन भी हैं?"

स्वामीजी—"ब्राह्मण नवीन तो नहीं हैं, परन्तु किसी को सन्देह करने का अवकाश ही न मिले, इस लिए यह विशेषण रक्खा गया है।"

विशुद्धानन्दजी—"इस पाठ में ब्राह्मण और पुराण इन दो शब्दों के बीच इतिहास शब्द व्यवधान रूप पड़ा है, इस लिए 'पुराण' शब्द विशेषण नहीं हो सकता।"

स्वामीजी—"यह कोई भी नियम नहीं है कि व्यवधान होने पर विशेषण न हो सके। देखिए, भगवद्गीता के 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इस श्लोक में विशेषण कितना दूर पड़ा है।"

विशुद्धानन्दजी—"'इतिहासपुराणानि' इस पाठ में यदि 'इतिहास' शब्द का 'पुराण' शब्द विशेषण नहीं है तो क्या इससे यहाँ नवीन इतिहास ग्रहण करोगे?"

स्वामीजी—"इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः" छान्दोग्य के इस पाठ में 'पुराण' शब्द 'इतिहास' शब्द का विशेषण है ।

इस पर वामनाचार्य आदि अनेक पण्डित कहने लगे कि यह पाठ उपनिषद् में नहीं है। स्वामीजी ने उनको बलपूर्वक कहा, "मैं लिख देता हूँ और आप भी लिख दीजिए कि यदि ऐसा पाठ उपनिषद् में निकल आए तो आपकी हार समझी जाय और यदि न निकले तो आप की जय।"

यह सुनकर सब के मुख बन्द हो गए और कितनी ही देर तक सारे सभा-स्थल में एक सन्नाटा-सा छाया रहा। जब देर तक किसी ने कोई प्रश्न न किया तो विद्यानिधि दयानन्द ने सब पण्डितों को ललकार कर कहा, "आप में से जो व्याकरण जानते हैं वे बतायें कि व्याकरण में कहाँ 'कल्म' संज्ञा की गई है अथवा नहीं ?"

बालशास्त्रीजी—"संज्ञा तो नहीं की है, किन्तु एक स्थल में एक भाष्यकार ने उपहास अवश्य किया है।"

स्वामीजी—"आप अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण उपस्थित करें और बतायें कि भाष्यकार ने कहाँ उपहास किया है।"

यह कथन सुनकर बालशास्त्री चुप हो गए और दूसरे पण्डितों की भी मौन-मुद्रा किंचिन्मात्र भंग न हुई।

चार घण्टों तक निरन्तर शास्त्र-समर में पौराणिक दल का प्रत्येक अगुआ आगे बढ़कर स्वामीजी से युद्ध करता रहा और अन्त में महाराज की अकाट्य युक्तियों के तीक्ष्ण तीरों से, उनके प्रबल प्रमाणों के परमास्त्रों से हत-प्रतिहत होकर—परास्त होकर—पीछे लौट आता रहा। इतनी बड़ी संख्या में, ऐसी बड़ी सभा में, इतना बड़ा उद्योग करने पर भी इतने बड़े विद्वानों का इस प्रकार ऐसा पराजय इस नगरी में कदाचित् ही हुआ होगा !

सारे महारथी सकल सामर्थ्य से भी जब सफल न हुए तो काशी के महा-मल्लों ने कूटनीति और दाँव-पेंच चलाने की सोची। उस समय सूर्य अस्त हो गया था। धीरे-धीरे अंधकार गाढ़तर होता चला जा रहा था। ऐसे समय में माधवाचार्य ने वेद के नाम से दो पन्ने निकाल कर पण्डितों के मध्य में रख दिये और कहा, "यहाँ पर लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन

पुराणों का पाठ श्रवण करे। अब स्वामीजी ! बताइए कि यहाँ 'पुराण' किस का विशेषण है ?"

स्वामीजी—"आप पाठ पढ़कर तो सुनाइए।"

विशुद्धानन्दजी ने पन्ने पकड़ कर स्वामीजी की ओर किए और कहा, "आप ही पढ़ लीजिए।"

स्वामीजी ने पन्ने विशुद्धानन्दजी को लौटा दिए और कि कहा आप ही पढ़ कर सुनाइए। विशुद्धानन्दजी ने फिर उन्हें स्वामीजी के हाथ में दे दिया और कहा कि मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इसलिए आप ही को पढ़ना होगा।

स्वामीजी ने वे पन्ने हाथ में ले लिए, परन्तु अंधेरे के कारण अक्षर स्पष्ट नहीं दिखाई देते थे। इसलिए दीपक मगाया गया। उन पत्रों पर वेद का कोई नाम न था। मण्डल, अध्याय और मंत्र आदि का भी कोई पता न लगता था। इसलिए स्वामीजी "दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत" इस पाठ के पूर्वापर को, ग्रन्थ के नाम और प्रकरण को सोचने लगे। स्वामीजो को विचारते हुए कुछ बहुत पल न होने पाए थे कि श्री विशुद्धानन्दजी यह कह कर उठ खड़े हुए कि अब सन्ध्या का समय हो गया है, इन्हें अधिक कष्ट भी नहीं देना चाहिए। परन्तु स्वामीजी उनका हाथ पकड़ कर बल देते थे कि बैठ जाइये। निर्णय किए बिना बीच ही में उठ खड़े होना आप ऐसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं। परन्तु विशुद्धानन्दजी ने बैठना स्वीकार न किया और उपहास में स्वामीजी की पीठ पर हाथ फेर कर कहने लगे कि अब बैठिए, जो कुछ होना था सो हो चुका।

विशुद्धानन्दजी के संकेत से महाराजा ईश्वरीनारायणसिंहजी भी उठ खड़े हुए और अपनी जय प्रख्यात करने के लिए करतालिका बजाने लगे। महाराजा के अनुकरण में सारे पण्डित तालियाँ पीटते और जयजयनाद करते हुए एकाएक उठ खड़े हुए। पचास-साठ सहस्त्र मनुष्यों के सभा-सागर में बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया। सर्वत्र गड़बड़ मच गई। उस समय अविवेकी मनुष्यों ने स्वामीजी महाराज पर ईंटें मारीं, पत्थर और कंकर फेंके, गोबर और जूते उछाले, अन्य अनेकविध अवहेलना और अपमान किया, परन्तु महाराज के प्रशान्त चित्त-दर्पण पर उदासीनता की यत्किंचित् भी छाया न आई।

कोतवाल महाशय ने उपद्रवियों को वहाँ से खदेड़ दिया और महाराज को कहा कि वाद्धी छोड़ने का कार्य आपने अनुचित किया है। उन्होंने उत्तर दिया कि प्रतिमा-पूजन करना हमारा-तुम्हारा परस्पर का धर्म्म है। उसकी रक्षा के लिए शत्रु से जैसे भी जय लाभ हो करनी चाहिए।

पक्षपाती लोगों और अबोध जन-समुदाय ने अपनी बड़ी भारी जीत समझी। उन लोगों ने सारे नगर को जयकार से गुँजा दिया। परन्तु फिर भी ऐसे बीसियों विचारवान् मनुष्य वहाँ उपस्थित थे जिन्होंने पण्डितों की चाल को ताड़ लिया और स्वामीजी के साथ जो अनीति, अन्याय और धोखा किया गया था उस पर घृणा प्रकट की।

पण्डित ईश्वरसिंह नाम के एक निर्मले सन्त काशी में वास करते थे। वे वेदान्त के निष्ठावान् विद्वान् थे। उन्होंने उस दिन आनन्दोद्यान से लौटता हुआ जन-समुदाय देखा। उसमें विद्यार्थी, पण्डित और साधारण लोग स्वामी महाराज को अनेक कु-वचन बोलते हुए जा रहे थे। ईश्वरसिंहजी ने वहाँ यह भी सुना कि स्वामीजी पर लोगों ने आज ईंटें, पत्थर, गोबर और जूते फेंके हैं, उन्हें अगणित अपशब्द कहे हैं। उनके चित्त में उसी समय यह सङ्कल्प उत्पन्न हुआ कि चलो इसी समय चल कर दयानन्दजी की दशा देखें। यदि इस महानिरादर से, घोर अपमान से, विपरीत नीति से, निष्ठुर अन्याय से उनका चित्त विचलित न हुआ तो समझेंगे कि यह सच्चा ब्रह्मज्ञानी और एक पहुँचा हुआ महात्मा है।

जिस समय ईश्वरसिंहजी आनन्दोद्यान में पहुँचे तो महाराज चान्द की चाँदनी में टहल रहे थे। ईश्वरसिंहजी को आते देख भगवान् ने मुस्कराते हुए बड़े आदर से उनका स्वागत किया। दोनों मिल कर बड़ी रात तक आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी विषयों पर बातचीत करते रहे। इतनी लम्बी बातचीत में ईश्वरसिंहजी को स्वामीजी के चन्द्र समान चमकते हुए मुख-मण्डल पर उदासीनता का एक भी धब्बा दिखाई न दिया। उनकी मुस्कराहट की चन्द्र-छटा में उन्होंने किंचिन्मात्र भी न्यूनता न पाई। उनके हृदयगत साहस और उत्साह की ज्वाला-माला-संकुल ज्वलन्त अग्नि से एक बार भी तो लम्बी साँस का धुआँ न निकला। ध्यानपूर्वक देखने पर भी उनके विमल चिदाकाश में निराशा की

यदली की एक भी टुकड़ी न दीख पड़ी। उन्होंने लोगों के अन्याय और अत्याचार की कुछ भी तो चर्चा न चलाई।

पण्डित ईश्वरसिंहजी ने महाप्रभु दयानन्द के चरण छू कर कहा, "महाराज! आज तक मैं आप को वेद-शास्त्र का ज्ञाता एक पण्डित मात्र समझता रहा हूँ। परन्तु आज पण्डितों के घृणित उत्पात से, अपमान से, और विरोध की घोर आँधी से आपके हृदय-सागर में राग-द्वेष की एक भी लहर उठते न देख मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि आप वीतराग महात्मा और सिद्ध पुरुष हैं।" तत्पश्चात् सन्त ईश्वरसिंहजी महाराज से विदा हो कर अपने स्थान को चले आये।

अगले दिन स्वामीजी ने एक विज्ञापन में "दशमेऽहनि किंचित्पुराणमाचक्षीत" इस वाक्य का विस्तारसहित अर्थ छपा दिया और पण्डितों को सत्यासत्य के निर्णय के लिए आह्वान किया। परन्तु उनके सामने दुबारा आने का साहस किसी में भी न था। काशी-शास्त्रार्थ विस्तारसहित पुस्तकाकार मुद्रित करा कर वितरण किया गया। समाचार-पत्रों में भी टीका-टिप्पणी सहित छपा। प्रसिद्ध पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी भी शास्त्रार्थ के समय वहाँ विद्यमान थे। उन्होंने अपने मासिक पत्र "प्रत्नकम्रनन्दिनी" के मार्गशीर्ष वा पौष सं० १९२६ के अङ्क में काशी में स्वामीजी का विजय-समाचार प्रकाशित किया।

'रुहेलखण्ड समाचार-पत्र' ने अपने कार्तिक सं० १९२६ के अङ्क में लिखा, "स्वामी दयानन्दजी मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हैं। उनका शास्त्रार्थ कानपुर के पण्डितों से भी हुआ था, और अब उन्होंने काशी के पण्डितों को भी जीत लिया है।"

'ज्ञान-प्रदायिनी' पत्रिका लाहौर से निकलती थी। उसके चैत्र सम्वत् १९२६ के अङ्क में काशी-शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में प्रकाशित किया गया कि "इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्ति-पूजा की आज्ञा वेदों में नहीं दिखा सके।"

'हिन्दू पेट्रियट' के पौष सुदी १५ सं० १९२६ के अङ्क में काशी-शास्त्रार्थ के विषय में यह प्रकाशित हुआ कि "कुछ काल हुआ, रामनगर के महाराजा ने एक सभा बुलाई। इसमें काशी के बड़े-बड़े पण्डित आहूत किए गये। वहाँ स्वामी दयानन्द और पण्डितों के बीच एक लम्बा वाद होता रहा। पण्डित

लोग यद्यपि अपने शास्त्र-ज्ञान का अति गर्व करते थे, परन्तु हुई उन की बड़ी भारी हार।"

स्वामीजी महाराज शास्त्रार्थ के पश्चात् भी सत्योपदेश देते रहे और अनेक सज्जन उनके सत्संग से लाभ उठाते रहे। यद्यपि काशी में घोषणा हो गई थी कि दयानन्द के पास कोई न जाय और जो जायगा वह पातकी हो जायगा, परन्तु जिज्ञासुओं ने आना न छोड़ा। वाद-विवाद करने वाले पण्डित भी आते ही रहे।

यहाँ एक रामदत्तामी मिश्र महामहोपाध्याय निवास करता था। वह युवा अवस्था के प्रभाव से स्वामी दयानन्द के लिए बहुत ऊँच-नीच वचन बोला करता था। उसे गर्व था कि यदि मैं एक बार भी स्वामी दयानन्द से बातचीत करूँ तो उनसे प्रतिमा-पूजन आदि का खण्डन छुड़वा कर उन्हें सीधा कर दूँ। वह महाराज के पास आता इस लिए नहीं था कि उनका मुख देख लेने से पातक लग जायगा।

यह सोच कर कि अँधेरे में दयानन्द का मुख देखे बिना भी उसे सीधा किया जा सकता है, वह एक दिन रात के समय स्वामीजी के पास आया और कहने लगा, "तेरे जैसे पतित पुरुष के साथ मैं देववाणी में बोलना पाप समझता हूँ। इसलिए देश-भाषा में बातचीत होगी। परन्तु पहिले तुम्हें मेरी एक शर्त माननी पड़ेगी।"

स्वामीजी ने हँस कर कहा, "आप मुझे संस्कृत भाषा बोलने से तो रोकते हैं, परन्तु संस्कृत भाषा के शब्द तो बोलने देंगे? अच्छा, यही सही, अब आप अपनी शर्त कहिए।"

उस ने कहा, "मैं अपने साथ एक छुरी लेता आया हूँ। वह दोनों के बीच रक्खी जायगी। जो शास्त्रार्थ में हार जायगा उसकी इससे नाक काट दी जायगी।"

स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "पण्डितजी! एक शर्त मेरी भी मान लीजिए। वह यह है कि एक चाकू भी पास रख लिया जाय। जो हम में से हार जाय उससे उसकी जीभ काट ली जाय, क्योंकि नाक तो इन बातों में निर्दोष है। वाद-विवाद में जो कुछ अनर्थ होता है वह जीभ द्वारा ही होता है।"

कोई आध घड़ी तक स्वामीजी ने उसके साथ वार्त्तालाप किया। इससे वह इतना प्रभावित हुआ कि सरलता और सभ्यता से वर्ताव करने लग गया।

काशी में स्वामीजी मुसलमानी मत की भी त्रुटियाँ दिखाया करते थे। इससे कुछ मुसलमान बहुत रुष्ट हो गये थे। एक दिन सायङ्काल महाराज गङ्गा-तट पर आसन लगाये बैठे थे। उसी समय दैवयोग से मुसलमानों की एक मण्डली भी वहाँ आ निकली। उस टोली में बहुत से मनुष्यों ने स्वामीजी को पहिचान कर कहा कि यह वही बावा है जो कुछ दिन हुए हमारे मत के विरुद्ध व्याख्यान दे रहा था। उनमें से दो मनुष्य बहुत अधिक आवेश में आकर आगे बढ़े और स्वामीजी को उठा कर गङ्गा में फेंकने का यत्न करने लगे। उन दोनों व्यक्तियों ने दोनों हाथों से स्वामीजी की दोनों भुजायें, कन्धों के पास से, दृढ़तापूर्वक पकड़ लीं। वे उन्हें भुलाकर गङ्गा-धारा मे फेंका ही चाहते थे कि स्वामीजी ने अपनी दोनों भुजायें सिकोड़ कर अपने शरीर के साथ लगा लीं और वे बलपूर्वक आगे उछल कर दोनों मनुष्यों सहित पानी में कूद पड़े। उन दोनों व्यक्तियों के हाथ कुछ काल तक तो शिकँजे में कसे रहे, परन्तु नदी में डुबकी लगाते समय महाराज ने उन पर दया दिखा कर उन्हें मुक्त कर दिया। वे दोनों मनुष्य बड़ी कठिनता से पानी से बाहर निकले और अपने साथियों के साथ, हाथ में मिट्टी के ढेले आदि लिये, बड़ी देर तक नदी-तट पर खड़े देखते रहे कि वह बाबा सिर निकाले तो उसे मारें। स्वामीजी भी उनकी इच्छा को जानते थे। इसलिए वे प्राणों को रोक पानी की पेंदी पर पद्मासन लगा कर बैठे रहे। अँधेरा हो जाने पर उस मण्डली ने मन में समझ लिया कि वह बाबा डूब गया है; इसलिए वे चले गये और स्वामीजी भी जल से निकल अपने आसन पर आ विराजे।

एक दिन एक मनुष्य ने भक्तिभाव प्रदर्शित करते हुए स्वामीजी को भोजन ला कर दिया। स्वामीजी उस समय भोजन पा चुके थे, इसलिए उन्होंने वह स्वीकार न किया। तब उस कपटी भक्त ने कहा कि यदि भोजन ग्रहण नहीं करते तो यह पान तो ले लीजिए। महाराज उसके हाथ से पान का बीड़ा ले उसे खोल कर देखने लगे तो वह वञ्चक झटपट वहाँ से हिरण

की भाँति भाग गया। इस पान की जाँच राज्य-औषधालय में कराई गई। वह उस पान में हलाहल विष मिश्रित करके लाया था।

बनारस के बहुत से गुण्डे स्वामीजी के वध के लिए षड्यंत्र रच रहे थे। उनकी इस दुर्भावना का पता, घुणाक्षर न्याय से, बाबा श्री जवाहरदासजी को भी लग गया। वे दौड़े हुए स्वामीजी के पास आये और समाचार सुनाकर बड़ी चिन्ता प्रकाशित करने लगे। स्वामीजी ने उन्हें कहा, "आप घबरायें नहीं, यह कोई नई बात नहीं है। मेरे साथ तो ऐसी बातें बहुत बीत चुकी हैं। जिन दिनों मैं घर में रहता था उन दिनों हमारे एक पड़ोसी भूमिहार ने हमारे एक खेत पर अपना अधिकार कर लिया। पिताजी ने जब पड़ोसी की इस धींगाधींगी की बात मुझे सुनाई तो मैं आवेश से हाथ में तलवार लेकर उन पर जा टूटा। यद्यपि वे कई मनुष्य थे, परन्तु मेरे साहस के आगे उनके पाँव उखड़ गये और वे भाग निकले। अब भी यदि यहाँ के गुण्डे इकट्ठे दस पन्द्रह भी मुझ पर आक्रमण करेंगे तो उनको शान्त करने के लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ।"

महाराज का हुङ्कारनाद ऐसा ऊंचा और तीव्र होता था कि पास-बैठों को कानों में उङ्गलियाँ दे लेनी पड़ती थीं। एक दिन महाराज गम्भीर मुद्रा में हंस और हस्ती की चाल चलते भ्रमण करने जा रहे थे। उसी समय एक हट्टा-कट्टा, दण्डपेल, महामल्लसमान, बलवान् मनुष्य उनके पीछे हो लिया। उसके हाथ में एक सुदृढ़ लट्ठ भी था। जब महाराज ने पीछे पलट कर दृष्टि फिराई तो वह मनुष्य उन्हें घातक स्वभाव का जान पड़ा। श्री महाराज ने वहाँ ठहर कर हुङ्कारनाद ऐसा गुंजाया कि वह उद्दण्ड मनुष्य भयभीत होकर चीत्कार करता हुआ पिछले पाँव भाग गया।

जवाहरदासजी के साथ श्री स्वामीजी का बहुत वार्तालाप हुआ करता था। वे मित्रों की भाँति परस्पर मिला करते थे। उनके वार्त्ताविनोद में कभी-कभी उपहास-रस भी मिश्रित हो जाता था।

एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी जवाहरदासजी के डेरे पर जा पहुंचे। जवाहरदासजी के यहाँ उस समय भाँग का रगड़ा लग रहा था। महाराज को आते देख उन्होंने कूण्डी-सोटे को इधर-उधर छिपाने की बहुतेरी चेष्टा की,

पर वे तो बहुत पास पहुंच चुके थे। महाराज ने हंसते हुए कहा, "अच्छा, यह शिव की बूटी है। क्या आप भी शिव बनना चाहते हैं? शिव बनने में लगता भी क्या है! भाँग पीकर उसके मद में झूमते हुए 'शिवोऽहम्' का जाप और 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाठ करने लग गये। बस, शिव बने बनाये हैं।"

स्वामीजी ने बाबा जवाहरदास को यह भी कहा, "आप भी उपदेश करने लग जाइए।" इसका उत्तर उन्होंने उपहास-रस में यह दिया, "आपका तो कोई ठौर-ठिकाना है नहीं, इसलिए देश-देशान्तर में चक्कर लगाते फिरते हो। मैं डेरेवाला हूँ। मुझसे उपदेश का काम नहीं हो सकता।"

यह सुनकर स्वामीजी ने कहा, "महात्मन्! यह स्थान और डेरा पहले भी आपके पास नहीं था और अन्त में भी नहीं रहेगा। बीच में यों ही ममता बाँधे बैठे हो। इसे छोड़ो और लोकहित के कार्य में लग जाओ।"

बाबा जवाहरदासजी प्रतिदिन स्वामीजी के समीप आया करते और उपनिषदों तथा वेदान्त पर वार्तालाप किया करते थे।

कठोर प्रकृति के मनुष्य भी प्रश्न पूछने आते और परुष व्यवहार करते थे, परन्तु महाराज प्रशान्त स्वभाव से, कोमल और मीठे शब्दों में, उत्तर देते चले जाते थे। वे कटु अथवा परुष भाषण कदापि नहीं करते थे। उनके वचन में व्यक्तिगत कटाक्षों का नाम तक न होता था। उनका खण्डन साधारण और समुच्चय रूप से हुआ करता था। उनकी वाणी में कोई अद्भुत आकर्षण था, कोई अनिर्वचनीय प्रभाव था और कोई अलौकिक रसास्वाद था, जिससे उनके वचन सुन कर दुर्जन सज्जन बन जाता, पाषाणसमान कठोर मनुष्य मोम हो जाता, प्रकोप से संतप्त जन शान्ति लाभ कर लेता और अति विरोधी भी वैरबुद्धि छोड़ कर श्रीचरणों की सेवा तक करने लग जाया करता था।

अपने सदुपदेशों से काशीवासी धर्माभिलाषियों को निहाल करके स्वामीजी प्रयाग के कुम्भ मेले पर प्रचार करने के लिए वहाँ से चल पड़े। यह मेला मकर-संक्रान्ति को था।

तीसरा सर्ग

माघ वदी २ सं० १६२६ को श्री महाराज प्रयाग में पधारे और गङ्गा के तीर पर ही टिक गये। वहाँ आपने बड़ी धूम-धाम से प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया। महाराज के व्याख्यानों में सैकड़ों साधु-सन्त भी आते थे। साधु वेदान्त पर—निष्क्रिय वाद पर—वाद-विवाद किया करते थे। एक दिन एक साधु ने स्वामीजी से प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग पर शास्त्रार्थ किया। उसको पराभूत करने के अनन्तर स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में कथन किया, "क्रियात्मक जीवन ही शुभ जीवन है। सारा दृश्यमान जगत अपनी नित्य-क्रिया में निरन्तर प्रवृत्त है। हमारे शरीर भी इस सृष्टि के अंशमात्र हैं। जब विराट् देह में निरन्तर गति है, क्रिया है और प्रवृत्ति है तो हम जो उसके एक अंशरूप हैं उनमें निवृत्ति और निष्क्रियता होना असम्भव है। आर्य धर्म्म में वेदविहित कर्मों का करना और निषिद्ध कर्मों का त्यागना ही निवृत्ति मार्ग है। जो इस मर्म को मन में धारण किए बिना निवृत्ति का राग अलापते हैं, उन्हें अभी वैदिक धर्म का बोध नहीं हुआ है। जो लोग सत्योपदेश, प्रजा-प्रेम और लोकहित के कार्यों को छोड़ कर अपने को परम निष्क्रिय मानते हैं, उनसे भी देह का भरण-पोषण नहीं छूट सकता। मधूकड़ी मांगने के लिए वे भी दो-दो कोस तक जाते हैं। यों ही तीर्थों पर घूमते-फिरते हैं। सच तो यह है कि सत्य और पर-कल्याण के लिए अपने सुखों का त्यागना—जीवन तक को लगा देना—ही सर्वोत्तम त्याग है।"

महाराज ने यह भी कहा कि परोपकार के बिना नर-जीवन मृग-जीवन से उच्च नहीं है। सैकड़ों साम्प्रदायिक साधु लोग इस मेले पर आये हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ आने का पदार्थ खाकर जङ्गल में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इनमें और मृगों में भेद ही क्या है! मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाया करते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है? यह तो पशु-पक्षियों को सहज ही से उपलब्ध है।

महाराज उन दिनों अवधूत-वृत्ति में रहा करते थे। माघ का घोर शीत पड़ता था, परन्तु उनके तन पर कोपीन से भिन्न कोई भी वस्त्र न था और न

ही वे किसी का दिया हुआ वस्त्र ओढ़ते ही थे। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि शीत उनके समीप एक शब्द से बढ़ कर कुछ भी न था। लोग उनकी इस तपस्या को देख कर 'अहो आश्चर्य !' कहने लग जाते थे।

सारे मेले में स्वामीजी के प्रचार की बड़ी धूम थी। सैकड़ों लोग अपनी देव-मूर्तियों पर से विश्वास हटा बैठे थे।

स्वामीजी में दया का भाव अतीव प्रबल था। दीन-दुःखियों को देख कर उनका हृदय तुरन्त द्रवीभूत हो जाता था। परोपकार की यह वृत्ति, वास्तव में, धर्म-कर्म से रहित और दुःखदारिद्र्य से पीड़ित मनुष्यों को ही देख कर उन्होंने धारण की थी।

महाराज एक दिन गङ्गा-तट पर बैठे हुए प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य निहार रहे थे। उस समय उनके सामने एक स्त्री मरा हुआ बच्चा हाथों पर उठाए गंगा में प्रविष्ट हुई। कुछ गहरे जल में जाकर उसने बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार लिया और बालक के निर्जीव कलेवर को 'हाय हाय' के आर्त्तनाद के साथ पानी में प्रवाहित कर दिया।

स्वामीजी महाराज उस समय अपने हृदय को थाम न सके। जब उन्होंने देखा कि वह स्त्री बच्चे के कलेवर पर लपेटे हुए कपड़े को धोकर वायु में सुखाती और रोती हुई घर को जा रही है, उन्होंने खेद-सागर में निमग्न होकर मन ही मन कहा कि भारत देश इतना निर्धन, इतना कङ्गाल है कि माता अपने कलेजे के टुकड़े को तो नदी में बहा चली है, परन्तु उससे वस्त्र इसलिए नहीं बहाया गया कि उसका मिलना कठिन है ! इसके बिना उसका निर्वाह न हो सकेगा ! इससे बढ़कर देश की दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है। उस समय वहाँ महाराज ने प्रण किया कि कुछ काल तक मैं इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूंगा।

प्रयाग के कुम्भ मेले पर प्रचार करने के उपरान्त श्री महाराज मिर्ज़ापुर चले गये। वहां आप रामरत्न लड्ढा के उद्यान में उतरे। मूर्तिपूजन और कुरीतियों का बड़े बल से खण्डन होने लगा।

मिर्ज़ापुर में बालकृष्णदास नामक एक वैरागी महन्त रहता था। वह महाभारत के संशोधन में लगा हुआ था। वास्तव में तो वह महाभारत के

चौबीस सहस्र श्लोक रखना चाहता था, परन्तु उस समय उसने जो पुस्तक छपवाई थी उसमें तीस सहस्र ही श्लोक थे। उसने भगवद्गीता को भी प्रक्षिप्त समझकर निकाल दिया था।

सुगन्धिलाल नामक एक धनिक व्यक्ति गीता का बड़ा भक्त था। वह बैरागी बाबा की इस अनधिकार चेष्टा से बहुत ही चिढ़ गया। उसने बाबाजी के इस अनर्थ की दुहाई स्वामी दयानन्दजी के आगे आकर दी। महाराज ने कहा, "उसका गीता को प्रक्षिप्त कहना सत्य नहीं है। इस पर जब उसका जी चाहे शास्त्रार्थ कर ले।" छोटूराम नाम का एक व्यक्ति स्वामीजी से उपनिषद् पढ़ने आया करता था। उसने महाभारत की यह पुस्तक भी स्वामीजी को लाकर दिखा दी। महाराज ने सबके सामने उस पुस्तक को दोषपूर्ण सिद्ध कर दिया। छोटूराम ने बाबाजी को भी स्वामीजी की सम्मति सुना दी। इससे बाबाजी रुष्ट तो बहुत हुए, परन्तु शास्त्रार्थ से यह कहकर टलते रहे कि हम दूसरे के स्थान पर नहीं जाया करते। स्वामीजी ने उन्हें बहुतेरा कहलाया कि यह स्थान भी हमारा नहीं है। यहाँ नहीं आ सकते तो पास के उद्यान में आ जाइए अथवा गङ्गा के पुलिन पर बैठकर विचार कर लीजिये, परन्तु बाबाजी ने एक न मानी। वह इतना भयभीत हुआ कि जिस मार्ग पर स्वामीजी आया-जाया करते थे, उसने उधर आना ही छोड़ दिया।

स्वामीजी के धर्म-प्रचार से बहुत से मतवादी विरोध करने लग गये थे। जैसे भी बन पड़े उन्हें दुःख देने में आगा-पीछा कुछ भी न देखते थे।

उन्हीं दिनों में एक ओझा मन्त्र-शास्त्री मिर्ज़ापुर में आकर ठहरा हुआ था। उसने प्रसिद्ध कर दिया कि मेरे पास ऐसे सिद्ध मन्त्र-यन्त्र हैं कि यदि कोई उनका पुरश्चरण कराये तो इक्कीसवें दिन, निश्चयरूप से, दयानन्द का देहपात हो सकता है। लोग उसके मारण, मोहन और उच्चाटन आदि के कोरे ढोंग में विश्वास भी करते थे। एक सेठ ने ओझाजी को कह दिया कि जो भी व्यय हो मुझसे लेते जाइए और स्वामी दयानन्द पर विधिपूर्वक मन्त्र-प्रयोग चलाइए। अतः वह मन्त्र-शास्त्री स्वामीजी पर मन्त्र-प्रयोग चलाने की क्रियायें करने लगा।

ओझा के मन्त्र-प्रयोग का समाचार लोगों ने श्री स्वामीजी को भी दे दिया। परन्तु वे ऐसी भ्रममूलक लीलाओं से भला कब चलायमान होने लगे थे! मन्त्र-प्रयोग करते अभी तीन चार ही दिन होने पाये थे कि दैवयोग से मन्त्र-प्रयोग बैठाने वाले सेठ के गले पर एक फोड़ा निकल आया। वह दिनोंदिन भयङ्कर रूप धारण करता चला गया। यहाँ तक कि उसे खाने, पीने, थूकने और बोलने-चालने में भी अतिकष्ट होने लगा। एक दिन ओझा उसके पास गया और कहने लगा कि प्रयोग-समाप्ति का दिन समीप आ गया है। बलिदान की सामग्री प्रस्तुत करा दीजिए। समाप्ति पर जब विधि से इधर बलि दी जायगी तो उसी समय उधर दयानन्द का सिर धड़ से कटकर भूमि पर गिर पड़ेगा।

उस सेठ ने बड़ी कठिनता से बोलकर कहा कि मंत्र-शास्त्रीजी! दयानन्द का सिर तो गिरते ही गिरेगा, परन्तु मेरा तो अभी गिरा ही चाहता है। पीड़ा के मारे मेरे तो प्राण निकले जाते हैं। कृपा करके आप अपना पुरश्चरण बन्द कर दीजिए। इस प्रकार वह मंत्र-प्रयोग बीच में ही अधूरा छोड़ दिया गया।

मिर्ज़ापुर में एक छोटूगिर नाम का गुसाईं निवास करता था। वह प्रचण्ड प्रकृति का एक उद्दण्ड मनुष्य था। एक दिन वह और जगन्नाथ मालवीय, सैकड़ों मनुष्यों को साथ लिए, स्वामीजी के स्थान पर चढ़ आये। छोटूगिर आते ही स्वामीजी के पांव पर पांव रख कर बैठ गया और मुख से ऊटपटाँग बातें बकने लगा। महाराज ने पूछा कि यह मनुष्य कौन है? जगन्नाथ ने उत्तर में कहा कि काशी के विश्वनाथ के समान ही यहाँ बूढ़े महादेव हैं, उनका यह पुजारी है। स्वामीजी ने यद्यपि उनके कलह-प्रिय अन्तःकरण और द्वेष-दूषित दृष्टि को अपने दिव्य नेत्रों से पहिले ही देख लिया था, परन्तु गुसाईं की चेष्टा से उन्हें पूरा प्रमाण मिल गया कि उनके आने का प्रयोजन केवल लड़ाई लड़ना ही है। तब उन्होंने और भी बलपूर्वक विश्वनाथ आदि मन्दिरों तथा मूर्त्तियों का खंडन आरम्भ कर दिया।

स्वामीजी हुलास लिया करते थे। इसलिए हुलास की एक डिबिया और चबाने का कुछ तम्बाकू उनके पास पड़ा था। छोटूगिर उन वस्तुओं को उलटने पलटने लगा। महाराज ने उसे कहा कि यदि तुम नसवार सूंघना चाहते हो तो ले लो। परन्तु वह तो छेड़ना ही चाहता था।

स्वामीजी के समीप एक दोने में बतासे रक्खे थे। गुसाईं ने उन पर भी हाथ डाला। महाराज ने उसे कहा कि यदि आप खाना चाहते हैं तो बीच में से मुट्ठी भरकर ले लीजिए और प्रसन्नता से खाइए, परन्तु एक एक करके खाने से जूठे मत कीजिए। छोटूगिर तो आया ही लड़ने-झगड़ने के लिए था। उसने स्वामीजी के कथन पर कुछ ध्यान न दिया और एक एक बतासा उठाकर खाता रहा। स्वामीजी ने उसे ऐसा करने से रोका, परन्तु वह तो कलह उत्पन्न करने के ये सब बहाने बना रहा था। स्वामीजी को भिड़ककर बोला कि क्या हमारी जूठन से घृणा करते हो? हम तुम्हारे गुरु हैं। किंचित् ठहर जाओ, आज तुम्हें खण्डन का सारा स्वाद चखा देते हैं।

स्वामीजी उसकी ऐसी गीदड़-भबकियों से भयभीत होने वाले नहीं थे। वे किसी भी अत्याचारी का डर और दबाव नहीं माना करते थे। उन्होंने देखा कि यह गुसाईं सिर चढ़ा जाता है, तब उन्होंने उसे डाँट कर कहा, "तुम मुझे डराना चाहते हो। मैं यदि डरने वाला होता तो देशान्तरों में घूमकर प्रचार कैसे कर सकता?" उस समय स्वामीजी ने सिंहनाद से अपने सेवक को कहा, "बाहर के किवाड़ बंद कर दो। मैं अकेला ही इन सबको सीधा करके छोड़ूँगा।"

उस समय महाराज का वदन तेजोमय हो गया; उनकी आँखें उद्दीप्त दीपक की भाँति चमकने लगीं। उस दिव्य आकृति को देखकर छोटूगिर का हृदय काँप उठा। उसकी सारी हेकड़ी टूट गई और वह भलमनसी से पीछे हटकर बैठ गया।

जगन्नाथ ने हाथ जोड़कर स्वामीजी से विनय की, "हम कैसे जानें कि प्रतिमा-पूजन अच्छा नहीं है?" स्वामीजीने उत्तर दिया, "मूर्त्ति-पूजन के लिए वेद में कोई आज्ञा नहीं है। और ईश्वर सर्वत्र है, उसे कोई वश में नहीं कर सकता। तुम मूर्त्तियों को ईश्वर मानते हो और फिर अपने हाथ से ताला लगा कर उन्हें मन्दिर में बंद कर देते हो। तुम्हीं सोचो कि इनमें ईश्वरीय शक्ति कहाँ है? वे न वर दे सकती हैं और न शाप। जड़रूप हैं। यदि कल्याण चाहते हो तो हृदय में परमात्मा का पूजन करो।"

अन्त में जगन्नाथ ने नमस्कार करके कहा कि "हमें लोगों ने बहका रक्खा था कि आप राम, कृष्ण आदि के विरुद्ध बोलते हैं। परन्तु यह तो आज ही ज्ञात हुआ है कि आप केवल मूर्तियों का खण्डन करते हैं।" तत्पश्चात् वे लोग चले गये।

छोटूगिर का सारा घमण्ड स्वामीजी के पास तो खण्ड-खण्ड हो गया था, परन्तु घर में जाकर वह फिर स्वामीजी का अनिष्ट चिन्तन करने लगा। एक रात उसने दो बलिष्ठ मनुष्य स्वामीजी को सताने के लिए भेजे। जब वे स्वामीजी के निवासस्थान पर पहुँचे तो उस समय महाराज पण्डित रामप्रसादजी को कुछ शास्त्रीय रहस्य समझा रहे थे। वह उजड्ड गुण्डे बार-बार हँसने और छेड़छाड़ करने लगे। एक दो बार तो महाराज ने उन्हें कोमल शब्दों में समझाया, परन्तु जब देखा कि ये टलने ही में आते नहीं तो स्वामीजी ने प्रबल हुङ्कार-गर्जना की। जैसे मिथिला में श्रीराम के धनुष-टङ्कार से सारी सभा कम्पित हो गई थी और दिग्मूढ़ बन गई थी, उसी प्रकार स्वामीजी के हुङ्कार से वे दोनों पामर पुरुष काँप उठे और मूर्छा खाकर भूमि पर गिर पड़े। उस समय रामप्रसादजी को भी अपने दोनों कानों में उङ्गलियाँ डाल लेनी पड़ीं।

महाराज और रामप्रसादजी ने उन उद्दण्डों को जल के छींटे देकर सचेत किया। जब वे उठकर बैठे तो पसीना-पसीना हो रहे थे और उनका मूत्र-पुरीष भी निकल चुका था।

स्वामीजी ने कहा कि संन्यासी लोग किसी को मारा पीटा नहीं करते, इसलिए डरो नहीं। कपड़े सम्भाल कर निर्भयता से चले जाओ।

एक दिन कुछ पण्डितों ने स्वामीजी को एक पत्र लिख भेजा। उस पत्र में उन्होंने उसी दिन शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की और साथ ही स्वामीजी को धमकी दी कि यदि वाद के समय तुमने मूर्ख आदि कोई शब्द कहा तो तुम्हें तत्काल दण्ड दिया जायगा।

महाराज ने उनके पत्र को अशुद्धियों से पूर्ण पाया और कहा कि धर्म्म-चर्चा करने का तो बालक को भी अधिकार है, परन्तु गोविन्द भागवत-पाठी ऐसे मिथ्याभिमानियों का तो गर्व तोड़कर उन्हें मूर्ख सिद्ध करना ही पड़ता है।

पत्र भेजने के दो घण्टे के पश्चात् पण्डित लोग स्वामीजी के पास आ गये और शिष्टाचार आदि के अनन्तर गोविन्द भट्ट ने 'भागवत' विषय में बातचीत की,

परन्तु उसे थोड़ी ही देर में चुप हो जाना पड़ा। फिर देर तक प्रतिमा-पूजन पर शास्त्रार्थ होता रहा। स्वामीजी ने वेद के प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता और उसकी कोई प्रतिमा नहीं। पण्डित पराभूत होकर शान्ति से चले गये।

यहाँ पण्डित गजाधर से वार्त्तालाप करते समय महाराज ने मनुस्मृति में आये 'चक्री' शब्द का अर्थ कुम्हार किया। इस पर गजाधर ने कहा कि इसका अर्थ तेली है और कुल्लूक ने भी तेली ही अर्थ किया। स्वामीजी ने हँस कर कहा कि कुल्लूक तो उल्लूक है, उसकी बात जाने दो। आप यह तो सोचो कि तेली के पास चक्र नहीं होता, वह कोल्हू से काम करता है। चक्र कुम्हार ही के पास होता है, इसलिए उसी का नाम चक्री है।

एक मनुष्य ने स्वामीजी से पूछा, जीवात्मा परमेश्वर हो जाता है कि नहीं? महाराज ने उसे कहा कि यह अति सूक्ष्म प्रश्न है; तुम्हारी बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकती।

मिर्ज़ापुर में स्वामीजी के उपदेशों से अनेक मनुष्य सुधर गये; निराकार परमात्मा का आराधन और चिन्तन करने लग गये। बीसियों मनुष्यों ने मूर्ति-पूजन त्याग दिया। सन्ध्योपासन आदि नित्य-कर्म धारण कर लिये।

चौथा सर्ग

जेठ सम्वत् १६२७ के आरम्भ में स्वामीजी मिर्ज़ापुर से प्रस्थान कर गङ्गा के किनारे विचरते हुए बनारस जा पहुँचे और दुर्गा कुण्ड के निकट लाला माधोदास के उद्यान में ठहरे।

काशी में जाकर स्वामीजी ने "अद्वैत मत खण्डन" नामक एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित कराई। उस पुस्तक ने मायावाद के मानने वालों में बड़ी हल-चल उत्पन्न कर दी। इस विषय पर भी अनेक भद्र जन स्वामीजी से शास्त्र-चर्चा करते रहे।

काशी से स्वामीजी एक बार मिर्ज़ापुर गये और वहाँ जेठ मास में एक पाठ-शाला स्थापित करके पुनः काशी लौट आये।

महाराजा ईश्वरीनारायणसिंहजी ने एक दिन स्वामीजी के पास अपना मनुष्य भेज कर उनके दर्शनों की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने इस विषय पर बाबा जवाहरदास से सम्मति ली कि महाराजा के पास जाना चाहिए या नहीं। जवाहरदासजी ने कहा कि शास्त्रार्थ में आप के साथ जो अनीति और अनुचित व्यवहार हुआ है, महाराजा अब आपका सम्मान करके उसका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं। उन्हें पश्चात्ताप भी हुआ है। परन्तु अच्छा तो यही है कि वे आपके स्थान पर आकर क्षमा मांगें।

एक दिन महाराजा के मनुष्य गाड़ी लेकर स्वामीजी को लेने आ गये। स्वामीजी यह सोच कर कि हमारी ओर से उनके मन में कोई उद्वेग न बना रहे, गाड़ी में आरूढ़ हो गये। स्वामीजी के दर्शनों के लिए कमच्छा देवी का स्थान नियत किया गया था। जब महाराजा ने स्वामीजी को आते देखा तो उठ खड़े हुए और आगे जाकर स्वागत किया। स्वामीजी को सम्मानपूर्वक भीतर लाकर एक सुवर्ण-सिंहासन पर बैठाया। उनके गले में अपने हाथों से एक पुष्पमाला पहराई और सादर नमस्कार करके आप भी पास के एक रजत-सिंहासन पर बैठ गये।

इसके अनन्तर महाराजा ने हाथ जोड़ कर स्वामीजी से विनय की कि हमारे कुल में मूर्त्ति-पूजन परम्परा से चला आता है। मैं भी बाल्यकाल से श्रद्धापूर्वक कुल-धर्म्म का पालन करता हूँ। इसलिए चिरकाल के धर्मानुराग से ही शास्त्रार्थ में आपकी अवज्ञा हो गई थी। आप संन्यासी हैं, इसलिए क्षमा कर दीजिए। स्वामीजी ने गम्भीर भाव से कहा कि हमारे मन में इन बातों का लेशमात्र भी संस्कार नहीं है।

अन्य भी अनेक बातें होती रहीं और अन्त में जब स्वामीजी चलने लगे तो महाराजा ने बहुत-सी रजत-मुद्रायें और कुछ मुरब्बे आदि भोज्य पदार्थ स्वामीजी की भेंट किये और बड़े आदर से गाड़ी में बैठा कर उनको विदा किया। इस बार स्वामीजी कोई ढाई मास काशी में ठहरे।

काशी से चलकर श्री महाराज पर्यटन करते हुए कासगंज में जा सुशोभित हुए। यहाँ महाराज ने अपनी सबसे पहिली स्थापित की हुई वैदिक पाठशाला का

निरीक्षण किया। स्वामीजी की पाठशाला में निम्नलिखित नियमों का पालन कराया जाता था।

१. विद्यार्थियों को संध्या सिखा कर पाठशाला में प्रविष्ट किया जाय और इसीसे उसकी बुद्धि की भी परीक्षा कर ली जाय।

२. अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ाये जायें।

३. यदि विद्यार्थी सूर्योदय से पहले उठ कर सन्ध्या न कर ले तो उसे उस दिन सायंकाल की सन्ध्या कर लेने के पूर्व भोजन न दिया जाय और उसकी देखरेख भी की जाय कि वह कहीं पास की बस्ती में जाकर भोजन न खा आवे।

४. विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा नहीं; परन्तु न्योते में जा सकते हैं।

५. इस पाठशाला के द्रव्य से, बाहर ही से आये हुए विद्यार्थियों को भोजन मिले।

६. अध्ययन में परिश्रम करने वाले विद्यार्थी के भोजन का विशेष प्रबन्ध कर दिया जाय।

स्वामीजी महाराज अपने विद्यार्थियों तथा साथ रहने वाले पण्डितों और सेवकों को भी छोटे-छोटे पापों से बचने के लिए शिक्षा दिया करते थे। उन दिनों पण्डित रामप्रसाद स्वामीजी के साथ ही रहा करता था। कासगंज में एक दिन स्वामीजी स्नान के लिए एक समीप के उद्यान में जा रहे थे। उस समय रामप्रसाद स्नान के उपकरण उठाए महाराज के पीछे २ चला आता था। एक पका हुआ आम पेड़ से गिर कर मार्ग में पड़ा था। महाराज तो उसे लाँघ गए, परन्तु पीछे आते रामप्रसाद का मुख ललायित हो गया। उसने झुक कर वह फल उठा लिया। स्वामीजी ने उसकी इस क्रिया को देख कर उसे कहा, "रामप्रसाद! यह उद्यान तुम्हारा घर का नहीं है। इसलिए पराया फल उठा कर तुमने एक प्रकार की चोरी की है।" अपने स्थान पर आकर स्वामीजी ने उस पर एक रुपया दण्ड भी लगा दिया।

एक दिन स्वामीजी बाज़ार में चले जा रहे थे। उस समय सामने से एक बलिष्ठ साँड आ निकला। वह साँड मारा करता था और मनुष्यों के पीछे भी दौड़ता था। सब लोग मारे डर के चबूतरों पर चढ़ गए और स्वामीजी को भी ऐसा ही करने के लिए पुकार-पुकार कर कहने लगे। परन्तु स्वामीजी एक पांव

भी इधर उधर न हुए। सीधे साँड की ओर चलते गए। जब उसके बहुत निकट पहुँच गए तो साँड आप ही मार्ग छोड़ कर एक ओर से निकल गया। स्वामीजी के इस धैर्य और निर्भयता पर सारा बाज़ार आश्चर्य-चकित हो गया। चैनसुख ने कहा, "स्वामीजी! यदि साँड सींग चलाता तो आप क्या करते?"

महाराज ने हँस कर कहा, "और क्या करते, सींग पकड़ कर उसे परे धकेल देते।"

स्वामीजी महाराज ने यहाँ चिरकाल तक निवास किया। उनके सत्संग से अनेक सज्जनों ने लाभ उठाया। परन्तु चैनसुखजी ने श्री-सेवा और सत्संग का सब से अधिक लाहा लूटा। ऐसा निहाल हुआ कि स्वामीजी की संगति के प्रभाव से संस्कृत भाषा में बातचीत तक करने के योग्य हो गया।

कासगंज पाठशाला का जब पूरा प्रबन्ध हो गया तो एक दिन स्वामीजी चुपचाप वहाँ से प्रस्थान कर गए और ग्रामानुग्राम विचरते हुए रामघाट में आ विराजे।

छलेसर में सबसे बड़े भूमिहार ठाकुर मुकुन्दसिंहजी थे। वे बड़े विचारवान् सज्जन थे। छलेसर के इधर-उधर चौहान राजपूतों के कोई साठ के लगभग गांव हैं। उन सब में मुकुन्दसिंहजी सम्मानित नेता थे। छोटे-बड़े सभी उनकी बात मानते थे। नाती-गोती सभी अपने झगड़े-रगड़े उनसे निपटाते थे। उनके पास राजपूतों की सदा भीड़ लगी रहती थी।

ठाकुर मुकुन्दसिंहजी ने सम्वत् १६२४ में कर्णवास में श्री स्वामीजी के दर्शन किए थे। यद्यपि उस समय उन्हें दो घण्टे ही श्री-सेवा में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और वे बहुत थोड़ा उपदेश सुन सके थे, परन्तु उतने ही से उनके विवेक-नेत्र खुल गए थे; उन्हें सत्य का प्रकाश प्राप्त हो गया था।

मुकुन्दसिंहजी के हृदय में स्वामीजी के लिए अगाध अनुराग और गाढ़ भक्ति उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने छलेसर में जाकर अपनी भूमिहारी के कोई बीस स्थानों से मूर्तियाँ उठवा कर पास बहती कालिन्दी नदी के तलालीन कर दी थीं। वे अपने विचारों का प्रचार भी करने लग गये थे। उनके भाई मुन्नासिंहजी भी स्वामीजी के अनुरागी हो गए थे। उनकी प्रबल कामना थी कि स्वामीजी को छलेसर में जाकर उनकी सेवा करें। उन्होंने जब सुना कि श्री गुरु-

देव रामघाट में विराजमान थे तो उन्हें अतीव प्रसन्नता प्राप्त हुई। ठाकुर मुकुन्दसिंहजी ने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी सम्वत् १८२७ को रामघाट में आकर स्वामीजी से छलेसर पधारने के लिये बड़े अभिप्राय से प्रार्थना की। भगवान् ने अपने अनन्य भक्त की विनती स्वीकार कर ली और मार्गशीर्ष मास में वहां पहुँचने का वचन दे दिया। ठाकुर मुकुन्दसिंहजी ने छलेसर लौट कर जब स्वामीजी के शुभागमन का सु-समाचार अपने भाई और इष्ट-मित्रों को सुनाया तो सभी के मन आनन्द में हिलोरें लेने लगे।

चार मार्गशीर्ष को स्वामीजी को छलेसर पधारना था। उस दिन सवेरे ही से सारे नगर में प्रसन्नता का सागर उमड़ आया था। सभी गांव-वासियों के मुख-कमल एक पवित्र प्रमोद से प्रफुल्लित हो रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि आज इस गांव में कोई पवित्रता और धर्म्म का अवतार आ रहा है।

स्वामीजी के स्वागत के लिये कोई डाई सौ मनुष्य नंगे पांव डेढ़ कोस तक आगे गये और कालिन्दी-तीर पर महाराज के दर्शन करके सबने चरण छूकर नम्रीभूत नमस्कार किया। ठाकुर मुकुन्दसिंहजी ने महाराज के गले में पुष्पों की माला पहराई और अपने दाहिने हाथ से सिर पर छत्र करके पालकी में बैठने की विनती की। स्वामीजी सब भक्तों के मुख-मंडल को अपने मधुर वचनामृत से सींचते हुए बोले कि आप सब के साथ हम भी पैदल ही चलेंगे।

उस दिन सारे गांव में एक महोत्सव मनाया जा रहा था। बूढ़े, बच्चे और युवा, सभी नर-नारी अपने घरों के आगे खड़े होकर, छतों पर चढ़ कर, महाराज के शुभागमन की बाट जोह रहे थे। जब महाराज गांव में पधारे तो जैसे चांद को देख कर चकोर प्रसन्न होता है, ऐसे ही सब के चित्त प्रसन्नता पूर से भरपूर हो गये। स्वामीजी की स्वागत-यात्रा छलेसरवासियों को कृतार्थ करती हुई गांव में से घूम कर बाहर पश्चिम की ओर एक उद्यान में जाकर ठहर गई। उसी उद्यान में स्वामीजी का निवास नियत किया गया था। पहला मकान साधारण-सा था। इसलिये मुकुन्दसिंहजी ने थोड़े ही दिनों में स्वामीजी के लिए एक नया सुन्दर निवास-स्थान बनवा दिया। उसके आगे अनुमान से बीस गज लम्बा और बीस गज चौड़ा चबूतरा निर्माण हुआ। उस चबूतरे पर प्रति चौथे पहर एक सुन्दर और स्वच्छ जाजम बिछ जाती।

फिर एक उत्तम चौकी लगाकर उस पर कालीन डाला जाता और उस पर बैठ कर महाराज लोगों को उपदेश देते थे।

ठाकुर श्री मुकुन्दसिंहजी तथा श्री मुन्नासिंहजी ने यद्यपि पहले यज्ञोपवीत लिया हुआ था परन्तु स्वामीजी की अतुल भक्ति के कारण, अपनी बिरादरी के अनेक राजपूतों सहित, उन्होंने स्वामीजी के हाथ से दुवारा जनेऊ धारण किया और उन्हें विधिपूर्वक गुरु बनाया। बहुत लोगों ने उस समय कण्ठियाँ उतार दीं, जिससे विरोधियों ने यह समाचार फैलाना आरम्भ कर दिया कि स्वामीजी जनेऊ उतरवाते हैं। परन्तु थोड़े ही दिनों में लोगों को सचाई का ज्ञान हो गया।

सैकड़ों राजपूत नित्य दूर-दूर से स्वामीजी का उपदेश सुनने आते और मुकुन्दसिंहजी उन समागत भाइयों का बड़े भाव से आतिथ्य किया करते थे। वहां स्वामीजी के साथ धर्म-चर्चा करने के लिये कई मौलवी और काज़ी भी आते थे। महाराज संस्कृत ही में उत्तर देते थे परन्तु पण्डित लोग अनुवाद करके उन्हें समझा देते थे, जिससे उन्हें पूरा संतोष हो जाता था।

स्वामीजी के पधारने के कुछ दिन पश्चात्, वहां भी वैदिक पाठशाला स्थापित हो गई। उस पाठशाला में बीस विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। ब्राह्मण बालक तो भोजन भी वहां से पाते थे, परन्तु क्षत्रियों के पुत्रों का अपना प्रबंध था। ठाकुर मुकुन्दसिंहजी तथा मुन्नासिंहजी जब तक सवेरे स्वामीजी का शुभ दर्शन न पा लेते तब तक जलपान भी न करते थे। जब वे स्वामीजी के पास जाते तो बड़ी दूर जूता उतार कर आगे आते और स्वामीजी के चरणों को छूकर नमस्कार किया करते। वहां से लौटते समय भी विधिपूर्वक नमस्कार करके लौटते और महाराज की ओर पीठ नहीं करते थे।

श्री भगवान् अपने भक्तों के घरों के सुधार का भी यत्न किया करते थे। उनके प्रेमी मुकुन्दसिंहजी अपने पुत्र चन्दनसिंह से कुछ रुष्ट रहते थे। जब श्री स्वामीजी को इस बात का पता लगा तो उन्होंने मुकुन्दसिंहजी को कहा, "पिता को विशेष कोमल होना चाहिये। छोटे यदि छोटापन करें तो बड़ों को भी अपना बड़प्पन त्याग देना उचित नहीं। सन्तान के साथ वैमनस्य रखना सांसारिक सुख को किरकिरा कर देना है—फीका बना देना है। परस्पर की

खींचातानी से अन्त में स्नेह-सूत्र टूट जाया करता है। आपको उचित है कि अपने पुत्र के लिए वात्सल्य-भाव प्रकाशित करें।"

इस प्रकार उपदेश देकर महाराज ने चंदनसिंह को मुकुन्दसिंहजी की गोद में बैठा दिया और पिता-पुत्र का मनमुटाव मिटा कर मेल करा दिया।

स्वामीजी महाराज के लिए उत्तम भोज्य पदार्थों का थाल, प्रति-दिन नियत समय पर, ठाकुरों के यहां से आ जाया करता था। एक दिन स्वामीजी चबूतरे पर बैठे थे और उनके भोजन के आने में कुछ देर थी। उस समय एक कृषक मक्का की मोटी-मोटी रोटियां लिए अपने खेत को जा रहा था। मार्ग में मुनिराज को बैठे देख उसके हृदय में भक्तिभाव उमड़ आया। उसने आकर महाराज को नमस्कार किया और विनती की कि भगवन्! आज मेरा अन्न ग्रहण करके इस तुच्छ किसान को भवसागर से पार उतारिये। स्वामीजी ने अति प्रसन्नता से वहीं बैठे अपने हाथों पर उससे मक्का की एक मोटी रोटी ले ली और वे अतीव रुचि से उसका भोग लगाकर तृप्त हो गये।

महाराज के इस अनुग्रह से उस कृषक का हृदय गद्‌गद् हो गया, तन पर रोमांच हो आया, उसकी आंखें अनुराग-रस के पानी-पूर से परिपूर्ण हो गईं।

छलेसर में धर्म-प्रचार करते हुए महाराज ने वहां की चौहान बिरादरी को पूर्ण प्रभावित कर दिया। सैकड़ों राजपूतों ने उनसे गायत्री गुरु-मंत्र ग्रहण किया और सहस्रों मनुष्य आपके अनुयायी हो गये। महाराज यहाँ एक मास से अधिक ठहरे। जिस दिन महाराज को प्रस्थान करना था, दैवयोग से उस दिन आकाश में बादल घिरे हुए थे और कुछ बूंदाबांदी भी हो रही थी। ठाकुरों ने अनुरागवश बहुत ही विनय की कि भगवन्! आज का दिन और ठहर जाइए। परन्तु स्वामीजी दृढ़-संकल्प थे। "जिस दयानन्द ने अपने बन्धुओं की मोह-ममता की सुदृढ़ शृंखला को तोड़ कर खण्ड-खण्ड कर दिया है आज वह तुम्हारे स्नेह के तार से कैसे बंध सकता है?"—यह कहते हुए वे वहाँ से चल पड़े। भक्त लोग महाराज को बहुत दूर तक पहुँचाने गए। पीछे लौटते समय ठाकुर मुकुन्दसिंहजी और मुन्नासिंहजी ने महाराज के चरणों की रज अपने माथे पर रमाई। वे नेत्रों से अविरल अश्रुधारा मोचन करने लगे। उनका कण्ठ रुक गया और वे भगवान् की विरह-वेदना से व्यथित दिखाई देने लगे।

महाराज अपने प्रेमियों को व्याकुल देख कर स्नेह-रस से सने हुए शब्दों में सम्बोधन करके बोले, "इतने अधीर क्यों होते हो? अभी तो कई बार छलेसर में आना होगा। संन्यासी पवन की भाँति अप्रतिबंध-विहारी होते हैं। उनमें इतनी ममता बाँधना दुःख ही उठाना है। जब तुम मेरे कथनों पर चलोगे, अपने चरित्र को उच्च बनाओगे और परोपकार कार्य में रत रहोगे तो मैं आपसे दूर नहीं हूँ। आपके समीप ही हूँ।"

इस प्रकार भक्तजनों को ढाढस बँधा कर महाराज आगे चल पड़े और विचरते हुए सोरों जा पहुंचे। वहाँ चार मास निवास करने के अनन्तर भ्रमण करते हुए फरुखाबाद में आ विराजमान हुए।

फरुखाबाद में स्वामीजी ने पाठशाला का निरीक्षण किया। पाठशाला का एक कर्मचारी विद्यार्थियों को मारा पीटा करता था; वह पक्षपाती भी था। महाराज उसे निकाल देना चाहते थे, परन्तु प्रबन्धकर्त्ता सेठ पन्नालालजी ऐसा करने के लिए उनके साथ सहमत न थे। स्वामीजी को अन्त में पाठशाला का प्रबन्ध परिवर्तन करना पड़ा। उन्होंने मिर्जापुर से पंडित युगलकिशोरजी को बुला कर मुख्याध्यापक बनाया और प्रबन्ध का कार्य श्री निर्भयरामजी को सौंप दिया।

फरुखाबाद की पाठशाला के प्रबन्ध से निश्चिन्त होकर स्वामीजी कर्णवास आदि स्थानों में पर्यटन करते हुए भाद्रपद सुदी चौदस सम्वत् १९२८ को अनूपशहर में पधारे। जब लाला बाबू की कोठी में उतरने लगे तो महाराज ने उस स्थान के नौकर को कहा कि यहाँ गोरा लोग आदि सभी आकर ठहरते हैं, इस लिए इसको भीतर से धो डालो। उसने जब भीतर के सारे भाग को बरांडेसहित धो डाला तब महाराज ने भीतर आसन लगाया।

एक दिन कुछ लोग सूर्य को अर्घ्य दे रहे थे। स्वामीजी ने उनसे कहा, "अरे भोले भाइयो! जल में जल क्यों देते हो? यदि किसी पेड़ को पानी दो तो कुछ लाभ भी हो सकता है।"

इस बार स्वामीजी ने यहाँ अवतारवाद का बलपूर्वक खंडन किया। अनूपशहर से चल कर स्वामीजी कार्तिक मास सम्वत् १९२८ को कर्णवास में सुशोभित हुए। यहाँ ठाकुरों के कई लड़के यज्ञोपवीत लेने को समुद्यत थे। इसलिए स्वामीजी की आज्ञा से कोई बारह पंडित जप करने पर बैठाए गए। सात

दिन तक बृहद् हवन होता रहा। फिर महाराज ने पन्द्रह मनुष्यों को जनेऊ धारण कराया। उस समय स्वामीजी ने कुमारों को ब्रह्मचर्य अवस्था तक विवाह न करने का उपदेश दिया; और जो विवाहित थे उनको आदेश दिया कि नियम से गृहस्थ-धर्म्म का पालन करना। अपनी पत्नी के बिना दूसरी स्त्री को स्वप्न में भी ध्यान में न लाना।

ठाकुर कँधलसिंह रात को भी स्वामीजी की सेवा में उन्हीं के स्थान में रहते थे। उन्हीं दिनों में बरौली के राव कर्णसिंह शरत्पूर्णिमा का स्नान करने के लिए बहुत दिन पहले ही वहाँ आ गये थे। इस बार उन के साथ नाचरङ्ग की सामग्री के लिये वेश्यायें भी थीं। राव महाशय का उतारा स्वामीजी के आसन से कोई डेढ़ सौ पग के अन्तर पर एक बारहदरी में था। वे स्वामीजी से पहले ही चिढ़े हुए थे। इस बार भी महाराज को सताने के उपाय सोचने से पराङ्मुख न थे। वे वैरागियों को स्वामीजी पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित करते रहते थे।

कर्णवास में मौजबाबा नामक एक अत्युत्तम महात्मा रहते थे। किसी कारण से उनके दोनों नेत्रों की ज्योति जाती रही थी। वे बड़े मस्त सन्त थे। शिशुवत् दिगम्बर विचरते। जब गङ्गा-स्नान करने लगते तो स्त्रियाँ भी उन्हें मल-मल कर नहलाने लग जातीं और वे 'छोटी माँ' कहते हुए भूमि पर गिर जाते। उनकी वासनायें शान्त थीं। भेद-भावना उनमें नहीं थी। वे प्रायः मौन रहते और पक्के घाट पर निवास करते थे। सभी लोग मौजबाबा को योगी मानते थे। स्वामीजी महाराज और मौजबाबा, दोनों गङ्गा के पावन पुलिन पर बैठे घण्टों वार्त्तालाप करते रहते। उस समय वे किसी भी दूसरे मनुष्य को अपने पास नहीं आने देते थे।

एक दिन मौजबाबा को पता लगा कि राव कर्णसिंह के भड़काने से कुछ वैरागी रात्रि-समय स्वामीजी पर अत्याचार करना चाहते हैं। वे तत्काल वैरागियों के डेरे पर जा पहुँचे। वैरागी उनके भक्त थे। इसलिए जिस समय बाबाजी ने उन्हें समझाया तो वे सर्वथा शान्त हो गये और फिर कभी राव महाशय के उकसाने में नहीं आये।

जब राव महाशय को वैरागियों पर उत्तेजना की चाल चलने से भी सफलता न हुई तो वे विवेक-विचार से इतने शून्य हो गये कि एक रात उन्होंने

अपने तीन नौकरों को लपलपाती तलवारें देकर स्वामीजी के वध के लिए भेज दिया। कोई आधी रात का समय होगा। सर्वत्र सन्नाटा छा रहा था। केवल गङ्गा की सायँ-सायँ ध्वनि ही सुनाई देती थी। यदि पवन का कोई झोंका आता तो पेड़ों के पत्र भी मर्मर शब्द करने लगते थे। स्वामीजी उस समय तुर्य्यावस्था में ध्यानारूढ़ थे। थोड़ी दूरी पर कैथलसिंह गाढ़ी निद्रा में पड़ा खर्राटे ले रहा था। ऐसे समय में, कर्णसिंह के तीन बलिष्ठ नौकर, हाथ में नङ्गी तलवारें लिये, चुपचाप चले आते थे। हाथी के कितने ही लम्बे दाँत हों, भालू के कितने ही तीक्ष्ण नख हों, परन्तु केसरी की कन्दरा के निकट जाने के लिए तो परम साहसी होना चाहिए।

कर्णसिंह के नौकरों के पास खड्ग तो तीक्ष्ण थे, परन्तु एक परोपकारी वीतराग को मारने का साहस न था। उनका तन थर-थर काँपता था, पाँव धूजते थे और हृदय की धड़कन बढ़ती जाती थी। उनकी आँखों के सामने अन्धेरा छा रहा था। यह स्थान गङ्गा के कूल पर होने के कारण कुछ ऊँचा-नीचा अवश्य था और वहाँ छोटी-छोटी झाड़ियाँ भी थीं। परन्तु उन लोगों को तो मारे भय के वह स्थान सीधी खड़ी घाटियाँ और सघन वन प्रतीत होने लगा। वे देर तक उस स्थान में उलझे रहे। अन्त में उन के पाँव फूलने लगे। उनसे आगे न बढ़ा गया। इसलिए लौट कर राव महाशय के पास ही जा पहुँचे। राव महाशय ने उन्हें धमका कर फिर भेजा। उस समय स्वामीजी भी समाधि से उतर आये थे और जो डाँट-डपट कर्णसिंह ने अपने नौकरों को की थी वह उन्होंने भी सुन ली थी। दूसरी बार भी वे नौकर लौट गये और राव महाशय को अपनी अशक्ति बताने लगे। पर राव कब मानते थे! उन्होंने नौकरों को बहुत झिड़कियाँ और गालियाँ देकर तीसरी बार फिर स्वामीजी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। वे भी ज्यों-त्यों करके गिरते-पड़ते स्वामीजी की कुटी के पास आ पहुँचे। आततायियों को अति समीप आते देख महाराज ने उठकर बलपूर्वक 'हुंकार' किया और भूमि पर एक लात भी मारी। स्वामीजी का 'हुंकार' उनके लिए सिंह-नाद के समान हो गया। वे मारे डर के मूर्छित होकर गिर पड़े, उन के हाथों से तलवारें गिर पड़ीं। बड़ी देर के पश्चात् वे सम्भल कर वहाँ से भाग गये।

महाराज की गम्भीर गर्जना से कैथलसिंह की भी आँख खुल गई। वह काँपता हुआ स्वामीजी से बोला, "वे दुष्टजन कहीं फिर न आ जायें, इसलिए चलिये किसी ऊंचे-नीचे स्थान में छिपकर रात बिता लें।"

स्वामीजी ने "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" यह श्लोक पढ़ कर उसे कहा, "कैथलसिंह! संन्यासिजन अपनी रक्षानिमित्त गढ़ और गुहा का आश्रय नहीं ढूंढा करते. हमारा रक्षक तो केवल एक भक्त-वत्सल भगवान् ही है। तुम्हें घबराना नहीं चाहिए। हम चाहें तो उनके ही शस्त्रों को छीनकर उन्हें सीधा कर सकते हैं।"

कैथलसिंह उसी समय दौड़ा हुआ नगर में गया। उसने ठाकुर कृष्णसिंह आदि को जगाकर इस घटना का समाचार कह सुनाया। स्वामीजी के प्रेमी ठाकुर लोग राव कर्णसिंह के अत्याचार से अति कुपित हुए और उसके उतारे के आगे आकर उसे डाँटने लगे। कृष्णसिंहजी ने कर्णसिंह को ललकार कर कहा कि यदि तुझमें कुछ भी क्षत्रियत्व है तो एक बार हमारे सामने बाहर आ। परन्तु राव महाशय इतने भयभीत हुए कि उन्होंने अपने मकान के द्वार बन्द कर लिये।

उन दिनों राजघाट पर पंजाबी सेना की एक मण्डली रहती थी। अगले दिन किसी प्रकार उन लोगों को भी राव महाशय के अत्याचार का समाचार मिल गया। निराकार ईश्वर को मानने वाले सन्त पर आक्रमण हुआ है, इस समाचार ने उन वीरों की नाड़ियों में रक्त के वेग को बहुत बढ़ा दिया। पच्चीस पंजाबी वीर शस्त्र बाँधे स्वामीजी के पास आ गरजे और हाथ जोड़कर कहने लगे कि सन्तजी महाराज! आप हमें एक बार आज्ञा दीजिए और फिर देखिए कि हम उन साधु-सन्तों के द्वेषियों को कैसा स्वाद चखाते हैं। इस कार्य में चाहे हमारी नौकरी भी चली जाय, परन्तु उनको तो भगाकर ही लौटेंगे।

श्री स्वामीजी ने अति प्रेम-भरे शब्दों से उन वीर सैनिकों को शान्त किया और सत्संग में बैठाकर एक अत्युत्तम धर्मोपदेश सुनाया।

राव महाशय को उनके सम्बन्धियों ने समझाया कि यहाँ के ठाकुर अब आपके विरोधी हो गए हैं, इसलिए अब आपका यहाँ से चले जाना ही अच्छा है। वे भयभीत तो पहिले ही थे, वहाँ से तुरन्त भाग गए। कहते हैं कि घर

जाकर वे रुग्ण होगए और उनकी दशा उन्मत्त-की-सी हो गई। उनका पचास सहस्र का एक मुक़द्दमा प्रयाग में चल रहा था, उसमें भी उनकी हार हो गई।

महाराज के श्री-उपदेशों से अनेक पतितों का परित्राण हुआ; अबोध जनों को विवेक के नेत्र प्राप्त हुए। लोगों ने दूर-दूर से आकर उनसे गुरुमन्त्र ग्रहण किया।

स्वामीजी का स्वभाव अति शान्त था। वह कुपित कभी नहीं होते थे। दुर्वचन अथवा अपशब्द तो उनके मुख से निकलता ही न था। उनकी मधुवर्षिणी वाणी में अश्लीलता का लेश भी नहीं होता था। उनपर लोगों ने, क्या रात को और क्या दिन को, अनेक वार हाथ चलाए, परन्तु उन्होंने कभी किसी को ताड़ना नहीं की। समर्थ होते भी अत्याचार सहन करते रहे। महाराज खाँसने, खखारने और हुङ्कार आदि से जो कभी अधम जनों को कम्पित कर दिया करते थे, वह केवल विभीषिका ही दिखाते थे। उनके चित्त में किसी को सताने का भाव किंचित् भी नहीं होता था।

लोग लट्ठ से, तलवार से, ईंट-पत्थर और विष तक से उनके प्राण लेने के लिए तुले रहते। चालीस-चालीस और पचास-पचास मनुष्य मिलकर उनको मारने आते। स्थान-स्थान पर उनके विरोधी विद्यमान थे। उनका चिन्ह-चक्र तक मिटा देने के लिए अनेक स्थानों में षड्यंत्र रचे जाते थे। परन्तु दयानन्द थे कि विरोध से व्याप्त वायुमण्डल में अकेले, कोपीनमात्रधारी, गंगा के किनारे गाँव-गाँव में चक्कर लगाकर प्रचार करते थे। बस्ती से बाहर वनों में रहते थे, निर्जन स्थानों में रातें काटते थे और बालू पर ही सो रहते थे।

उनमें आश्चर्यजनक साहस, असीम उत्साह, परम निर्भयता और अलौकिक धैर्य था।

पाँचवाँ सर्ग

कर्णवास से प्रस्थान करके स्वामीजी भ्रमण करते हुए मार्गशीर्ष सम्वत् १६२८ को फ़रुखाबाद पहुँचे। यहाँ महाराज ने तीन मास निवास किया। फाल्गुन वदी सम्वत् १६२८ को स्वामीजी फ़रुखाबाद से प्रस्थान कर

प्रयाग, मिर्ज़ापुर आदि स्थानों में विचरते हुए बनारस में पधारे और लाला माधोदासजी के उद्यान में ठहरे। प्रतिदिन धर्म-प्रचार होता रहा। फिर चैत्र सुदी रामनवमी सम्वत् १६२६ को महाराज ने पूर्व की यात्रा आरम्भ की।

महाराज भ्रमण करते हुए डुमराऊँ पधारे और नागजी उदासी के स्थान में ठहरे। नागजी अतीव सज्जन और स्वामीजी के अनुयायी थे। उन्होंने अति भक्ति-भाव से स्वामीजी का आतिथ्य किया। १६ एप्रिल तक वहाँ ठहर कर स्वामीजी २० एप्रैल को नागजी के साथ आरा में आये। उस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। स्वामीजी ने आरा में हरवंशराय नामक एक भद्र व्यक्ति के यहां आसन किया। हरवंशरायजी ने बड़ी श्रद्धा से स्वामीजी की सेवाशुश्रूषा की और प्रस्थान के समय, कलकत्ता आदि के व्यय के लिये, अत्याग्रह से एक सौ रुपया भेंट किया। महाराज ने वह रुपया अपने ब्रह्मचारी को रखने के लिए दे दिया।

आश्विन १६२६ में महाराज पटने में आये और डिपटी सावनमल आदि सज्जनों ने उनका स्वागत कर के महाराजा भूपसिंह के दशबाग में डेरा कराया।

उन दिनों पटना में पण्डित रामजीवन भट्ट प्रसिद्ध थे। वे पचास-साठ मनुष्य साथ लेकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये; परन्तु दो-एक बातों में ही निरुत्तर होकर चले गए।

एक छोटेलाल नामक व्यक्ति ने स्वामीजी के पास आकर पूछा, "जीव मर कर कहां जाता है?" स्वामीजी ने यजुर्वेद के अनुसार उत्तर दिया, "जीव देह छोड़ने के अनन्तर वायुरूप होकर आकाश में रहता है। फिर जल में जाता है। उसके पश्चात् क्रमशः ओषधियों में, अन्न में और पुरुष में होकर गर्भ में स्थान करता है और फिर समय पर जनमता है।" उस समय स्वामीजी ने स्वर्ग-नरक के मिथ्या विश्वास का खूब खण्डन किया।

गुरुप्रसाद नामक एक सम्भ्रान्त व्यक्ति पटना में निवास करते थे। वे अनेक सज्जनों सहित स्वामीजी के दर्शनार्थ गये और नमस्कार करके पूछने लगे, "भगवन्! संसाराश्रम त्यागना उचित है अथवा नहीं?" स्वामीजी के पूछने पर गुरुप्रसादजी ने कहा, "संसाराश्रम से मेरा आशय पुत्र, स्त्री, परिवार, गृह इत्यादि से है।" स्वामीजी ने उत्तर में वर्णन किया, "संसार में तो खाना-

पीना, सोना-जागना, श्वास-प्रश्वास लेना और विद्याभ्यास करना आदि सभी कर्म आ जाते हैं और इनका त्याग करना असम्भव है।"

गुरुप्रसादजी को स्वामीजी के उत्तर से पूर्ण संतोष हो गया।

स्वामीजी ने विज्ञापनों द्वारा नगर में घोषणा कर दी कि मूर्ति-पूजन और अवतारवाद आदि विषयों पर चाहे जो आकर शास्त्रार्थ कर ले। हम उसके भ्रम-निवारणार्थ सर्वदा सर्वथा समुद्यत हैं। परन्तु किसी भी पण्डित को उनके सामने आने का साहस न हुआ।

एक दिन एक मैथिल पण्डित स्वामीजी के पास आया और बड़ी देर तक संस्कृत में बातचीत करता रहा। प्रसंगवश स्वामीजी ने भागवत का खण्डन आरम्भ कर दिया। इस पर उस पण्डित ने कहा कि स्वामीजी! आप कुछ भी कहें, परन्तु भागवत के अठारह सहस्र श्लोक हैं; ऐसे और श्लोक रचने की सामर्थ्य आजतक किसी भी दूसरे विद्वान में तो नहीं हुई।

महाराज ने हँसकर कहा कि जैसे कल्पित कथा के अठारह सहस्र श्लोक भागवत में हैं, वैसेही कल्पित श्लोक हम अड़तीस सहस्र रच सकते हैं। नमूने की रीति से जूते और खड़ाओं के प्रश्नोत्तर ही पहिले लिखिए। स्वामीजी ने अभी उसे दस श्लोक ही लिखाए थे कि वह उन श्लोकों के वचन-माधुर्य पर और पद-विन्यास के लालित्य पर ऐसा लट्टू हुआ कि उसने महाराज के चरण पकड़ लिये। वह ब्राह्मण स्वामीजी की रचनाशक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ वहां से चला गया।

महाराज के निकटवासी भक्त इस बात का विश्वास करते थे कि स्वामीजी चाहें तो उनके मनोरथों और उनके संकल्पों को जान सकते हैं। एक दिन वहां स्वामीजी के रसोइए का चाचा आया और रसोइए को कहने लगा कि स्वामीजी के भोजन कर चुकने पर ही तुम भोजन पाते होगे। इस प्रकार तो रसोई जूठी हो जाती है। इसलिए तुम लकीर निकाल लिया करो और उस लकीर से बाहर ही उन्हें भोजन दिया करो।

स्वामीजी महाराज उस समय स्नान करने गये हुए थे। जब स्नान करके आये तो चौके के बाहर ही बैठ गये और कहने लगे कि हमें भोजन यहीं दे दो। रसोइये ने विनय की कि भगवन्! आगे तो आप चौके में बैठकर

भोजन पाया करते थे। आज क्या कारण है कि आप चौके से बाहर बैठ गये हैं? स्वामीजी ने कहा कि तुम्हें और तुम्हारे चाचा को बिरादरी से बाहर निकाले जाने का भय है, मैं कहीं भी भोजन पा लूं, मुझे किसी का डर नहीं। उस रसोइए को बड़ा आश्चर्य हुआ कि महाराज ने मेरे मन की बात को कैसे जान लिया!

राजनाथ तिवारी नामक एक युवक पटने के नार्मल स्कूल में पढ़ता था। वह मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत जोरानपुर ग्राम का रहनेवाला था। लोगों से स्वामीजी के वैदिक ज्ञान की प्रशंसा सुनकर उसके मन में भी वेदाध्ययन का विचार उत्पन्न हो आया। उसने एक दिन श्रीचरणों में आकर निवेदन किया कि यह सेवक रसोई आदि बनाकर आपकी सेवा करता हुआ आपसे विद्या-ग्रहण करना चाहता है। स्वामीजी का पहला पाचक भोज्य वस्तुयें चुरा लिया करता था। इसलिए स्वामीजी ने उसे निकालकर राजनाथ की आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर उसे रख लिया।

अगले दिन भोजनादि के अनन्तर राजनाथ ने नार्मल स्कूल मे अपना नाम कटा लिया; पर डिपटी सोहनलालजी के पास बैठे-बैठे उसे रात हो गई। सोहनलालजी के मकान से स्वामीजी के उतारे का स्थान कोई दो कोस की दूरी पर था। वे नित्य नियम से स्वामीजी के लिए दूध भेजा करते थे। उस दिन उन्होंने राजनाथ ही को दूध लेते जाने के लिए कहा। उस समय अंधकार छा गया था। कुछ वर्षा हो जाने के कारण कीचड़ भी हो रहा था। स्वामीजी के स्थान पर जाने से राजनाथ कतराने लगा। सोहनलालजी ने कहा कि तू अभी इतने अंधेरे से डरता है, परन्तु स्वामीजी तो वनों में वास करते हैं। उनके पास तेरा निर्वाह कैसे हो सकेगा? सोहनलालजी के प्रोत्साहन से राजनाथ ने मिर्ची कमर के साथ बाँध ली और एक हाथ में दूध का लोटा और दूसरे में बांस की लकड़ी लेकर वह चल पड़ा। थोड़ी दूर जाकर उसने देखा कि एक भयङ्कर सर्प जल से निकलकर मार्ग में पड़ा है। राजनाथ डरकर पीछे को हटने लगा तो उधर भी उसे पथ पर एक भीषण नाग दिखाई दिया। वह कुछ देर तो किं-कर्त्तव्यविमूढ़ता में निमग्न खड़ा रहा, परन्तु अन्त में स्वामीजी की ओर जाने का निश्चय करके सर्प पर से छलांग मारकर पार हो गया और जब वह स्वामीजी के

पास पहुँचा तो एड़ी से चोटी तक पसीने से भीग रहा था। महाराज ने मुस्करा कर कहा, "क्या तुम मार्ग में डर गये थे? क्या तुम सर्प देखकर भयभीत हो गये थे?" राजनाथ को इस बात पर अजीव आश्चर्य हुआ कि मार्ग में घटित घटनाओं का ज्ञान गुरूजी को मेरे पहुंचने से पहले ही कैसे हो गया है! उस दिन से उसके हृदय में स्वामीजी के लिए अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हो गई।

पण्डित रामावतार तिवाड़ी उस समय पटना कालेज में पढ़ाते थे। उन्होंने स्वामीजी से भट्टोजीदीक्षित के एक श्लोक पर थोड़ी देर तक बातचीत की, परन्तु लोगों ने उनको यह कहकर रोक दिया कि तुम स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने के योग्य ही नहीं हो।

आश्विन सुदी १ सं० १९२६ को सायंकाल स्वामीजी मुङ्गेर को प्रस्थान करने लगे तो श्रीयुत सोहनलालजी आदि सज्जनों ने उन्हें बड़े सम्मान से रेलवे स्टेशन तक पहुँचाया और गाड़ी में बैठाकर घर को लौटे।

सायंकाल ८ बजे पटने से चलकर गाड़ी रात के बारह बजे जमालपुर जंकशन पर पहुँची। उस समय मुङ्गेर को जानेवाली गाड़ी के छूटने में एक घण्टा शेष था। स्वामीजी पटने की गाड़ी से उतर कर वहीं स्टेशन के आङ्गन में टहलने लग गये। उस समय वहाँ एक अंगरेज इंजिनियर पत्नी सहित खड़ा था। उस इंजिनियर की पत्नी ने कोपीनमात्रधारी एक परमहंस को अपने सामने घूमता देख कर बुरा मनाया। इंजिनियर महाशय ने तुरन्त जाकर स्टेशन मास्टर को कहा, "यह कौन नंगा टहल रहा है? इसे इधर-उधर घूमने से बंद कर दो।" स्टेशन-मास्टर ने महाराज को अति विनीत भाव से कहा, "भगवन्! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिए। मुङ्गेर की गाड़ी के जाने में अभी बड़ी देर है।"

स्वामीजी पहले ही सब कुछ समझ गये थे। इसलिए उन्होंने स्टेशन-मास्टर को कहा, "जिस महाशय ने मुझे हटा देने के लिए आपको यहाँ भेजा है उसे जाकर कह दीजिए कि हम उस युग के मनुष्य हैं जिस युग में बाबा आदम और माता हव्वा अदन उद्यान में नग्न घूमने में किंचित् भी लज्जा न करते थे।" महाराज ने टहलना पहले की भांति जारी ही रक्खा। इंजिनियर ने स्टेशनमास्टर को पुनः बुलाकर अपना आदेश दुहराया। इसपर स्टेशनमास्टर ने कहा कि महाशय! यह कोई भिखमंगा तो है ही नहीं जिसे मैं आंगन

से निकाल दूं। वह तो हम और आप जैसों को कुछ भी न समझने वाला एक स्वतन्त्र संन्यासी है। इंजिनियर ने तब महाराज का श्री-नाम पूछा। इस पर स्टेशनमास्टर ने कहा कि इनका नाम दयानन्द सरस्वती है। इंजिनियर महाशय यह कहता हुआ कि क्या ये प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द सरस्वती हैं, तत्काल उठ खड़ा हुआ और स्वामीजी के समीप जाकर उसने विनीत भाव से नमस्कार किया और कहा, "चिरकाल से मेरे चित्त में आपके दर्शनों की अभिलाषा थी। यह मेरा सौभाग्योदय है कि यहां आपके दर्शन हो गये हैं।"

जबतक मुंगेर की गाड़ी खड़ी रही, इंजिनियर महाशय महाराज से वार्तालाप करते रहे और गाड़ी के चलने पर नमस्कार करके चले गये।

प्रातःकाल चार बजे स्वामीजी ने मुंगेर पहुंच एक कबीर-पन्थी की पुष्प-वाटिका मे डेरा लगाया। वह स्थान अति रमणीय और स्वच्छ था। उसके पास ही अभंग-तरंगा गङ्गा भी लहरें मार रही थी।

महाराज को मुंगेर आये तीन दिन हुए थे कि भोजन के समय एक मौन मुनि उनके पास आकर बैठ गया। स्वामीजी ने उसे भोजन के लिये पूछा तो उस समय तो वह बोल पड़ा, परन्तु भोजनानन्तर फिर चुप्पी साध बैठा। स्वामीजी ने उसे उपदेश दिया कि इस प्रकार का मौन मूढ़ जन तो भले ही करें, परन्तु ज्ञानियों को सत्य के कथन में ही कल्याण मानना चाहिए। उनके उपदेश को सुन कर उसने मौन छोड़ दिया और मूर्त्ति-पूजा तथा पुराणों का मिथ्यामूलक होना मान लिया।

चौका-बर्तन के कार्य्य के लिए स्वामीजी के पास वहां एक कहार भी रहता था। उसने एक दिन एक टाल वाले को जाकर कहा कि समीप की वाटिका में एक महात्मा ठहरे हुए हैं, उनकी रसोई के लिये कुछ लकड़ियां दीजिए। टाल वाले ने उसे झिड़क दिया और एक भी लकड़ी न दी। जब वह लौट कर वाटिका में पहुँचा तो स्वामीजी ने तत्काल राजनाथ को कहा कि इस दुष्ट को ताड़ना करो कि यह क्यों लकड़ियां मांगने गया था।

जब राजनाथ उसे ताड़ने लगा तो वह कहार बड़ा विस्मित हुआ कि बिना बताये महाराज को कैसे ज्ञात हो गया कि मैं टाल पर लकड़ियां मांगने गया था।

कुछ दिनों के पश्चात् वहां के प्रतिष्ठित लोग स्वामीजी के पास आने और सेवा-शुश्रूषा करने लगे। नगर के अनेक सुप्रतिष्ठित पण्डित भी धर्म्म-चर्चा करते रहे।

मुंगेर से चल कर श्री स्वामीजी भागलपुर पधारे। वहां युधिष्ठिरनाथ महोदय के मन्दिर में उतारा किया। इस नगर के पण्डितों में स्वामीजी के आने से हलचल मच गई। एक पण्डित स्वामीजी के आने से पहिले तो लोगों के सामने बड़ी-बड़ी डींगें मारता था, परन्तु उनके पधारने पर नगर ही छोड़ कर चला गया।

वहां का एक वैश्य स्वामीजी के लिए भोजन की सामग्री भेजा करता था, परन्तु स्वामीजी को पता लगा कि उसकी भावना यह है कि मेरा आतिथ्य करने से उसे सन्तान की प्राप्ति हो। महाराज ने उसी समय से उसके स्वार्थ के अन्न का ग्रहण करना छोड़ दिया।

एक दिन स्वामीजी के पास कुछ मौलवी और पादरी आकर धर्म्म-चर्चा करने लगे। उन पर महाराज के कथन का इतना प्रभाव पड़ा कि एक बङ्गाली ब्राह्मण, जो कुछ काल से ईसाई हो गया था, फूट-फूट कर रोने लगा। उसने यह भी कहा, "यदि ऐसे उपदेश पहले प्राप्त होते तो हम लोग अपने पुरातन धर्म का परित्याग क्यों करते?"

महाराज को एक दिन नन्दन ओझा मिला। उन्होंने उसे गायत्री-मंत्र का आराधन करना बता कर कृतार्थ किया। इसके अगले दिन महाराज ने बङ्गीय सज्जनों की एक बड़ी उपस्थिति में संस्कृत भाषा में एक अत्युत्तम व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान से लोग बहुत प्रभावित हुए। उस दिन किसी पर्व के कारण गङ्गा के उस पार एक भारी मेला था। उसमें लोग अपनी लड़कियां भी पुरोहितों को दान कर रहे थे। स्वामीजी सायं समय घूमने गये तो बड़ी रात हो जाने पर भी लौट कर न आये। नन्दन महाशय स्वामीजी का भोजन मन्दिर में पहुंचाकर अपने घर चला गया। जब सवेरे स्वामीजी के दर्शनों को आया तो क्या देखता है कि वह भोजन वैसा-का-वैसा रक्खा पड़ा है। उसने स्वामीजी से विनय की, "भगवन्! आपने रात को भोजन क्यों नहीं पाया?" स्वामीजी ने कहा, "महाशय! इस देश में इतना अधर्म्म और अज्ञान फैल रहा है कि गत दिन के मेले पर लोग अपनी लड़कियां तक पण्डितों को दान कर

रहे थे। देश की इस अधोगति को देखकर हृदय अतीव व्यथित हुआ। इसी शोक और चिन्ता में निमग्न बैठे, एक तो गंगापार से ही मैं बड़ी रात बीते यहाँ आया और दूसरे यहां आकर भी, यही मानस वेदना व्याकुल करती रही। इसी लिए भूख और भोजन का ध्यान तक नहीं आया।" महाराज का यह कथन सुन कर नन्दन महाशय भी अति दुःखित हुए और उनके नेत्रों से अटूट अश्रुधारा बह निकली।

स्वामीजी के प्रचार का धीरे-धीरे इतना प्रभाव हो गया कि लोगों ने आप ही शामियाने आदि के लगाने का प्रबन्ध कर दिया। व्याख्यानों में सहस्रों जन आने लगे। व्याख्यान के समय वहाँ एक प्रकार का बाज़ार-सा लग जाता था। बग्घी पर बग्घी आती थी।

महाराजा वर्द्धमान ने स्वामीजी के पास चार नैयायिक पण्डित भेजे। वे देर तक तर्कशास्त्र पर बातचीत करते रहे। जब वे लोग जाने लगे तो उन्होंने कहा, "हम आपके दर्शन महाराजा को भी करायेंगे।

सायंकाल के चार बजे स्वामीजी के पास मौलवी और पादरी लोग धर्म्म-चर्चा करने आया करते थे। उसी समय महाराजा वर्द्धमान वहाँ आ गये और वार्त्तालाप सुनकर चले गए। महाराजा ने पण्डितों को भेजकर स्वामीजी को अपने स्थान पर बुलाया और उसी कोठी में निवास करने की विनती की। परन्तु उस कोठी में गड़बड़ अधिक थी, इस लिए महाराज ने वहाँ निवास करना स्वीकार न किया। इसके पश्चात् भी महाराजा श्रीसेवा में उपस्थित होते रहे।

स्वामीजी एक मास पर्यन्त भागलपुर में निवास कर फिर कलकत्ते की ओर प्रस्थान कर गये।

छठा सर्ग

महाराज पौष सं० १६२६ के लगभग कलकत्ते में पहुँचे। उनको वहाँ बुलाने का उद्योग श्रीयुत चन्द्रशेखर सेन बैरिस्टर ने किया था। स्वामीजी के उतारे के लिए सेन महाशय पहले देवेन्द्रनाथजी ठाकुर के पास गए, परन्तु जब उन्होंने स्थान देने में सङ्कोच प्रकट किया तो फिर उन्होंने

श्रीयुत सुरेन्द्रमोहन को कहा। सुरेन्द्रमोहन स्थान देने में कुछ हिचकते थे सही, परन्तु जब सेन महाशय स्वामीजी को स्टेशन से उनके मकान पर ही ले आये तो सुरेन्द्रमोहन ने प्रसन्नता से स्वामीजी की आव-भगत की और उनको अपने प्रमोद-कानन में उतारा।

स्वामीजी के पधारने का समाचार सारे नगर में फैल गया। अनेक जिज्ञासुजन सत्संग में आने लगे। पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती बड़े पक्के ब्रह्मसमाजी थे। उन्होंने एक दिन स्वामीजी से पूछा कि आप जाति-भेद स्वीकार करते हैं अथवा नहीं? उत्तर में महाराज ने कहा कि मनुष्य जाति, पशु जाति और पक्षी जाति आदि भेद तो प्रसिद्ध ही है; परन्तु यदि आपका आशय चार वर्णों से है तो वर्ण जन्म-भेद से नहीं हैं, वे तो गुण-कर्म्म के भेद से हैं। महाराज ने वर्णों के कर्मों की व्याख्या करके उन्हें ऐसी रीति से समझाया कि वे अतीव सन्तुष्ट हो गये।

चक्रवर्ती महाशय के पुनः पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर निराकार है। उसका लक्षण सच्चिदानन्द है। उसकी उपलब्धि चिरकाल तक योगाभ्यास करने से होती है। चक्रवर्ती महाशय ने स्वामीजी से योग-साधन की विधि पूछी। इसके उत्तर में स्वामीजी ने उनको उपदेश दिया कि अभ्यासी को चाहिए कि तीन घड़ी रात रहते उठ बैठे। उस समय मुंह-हाथ धोकर पद्मासन से बैठ जावे और दत्तचित्त होकर गायत्री का ध्यान करे।

स्वामीजी ने हेमचन्द्रजी को अष्टांग योग की विधि और गायत्री मंत्र अर्थसहित लिख दिया। आसन भी लगाकर बताया।

उनके पूछने पर स्वामीजी ने अच्छे प्रकार सिद्ध कर दिखाया कि सांख्य के कर्त्ता कपिल भगवान् परम आस्तिक थे।

उन दिनों श्रीयुत केशवचन्द्र सेन यज्ञोपवीत धारण करने वाले ब्रह्मसमाजियों की निन्दा किया करते थे, इसलिए हेमचन्द्रजी ने इस विषय में स्वामीजी से प्रश्न किया। स्वामीजी ने कहा कि शुभगुणयुक्त मनुष्य को यज्ञोपवीत धारण करना उचित है। आप भी विद्वान् हैं, ब्राह्मणवंशीय हैं, इसलिए यज्ञोपवीत अवश्य ही धारण कीजिए। चक्रवर्ती महाशय ने फिर जनेऊ पहन लिया और अन्य अनेक सज्जनों ने भी उनका अनुकरण करते हुए दुबारा यज्ञोपवीत धारण कर लिए।

पण्डित हेमचन्द्रजी स्वामीजी के अनुयायी बन गये और उनसे उपनिषद् अध्ययन करने लगे। वे स्वामीजी के साथ रहकर चिरकाल तक पढ़ते रहे। कई मास के पश्चात् फरुखाबाद में उनका पाठ समाप्त हुआ।

जिस समय स्वामीजी कलकत्ते गये उस समय श्री केशवचन्द्रसेन वहाँ नहीं थे। वे जब आये तो महाराज के मिलनार्थ प्रमोद-कानन में गये और दर्शन करके देर तक वार्तालाप करते रहे। महाराज ने उनका नाम आदि कुछ भी न पूछा। केशवचन्द्रसेनजी ने वार्तालाप में स्वामीजी से कहा, "क्या आप कभी केशवचन्द्रसेन को भी मिले हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हाँ, मिला हूँ।" उन्होंने कहा, "वह तो कलकत्ते में नहीं था, आप उसे कब मिले थे?" स्वामीजी ने हँसकर कहा, "अभी मिला हूँ और आप ही केशवचन्द्रसेन हैं।" सेन महाशय ने कहा, "यह आपने कैसे जान लिया कि मैं ही केशवचन्द्रसेन हूँ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "जैसी बात आपने की है ऐसी किसी दूसरे की नहीं हो सकती।" स्वामीजी की ऊहा-शक्ति से वे अति प्रसन्न हुए और उसी समय से उनके हृदय में महाराज के प्रति प्रेम और आदर का भाव उत्पन्न हो गया।

एक दिन केशवचन्द्रसेनजी ने स्वामीजी से पूछा, "इस समय हमारे सामने बाइबिल, कुरान और वेद इन पुस्तकों के आधार पर तीन बड़े धर्म्म हैं। सभी अपने को सच्चा कहते हैं। हमें कैसे ज्ञात हो कि इनमें से वास्तव में कौन-सा सच्चा धर्म्म है?"

स्वामीजी ने उत्तर में बाइबिल और कुरान में दोष दिखाकर कहा, "पक्षपात और इतिहासादि दोषों से विवर्जित केवल वेद ही है। वह केवल उपदेश ही करता है, इस लिए वैदिक धर्म्म ही सच्चा है।"

स्वामीजी की युक्तियाँ सुन और उनकी अपरिमित प्रतिभा का परिचय पाकर एक बार केशवचन्द्रसेन ने कहा, "शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंगरेजी नहीं जानता, अन्यथा इङ्गलैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।" स्वामीजी ने भी हँसकर कहा, "शोक है कि ब्रह्म समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे समझते ही नहीं।"

श्री केशवचन्द्रसेनजी ने अंगरेजी में एक ग्रन्थ बनाया था। उसके आरम्भ में उन्होंने एक ऐसा श्लोक रक्खा था जिससे ईश्वर के हाथ पाँव आदि सिद्ध होते थे। स्वामीजी ने केशवजी को कहा कि ईश्वर तो व्यापक है। उसके ऐसे वर्णन अच्छे नहीं हैं। उन्होंने स्वामीजी का कथन स्वीकार कर लिया।

एक दिन केशवचन्द्रजी ने स्वामीजी को कहा कि आप संस्कृत ही में बात-चीत करते हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते उनको पण्डित लोग कुछ और ही समझा देते हैं। इसलिए आप देशभाषा में व्याख्यान आदि देने का यत्न करें। स्वामीजी ने उनकी सम्मति को मान लिया।

केशवचन्द्रसेनजी ने स्वामीजी से यह भी निवेदन किया कि अब आप सभा आदि में जाते हैं, इसलिए वस्त्र धारण कर लें तो अच्छा है। महाराज ने इस प्रस्ताव को भी अनुमोदित किया।

श्री केशवचन्द्रसेन प्रतिदिन सायं समय श्री-सत्संग में सम्मिलित होते थे। उन्होंने एक बार महाराज के साथ पुनर्जन्म और अद्वैतवाद पर प्रश्नोत्तर किये, जिनका उन्हें सन्तोषजनक उत्तर मिल गया।

स्वामीजी ने एक सभ्य के पूछने पर कहा कि हवन मूर्त्ति-पूजा नहीं है, किन्तु वायुमण्डल को शुद्ध बनाये रखने की रीति है।

महाराज ने एक समय यह भी कहा था कि धर्म्म में तन्त्रों को प्रमाण मानना अयुक्त है। प्रमाण में महाभारत तक ही ग्रन्थों को लेना चाहिए।

हेमचन्द्र को विजय करने पर स्वामीजी की कीर्ति ने नगर को प्रभावित कर लिया। महाराज के निवासस्थान के आगे गाड़ियों का ताँता लगा रहता था। सत्संग में सहस्रों मनुष्य आते थे। शत-शत मनुष्य प्रश्नोत्तर करके तृप्ति लाभ करते थे।

श्री केशवचन्द्रसेनजी ने अपने आवास पर स्वामीजी का व्याख्यान कराना निश्चित किया। अङ्गरेजी और बंगला में विज्ञापन बाँटे गये। नियत समय पर सहस्रों नर-नारी एकत्रित हो गये। उस समय कलकत्ते के गण्य-मान्य सज्जन, प्रायः सभी, वहां उपस्थित थे। यद्यपि व्याख्यान संस्कृत भाषा में था परन्तु महाराज की कथन शैली इतनी सरल थी कि उनका कथन सर्वसाधारण की समझ में आ जाता था। महाराज के तर्क से, युक्तियों से, दृष्टान्तों से और प्रमाणों से

सभी श्रोताजन प्रसन्न हो गये। पश्चिमी ज्ञान में पारङ्गत लोग परमहंस के वैज्ञानिक यत्न को जानकर आश्चर्य करने लगे।

कलकत्ता नगर, उस समय, एक तो हास-विलास में बहा चला जाता था, दूसरे वह पश्चिम का अन्धाधुन्ध अनुकरण कर रहा था। वहाँ के लोग तो यह स्वप्न में भी स्वीकार करने को समुद्यत न थे कि कोई पूर्वीय दर्शन का पण्डित उनको सन्तुष्ट कर सकता है। परन्तु श्री स्वामीजी के उपदेशों से उन्हें आप ही आप अपनी कल्पनायें मिथ्यामूलक दीखने लगीं। भारत के प्राचीन ज्ञान की गौरव-गरिमा उनपर गहरा प्रभाव कर गई। महाराज के व्याख्यान में श्रोताओं के सहस्र-सहस्र शिर झूमते थे। शत-शत मुख 'धन्य-धन्य' उच्चारण करते थे। बार-बार तालियों का नाद सभा-स्थान को निनादित करता था।

व्याख्यान की समाप्ति पर महाराज की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। लोग एक अत्युत्तम प्रभाव लेकर घरों को गये।

उपर्युक्त व्याख्यान कलकत्ता नगर में महाराज का पहला व्याख्यान था। यह पौष सुदी ११ सम्वत् १९२९ को हुआ था।

उन्हीं दिनों में कलकत्ता ब्राह्म-समाज का वार्षिकोत्सव आ गया। ब्राह्म लोग स्वामीजी से उपदेश देने के लिए विनती करने लगे। श्री देवेन्द्रनाथजी ने अपना ज्येष्ठ पुत्र द्विजेन्द्रनाथ स्वामीजी की सेवा में भेज महोत्सव में पधारने की प्रार्थना की। जिस समय स्वामीजी द्विजेन्द्रनाथ के साथ गाड़ी में बैठकर उत्सव-मण्डप में पधारे तो ब्राह्म समाज के मुख्य सभासदों ने उनका भक्ति-भाव से स्वागत किया। वहाँ स्वामीजी का एक प्रभावशाली उपदेश भी हुआ। बहुत से भद्र लोग धर्मालोचना भी करते रहे।

महात्मा देवेन्द्रनाथ ने महर्षि दयानन्दजी की अति सन्मान से सेवा-शुश्रूषा की। भोजन भी वहीं कराया। जब सायंकाल श्री स्वामीजी अपने उतारे पर आने के लिए प्रस्तुत हुए तो श्री देवेन्द्रनाथजी ने निवेदन किया कि अब आप हमारे ही आवास में आकर निवास करें। परन्तु स्वामीजी ने कहा कि यह एकान्त स्थान नहीं है, इस लिए मैं प्रमोद-कानन में ही रहूँगा।

फाल्गुन वदी १० सं० १९२९ को स्वामीजी का ईश्वर और धर्म्म विषय पर गौरीचरणदत्त के मकान पर व्याख्यान हुआ। महेशचरण न्यायरत्न ने उसका

अनुवाद सुनाते समय बीच में बहुत उलट-पलट कर दी। इससे कालेजों के विद्यार्थियों ने उसे बहुत लज्जित किया।

स्वामीजी महाराज एक दिन प्रमोद-कानन में बैठे सत्संगियों को समझा रहे थे। उसी समय किसी मनुष्य ने आकर कहा कि राजा सुरेन्द्रमोहनजी आये हैं और आपको बुलाते हैं। स्वामीजी ने कहा कि मैं एक व्यक्ति के लिए बहुतों के लाभ की हानि नहीं कर सकता। यदि राजा महाशय मिलना चाहते हैं तो यहीं आ जायँ। राजा महाशय वहाँ तो न आये, परन्तु रुष्ट होकर चले गये।

फाल्गुन वदी ४ सम्वत् १९२९ को स्वामीजी का व्याख्यान दिन के ३ बजे अँगरेज बोरनियो कम्पनी के भवन में हुआ। श्रोताओं की संख्या बहुत ही अधिक थी।

फाल्गुन सुदी ११ को स्वामीजी का व्याख्यान वद्दान गोर के स्कूल में हुआ। जब महाराज व्याख्यान के स्थान में पधारे तो उस समय उन्होंने एक रेशमी वस्त्र धारण किया हुआ था। व्याख्यान साढ़े तीन बजे आरम्भ हुआ। महाराज ने पहले जगत्पिता परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना अति गम्भीर भाव से की। तत्पश्चात् वेद के प्रमाणों और युक्तियों से ईश्वर की निराकारता और एकत्व सिद्ध किया। जन्म से वर्ण मानने में बहुत दोष दिखाये। महाराज तीन घण्टों से अधिक काल तक भाषण करते रहे।

कलकत्ते में उन्होंने दो-तीन व्याख्यान और भी दिये। महाराज के सभी व्याख्यानों को छपा देने का भार केशवचन्द्रसेनजी ने अपने ऊपर ले लिया था, परन्तु न जाने किस कारण से वे छप न सके।

प्रसन्नकुमार ठाकुर ने मूलाजोड़ में एक संस्कृत कालेज स्थापित किया था। स्वामीजी ने वहाँ जाकर प्रस्ताव किया कि केवल इसका नाम ही संस्कृत न हो, प्रत्युत इसमें संस्कृत की शिक्षा भी होनी चाहिए।

कलकत्ते में एक मन्मथ महाशय निवास करते थे। वे स्वामीजी की सौम्य मूर्त्ति, विशाल भाल, साधु स्वभाव और तेजोमय मुखमण्डल से अतीव प्रभावित हो गये। वे महाराज की सेवा में ही बहुत सा समय बिताते। कभी-कभी रात्रि-निवास भी वहीं कर लेते।

महाराज के पास दो-एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी आये।

एक दिन स्वामीजी अपने स्थान पर विराजमान थे। उनके पास अनेक जिज्ञासु सन्देह मिटा रहे थे। उस समय एक मुसलमान सज्जन वहाँ आ गया। वह सत्संग में तो आना चाहता था, परन्तु मकान के भीतर प्रवेश करने में झिझकता था। स्वामीजी ने उसे आदर से कहा, "बिना सङ्कोच भीतर चले आइए और समीप आकर बैठिए। मैं ऐसे तुच्छ भेद-भाव अच्छे नहीं समझता।" उस सज्जन को स्वामीजी के सत्संग में अति प्रसन्नता प्राप्त हुई।

स्वामीजी बहुत रात रहते उठते और ध्यानारूढ हो जाते थे। फिर शौचादि के लिए बाहर दूर जाते। स्नान कुएं पर करते। फिर नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर ग्यारह बजे तक सत्संग लगाते। तदनन्तर भोजन करके किंचित् विश्राम करते। इसके उपरान्त फिर उपदेश-कार्य में लग जाते। रात के आठ बजे तक सत्संग लगा रहता। इस प्रकार महाराज कलकत्ता-निवासियों को तीन मास पर्यन्त कृतार्थ करते रहे।

वृन्दावन नामक सम्भ्रान्त व्यक्ति स्वामीजी को हुगली ले गए और उन्हें अपने उद्यान में ठहराया। वृन्दावन महाशय एक बहुत बड़े भूमिहार थे। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्वामीजी का निवास उनके स्थान में सुनकर सहस्रों जन सत्संग में सम्मिलित होने लगे।

यहाँ पण्डित ताराचरण भी लोगों की प्रेरणा से शास्त्रार्थ के लिए आए। शास्त्रार्थ आरम्भ होने के पहिले स्वामीजी ने इस बात पर बल दिया कि शास्त्रार्थ लेखबद्ध हो और पीछे छपा दिया जाय। ताराचरणजी ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। वाद थोड़ी देर ही होने पाया था कि ताराचरणजी पराजित हो गये और हाथ बांध कर कहने लगे, "भगवन्! यह शास्त्रार्थ मैंने लोगों के अनुरोध से किया है। आप जो कुछ कहते हैं वह सब सत्य है। हम लोगों की यह धृष्टता है कि आपके सदुपदेशों को स्वीकार न करके समाज की प्रेरणा से और उदर-पूर्त्ति के निमित्त उलटे विरोध करने लग जाते हैं।" महाराज ने पण्डित ताराचरण की सत्यवादिता की प्रशंसा की और विपुल प्रेम से उनका हस्त आलिंगन किया।

लोग स्वामीजी के सुन्दर मुखकमल को देखते तृप्त न होते थे। उनके विकसित व विशाल नेत्र कृपा-रसपूर्ण रहते थे। उनमें कोई अपूर्व आकर्षण था, कोई मोहिनी शक्ति थी। उनकी नाक उन्नत और अत्यन्त सुन्दर थी। दोनों भौंयें अतीव सुहावनी थीं और उनके ऊपर अर्द्धचन्द्राकार भाल बहुत भला प्रतीत होता था। उनका शरीर अतीव सुगठित और सुडौल था। उनके कंधे और पार्श्व परिपुष्ट थे। उनकी दोनों भुजायें हाथी की सूँड की भाँति लम्बायमान, घुटनों को स्पर्श करती थीं। उनके हाथ की हथेलियाँ, लम्बायमान अँगुलियों सहित, दल ताम्र की तरह दीखती थीं। अरुणवर्ण नख शोभा बढ़ा रहे थे। उनका वक्षस्थल विस्तृत और पुष्ट था। उनकी जङ्घायें कदली-स्तम्भ की भाँति सुगठित थीं। उनका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग उनके मनोहर रूप के अनुरूप था। ऐसा प्रतीत होता था कि विधाता ने उनकी तेजस्विनी और प्रभावपूर्ण अप्रतिम प्रतिमा रची है।

हुगली से चलकर वैशाख वदी ५ सम्वत् १९३० को श्री स्वामीजी भागलपुर में पधारे और एक मास पर्यन्त नगरवासियों को उपदेश द्वारा कृतार्थ करते रहे। इसके पश्चात् ज्येष्ठ वदी ६ सम्वत् १९३० को महाराज ने पटना नगर को शोभा प्रदान की। वहाँ एक सप्ताह तक प्रचार हुआ और फिर जेठ सुदी ४ सं० १९३० को स्वामीजी छपरा में सुशोभित हुए। छपरा में शिवगुलाम शाह बहादुर ने स्वामीजी के निवासादि का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर दिया।

यहाँ के पौराणिक पण्डित स्वामीजी के विरुद्ध खड़े हो गये और प्रसिद्ध पण्डित जगन्नाथ से सहायता की याचना करने लगे। उसने कहा, "मैं शास्त्रार्थ करने के लिए तो उद्यत हूँ, परन्तु उस नास्तिक का यदि मुख देख लिया तो मुझे प्रायश्चित करना पड़ेगा।" जब यह समाचार श्री स्वामीजी को मिला तो उन्होंने हँसकर कहा, "यदि उसके यहाँ आने में यही रुकावट है तो मेरे मुख के आगे पर्दा डाल दीजिए। परन्तु उसे यहाँ लाइए अवश्य ही।"

लोगों की बड़ी प्रेरणा से जगन्नाथ आया और पर्दे की ओट में बैठकर शास्त्रार्थ करने लगा। थोड़े ही चिर में उसके पाँव उखड़ गये और वह पराजित होकर चला गया।

सर्वसाधारण को स्वामीजी के उपदेशों से बड़ा लाभ हुआ। छपरा से चल कर महाराज विचरते हुये श्रावण सुदी १५ सम्वत् १९३० को मिर्ज़ापुर पधारे। अध्यापकों की गड़बड़ से उस समय वहाँ की वैदिक पाठशाला टूट चुकी थी। उसको दुबारा चलाना उन्होंने उचित न समझा।

मिर्ज़ापुर में स्वामीजी ने महात्मा जवाहरदास को काशी से बुलाया और वहाँ पाठशाला खोलने का उनसे परामर्श किया। जवाहरदासजी काशी में पाठशाला की स्थापना में सहमत हो गये और उसके लिए द्रव्य एकत्रित करने के निमित्त चक्कर लगाने लगे।

सातवाँ सर्ग

मिर्ज़ापुर से प्रस्थान करके स्वामीजी कुछ दिन प्रयाग में ठहरे और फिर कानपुर में आकर उन्होंने टूका घाट पर डेरा किया। उस समय पण्डित हेमचन्द्रजी भी स्वामीजी के साथ थे और उनसे पढ़ते थे। कानपुर-वासियों को अपने उपदेशों से लाभ पहुंचाकर महाराज फरुखाबाद जाने के लिए प्रस्तुत हुए। मार्गशीर्ष वदी १५ सं० १९३० को स्वामीजी फरुखाबाद पहुंचे और पाठशाला ही में ठहरे। नगरवासी महाराज का शुभागमन सुन कर सहस्रों की संख्या में सप्ताह में जाने लगे।

इस बार महाराज का मिलाप संयुक्तप्रान्त के छोटे लाट मेयोर महोदय से और उसी प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर कमसन् महाशय से हुआ। महाराज के हृदय में गो-रक्षा का गहरा भाव था। इसलिये वार्तालाप में उन्होंने लाट महोदय को कहा, "अब आप स्वदेशयात्रा करने वाले हैं। वहां जाकर आप भारतसचिव की सभा में सम्मिलित होंगे। उस समय भारत के हित का ध्यान अवश्य रखिएगा। गोवध बन्द कराने का यत्न कीजियेगा।"

लाट महोदय ने स्वामीजी के कथन को दत्तचित्त होकर सुना और वचन दिया कि *मैं आपके कथनानुसार अवश्यमेव यत्न करूंगा।*

श्री हेमचन्द्रजी यहां भी स्वामीजी के साथ थे। महाराज ने उन्हें वे लोग भी दिखाये जो पहली बार मारने आये थे और इस समय भक्तिभाव से सेवा कर रहे थे।

एक दिवस हेमचन्द्रजी ने नमस्कारपूर्वक पूछा, "भगवन् ! बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित आपके साथ शास्त्रार्थ करने आते हैं। क्या वे सभी भूल पर हैं ?" स्वामीजी ने हँसकर कहा, "सत्यासत्य का विवेक तो बहुत से विद्वानों को प्राप्त है, परन्तु आजीविका के प्रलोभन में पड़कर सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं होते।"

हेमचन्द्रजी के हृदय में स्वामीजी के लिए गाढ़ श्रद्धा थी। वे महाराज को योगिराज मानते थे। उन्होंने अनेक बार रात के बारह बजे, एक बजे उठ-उठ कर महाराज को देखा तो वे प्रत्येक समय पद्मासन लगाये, योगारूढ़ ही बैठे मिले। महाराज प्रातःकाल समाधि में उतरा करते थे।

स्वामीजी फ़रुखाबाद से चल कर पौष वदी ६ सं० १९३० को कासगंज में आये। महाराज विद्यार्थियों की रक्षा का बड़ा ध्यान रक्खा करते थे। जहाँ विद्यार्थी शयन करते थे वहाँ वायु की पूरी रुकावट न थी। इससे उनको बड़ा कष्ट होता था। स्वामीजी ने सुखचैन को वहाँ दिवार खड़ी कराने को कहा, परन्तु मजदूरों के न मिलने से दिवार न बन सकी। स्वामीजी ने कहा कि यदि दिवार नहीं बनती तो फूस का छप्पर बनाकर आगे खड़ा कर दो। इससे वायु का रुकाव हो जायगा। परन्तु सुखचैन आदि सभ्यों ने छप्पर बनाने में भी अपनी अकुशलता प्रकट की। उस समय स्वामीजी आप छप्पर बनाने लग गये, जिससे पास खड़े सज्जनों को भी उसकी विधि ज्ञात हो गई।

स्वामीजी विद्यार्थियों को उपदेश दिया करते थे। उन्हें माल्कंगनी का सेवन करने की प्रेरणा करते थे। उनका परस्पर वाद कराते थे। उनको व्यायाम की शिक्षा देते और समय-समय पर उनकी परीक्षा भी लिया करते थे।

स्वामीजी शपथ करने के बहुत विरुद्ध थे। एक बार, उनकी अनुपस्थिति में, सब अध्यापकों ने आपस में परामर्श करके विद्यार्थियों को कहा कि तुम सबको सत्यप्रचार और आर्ष ग्रन्थों ही के पढ़ने-पढ़ाने की शपथ करनी चाहिए।

रामप्रसाद को छोड़ कर शेष सब विद्यार्थियों ने वेद उठाकर सौगन्ध खाई और कहा कि हम जीवन भर आर्ष ग्रन्थ ही पढ़ें-पढ़ायेंगे। रामप्रसाद सौगन्ध न खाने के अपराध में पाठशाला से निकाल दिया गया। इस बार की यात्रा में जब स्वामीजी को यह समाचार मिला तो उन्होंने सबकी भर्त्सना की और

कहा कि कितना ही यत्न क्यों न किया जाय तुम लोग पोप-लीला करने से नहीं टलते, हमारी आज्ञा के बिना तुमने ऐसा क्यों किया ?

इस प्रकार अध्यापकों को डाँट-डपट कर उन्होंने रामप्रसाद को पाठशाला में सम्मिलित करा दिया।

पौष सुदी १ सम्वत् १९२० को महाराज कासगंज से प्रस्थान कर छलेसर आकर विराजमान हुए। इस बार भी स्वामीजी के उपदेशों में सहस्रों मनुष्य आते रहे। अनेक मलिन और पतित मनुष्यों का कल्याण हुआ। स्वामीजी ने अपनी पाठशाला का भी निरीक्षण और संशोधन किया।

राजा जयकृष्णदासजी यहाँ भी श्री-दर्शनों को आये और कृतकृत्य होकर लौट गये।

स्वामीजी महाराज पौष सुदी ६ सं० १९३० को अलीगढ़ में आये और राजा जयकृष्णजी के अतिथि बने। महाराज का शुभागमन सुनकर सहस्रों नगर-निवासी तथा आसपास के गाँव के लोग उपदेश सुनने आने लगे। सारे नगर में स्वामीजी के प्रचार का प्रभाव था। आर्य्य, मुसलमान, ईसाई और यूरोपीय, सभी सत्संग में आते थे। व्याख्यान के पश्चात् शङ्का-समाधान होता था। उसमें रात के दस बज जाया करते थे। स्वामीजी के इस अनथकपन की सभी प्रशंसा करते थे।

एक दिन एक पण्डित मन्दिर के चबूतरे के ऊँचे स्थान पर बैठ कर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने लगा। लोगों ने उसके ऊँचे स्थान पर बैठने को बुरा समझा। कई भद्र पुरुषों ने उसे समझाया कि सभ्य पुरुषों की तरह बैठ कर वार्तालाप करो, परन्तु वह ऐसा हठीला था कि वहीं डटा रहा। महाराज ने उस समय लोगों से कहा कि कोई हानि नहीं, पण्डितजी वहीं बैठे रहें। केवल ऊँचे आसन से किसी को महत्त्व प्राप्त नहीं होता। यदि ऊँचा आसन बड़ाई का कारण हो तो पण्डितजी से भी ऊँचा वृक्ष पर वह कव्वा बैठा है।

एक समय महाराज व्याख्यान-स्थान पर ही विराजमान थे, वहाँ एक भंगड़ साधु आ निकला। वह बार-बार लोगों से पूछता कि दयानन्द कौन है ? लोगों ने जब संकेत से बता दिया तो स्वामीजी के पास जाकर उसने महाराज

को अगणित गालियाँ दीं। परन्तु स्वामीजी महाराज उनकी अज्ञान-लीला पर हँसते ही रहे।

उन्हीं दिनों में बेसवाँ-निवासी ठाकुर गुरुप्रसाद के नाम से एक यजुर्वेद-भाष्य निकला था। जब अलीगढ़ में ठाकुर महाशय श्री स्वामीजी को मिले तो उन्होंने भाष्य के विषय में महाराज की सम्मति पूछी। स्वामीजी ने उनको कहा कि भाष्य बहुत ही अशुद्ध और वेदाशय से विरुद्ध है। ऐसा भाष्य रच कर आपने एक भारी भूल की है।

ठाकुर महाशय स्वामीजी की सम्मति सुन कर बड़े रुष्ट हुए और तुरन्त वहाँ से चले गये।

एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधोसिंह छावली-निवासी अपने पिता और ठाकुर भूपालसिंहजी के साथ, स्वामीजी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आये। उस दिन ऊधोसिंहजी के वस्त्र नये ढंग के थे और सब के सब विलायती कपड़े के बने थे। ऊधोसिंहजी कुछ काल छलेसर की पाठशाला में भी अध्ययन करते रहे थे, इसलिए महाराज उन्हें भली-भाँति जानते थे। स्वामीजी ने अति प्यार से कहा, "ऊधव! देखो तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के कपड़े के बने वस्त्र पहरते हैं। उनका जाति-बिरादरी में कितना अधिक सम्मान है। क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता से अधिक सत्कृत हो गये हो? ऊधव! अपने ही देश के वस्तुवेष को अपनाने में शोभा है।"

स्वामीजी का यह उपदेश ऊधोसिंहजी के हृदय में घर कर गया। उन्होंने अपने डेरे पर जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।

एक दिन ठाकुर मुकुन्दसिंहजी की प्रार्थना से महाराज ने साम-गान सुनाया। उसे सुनकर ऊधोसिंहजी आदि सभी सज्जन अत्यन्त आनन्दित हुए। सब यही कहते थे कि ऐसा मधुर स्वर और अद्भुत गान, हमने पहले कभी नहीं सुना।

स्वामीजी को उन दिनों बहुत ही पत्र आया करते थे। आर्यभाषा के पत्रों का उत्तर तो एक पण्डित लिखा करता था, पर उर्दू के पत्रों का उत्तर

ऊधोसिंहजी ही, जब तक वे यहां रहे, लिखा करते थे। स्वामीजी के सकल कार्य्य नियमबद्ध थे। पत्र-व्यवहार का भी समय नियत था। एक दिन महाराज पत्र लिखवा रहे थे कि सर सय्यद अहमद खां उन्हें मिलने आ गये। उनके साथ अन्य भी चार पांच सज्जन थे। श्रीमान् अहमदखांजी ने खिड़की में से झांक कर देखा तो स्वामीजी को कार्य्य में निमग्न पाया। इसलिए वे वहीं बरामदे में ठहर गये। ऊधोसिंहजी ने सय्यद महाशय को खड़े देख लिया और उनके आने का समाचार स्वामीजी को भी बता दिया। महाराज ने ऊधोसिंहजी को आज्ञा की, "जाइए, उनको स्वागत-पूर्वक भीतर लिवा लाइए।"

जब सय्यदजी भीतर पधारे तो शिष्टाचार के अनन्तर स्वामीजी ने कहा, "यहाँ कुर्सी की बैठक नहीं है, इसलिए आपको फ़र्श पर बैठने में कष्ट ही होगा।" सय्यद महाशय ने विनीतता से निवेदन किया, "आप ऐसे सन्तों के पास आकर फ़र्श पर बैठने ही में आराम और शोभा है।"

जब सय्यद महाशयजी सुख-पूर्वक बैठ गये तो स्वामीजी ने कहा, "क्षमा कीजिएगा। मैं पहले अपने नियत काम से निपट लूँ, फिर आपके साथ निश्चिन्तता से वार्त्तालाप करूँगा।"

जितनी देर स्वामीजी कार्य्य में लीन रहे सय्यद महाशय भी चुपचाप बैठे रहे। कार्य्यानन्तर वे स्वामीजी के साथ देर तक बातचीत करके अति प्रभाव को लिये वहाँ से उठ गये।

सर सय्यद अहमदखाँ स्वामीजी की सेवा में प्रायः नित्य आया करते थे। उनका स्वामीजी के साथ अनुराग भी हो गया था। महाराज भी उन्हें अति सम्मान देते थे। एक दिन सय्यद महाशय, कई प्रतिष्ठित मुसलमान और अंगरेज सज्जनों सहित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। वार्त्तालाप के प्रसंग में उन्होंने स्वामीजी से कहा, "आपकी अन्य बातें तो युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं, परन्तु यह बात कि थोड़े से हवन से वायु का सुधार हो जाता है, हमें युक्ति-संगत नहीं जान पड़ती।"

स्वामीजी ने हवन के अनेक लाभ बताकर उनसे पूछा कि सय्यद महाशय! आपके यहाँ कितने मनुष्यों का भोजन बनता होगा? उन्होंने उत्तर दिया कि कोई पचास-साठ का। स्वामीजी ने पुनः पूछा कि आपके यहां कितने सेर

दाल पकती होगी। उन्होंने कहा कि कोई छः सात सेर। स्वामीजी ने फिर पूछा कि इतनी दाल में कितनी एक हींग का छौंका दिया जाता होगा? सय्यद महाशय ने कहा कि माशा भर से कम तो हींग न होती होगी। तत्पश्चात् स्वामीजी ने प्रश्न किया, क्या इतनी थोड़ी-सी हींग की सुगंधि सारी दाल को सुवासित बना देती है? सय्यदजी ने उत्तर दिया कि हां, अवश्य सुगंधित बना देती है। तब स्वामीजी ने कहा कि थोड़ी-सी हींग की तरह थोड़ा-सा किया हुआ अग्निहोत्र भी वायु को सुगन्धित कर देता है।

सय्यद महाशय स्वामीजी के उत्तर से बहुत ही प्रसन्न हुए और उनकी स्तुति करते हुए घर को लौटे।

स्वामीजी के व्याख्यान में अलीगढ़ के उच्च-पदाधिकारी राजकर्मचारी भी आया करते थे और अत्युत्साहपूर्वक उपदेश सुनते थे। महाराज के उपदेशों में दस-दस सहस्र जन उपस्थित होते थे, परन्तु महाराज के स्वर को यह शोभा प्राप्त थी कि आदिम से अन्तिम मनुष्य तक, सभी को एकरस सुनाई पड़ता था। उनके शब्दों में इतनी सरलता और इतनी मधुरता थी कि सर्वसाधारण उनको सुगमता से समझ जाते थे।

महाराज अपने कथन में अद्भुत रस भरते थे। जब कभी वीरता का वर्णन करने लगते तो श्रोताओं के हृदय उछलने लग जाते, भुजायें फड़क उठतीं और ऊष्मा के आवेश से रक्त का वेग बढ़ जाता।

महाराज जब अपने उपदेश में देश की दुर्दशा के चित्र को चित्रण करते थे तो लोग करुणा-सागर में डूबने लग जाते थे। उनकी आंखों से आंसुओं की धारायें बहने लगती थीं। जब वे शान्तिरस बरसाते थे तो सारी सभा निस्तब्ध, नीरव और शान्त होकर सुनती थी। ऐसा प्रतीत होने लगता कि हृदय-भूमि पर कोई आनन्द की बदली मन्द-मन्द बूँदें बरसा रही है।

उनके व्याख्यानों में हास्य-रस भी पर्याप्त होता था। घड़ी, आध-घड़ी में कोई ऐसा वाक्य, ऐसा दृष्टान्त अथवा चुटकला वे अवश्य कहते थे जिसे सुन कर लोग हँसते हुए लोट-पोट हो जाते। हँसी के मारे पेट में बल पड़ने लगते।

महाराज के व्याख्यानों को सुनकर सभी कहा करते थे कि ऐसा भावपूर्ण व्याख्याता, प्रभाव-उत्पादक उपदेष्टा और सारदर्शक वक्ता कदापि दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

आठवां सर्ग

माघ शुक्ल २ सम्वत् १६३० को स्वामीजी अलीगढ़ से हाथरस में पधारे। ठाकुर मुकुन्दसिंहजी भी उनके साथ थे। राजा जयकृष्णदासजी ने उनके शुभागमन से पहले ही पहुँचकर सब प्रबन्ध कर रक्खा था। हाथरस में स्वामीजी ने एक उद्यान में निवास किया। वहाँ उन्होंने मृतक श्राद्ध के विरुद्ध एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया, जिससे पौराणिक दल में खलबली मच गई।

पाँच छः दिन तक हाथरस-वासियों को निहाल करके, स्वामीजी राजा टीकमसिंह की प्रार्थना से मुरसान में सुशोभित हुए। हाथरस से मुरसान लिवा ले जाने के लिए राजा महाशय ने अपनी फिटन भेजी थी।

राजा टीकमसिंह को धार्म्मिक जीवन प्रदान करने के पश्चात् स्वामीजी मथुरा-वृन्दावन जाने के लिए समुद्यत हुए। उनके वहां जाने के अनेक प्रबल कारण भी थे। रङ्गाचार्य उस समय मूर्त्ति-पूजा के सब प्रचारकों में शिरोमणि था। प्रतिवर्ष सहस्रों मनुष्यों को कण्ठियाँ धारण कराकर वैष्णव बनाता था। संस्कृत का पण्डित भी था। वैष्णव सम्प्रदाय में उसकी महती मानता थी। महाराज चाहते थे कि उस युग के सबसे बड़े प्रतिमा-पूजा-प्रचारक को उसके गढ़ ही में जाकर जीतें।

एक बार महाराज ने अपने सहपाठी पण्डित गङ्गादत्त को रुपए भेजकर लिखा, कि आप फरुखाबाद में आकर अध्यापन कार्य कीजिए। उसने उत्तर में स्वामीजी से निवेदन किया कि वहां आने में मुझे आर्थिक लाभ तो अधिक है, परन्तु जब तक आप मथुरा-वृन्दावन में पधारकर रङ्गाचार्य को न जीत लें, आपके समीप आने में लोग मेरी निन्दा करेंगे, जाति के जन विरोधी बन जायँगे। इसलिए आप पहिले यहाँ आइए और मूर्त्ति-पूजा का खण्डन कीजिए; फिर उत्साहित होकर मैं आपकी आज्ञा पालन में तत्पर हो जाऊँगा। गङ्गादत्त के पत्रोत्तर में स्वामीजी ने लिख दिया कि हम मथुरा में अवश्यमेव आयँगे।

अपने वचन और सङ्कल्प का पालन करने के निमित्त स्वामीजी ने वृन्दावन जाने के लिए ब्रह्मोत्सव का समय चुना। इस अवसर पर सहस्रों यात्री आया करते हैं। यह मेला चैत्र वदी द्वितीया से आरम्भ हुआ करता है। महाराज के वृन्दावन जाने के पहले ही राजा जयकृष्णदासजी ने पण्डित देवीप्रसाद डिपटी कलेक्टर के नाम पत्र लिखकर पण्डित बलदेवजी को मथुरा भेज दिया। पण्डित बलदेवजी, पण्डित देवीप्रसादजी से पत्र लेकर, वृन्दावन में बख्शी महबूब मसीह सुपरेण्टेण्डेण्ट चुङ्गी को मिले। उसके पश्चात् मथुरानिवासी राजा उदितनारायण से सहायता के लिए कहा। राजा महाशय बड़े सज्जन पुरुष थे, स्वामीजी की सहायता के लिए तुरन्त उद्यत हो गये और जिस दिन महाराज ने मथुरा पधारना था उस दिन अपनी गाड़ी लेकर रेलवे स्टेशन पर पहुंच गए। जब स्वामीजी गाड़ी से उतरे तो राजा महाशय उनको स्वागतपूर्वक अपने मकान पर ले आये।

स्वामीजी ने राजा महाशय को कहा कि आजकल वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव का मेला भर रहा है, इसलिए इस समय वहां जाकर प्रचार करना चाहिए। राजा महाशय ने भी स्वामीजी के कथन का अनुमोदन किया। पण्डित लोग कहीं कोई उपद्रव न कर बैठें, इसलिए उन्होंने चार मनुष्य स्वामीजी की रक्षा के लिए पहरे पर नियत कर दिए। फाल्गुन शुक्ला एकादशी सम्वत् १९२० को महाराज वृन्दावन में आये और बख्शी महबूब मसीह के प्रबन्ध से मलूकदास के राधा-उद्यान में विराजमान हुए; यह उद्यान रङ्गाचार्य के निवास के ठीक पछवाड़े में पड़ता था।

स्वामीजी की आज्ञा से श्रीमान् महबूब मसीहजी ने आर्य्य-भाषा और उर्दू में विज्ञापन छपाकर नगर में जहां-तहां सर्वत्र लगवा दिए। इसमें प्रकाशित किया कि मूर्त्ति-पूजन और अवतारवाद सिद्ध करने का जिसे भी साहस हो वह शास्त्रार्थ कर ले। एक लिखित पत्र बलदेवजी के हाथ रङ्गाचार्यजी को भेजकर कहा कि आप मूर्त्ति-पूजा, कण्ठी और तिलक वेद से सिद्ध किया करते हैं। अब वह अवसर है कि शास्त्रार्थ करके अपनी सत्यता प्रमाणित कीजिए।

रङ्गाचार्य ने उस समय तो यह कहकर अपना छुटकारा कराया कि ये मेले के दिन हैं, हमें सर्वथा अवकाश नहीं है, मेला समाप्त होनेपर अवश्य ही शास्त्रार्थ

किया जायगा। परन्तु उत्सव-समाप्ति पर उसे आहूत किया गया तो वह रोगी होने का बहाना बना बैठा। बुद्धिमान् लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया कि रङ्गाचार्य स्वामीजी के सामने आने से डरता है। उसे अपनी पोल के खुल जाने का पूरा भय है।

स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित हो कर दो-एक सज्जनों ने अपने शालिग्राम यमुना-जल में विसर्जन कर दिये।

रङ्गाचार्य के चेले-चाँटे अपने गुरु की गति देख कर स्वामीजी से बहुत चिढ़े और उनको मार डालने की विधि सोचने लगे। उन लोगों की षड्यन्त्र-रचना का समाचार पाकर पण्डित बलदेवजी आदि भक्तों ने भगवान् से विनय की, "आप बाहर घूमने न जाया करें।" स्वामीजी ने हंस कर कहा, "आज तो आप मुझे बाहर जाने से रोकते हैं, कल कहोगे कि कुटी के भीतर ही बैठे रहो। सो आपके कथनानुसार मुझ से नहीं चला जाता।"

बहुत दिनों तक श्री स्वामीजी वृन्दावन में धर्म्म-मेघ बन कर बरसते रहे। अनेक गृहस्थों और संन्यासियों को विवेक प्रदान करके फिर चैत्र वदी ११ को मथुरा में आकर पुरुषोत्तमदासजी के उद्यान में ठहरे।

स्वामीजी महाराज के आगमन से पहले मथुरा की पण्डित-मण्डली शास्त्रार्थ करने की गप्पें तो हांकती थी, परन्तु उनके सन्मुख कोई न हुआ। एक दिन, कुछ मनुष्यों की उत्तेजना से चार-पांच सौ पण्डे मोटे २ लट्ठ लिये स्वामीजी के निवासस्थान के उद्यान-द्वार पर आ पहुँचे। द्वार पर ठाकुर कृष्णसिंहजी आदि कर्णवास के कई राजपूत पहरा दे रहे थे। पण्डों के समूह को आते देख कर उन्होंने द्वार बंद कर दिया और खिड़की खुली रक्खी। थोड़ी देर तक तो पण्डे धींगामस्ती करते रहे, परन्तु बांके राजपूतों के हाथ में भी डण्डे देख कर बाहर मार्ग पर ही खड़े हो गये। वे लोग वहाँ बड़ी देर तक भूमि पर लट्ठ और लातें मार-मार कर स्वामीजी को अगणित अवाच्य बोलते रहे। स्वामीजी मकान की छत पर से अबोध जनों की बालक्रीड़ा को अवलोकन करके हंसते थे। स्वामीजी के सेवकों ने पण्डों को ठण्डा करने की उनसे आज्ञा मांगी। परन्तु महाराज ने उनको कहा, "पण्डा लोगों की धर्म्मान्धता पर आप लोगों को कोप कदापि नहीं करना चाहिये। हमारे यहां आने का इनको इतना तो लाभ हो गया

कि इन आलस्य के मारों मे उत्तेजना आ गई है। ये इतनी संख्या में इकट्ठे हो कर आये हैं, यह लाभ भी कुछ न्यून नहीं है।" यह सुन कर महाराज के सब सेवक शान्त हो गये।

मांगीलाल नाम का एक मुनीम महाराज का बड़ा कट्टर द्वेषी बन गया। वह उनकी धवल कीर्त्ति पर, उनके शुभ नाम पर लांछन लगाने के उपाय सोचने लगा। एक दिन श्री महाराज लक्ष्मीदास सेठ के मकान पर व्याख्यान दे रहे थे। उस समय एक कसाई और एक शराब वाले ने पुकार कर कहा, "स्वामीजी! आप की ओर बहुत दिनों का लेखा हो गया है। दाम दे कर चुका क्यों नहीं देते हो?" उनके इस कथन को सुन कर लोगों की आँखों में लहू उतर आया, परन्तु स्वामीजी ने उनको शान्त कर दिया। जब व्याख्यान समाप्त हो चुका तो महाराज ने दोनों मनुष्यों को अपने पास बुला कर, अपने एक एक हाथ में उनकी ग्रीवायें पकड़ लीं और कहा, "सच कहो, ऐसा कहने के लिये तुम्हें किसने कहा?" उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा, "महाराज हमें मांगीलाल मुनीम ने कहा था कि सभा मे जाकर तुम यह वाक्य कह देना, मैं तुम्हें पीछे पुरस्कार दूंगा। यदि हमें यह पता होता कि आप बुरा मनायेंगे तो हम ये शब्द कदापि न कहते।" महाराज ने उन मनुष्यों को मुक्त कर दिया, परन्तु मुनीम की निन्दा स्थान-स्थान पर होने लगी।

कहते हैं कि कुछ एक दुष्ट जनों ने, एक दुराचारिणी स्त्री को भी समझा बुझा कर एक दिन व्याख्यान-स्थान पर भेज दिया। मार्ग में तो वह बहुत कुछ बड़बड़ाती रही, परन्तु सभा में आकर जब उसने महाराज के परमपुनीत प्रशान्त और तेजस्वी मुख-मण्डल को देखा तो उसके मन की सारी मलिनता एकाएक दब गई। उसके हृदय में मुनिराज के लिये श्रद्धा और भक्तिभाव उत्पन्न हो आया। 'मैंने मन मे इस महात्मा को कलङ्कित करने की कल्पना की है, यह मुझ से घोरतम पातक हुआ है' यह सोच २ कर वह अत्यन्त व्याकुल और व्यथित हुई। महाराज के निकट जाकर गिड़गिड़ाती हुई, भूमि पर सिर रख कर, क्षमा मांगने लगी। उसने अधम मनुष्यों के बहका कर भेजने की वार्त्ता सुनाते समय रो-रो कर अपना अञ्चल भी भिगो दिया।

श्री स्वामीजी ने उसे ढाढस बँधाया और कहा, "देवी ! आओ । ईश्वर करे कि तुम्हारी इस समय की सुमति स्थिर बनी रहे ।"

मथुरा में अस्सी वर्ष के वृद्ध पाण्डेय मदनदत्तजी निवास करते थे । वे चालीस वर्ष पर्यन्त केवल दुग्धाहारी रहे थे । पक्के वैष्णव भक्त बनते थे । सारे नगर में उनका आदर था ।

एक दिन मदनदत्तजी शास्त्रार्थ करने के लिए स्वामीजी के समीप आये । उस समय उनके साथ उनका पोता भी था । कुछ शिष्टाचार की बातों के पश्चात् महाराज ने मदनदत्त के पोते से व्याकरण का एक सूत्र पूछा और फिर उसे अष्टाध्यायी पढ़ने की शिक्षा दी । महाराज की हित-कामना से मदनदत्त इतने मोहित हुए कि प्रतिमा-पूजन से उनका विश्वास उठ गया । वे पन्थाई लोगों का खण्डन करने लग गये ।

पाण्डेय मदनदत्त के परिवर्तन से सर्व-साधारण पर गहरा प्रभाव पड़ा । सभी कहने लगे कि "स्वामीजी के पास कोई मोहनमंत्र है, जिसके प्रभाव से वे शास्त्रार्थ किये बिना ही, कड़े विरोधियों को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं ।"

राजा टीकमसिंहजी अपनी गाड़ी लेकर स्वामीजी के पास मथुरा में आए और महाराज को वहां से चैत्र सुदी द्वितीया सम्वत् १६३१ को मुरसान ले गये । महाराज ने कई दिनों तक मुरसान के लोगों को धर्म्मामृत पान कराया और फिर वे आषाढ़ मास में काशी चले गए । इस बार श्री स्वामीजी गुसाईं रामप्रसाद के उद्यान में विराजित हुए ।

उन दिनों भगवान् आर्य्यभाषा में बातचीत किया करते थे । जवाहरदासजी ने कहा कि आपको संस्कृत ही में बोलते रहना चाहिये; परन्तु महाराज ने उनको समझा दिया कि लोक-भाषा में उपदेश देने से अधिकांश मनुष्यों का अधिक हित होता है ।

राजा माधोदासजी के उद्यान से उनके घर प्रतिदिन पुष्पों की एक टोकरी जाया करती थी । एक दिन महाराज ने माधोदासजी को कहा, "ये पुष्प कहां जाया करते हैं ?" उन्होंने कहा, "ठाकुर-पूजा के लिए घर भेजे जाते हैं ।" स्वामीजी ने कहा, "इनको यहीं बेल-बूटों के साथ लगा रहने से अधिक काल तक पवन सुगन्धित होता रहता है । मुरझाकर पंखड़ियों के यहीं गिरने से खेत में

खाद पड़ जाता है। पुष्पाञ्जलि बनाकर घर में रखने से भी लाभ है। परन्तु प्रतिमा पर चढ़ाने से वे तुरन्त मसले जाते हैं। लाभ तो कहां, उलटे पानी में पड़े सड़कर सड़ाँद छोड़ने लगते हैं।"

यहाँ भी श्रीमान् सय्यद अहमदखांजी स्वामीजी को मिलते रहे। उन्होंने महाराज के दो-तीन व्याख्यान अपनी कोठी पर भी कराये। कई उच्च राजकर्मचारियों को साथ लाकर दर्शन कराते रहे।

स्वामीजी के इस बार काशी पधारने से छः मास पूर्व महात्मा जवाहरदासजी ने पौष वदी द्वितीया सम्वत् १९३० को पाठशाला स्थापित कर दी थी। उसके लिए केदार-मन्दिर के निकट किराये पर स्थान लिया गया था। इस पाठशाला में पण्डित शिवकुमारजी आदि अनेक विद्वान् पढ़ाते थे।

महाराज ने एक दिन पाठशाला का परीक्षण और निरीक्षण किया तो उस समय पण्डित शिवकुमारजी को भी मिले। उनको सुयोग्य जानकर महाराज ने कहा कि आप यदि लोगों को धर्मोपदेश किया करें तो अच्छा है। शिवकुमारजी ने निवेदन किया कि यदि पचास रुपए मासिक वेतन मिलने लग जाय तो मैं उपदेशक का काम करने को उद्यत हूं। परन्तु स्वामीजी ने उन्हें वेद-ज्ञान से शून्य जानकर इतना वेतन देना उचित न समझा।

स्वामीजी ने इस पाठशाला को उन्नत करने के लिए बहुत यत्न किये। उसकी सहायता के लिए लोगों को प्रेरित किया। समाचारपत्रों में पाठविधि का ब्योरा छपवाकर उसके उद्देश्य का भी वर्णन किया। परन्तु यह पाठशाला भी अन्त की प्रबन्ध की त्रुटि से माघ १९३१ को टूट गई।

काशी में स्वामीजी दो मास तक धर्मोपदेश देते रहे। फिर वहां से प्रस्थान करके मिर्ज़ापुर आदि स्थानों में विचरते प्रयाग में आ गए। यहाँ उन्होंने अपना डेरा अलोपी के उद्यान में किया। फिर एक विज्ञापन द्वारा सर्व-साधारण को विदित कर दिया गया कि जिस किसी को धर्म के विषय में कुछ जानने की इच्छा हो, वह नियत समय पर अलोपी देवी के उद्यान में प्रसन्नता-पूर्वक आ जाय।

स्वामीजी के शुभागमन का सु-समाचार पाकर सहस्रों गृहस्थ और सैकड़ों विद्यार्थी आने लगे। कालेज के प्रोफेसर भी आते थे। स्वामीजी ने अध्यापक

मोक्षमूलर के वेद-भाष्य को भ्रममूलक सिद्ध किया। ईसाई धर्म्म की तीव्र आलोचना की।

एक दिन पण्डित काशीनाथ शास्त्री ने स्वामीजी को अवज्ञापूर्वक कहा, "आपने किस प्रयोजन के लिए देश भर में कोलाहल मचा रखा है ?"

महाराज शान्तिपूर्वक बोले, "पन्थाई पण्डितों ने लोगों को धोखे के जाल में फँसा रक्खा है। जड़-पूजन से मनुष्यों की बुद्धि में जड़ता आ गई है। देशवासियों में सत्यासत्य के जानने का विवेक अति मन्द हो गया है। इन सब के सुधार ही के लिए मैं कोलाहल कर रहा हूं।" स्वामीजी के उत्तर को सुन कर काशीनाथ शान्त हो गया।

मौलवी लोग भी स्वामीजी की सेवा में आकर अपनी शंकाओं का समाधान कराते थे।

पण्डित ठाकुरप्रसादजी बड़े भक्तिभाव से महाराज का भोजन उनके आसन पर पहुँचाया करते थे। एक दिन, मध्याह्न के समय, बड़ी कड़ी धूप में वे नंगे पाँव भोजन का थाल उठाये स्वामीजी के पास पहुंचे। महाराज ने अति दया से ठाकुरप्रसादजी को कहा, "ऐसी धूप में आप बिना छाते और नंगे पाँव क्यों भोजन लाये हैं ?" ठाकुरप्रसादजी ने विनय की, "भगवन् ! जूता पहरे कच्चा भोजन उठाना अच्छा नहीं है।" स्वामीजी ने कहा, "मैं इस छूआछूत के व्यर्थ के बखेड़े को नहीं मानता। धर्म्मशास्त्र में इसका कहीं भी वर्णन नहीं है। आप भी इस झगड़े में न पड़ें।"

अनेक भद्र पुरुषों ने स्वामीजी से योग के साधन सीखे और उनको बड़ा भारी लाभ हुआ।

पण्डित ठाकुरप्रसादजी के हृदय में स्वामीजी की योगमुद्रा देखने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। एक दिन स्वामीजी के सेवकों को पूछकर वे उस कुटिया के द्वार पर जा खड़े हुए, जिसके भीतर श्री स्वामीजी ध्यानावस्थित थे। यद्यपि द्वार बंद थे, परन्तु किवाड़ों के छिद्रों में से महाराज की आकृति स्पष्ट दीख पड़ती थी। ठाकुरप्रसादजी बहुत देर तक महाराज के दर्शन करते रहे। उन्होंने यह भी देखा कि महाराज का आसन धीरे-धीरे भूमि से ऊपर उठकर अधर में अव-

स्थित हो गया। उस समय उनकी मुद्रा की अद्‌भुत छवि थी। उनके मुख-मण्डल पर एक प्रकाशमय चक्र बना हुआ था।

महाराज की मानसिक शक्तियों के प्रमाण पाकर उनके प्रेमी जन अत्यन्त विस्मित हो जाया करते थे। एक दिन रायबहादुर पण्डित सुन्दरलालजी मित्रों सहित स्वामीजी के समीप गये। महाराज उस समय ध्यानावस्थित थे, इसलिए वे सब चुपचाप बैठे रहे। कोई आध घण्टे के पश्चात् स्वामीजी भीतर से बाहर आये। उन सब सज्जनों ने झुक कर नमस्कार किया। उस समय स्वामीजी आप-ही-आप हँस रहे थे। पण्डित सुन्दरलालजी ने पूछा, "आप किस बात से हँस रहे हैं?" उन्होंने कहा, "एक मनुष्य मेरी ओर चला आता है। कुछ देर ठहर जाइए, उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा।"

इस बात के आध घड़ी पश्चात् एक ब्राह्मण मिष्टान्न लिये आ पहुँचा। उसने स्वामीजी को 'नमो नारायण' करके मिठाई भेंट की और कहा, "इसमें से कुछ एक भोग लगाइए।" स्वामीजी ने उसे कहा, "लो, थोड़ी सी मिठाई तुम भी खाओ।" परन्तु उसने न ली। तब महाराज ने उसे डाँट कर कहा, "लेते क्यों नहीं हो?" वह काँप तो गया, परन्तु मिष्टान्न लेने से झिझकता ही रहा। उस समय स्वामीजी ने कहा, "यह मनुष्य हमारे लिए विष-मिश्रित मिष्टान्न लाया है।"

पण्डित सुन्दरलालजी उसके लिए पोलीस बुलाने लगे, परन्तु महाराज ने कहा, "देखो, यह अपने पाप के कारण कितना काँप रहा है! इसे पर्याप्त दण्ड मिल गया है, इसलिए पोलीस न बुलाइए।" भगवान् ने उस ब्राह्मण को शिक्षा दी और छोड़ दिया। रायबहादुर महाशय ने उस मिठाई में से कुछ अंश उठाकर वहीं पर एक कुत्ते के आगे फेंका। वह कुत्ता मिठाई खाते ही छटपटा कर मर गया।

किसी का यदि हित होता हो तो स्वामीजी उसकी सहायता के लिए उद्यत हो जाते थे। वैसे तो किसी के मकान पर कदाचित् ही जाते थे, परन्तु यदि किसी मनुष्य का कोई शुभ कार्य सिद्ध होता हो तो उन्हें जाने में किंचित् भी सङ्कोच नहीं होता था।

प्रयाग में एक लाला वंशीधरजी निवास करते थे। वे रामायण की मुद्रित पुस्तकें विद्यार्थियों को दान किया करते थे। परन्तु इस पर उन्होंने जो पण्डित नियुक्त किये थे वे अपने जान-पहचान के विद्यार्थियों ही में पुस्तकें बाँटते थे।

अपरिचितों को बार-बार मांगने पर भी पुस्तक नहीं मिलती थी। एक दिन एक विद्यार्थी महाराज के पास आकर रो पड़ा और बोला, "भगवन्! मैं अति निर्धन हूँ। मुझे रामायण की पुस्तक पाठ के लिए चाहिए। मैं अनेक बार लाला महाशय के स्थान पर भटकता फिरा हूँ, परन्तु पण्डितों के कारण मुझे पुस्तक नहीं मिल सकी।" यह सुनकर स्वामीजी महाराज तत्काल उठ खड़े हुए और विद्यार्थी को साथ लिए वंशीधरजी के मकान पर गये। उस विद्यार्थी को पुस्तक दिलाकर उन्होंने दानी महाशय को उपदेश दिया कि इस कार्य्य पर ऐसे मनुष्य नियुक्त करो जो निर्धन, निस्सहाय और असमर्थ विद्यार्थियों को पुस्तकें दान करें। लाला महाशय ने महाराज को नम्रीभूत नमस्कार करके निवेदन किया कि आगे को आपकी शिक्षा पर पूर्ण ध्यान दिया जायगा।

भगवान् नियत कार्य्यों को करके ही विश्राम लिया करते थे। वे नियत कार्य्य के समय शारीरिक सुख-दुःख पर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। एक दिन स्वामीजी के व्याख्यान की घोषणा हो चुकी थी, परन्तु उस दिन उन्हें प्रबल ज्वर आ गया। प्रेमी जनों ने बहुतेरा कहा कि आज व्याख्यान न दीजिए। परन्तु महाराज ये शब्द कहते हुए व्याख्यान-स्थान की ओर चल पड़े कि ज्वर अपना काम करता है, और मैं अपना काम किये चला जाऊँगा।

महाराज कर्म-धर्म्म को अति प्रधानता देते थे। परहितार्थ क्रियात्मक जीवन ही सर्वोत्तम जीवन मानते थे। प्रयाग में गङ्गा-तट पर एक महात्मा रहते थे। वे वयोवृद्ध थे। जब कभी स्वामीजी उन्हें मिलते तो वे बच्चा कह कर सम्बोधन करते थे। एक दिन उस वृद्ध सन्त ने स्वामीजी को कहा, "बच्चा! यदि आप पहले के ही निवृत्ति-मार्ग पर स्थिर रहते, परोपकार के झगड़े में न पड़ते तो आपकी इसी जन्म में मुक्ति हो जाती। अब तो आपको एक और जन्म धारण करना पड़ेगा।"

स्वामीजी ने कहा, "महात्मन्! अब मुझे अपनी मुक्ति का कुछ भी ध्यान नहीं है। जिन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता मेरे चित्त को चलायमान कर रही है उनकी मुक्ति हो जाय, मुझे भले ही कई जन्म क्यों न धारण करने पड़ें! दुःखों के त्रास से, दीन दशा से और दुर्बल अवस्था से परम-पिता के पुत्रों को मुक्ति दिलाते मैं आप-ही-आप मुक्त हो जाऊँगा।"

नववां सर्ग

जिस समय महाराज प्रयाग में धर्म्म-गङ्गा बहा रहे थे, उस समय उनके पास मुम्बई-वासियों के निमंत्रण-पत्र लगातार आते थे। वहां के जन भगवान् के दर्शनों के लिए प्रबल उत्कण्ठा प्रगट कर रहे थे। उपदेश सुनने के लिए अतीव उत्सुक हो रहे थे।

महाराज ने उनकी प्रार्थनाओं को स्वीकार कर लिया। बलदेवसिंह कान्य-कुब्ज ब्राह्मण को बुलाकर सेवा के लिए साथ लिया और जबलपुर में जाकर तीन चार दिवस तक प्रचार करते रहे। इसके अनन्तर महाराज नासिक में पधारे। वहां भी आपने लोगों के भ्रम निवारण किये और फिर वे प्रस्थान करके आश्विन सुदी १२ सं० १९३१ को मुम्बई पहुँच गये।

मुम्बई नगर में स्वामीजी के आगमन से पहले ही उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। सुशिक्षित समाज तो उस युग के आदर्श संस्कारक के नाम और काम से परिचित था ही, परन्तु सेवकलालजी ने काशी-शास्त्रार्थ छपवाकर वहां इतना बांटा कि इससे सर्वसाधारण को भी महाराज के गुणों का ज्ञान हो गया।

जिस समय महाराज मुम्बई के रेलवे-स्टेशन पर पहुंचे तो उनके स्वागत के लिए अनेक भद्र पुरुष वहां उपस्थित थे। बड़े आदर से उन्होंने महाराज को प्रति-ग्रहण किया और गाड़ी में बैठाकर वालुकेश्वर जाकर उत्तम आवास में उतारा।

अगले दिन गुजराती, मराठी और अंग्रेजी आदि में विज्ञापन वितरण करके प्रकाशित कर दिया गया कि जिसको सत्यासत्य का निर्णय करने की इच्छा हो वह महाराज के पास आकर विचार कर ले।

स्वामीजी का आसन तो गोसाइयों के अखाड़े में वालुकेश्वर पर था, परन्तु उनके व्याख्यानों का प्रबन्ध कोट के मैदान में मण्डप बना कर किया गया था।

महाराज एक दिन व्याख्यान देते और दूसरे दिन केवल शङ्का-समाधान करते थे। उनके सत्संगों में सहस्रों मनुष्य आते थे। सारे नगर में एक विचित्र धर्म्मान्दोलन हो रहा था।

बहुत से सहायकों ने स्वामीजी को यह सम्मति दी कि केवल वल्लभमत का ही खण्डन किया जाय; दूसरे सम्प्रदायों को न छेड़ा जाय। परन्तु स्वामीजी

समदृष्टि थे। वे पन्थों की पोल खोलने में किसी एक का पक्षपात नहीं करते थे। उनका तर्क-आतप सब पन्थों के कीचड़ को एक-सा शोषण करने लगा। मतवादियों में इससे बड़ी भारी व्याकुलता उत्पन्न हो गई।

महाराज ने वैष्णवों के तन-मन-धन अर्पण का घोर खण्डन किया। बम्बई में एक जीवनजी गोसाईं रहता था। वह वैष्णव-मत-खण्डन से बहुत कुपित हुआ। उसने एक दिन स्वामीजी के सेवक बलदेवसिंह को गुप्त रूप से बुला कर कहा, "यदि तुम विषादि देकर दयानन्द की 'इतिश्री' कर दो तो हम तुम्हें एक सहस्र रुपया देंगे।" जीवनजी ने एक सहस्र रुपया देने के लिए उसे एक पत्र भी लिख कर दे दिया, और पाँच रुपए तथा पाँच सेर मिठाई उसी समय उसकी भेंट की।

ज्योंही बलदेवसिंह लौटकर डेरे पर आया तो आनन्स चक्षुओं से दूसरों के प्रच्छन्न कर्मों को भी जान लेने वाले श्री दयानन्दजी ने उससे पूछा, "क्या तुम आज गोकुलियों के यहाँ गये थे?" बलदेव ने कहा, "हाँ, मैं गया था।" स्वामीजी ने फिर पूछा, "सच बताना, वहाँ क्या ठहरा कर आये हो?" उसने सारी वार्त्ता महाराज के आगे आद्योपान्त वर्णन कर दी।

स्वामीजी ने उसे कहा, "देखो, जिसे परमेश्वर न मारे उसे मारने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। बनारस में मुझे हलाहल विष दिया गया। राव कर्णसिंह ने पान में विष दिलाया। अन्य भी अनेक स्थानों में मुझ पर विष के विषम प्रयोग किये गये, परन्तु मेरा प्राणान्त न हुआ। स्मरण रखिए, अब भी मैं मारा नहीं जाऊँगा।"

बलदेवसिंह महाराज के चरणों को पकड़ कर क्षमा माँगने लगा। उसने प्रण किया कि मैं फिर कभी गोसाईयों के पास नहीं जाऊँगा, उनके दाँव-पेच में नहीं फँसूँगा।

सेवकलालजी प्रायः स्वामीजी के स्थान पर ही सोया करते थे। एक दिन रात के समय दो बलिष्ठ मनुष्य स्वामीजी के वध के लिए चुपचाप मकान में घुस आये। सेवकलालजी थे तो जागते, परन्तु भय के मारे मौन-मूर्ति बन गये। उनसे बोला तक न गया। महाराज ने जब उन पामरों को देखा तो

बलपूर्वक पूछा, "तुम कौन हो ?" महाराज का यह पूछना क्या था, मानो उन पर वज्रपात था। वे तुरन्त वहाँ से भाग गए।

जीवनजी ने चार बलवान् मनुष्यों को लोभ-लालच के पक्ष में फँसा कर स्वामीजी को मारने के लिए सुसज्जित कर लिया। महाराज प्रतिदिन समुद्र-तट पर भ्रमण करने जाया करते थे। उसी ओर वे हत्यारे भी जाने लग गये। एक दिन महाराज ने उनको ताड़ लिया और खड़े होकर उनसे पूछा, "क्या तुम मेरा हनन करना चाहते हो ?" महाराज के मुख की दीप्ति को देख कर उनकी आँखें चौंधिया गईं। पवन से कम्पित पीपल के पत्ते की भाँति वे थरथर काँपने लगे। उस दिन वे इतने भयभीत हुए कि उन्होंने फिर महाराज के पीछे जाने का नाम तक न लिया। जीवनजी भी अपने दुष्कर्मों से इतने कम्पित हुए कि वहाँ से भागकर मद्रास चले गये।

व्याख्यान और शङ्का-समाधान के समय बहुत-से लोग हल्ला-गुल्ला भी करने लग जाते थे। कभी-कभी ईंट-पत्थर की वृष्टि भी हो जाया करती थी। इस लिए बाबा विशनदासजी आदि बलवान् सेवक जन महाराज की रक्षा करने के लिए सदा सावधान रहते थे।

वालुकेश्वर के निम्न प्रदेश पर एक पर्णकुटी निर्माण करके एक वैरागी बाबा वास करता था। वह जटाजूट था। बड़ा हृष्ट-पुष्ट, सुगठित और बलवान् था। उसका नाम था बलदेव। वह स्वामीजी के भाषण सुनने आया करता था। महाराज के कथनों से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी प्रतिमायें उठाकर पास के एक तड़ाग में फेंक दीं। जटायें मुण्डवा डालीं। अपनी कुटिया छोड़ कर श्री-चरण-शरण ही में रहने लगा। बलदेव महाराज का अनन्य भाव से भक्त बन गया। रात के समय, दिन के समय, भ्रमण करते समय, व्याख्यान में और शङ्का-समाधान आदि में, वह सदा अपने प्रभु के साथ रहता। बड़ी चौकसी से रक्षा करता। यदि कोई उद्दण्ड अथवा अक्खड़ मनुष्य स्वामीजी को मैली आँख से देखता, उनकी शोभा के विरुद्ध अपशब्द कह बैठता तो बलदेव उसका सिर तक तोड़ने को समुद्यत हो जाता। भक्त बलदेव भगवान् पर सर्वथा न्योछावर हो रहा था।

पण्डित कृष्णराम इच्छाराम गुजरात-निवासी ने महाराज की सेवा में आकर निवेदन किया, "भगवन्! मैं आपके पास लेख आदि का कार्य करके अध्ययन करना चाहता हूं।" स्वामीजी ने उसे सुयोग्य समझ कर रख लिया और कहा, "हमारे पास दो लेखक थे। हमने उनको निकाल दिया है। अब आप उनके स्थान पर संस्कार-विधि के लिखने का कार्य कीजिए।" कृष्णराम इच्छारामजी ने पूछा, "भगवन्! पहले लेखकों का क्या अपराध था?" महाराज ने कहा, "यहाँ मारवाड़ी सेठ नथमल पोद्दार हमारे पक्के सहायक और सच्चे सेवक हैं। उन्होंने एक दुकान वाले को कह रक्खा है कि स्वामीजी का कोई भी सेवक जो कुछ आकर माँगे, वह उसे दे देना और दाम हमारे नाम लिखते जाना। कई दिनों तक रसोई की सामग्री वहाँ से आती रही। एक दिन मैंने आप पड़ताल की कि आज तक रसोई में कितने रुपये की सामग्री आ चुकी है। जाँच करने पर पता लगा कि जितनी सामग्री आवश्यक है उससे सातगुणा अधिक रसोई के नाम से आई है और उसे बेचकर कर्मचारी पैसे खरे करते रहे हैं। उनके इस दुष्कर्म से दुःखित होकर मैंने उनको निकाल दिया है।"

महाराज ने फिर कहा, "*ब्राह्मण लोग दान का अन्न खाते हैं, मिथ्या माहात्म्यों* को सुना कर आजीविका चलाते हैं, इस लिए इनके मन शुद्ध नहीं रहे। इन्हें अधम कार्यों से घृणा नहीं होती। यही कारण है कि ये दिनों-दिन निस्तेज होते चले जा रहे हैं।" महाराज ने यह भी कहा, "मेरे साथ ऐसा ही बर्ताव फर्रुखाबाद आदि की पाठशालाओं के अध्यापकों ने किया। वे लोग ऊपर से मेरे शिष्य बन गये। भक्तिभाव से मेरे सम्मुख आते। अपने को मेरा अनुयायी प्रकट करते। मेरी पीठ पीछे मेरे सिद्धान्तों का खण्डन करने लग जाते। मुझे जब उनकी कोरी कपट-लीला प्रतीत हुई तो मैंने पाठशालायें तोड़ दीं और पेटार्थी बगुले भक्तों को विदा कर दिया।"

कृष्णराम इच्छारामजी को स्वामीजी समय-समय पर पढ़ाया भी करते थे। उनके अन्तःकरण में वेदान्त के विचार गहरे धसे हुए थे। इसलिए महाराज ने उनको कहा कि आप 'वेदान्त-ध्वान्त-निवारण' लिखने लग जाइए। इससे आपके सारे विचार निश्चयरूप से पलट जायँगे। महाराज की युक्तियाँ-प्रयुक्तियाँ

लिखते-लिखते सचमुच कृष्णराम इच्छाराम के विचार परिवर्तित हो गये। उनका वेदान्तवाद का गढ़ धुएँ की तरह उड़ गया।

मुम्बई में स्वामीजी का मूर्ति-पूजा-खण्डन पर एक प्रबल व्याख्यान हुआ। उसमें उन्होंने बतलाया, "मूर्ति जड़ है; इसे ईश्वर मानोगे तो ईश्वर भी जड़ सिद्ध होगा। अथवा ईश्वर के समान एक और ईश्वर मानो तो परमात्मा का परमात्मापन नहीं रहता। यदि यह कहो कि प्रतिमा में ईश्वर आ जाता है तो ठीक नहीं। इससे ईश्वर अखण्ड नहीं सिद्ध हो सकता। भावना में भगवान् है, यह कहो तो मैं कहता हूं कि काष्ठ-खण्ड में इचुदण्ड की और लोष्ठ में मिश्री की भावना करने से क्या मुख मीठा हो सकता है? मृगतृष्णा में मृग जल की बहुतेरी भावना करता है, परन्तु उसकी प्यास नहीं बुझती। विश्वास, भावना और कल्पना के साथ सत्य का होना भी अत्यावश्यक है।" मूर्ति-पूजन से जो हानियाँ हो रही हैं, महाराज ने उनको भी मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस दिन भीड़ का कोई ठिकाना न था। लोग अति प्रभावित हो रहे थे।

महाराज के प्रचार का प्रभाव नगर पर अत्युत्तम हुआ। सैकड़ों मनुष्य वल्लभ और गोकुलीय सम्प्रदायों से मुख मोड़ बैठे। पन्थों की मनमानी बातें मानने में मन में ग्लानि करने लगे। कुरीतियों के प्रचार से देश में जो अनर्थ हो रहे थे उनसे लोगों को घृणा होने लगी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि पन्थाई-पर्वतमालाओं में भारी भूकम्प हो रहा है, और कोई नया युग आया चाहता है।

जिन लोगों ने स्वामीजी को मुम्बई आने के लिए निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से ऐसे भी सज्जन थे जो स्वामीजी के सिद्धान्तों से सहानुभूति तो नहीं रखते थे, परन्तु कुछ पन्थों को दबाने के लिए उनका उपयोग करना चाहते थे। जब उन लोगों ने देखा कि श्रीमद्दयानन्द किसी का भी पक्षपात नहीं करते, वे नये पुराने सभी सम्प्रदायों का खण्डन करते हैं, तो ऐसे लोग धीरे-धीरे खिसक गये। अब जो पीछे रह गये वे शुद्ध हृदय से स्वामीजी के सच्चे सहायक थे, कट्टर अनुरागी थे। अनेक सज्जन श्री महाराज के व्याख्यान सुनकर उनके अनुयायी बन गये थे। इन सब सज्जनों ने यह सोचा कि श्री स्वामीजी के

विचारों का प्रचार करने और उनको स्थिर रखने के लिए कोई सत्संग स्थापित करना चाहिए। इसलिए मार्गशीर्ष मास सम्वत् १९३१ में बहुत से सज्जन मिलकर महाराज के पास आये और बोले, "हम आपके उपदेशों से पूरा लाभ उठाने के लिए सत्संग की स्थापना करना चाहते हैं। कृपया आप श्रीमुख से उसका नामकरण कर दीजिए।"

प्रेमियों के उत्साह-भरे वचन सुनकर स्वामीजी अति प्रसन्न हुए और आँखें बंद करके ध्यान में लीन हो गये। जिस प्रकार निर्वात स्थान में रक्खे हुए दीपक की शिखा अकम्प होती है, ऐसे ही कुछ समय तक वे अचल रहे और फिर नेत्रोन्मीलन करके बोले, "इस सत्संग का शुभ नाम 'आर्यसमाज' ही रखना उचित है।" भक्तों ने 'अत्युत्तम' कहकर महाराज के वचन का आदर किया। उसी समय पच्चीस सत्संगियों के नाम लिखे गये। परन्तु कई कारणों से आर्य्य-समाज की स्थापना न हो सकी।

मुम्बई में महाराज ने मौखिक उपदेशों के अतिरिक्त लेख का भी बहुत कार्य किया। 'सत्यार्थप्रकाश' तो वहाँ जाने के दो मास पूर्व ही लिखवा कर राजा जयकृष्णदासजी को छपवाने के लिए दे गये थे, परन्तु वहाँ उन्होंने वल्लभाचार्य-मत-खण्डन, स्वामी-नारायण-मत-खण्डन और वेदान्त-ध्वान्त-निवारण ये पुस्तकें मुद्रित कराकर प्रकाशित कीं। संस्कार-विधि भी उस समय लिखी जा रही थी।

मुम्बई से प्रस्थान कर श्री स्वामीजी सूरत पधारे। रेलवे-स्टेशन पर बड़े समारोह के साथ उनका स्वागत किया गया। पहिले तो महाराज, रायबहादुर जगजीवनदास खोशालदास के आवास में ठहरे, परन्तु वह स्थान एकान्त न था इसलिए सौदागर प्रेस के प्रबंधकर्त्ता की कोठी में चले गये। वह कोठी कर्तारपुर गाँव के मार्ग पर, नगर से कोस भर के अन्तर पर थी।

स्वामीजी के सहायकों ने पहला व्याख्यान कन्या-पाठशाला में कराया। व्याख्यान का विषय था 'स्वामी नारायण मत, रामानुज मत, वल्लभ मत और ब्रह्म-समाज क्या है?' महाराज ने इन मतों की अति उत्तमता से युक्तियुक्त समालोचना की।

स्वामी-नारायण-मत का एक मनुष्य व्याख्यान में बड़े आवेश में आ गया और उच्च स्वर से बोला, "जो कुछ तुम कह रहे हो वह सब असत्य है।" स्वामीजी ने उसे मीठे वचनों से समझाया, "घबराना नहीं चाहिए। जब तुम अपने धर्म्म को लोगों के सम्मुख रखते हो तो उसकी सत्यता की परीक्षा भी तो करने दो। व्यापारी होते हुए जिस प्रकार अपने ग्राहकों के साथ शान्ति से व्यवहार करते हो, वैसे ही तुम्हें धर्म्म के ग्राहकों के साथ भी वर्ताव करना उचित है।"

व्याख्यान की समाप्ति पर स्वामी नारायण के अनुयायियों को शङ्का-समाधान के लिए समय दिया गया, परन्तु प्रश्नोत्तर किसी ने भी न किया। जिस समय महाराज व्याख्यान-स्थान से जाने लगे तो वल्लभ और स्वामी नारायण के अनुयायियों ने बहुत ऊधम मचाया अपशब्द कहे और ईंट-पत्थर बरसाये।

महाराज का दूसरा व्याख्यान रघुनाथपुरा में ठाकुरभाई चुन्नीलाल वका-वाला की हवेली में होना नियत हुआ। नगर के प्रतिष्ठित जनसमुदायसहित जब नियत समय पर स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो हवेली का द्वार बंद था। पूछने पर पता लगा कि वल्लभियों ने स्थानपति पर दबाव डाल कर द्वार बंद करा दिया है। लोग किसी दूसरे स्थान में व्याख्यान कराने के लिए सोचने लगे, परन्तु स्वामीजी ने घड़ी देखकर कहा, "समय हो गया है, इसलिए यहीं खुले स्थान में व्याख्यान होना चाहिए।" लोगों ने प्रार्थना की, "आप थोड़ी देर ठहर जाइए। हम आपके बैठने के लिए कुर्सी ले आयें।" महाराज ने कहा, "मुझे अपने बैठने की तो कोई चिन्ता नहीं, परन्तु आप लोग जो बिना फर्श के बैठ गये हैं और धूल में खड़े हैं, इसका ध्यान अवश्य है।" यहाँ भी उनका व्याख्यान बड़ी धूमधाम का हुआ।

स्वामीजी का तीसरा भाषण, कवि नर्मदाशङ्करजी के प्रबंध से उनके मकान के सामने हुआ। एक इच्छाशङ्कर नामक पण्डित व्याख्यान ही में खड़ा हो गया और प्रतिमा-पूजन के पौराणिक प्रमाण बोलने लगा। महाराज ने उसे दो एक बार ही उत्तर दिया था कि वह लड़खड़ा गया और लगा थर-थर काँपने। उस समय साम्प्रदायिक लोग कोलाहल करते थे; ईंट, पत्थर और धूल फेंकते थे। सहायकों ने स्वामीजी को व्याख्यान बंद कर देने की विनय की। परन्तु

महाराज ने कहा, "अपने भाइयों के फेंके हुए ये ईंट-पत्थर मेरे लिए पुष्प-वर्षा है। व्याख्यान तो मैं समय ही पर समाप्त करूंगा", और उन्होंने ऐसा ही किया।

मोहनलालजी बावा नाम के एक ब्रह्मचारी सूरत में रहते थे। उनका नगर में अति सम्मान था। वे वेदान्त के अच्छे पण्डित थे। मूर्ति-पूजा के बड़े कड़े विरोधी थे। जब उन्होंने सुना कि श्रीमद्दयानन्दजी सूरत में पधारे हैं तो उन्हें अपार प्रसन्नता प्राप्त हुई। ब्रह्मचारीजी अपने शिष्यवर्ग सहित स्वामीजी की सेवा में आए और साष्टांग नमस्कार करके बोले, "भगवन्! श्रीमन्त की शोभा मैं चिरकाल से सुनता हूँ। पूज्यपाद के परिभ्रमण और उपदेशों का वृत्तान्त समाचारपत्रों में पढ़ता रहता हूं। परन्तु मन मे महाराज के शुभ दर्शनों की अभिलाषा थी सो आज आपके शुभ दर्शन करके मैं स्वात्मा को सौभाग्यशाली समझता हूं।" भक्ति-भाव के भूरि भार से नम्र ब्रह्मचारी बहुत देर तक महर्षि के साथ ज्ञान-चर्चा करते रहे। महाराज भी उनको अत्यादर से उत्तर देते थे। चलते समय ब्रह्मचारीजी ने बड़ी विनीतता से श्री-सेवा में निवेदन किया, "भगवन्! कल मेरे स्थान पर भोजन जीमने की कृपा कीजिए।"

स्वामीजी प्रायः किसी के घर पर भोजन पाने नहीं जाया करते थे, परन्तु उस निष्काम भक्त का निमन्त्रण उन्होंने स्वीकार कर लिया। ब्रह्मचारीजी सहर्ष अपने स्थान को लौटे और अपने आश्रम से राज पथ तक उन्होंने सड़क बनवा दी। उसके दोनों ओर पुष्पों के गमले रक्खे गये, कदली-स्तम्भ आरोपित किये गये और जहाँ से उनका स्थान आरम्भ होता था वहाँ से लेकर मुख्य स्थान तक मार्ग में स्वच्छ कपड़ा बिछा दिया।

जिस समय भगवान् उनके आश्रम पर पधारे तो ब्रह्मचारीजी अपने प्रतिष्ठित शिष्यसमूह सहित स्वागत के लिए आगे आये। महाराज पर पुष्प-वर्षा करते हुए सबने "श्रीमद्दयानन्द महाराज की जय" का नाद बार-बार गुंजाया। एक सुन्दर सजे हुए स्थान पर अत्युत्तम आसन लगा हुआ था। महर्षि को उसी पर बैठने के लिए निवेदन किया। महाराज के विराजमान हो जाने पर ब्रह्मचारीजी ने समीप जाकर नमस्कारपूर्वक उनके कण्ठ में फूलों का हार पहराया। तत्पश्चात् वे आप भी बैठ गये और शिष्यों सहित ईश्वर-स्तुति के भजन गाने

लगे। ब्रह्मचारीजी को गान-विद्या का अच्छा ज्ञान था। उनका कण्ठ कोमल और स्वर मृदु था। स्वामीजी के प्रेम से वे रस में और भी निमग्न हो गये। उन्होंने मशीन का एक समय बाँध दिया। फिर उन्होंने महाराज को भोजन कराया। भोजनानन्तर कुछ विश्राम लेकर स्वामीजी अपने डेरे को चल पड़े। ब्रह्मचारीजी बड़ी दूर तक उनको छोड़ने आये।

एक दिन स्वामीजी भ्रमण करने जा रहे थे। स्कूलों के अनेक युवक उनके साथ हो लिये। स्वामीजी ने बालकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी। दूध, दही आदि पौष्टिक भोजन करना बताया। मादक वस्तुओं के सेवन में दोष दिखाये और व्यायाम की शिक्षा देते हुए कहा, "व्यायाम खानपान की तरह नित्य करना चाहिये। बलवान् युवक सुखी और सुप्रसन्न रहते हैं। निर्बल मनुष्य का जीवन साररहित, रोगों का घर और नरक-धाम बना रहता है।"

महाराज की सरलता, कोमलता और सु-व्यवहार का नवयुवकों पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

स्वामीजी के स्थान पर एक दिन कर्तारपुर के ग्रामीण लोग आकर विनय करने लगे, "महाराज! नगरवासी तो आपका उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार करते हैं, परन्तु एक दिन हम किसानों की विनती भी स्वीकार कीजिए; हमारे गाँव में पधारिये, हम आपको 'पोंक' खिलाना चाहते हैं।"

स्वामीजी ने कहा, "हमारे समीप ऊँच-नीच, सधन-निर्धन-सब एक सा सत्कार पाते हैं। मुझे आज तो अवकाश नहीं है। कल व्याख्यान नहीं होगा, इसलिए कल आपके गाँव में पहुँच जाऊँगा।"

अगले दिन ग्रामीण लोग रथादि लेकर महाराज को लेने के लिए आ गये, परन्तु उन्होंने उसमें बैठना स्वीकार न किया। पैदल ही चल पड़े। गाँव के लोग भी उनके साथ-साथ जाते थे, परन्तु महाराज इतना शीघ्र चलते थे कि वे लोग पीछे रह जाते थे। महाराज बार-बार खड़े होकर उन्हें साथ मिलाते और फिर इकट्ठे होकर चलते थे।

वे चलते-चलते मार्ग में अपने साथियों को उपदेश भी देते थे कि पुत्री का छोटी आयु में विवाह करना बहुत बुरा है। सन्तान के परित्राण के लिए इस

कुरीति को अपने में से निकाल दो। जैसे कच्चे खेत को काट लेने से अन्न नष्ट हो जाता है, कच्चे फल और ईख से मिठास नहीं होती, ठीक उसी प्रकार छोटी आयु में जो सन्तान का विवाह कर देते हैं उनका वंश भी बिगड़ जाता है। सन्तान में सुख और उन्नति का सदा अभाव ही बना रहता है। इस प्रान्त के कृषकों में यह कु-रीति सबसे अधिक है, इस लिए वे स्वामीजी के कथन से बहुत प्रभावित हुए।

जब महाराज गाँव के निकट पहुंचे तो उस गाँव के सभी छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष श्रीदर्शनों के लिए बाहर आ गये। ग्राम के पेड़ के नीचे स्वच्छ वस्त्र बिछाकर महाराज को बिठाया गया। पाटीदारों की पंक्ति भी महाराज को चारों ओर से घेरकर बैठ गई। कृषक जन 'पोंक' लाकर स्वामीजी को देते थे और महाराज उसे बच्चे, बूढ़ों और युवकों में बांटते जाते थे। इस प्रकार प्रसाद-वितरण करने के अनन्तर महाराज ने भी 'पोंक' ग्रहण किये और उन किसानों को एक बहुत अच्छा उपदेश दिया। ईश्वर का भजन और सत्संग करना बताया। दिन के चौथे पहर जब महाराज सूरत को लौटने लगे तो ग्रामवासी लोगों ने विनय की कि हम कृषिजीवी जन हैं। हमारी स्थिति साधारण है। हम इस योग्य तो नहीं थे, पर यह आपकी अपनी कृपा है, जिससे हमारा भक्ति-भाव स्वीकृत हुआ है।

स्वामीजी ने उनको कहा, "तुम अपने को तुच्छ क्यों मानते हो? तुम तो सच्चे वैश्य हो, परिश्रमी हो। तुम्हारी आजीविका निर्दोष है। तुम्हारे ही श्रम-पूर्वक उपार्जन किये अन्न से राजा और प्रजा का पालन पोषण होता है।"

वे लोग महाराज के उपदेश से गद्‌गद् हो गये और उनको दूर तक पहुचा कर पीछे लौटे।

एक दिन, व्याख्यान के समय एक सेठ ने स्वामीजी के चरणों में एक बहु-मूल्य शाल रख दिया। स्वामीजी ने उस भद्र मनुष्य को कहा, "मैं यह वस्त्र कदापि न लूंगा। इस प्रकार कथा-व्याख्यानों पर चढ़ावा चढ़ाना अथवा लेना आर्य-रीति के सर्वथा प्रतिकूल है।" उसने कहा, "मैं आपको यह वस्त्र कोई कथा के कारण नहीं दे रहा हूं। यह तो केवल आपके प्रति प्रेम का प्रकाश

है।" स्वामीजी ने तब उसे कहा, "ऐसे समय में लेना इसी बात को प्रकट करता है कि मैं भी पेट्ट पुरोहितों की भांति, अपने पोथियों के पाठ बेचता फिरता हूँ।" इसपर वह सन्तुष्ट हो गया।

सूरत में महाराज को शिक्षा-विभाग के अधिकारी डाक्टर बूलर मिले और देर तक संस्कृत में वार्त्तालाप करते रहे।

जिन लोगों ने सूरत में स्वामीजी को निमंत्रित किया था वे यह समझे कि उनके भोजन आदि का प्रबन्ध मुम्बई के सेठों की ओर से है। इस लिए द्रव्य की सहायता किसी ने भी न की। उधर रसोई के व्यय के लिए द्रव्य थोड़ा रह गया। अन्त में महाराज ने अपने कर्म्मचारियों सहित निरी खिचड़ी पर ही निर्वाह किया, परन्तु किसी से अर्थ याचना नहीं की।

दसवां सर्ग

सूरत से चलकर श्रीमहाराज भरुच में सुशोभित हुए। वहां नर्मदा के किनारे भृगु-आश्रम में उन्होंने आसन लगाया। स्वामीजी के भाषण सायंकाल हुआ करते थे। और सहस्रों मनुष्य उपदेश श्रवण करते थे।

माधवराय त्र्यम्बक नामक एक दक्षिणी वहाँ निवास करता था। उसके बहुत से शिष्य थे। वह एक दिन सदल बल, सभा-स्थान में आया। प्रतिमा-पूजन पर शास्त्रार्थ करने के लिए समुद्यत हुआ और कहने लगा कि आज संहिता से मूर्ति-पूजा सिद्ध करके ही जाऊँगा। डींग तो उसने इतनी लम्बी हाँक दी, पर था वह निरा औघड़नाथ! थोड़े ही शब्दों में उसके ढोल की पोल दीखने लगी।

माधव ने अंगुली से तर्जना करते हुए महाराज को कठोर शब्द कहना आरम्भ कर दिये। माधव भगवान को तर्जना कर रहा है, यह देखकर भक्त बलदेव की आँखें रक्तवर्ण हो गईं। उसने दाँत पीसते हुए माधव को कहा, "भलमनसी से अब भी टल जा, नहीं तो तेरी कपाल-क्रिया अभी किये देता हूँ। यदि तूने महाराज की ओर अब अंगुली उठाई तो तेरी हड्डी-पसली एक कर दूंगा।"

भक्त बलदेव के धधकते कोपानल को देखकर माधवराव त्र्यम्बक के तोते उड़ गये। वह खड़ा-खड़ा काँपने लगा। उस समय महाराज ने कहा, "बलदेव! कोप किस पर? ये ही हमारे भाई हैं। इन्हीं की कल्याण-कामना करते रात-दिन बीतते हैं। बलदेव! शान्त हूजिए। मेरे मानापमान पर ध्यान न दीजिए। धर्मोपदेशक को तो भूमि के सदृश सहनशीलता सम्पादन करनी चाहिए।" गुरुदेव का वचन सुनकर बलदेव शान्त हो गया। माधव ने भी सोचा कि सहज से पिण्ड छूट गया है, इसलिए वह वहाँ से भाग गया।

एक पारसी कैथलिक ईसाई हो गया था। उसने माक्षणों की सहायता से मूर्ति-पूजा की सिद्धि पर व्याख्यान देने के लिए विज्ञापन निकाले। व्याख्यान में पधारने के लिए स्वामीजी को निमन्त्रित किया। नियत समय पर जब महाराज वहाँ गये तो लोगों ने प्रार्थना की कि आप ऊँचे आसन पर विराजिए। परन्तु वे यह कहकर सब के साथ बैठ गये कि इस समय मैं श्रोता हूँ। मुझे श्रोताओं ही में बैठना चाहिए।

व्याख्यान में उस वक्ता ने महाराज के लिए बहुत अपमान-सूचक शब्द कहे। उस समय वहाँ कुछ पूर्वीय सैनिक भी उपस्थित थे। वे अपने क्रोध को वश में न रख सके। वे व्याख्यानदाता को पीटा ही चाहते थे कि श्रीमहाराज ने उनको रोक लिया और कहा, "अपमानकर्त्ता का अपमान करने से उसका सुधार नहीं होता, किन्तु सम्मान देने से वह सुधर जाता है। जैसे आग में आग डालने से वह शान्त नहीं होती, ऐसे ही द्वेषी की द्वेष-बुद्धि, उसके साथ द्वेष करने से दूर नहीं हो सकती। अग्नि को शान्त करने का साधन जल है। इसी प्रकार द्वेष को मिटाने का साधन शान्ति धारण करना है।" महाराज के उपदेश को सुन कर सैनिक शान्त हो गये।

जेठालालजी वकील एक दिन स्वामीजी को कहने लगे, "महाराज! यदि आप शास्त्रों द्वारा मूर्ति-पूजा का मण्डन करने लग जायें तो हम आपको शङ्कर का अवतार मानने लग जायेंगे।" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "मुझे विश्वनाथ की पदवी का लालच काशी-नरेश ने भी दिया था, परन्तु मैं किसी की सांसारिक वासना के वशीभूत होकर सत्य का परित्याग कभी भी नहीं कर सकता।"

इन वचनों ने जेठालालजी के अन्तःकरण पर गहरा प्रभाव डाला। वे सत्संग में रुचिपूर्वक आने लगे। एक समय जेठालालजी ने फिर कहा, "आपकी संस्कृत अति सुगम होती है। पण्डितों ऐसी जटिल भाषा मैंने आपसे नहीं सुनी। दूसरे, जब आप पण्डितों से शास्त्रार्थ करते हैं तब भी उनका मुख केवल युक्तियों और प्रमाणों से ही बंद कर देते हैं। पण्डित लोग तो एक-एक शब्द पर ही सारा-सारा दिन बिता देते हैं। वैसा आप भी क्यों नहीं करते ?"

महाराज ने कहा, "महाशयजी! मैं सुगम संस्कृत इसलिए बोलता हूँ कि सुननेवालों को समझने में सुगमता हो। मेरा उद्देश्य जनता को समझाना है, न कि अपना पाण्डित्य छांटना। परन्तु यह भी निश्चय रखिए कि सुगम भाषा में बोलने की रीति किसी भाषा के अल्प ज्ञान से नहीं प्राप्त हुआ करती। और फिर मेरे पास इतना समय कहां है कि एक-एक शब्द के जोड़-तोड़ में घंटों बिता दूं। एक-एक शब्द पर अड़कर वे ही सारा दिन गँवाते हैं, जो कर्महीन और उद्देश्य शून्य हैं। मेरा समय जनता के निमित्त समर्पित है। उसे मैं पक्षियों की तरह चाँय-चाँय और काँय-काँय में खो नहीं सकता।

भोजन के अनन्तर स्वामीजी अपने कर्मचारियों को भी कुछ काल के लिए विश्राम करने की आज्ञा दे देते थे। एक दिन एक विद्यार्थी स्वामीजी की ओर पाँव करके सो गया। जब सारे कर्मचारी जाग उठे तो महाराज ने उन को अपने पास बुला कर उपदेश दिया कि प्रत्येक आर्य को आर्य्य-मर्यादा का पालन करना चाहिए। बिना बुलाये बोलना, बड़ों की बातों में आप-ही-आप बोलने लग जाना आर्य्य मर्यादा के विरुद्ध है। अपने माननीय व्यक्तियों की ओर पीठ करना और पाँव करके सोना भी आर्य मर्यादा के प्रतिकूल है।

स्वामीजी के उपदेश को सुन कर अपराधी विद्यार्थी ने उनके चरण पकड़ लिये और आगे के लिए मर्यादा-पालन का प्रण किया।

भरुच में स्वामीजी ने एक दिन एक विद्यार्थी को कूँए से जल लाने को कहा। उसने कहा, "मैं ब्राह्मण हूँ; मेरा काम पानी ढोना नहीं है।" उसी दिन सायं समय महाराज ने सब कर्मचारियों को एकत्रित करके कहा, "जिस के निकट कोई रहता हो और जिस से विद्या ग्रहण करता हो उस के वचन को अवश्य मानना चाहिए। उस की आज्ञा कदापि भङ्ग नहीं करनी चाहिए।"

फिर स्वामीजी ने उनको कहा, "गुरु-सेवा किस प्रकार करनी चाहिये इस पर मैं आपको आप-बीती सुनाता हूँ। जब मैं मथुरा में अध्ययन करता था तो अपनी स्मरण-शक्ति और विनय के कारण दण्डीजी की अपार कृपा का पात्र बन गया था। इसी लिए मेरे सहपाठी मुझ से ईर्ष्या करने लग गये। उनका और तो कुछ बस न चला, अन्त में मुझे दण्डीजी की दया से वंचित करने लगे। एकदा करके गुरुजी को कहा कि "महाराज! दयानन्द बड़ा अविनीत है। वह आपके पास तो अति नम्रता से मीठी-मीठी बातें बनाता है, परन्तु दूसरे विद्यार्थियों के सामने आपकी नकलें करने लगता है। आंखें बन्द करके आपकी तरह लाठी लेकर चलता और हंसी उड़ाता है। उनकी इस कु-चेष्टा को देखकर हमें अति क्रोध आता है। परन्तु करें तो क्या, आप तो उसको परम विश्वास-पात्र और विनीत मानते हैं।"

"मेरे सहपाठियों की यह चाल चल गई। दण्डीजी ने कोपावेश में मुझे बहुत कटु वचन कहे और लाठी से इतना मारा कि मेरे घाव हो गया।" स्वामीजी ने भुजा नंगी करके उस घाव का चिन्ह भी उन्हें दिखाया। उस दिन से उनके किसी कर्मचारी ने उनका वचन उल्लंघन नहीं किया।

एक दिन पण्डित कृष्णराम इच्छाराम को ज्वर आ गया। ज्वर-पीड़ित वे एक कोठरी में जाकर पड़ गये। जब स्वामीजी को पता लगा तो वे उनके पास जाकर उनका सिर दबाने लगे। पण्डितजी ने कहा, "भगवन्! आप ऐसा न कीजिये। मैं आपसे सेवा कराना नहीं चाहता।" महाराज ने कहा, "इसमें कोई दोष नहीं है। एक दूसरे की सहायता और सेवा करना तो मनुष्य का धर्म्म ही है। बड़े यदि छोटों की सेवा न करें तो छोटों में सेवा का भाव आ ही नहीं सकता।"

भरुच से चलकर श्री महाराज दिसम्बर मास में अहमदाबाद पधारे। अनेक सज्जन उनके स्वागत के लिये रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे। एक भाटिया सेठ ने स्वामीजी को बड़े आदर से अपनी गाड़ी में बैठाया और आप भी साथ ही बैठ गया। जिस मार्ग से गाड़ी जा रही थी उसी मार्ग पर सेठ का निर्माण कराया हुआ एक मन्दिर था। उस मन्दिर पर उसने दो लाख रुपया व्यय किया था। उस मन्दिर की ओर संकेत करके सेठ ने उसके सौन्दर्य का वर्णन किया।

महाराज ने गाड़ी पर हाथ मार कर कहा, ऐसी अविद्या ही से आज हम लोगों की यह दुर्दशा हो रही है। यदि इतना ही द्रव्य आप पाठशाला पर लगा देते तो वहां से वेदशास्त्र के ज्ञाता पण्डित तो निकलते।"

स्वामीजी को तापती नदी के किनारे पुल के पास माणिकेश्वर महादेव के मन्दिर में विराजमान किया गया। उनके व्याख्यान प्रतिदिन ट्रेनिङ्ग कालेज में हुआ करते थे। महाराज के उपदेश में श्रोताओं की तुलनातीत संख्या होती थी।

वैसे तो नगर के सभी प्रतिष्ठित स्वामीजी के सहायक थे, परन्तु रायबहादुर गोपालराव हरि देश-मुख तो उनके अनुयायी ही समझे जाते थे।

अहमदाबाद में रायबहादुर बेचरदासजी के मकान पर गुजराती पण्डित मण्डली के साथ शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ 'आ कृष्णेन रजसा' तथा 'या ते शिवा तनूः' इन दो मन्त्रों पर था। थोड़ी देर तो पण्डित लोग वाद करते रहे, परन्तु अन्त में स्वामीजी के अखण्डनीय प्रमाणों और अटूट युक्तियों के आगे वे नतशिर हो गये। शास्त्रार्थ के पश्चात्, उसी स्थान पर सारी सभा की ओर से स्वामीजी का सत्कार किया गया। महाराज को एक उत्तम सिंहासन पर बैठाकर पुष्प-माला पहराई गई और उन पर पुष्प-वर्षा की गई। तदनन्तर सारी सभा की प्रार्थना पर भगवान् का वहीं एक प्रभावशाली व्याख्यान हुआ।

एक समय एक पण्डित स्वामीजी के निकट आकर बोला, "महाराज! हम आपके कथन से अपना धर्म क्यों छोड़ें? श्री कृष्णजी ने भी कहा है कि 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः' अपना धर्म कुछ न्यून-गुणवाला भी हो तो भी अच्छा है।"

स्वामीजी ने उनको कहा कि आप गीता के तात्पर्य ही को नहीं समझे। यहां धर्म्म से तात्पर्य साम्प्रदायिक मतों से नहीं है किन्तु इस पद का अर्थ वर्णाश्रम धर्म्म है। यह पण्डित इस अर्थ से अतीव सन्तुष्ट हो गया।

इस प्रकार अहमदाबाद-वासियों को कृतकृत्य करने के अनन्तर श्रीमहाराज ने राजकोट को प्रस्थान किया।

ट्रेनिङ्ग कालेज राजकोट के प्रिंसिपल श्री हरगोविन्ददासजी की प्रार्थना पर पौष वदी ५ सम्वत् १९३१ को स्वामीजी अहमदाबाद से चलकर राजकोट में पधारे। एक उत्तम धर्म्मशाला में उनका आसन सुशोभित हुआ। राजकोट में एक

राजकुमार महाविद्यालय भी है। उसमें दूर-दूर के राजकुमार आकर विद्याध्ययन किया करते हैं। जब महाराज के व्याख्यान होते थे तो महाविद्यालय से राजकुमार भी सुनने आते थे।

स्वामीजी ने यहाँ आर्यसमाज की स्थापना भी कर दी। उस समय यद्यपि नियम-उपनियम नहीं बनाये गये थे, परन्तु अधिकारी आदि सब नियत हो गये थे।

एक दिन उपर्युक्त महाविद्यालय के अध्यापक उन्हें महाविद्यालय दिखाने के लिए ले गये। निरीक्षण के अनन्तर वहाँ के आचार्य महाशय ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि राजकुमारों को कुछ उपदेश दीजिए। महाराज ने राजकुमारों को सम्बोधन करके बहुत ही उपयुक्त उपदेश दिया।

उस भाषण के प्रभाव को आचार्य महाशय ने भी अनुभव किया।

आचार्य्य महाशय ने वार्त्तालाप में स्वामीजी को कहा, "आप तो अहिंसा धर्म्म का उपदेश देते हैं और राजकुमार शिकार करते हैं। आप के धर्म्म में इन को तो कोई स्थान नहीं है।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षि बड़े ज्ञानी थे। मृगादि पशु खेतों को, वाटिकाओं को और उद्यान आदि को नष्ट कर दें, इसलिए क्षत्रियों के लिए उनके वध का विधान कर गये हैं। अतः परमार्थ क्षत्रियों का यह कर्म उपकार ही है।"

जब स्वामीजी वहाँ से आने लगे तो आचार्यजी ने उन को ऋग्वेद की दो पुस्तकें भेंट कीं।

राजकोट में महाराज ने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने पर एक व्याख्यान दिया। उसमें उन्होंने अनेक युक्तियाँ देते हुए कहा, "जिस परमात्मदेव ने मनुष्यों की आँखें आदि इन्द्रियों के लिए सूर्य्यादि सहायक पदार्थ पैदा किये हैं, यह हो नहीं सकता कि उसने मनुष्य के मस्तिष्क को उज्वल और उन्नत करने के लिए ज्ञान न दिया हो। वह ज्ञान सृष्टि के आदि ही में होना चाहिए।"

श्री हरगोविन्ददासजी के साथ महाराज गुजराती भाषा में वार्त्तालाप किया करते थे। वे अति शुद्ध, सरल और सभ्य गुर्जर भाषा बोलते थे।

काठियावाड़ प्रान्त के अनेक भद्र मनुष्यों ने महाराज के उपदेशों से धर्म्म-जीवन प्राप्त किया, शान्ति लाभ की और सत्यासत्य का परीक्षण करना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार अपने जन्म-प्रान्त में विवेक का बीज बोकर श्री स्वामीजी पौष सुदी एकादशी सम्वत् १९३१ को अहमदाबाद की ओर चल पड़े। पौष की पूर्णमासी को श्री महाराज ने अहमदाबाद में दुबारा पदार्पण किया। इस बार उन्होंने स्वामी-नारायण-मत का अति ही खण्डन किया।

महाराज बड़ोदा में जाना चाहते थे। परन्तु उन्हीं दिनों में मल्हारराव सिंहासन से उतार दिये गये थे। वहाँ सेना के गमनागमन से गड़बड़ विद्यमान थी। उन्होंने वह समय वहाँ जाने के लिए उपयुक्त न समझा और वे अहमदाबाद से बलसाड़ में आ गये।

वहाँ महाराज का बड़े समारोह से स्वागत हुआ और एक पारसी की उत्तम कोठी में उनको उतारा गया। अनेक विषयों पर मनोरञ्जक व्याख्यान होते रहे। बलसाड़ में उनके व्याख्यानों में अधिक संख्या मुसलमानों और पारसियों की होती थी।

कुछ एक धर्म्म-ध्वजी जनों ने यहाँ भी स्वामीजी का विरोध किया। उन दिनों में भावनगर के राज-गुरु भवानीशङ्करजी वहाँ आये हुए थे। वे लोग उनको प्रेरित करके शास्त्रार्थ के लिए ले आये। स्वामीजी उस समय व्याख्यान दे रहे थे, इस लिए राजगुरु भी बैठ कर सुनने लगे। भाषण समाप्त हो जाने पर स्वामीजी ने घोषणा की कि जिस किसी को प्रश्न करना हो वह प्रसन्नतापूर्वक कर सकता है। कलह-प्रिय लोग राज-गुरुजी को शङ्का करने के लिए बारबार प्रेरणा करने लगे। परन्तु उन्होंने उनको स्पष्ट कह दिया कि परमहंसजी वेद-शास्त्र के अनुसार कह रहे हैं। मैं इनके साथ कदापि व्यर्थ वाद नहीं करूंगा। राज-गुरु के कथन को सुन कर उन लोगों के मुख मुरझा गये, परन्तु भद्र श्रोताओं के हर्ष का पार न रहा।

कई दिनों तक बलसाड़ में निवास करके महाराज जब बसई को प्रस्थान करने लगे तो अनेक प्रतिष्ठित पारसी और दूसरे सज्जन उन को रेलवे स्टेशन तक

पहुँचाने आये। जिस समय महाराज गाड़ी में आरूढ़ हुए तो उनके कण्ठ में पुष्पमाला पहराई गई और उन पर कुसुम-वर्षा बरसाई गई।

बसई में पधार कर स्वामीजी ने एक अत्युत्तम व्याख्यान दिया। यहाँ भी अनेक भद्र जनों ने अपने नाना प्रकार के संशय मिटाये।

बसई में स्वामीजी के एक नौकर ने उनकी घड़ी चुरा ली। कर्मचारियों ने अनुसन्धान करके अपराधी को पकड़ लिया और लाकर श्री महाराज के पास उपस्थित किया।

वह नौकर स्वामीजी को देख कर रोता हुआ श्री-चरणों में गिर पड़ा। कर्मचारी तो चाहते थे कि उसे राजदण्ड दिलाया जाय, परन्तु भगवान् ने ऐसा करना स्वीकार न किया। और कहा, "हमारा काम साँप को मारना है, न कि उसकी विम्बी को कूटना-पीटना।" महाराज ने अपराधी को चोरी के ऐसे दोष और फल समझाये, जिनसे काँप कर उसने प्रण किया कि मैं फिर कभी भी इस पाप-पङ्क में नहीं पड़ूँगा।

बसई में धर्मोपदेश देकर महाराज मुम्बई जाने के लिए प्रस्तुत हो गये।

सङ्गठन काण्ड

पहला सर्ग

दूसरी बार जब महाराज मुम्बई में पधारे तो भक्तजन उनको बड़े समारोह से लाये और वालुकेश्वर पर लालजी दलाल के बङ्गले में ठहराया। स्वामीजी के अनुयायी आर्यसमाज की स्थापना करने के लिए बड़े उत्सुक थे। उन्होंने माघ १९३१ में रावबहादुर दादूबा पाण्डुरङ्ग की प्रधानता में एक साधारण सभा लगा कर आर्यसमाज के नियमों और उद्देश्यों पर विचार करने के लिए एक उप-सभा नियत की। उस सभा के कुछ सभासदों ने यह सम्मति दी कि कई कारणों से अभी आर्यसमाज स्थापित करना उचित नहीं है। इसलिए आर्यसमाज की स्थापना का प्रश्न, फिर कुछ दिनों के लिए स्थगित हो गया।

महाराज ने श्री-उपदेशों से लोगों को फिर उत्तेजित किया, जिससे सब ने मिलकर सर्वसम्मति से राजमान्य राजे श्री पानाचन्द्र आनन्दजी पारिख को नियमोपनियम निर्माण करने के लिए चुना। पारिख महाशय ने थोड़े ही दिनों में आर्यसमाज के नियम सङ्गठन कर के सब के सामने उपस्थित कर दिये। उन को देख कर श्री महाराज ने भी हार्दिक अनुमोदन किया।

महाराज के आदेशानुसार चैत्र सुदी ५ सम्वत् १९३२ वैक्रमी शनिवार को मुम्बई नगर के गिरगाँव मुहल्ले में डाक्टर माणिकचन्द की वाटिका में सायं समय आर्य्यसमाज की शुभस्थापना हुई। वैदिक-धर्म्म प्रचारक सभा की नींव रक्खी गई। सुधार का कल्पतरु आरोपित किया गया। आर्य जाति में नूतन जीवन और जागृति उत्पन्न करने का साधन उपस्थित हो गया। आर्य मान-मर्यादा, तथा आर्य गौरव-गरिमा की रक्षा के निमित्त एक सैनिक संघ संगठित हुआ। सर्वसाधारण को धर्म्मप्रदान करने के लिए एक सत्सङ्ग-गङ्गा का स्रोत खुल गया और दीनदुखियों की सहायता के लिए एक सेवकसमिति उपस्थित हो गई। उस समय आर्यसमाज के ये नियम निर्धारित हुए:—

१. सब मनुष्यों के हितार्थ आर्य-समाज का होना आवश्यक है।

२. इस समाज में मुख्य स्वतःप्रमाण वेदों ही को माना जायगा। साक्षी के लिए, वेदों के ज्ञान के लिए और इतिहास के लिए शतपथादि ब्राह्मण, छः वेदाङ्ग, चार उपवेद, छः दर्शन और ११२७ वेदों की व्याख्यानरूप शाखायें इन आर्ष ग्रन्थों को भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायगा।

३. इस समाज में प्रति देश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और दूसरे शाखा प्रति शाखा समझे जायँगे।

४. सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल ही रहेगी।

५. प्रधान समाज में सत्योपदेश के लिए संस्कृत और आर्य-भाषा में नाना प्रकार के ग्रन्थ रहेंगे और एक साप्ताहिक पत्र 'आर्य प्रकाश' निकलेगा। ये सब समाज में प्रवृत्त किये जायँगे।

६. प्रत्येक समाज में एक प्रधान पुरुष, दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री, सब सभासद् होंगे।

७. प्रधान पुरुष इस समाज की व्यवस्था का यथावत् पालन करेगा और मन्त्री सब के पत्रों के उत्तर तथा सब के नाम व्यवस्था लेख करेगा।

८. इस समाज में सत्पुरुष, सदाचारी और परोपकारी सभासद् बनाये जावेंगे।

९. प्रत्येक गृहस्थ सभासद् को उचित है कि वह अपने गृह-कृत्य से अवकाश पाकर, जैसे घर के कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिए करे और विरक्त तो समाजोन्नति ही में नित्य तत्पर रहे।

१०. प्रत्येक सप्ताह में एक दिन प्रधान, मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में एकत्रित हों और सब कामों से इस काम को मुख्य जानें।

११. एकत्र हो कर सर्वथा स्थिर चित्त हों, पक्षपात छोड़कर परस्पर प्रीति से प्रश्नोत्तर करें; फिर सामवेद गान, परमेश्वर, सत्यधर्म्म, सत्यनीति, सत्योपदेश के विषय ही में बाजे आदि से गान, और इन्हीं विषयों पर मंत्रों का अर्थ और व्याख्यान हो। फिर गान, फिर मंत्रों का अर्थ, फिर गान आदि।

१२. प्रत्येक सभासद् न्याय पूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे उसमें

से शतांश 'आर्य समाज' 'आर्य विद्यालय' और 'आर्य प्रकाश' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्यसमाज के कोष में देवे।

१३. जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिए जितना प्रयत्न करे उसका उतना ही अधिक सत्कार, उत्साह वृद्धि के लिए होना चाहिए।

१४. इस समाज में वेदोक्त प्रकार से अद्वैत परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जायगी। स्तुति—निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वाधार और सच्चिदानन्द आदि विशेषणों से परमात्मा का गुण-कीर्त्तन करना; प्रार्थना—सब श्रेष्ठ कार्यों में उससे साहाय्य चाहना; उपासना—उसके आनन्दस्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त लक्षणयुक्त परमात्मा ही की भक्ति करना चाहिए, उसको छोड़ अन्य किसी का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

१५. इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायँगे।

१६. आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन पाठन हुआ करेगा; और सब स्त्री पुरुषों को वेदोक्त रीति ही से शिक्षा दी जायगी।

१७. इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा—एक परमार्थ, दूसरे व्यवहार। इन दोनों का शोधन तथा संसार के हित की उन्नति की जायगी।

१८. इस समाज में न्याय पक्षपात से रहित और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यथावत् परीक्षित सत्य धर्म, वेदोक्त ही माना जायगा। इससे विपरीत कदापि नहीं।

१९. इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सदुपदेश करने के लिए समयानुकूल सर्वत्र भेजे जायँगे।

२०. स्त्री और पुरुष इन दोनों के विद्याभ्यास के लिए यथासम्भव प्रत्येक स्थान में आर्य विद्यालय पृथक्-पृथक् बनाए जायँगे। स्त्रियों की पाठशाला में अध्यापिका आदि का सब प्रबंध स्त्रियों द्वारा ही किया जायगा, और पुरुषों की पाठशाला में पुरुषों द्वारा, इससे विरुद्ध नहीं।

२१. इन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्य समाज के अनुकूल पालन की जायगी।

२२. इस समाज में प्रधानादि सब सभासदों को परस्पर प्रीतिपूर्वक अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोधादि दुर्गुणों को छोड़ कर उपकार और सुहृद्भाव से निर्वैर होकर स्वात्मवत् सब के साथ वर्त्तना होगा।

२३. विचार के समय सब व्यवहार में जो न्याययुक्त, सर्वहितसाधक, सत्य बात स्थिर हो वह सब सभासदों पर प्रकाशित करके वही बात मानी जाय।

२४. जो मनुष्य इन नियमों के अनुकूल आचरण करने वाला, धर्मात्मा, सदाचारी हो उसको उत्तम सभासदों में प्रविष्ट करना; इसके विपरीत को साधारण समाज में रखना और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना। परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, किन्तु ये दोनों कार्य श्रेष्ठ सभासदों के विचार ही से किये जायें, अन्यथा नहीं।

२५. आर्यसमाज, आर्यविद्यालय, आर्यप्रकाश पत्र और आर्यसमाज का कोष—इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन-मन-धन से सदा किया करें।

२६. जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले तब तक और नौकरी न करे और न किसी अन्य को नौकर रक्खे। वे दोनों परस्पर स्वामी-सेवक भाव से यथावत् वर्त्तें।

२७. जब विवाह, जन्म-मरण, अथवा अन्य कोई दान करने का अवसर उपस्थित हो तब-तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम दूसरा कोई नहीं है, ऐसे समझ कर इसको कभी न भूलें।

२८. इन नियमों में से यदि कोई नियम घटाया बढ़ाया जायगा तो सब श्रेष्ठ सभासदों के विचार ही से सबको विदित करके ऐसा करना होगा।

ऊपर कहे नियमों के स्वीकार करने के पश्चात् प्रधान, मंत्री आदि अधिकारी चुने गये। कुछ काल तक तो समाज के अधिवेशन शनिवार को होते रहे, परन्तु कई-एक सभासदों को यह वार अनुकूल नहीं पड़ता था, इसलिए समय परिवर्तन करके सत्संग का दिवस आदित्यवार रक्खा गया।

बम्बई में आर्यसमाज स्थापित करके महाराज अहमदाबाद चले गये और वहां से लौटते हुए बड़ोदा में ठहरे। वहां उनका आसन विश्वामित्री के किनारे

महादेव के मन्दिर में किया गया। महाराज के खान-पान का सारा प्रबन्ध राज्य की ओर से था।

स्वामीजी का पहला व्याख्यान वेदाधिकार पर हुआ। इसमें दीवानादि सभी अधिकारी उपस्थित हुए। गोविन्द शास्त्री और आपा शास्त्री आदि गुजराती तथा दक्षिणी पण्डित भी आये। उपदेश में प्रसंगवश महाराज ने वेद का एक मंत्र उच्चारण किया; उसी समय दक्षिणी पण्डित 'शिव ! शिव !' कहते हुए वहां से उठ खड़े हुए। जब उनसे उठने का कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि इस सभा में एक मुसलमान भूमिहार और राजगायक मौलाबख बैठे हुए हैं। कुछ शूद्र जन भी इधर-उधर खड़े सुन रहे हैं। स्वामीजी ने ऐसे अनधिकारियों के सामने श्रुति का उच्चारण करके एक अनर्थ ढाया है। अधिकारी वर्ग ने समझा-बुझा कर उन भूदेवों को बिठा लिया।

स्वामीजी के आगमन से बहुत पहले ही पण्डित लोग शास्त्रार्थ करने के लिये सुसज्जित थे। इसलिए व्याख्यान की समाप्ति पर ही शास्त्र-समर का आरम्भ हो गया। महाराज ऐसी सुगम संस्कृत बोलते थे कि लोगों की समझ में सहज से आ जाती थी। परन्तु पण्डितों को यह बात अच्छी न लगी। वे बार-बार जटिल भाषा बोलने के लिए उपहासपूर्वक ललकारने लगे।

एक शास्त्री ने यह भी कहा, "महात्माजी ! केवल 'भवति' 'पचति' मात्र से काम न चलेगा। आज आपको दक्षिणी पण्डितों से पाला पड़ा है। कोई शास्त्रीय महत्त्व दिखाना होगा।"

प्रतिपक्षियों की प्रबल प्रेरणा पर, अपनी प्रकृति के प्रतिकूल होते हुए भी, महाराज ने अप्रसिद्ध-शब्द-पूर्ण, समास-बहुल, अनेकार्थ-बोधक, ऐसी जटिल संस्कृत बोलना आरम्भ किया कि प्रतिवादी देखता ही रह गया। वह तो महाराज की धाराप्रवाह संस्कृत के सारे वाक्यों को समझ ही न सका, तो उत्तर क्या देता ! उसे मूक-मूर्त्ति ही बनना पड़ा।

व्याकरण के 'भू' शब्द पर भी एक वैयाकरण ने थोड़ी देर तक वार्त्तालाप किया। महाराज की फक्किकाओं को वह भी न समझ सका।

ऐसे ही, अनेक शास्त्री एक-एक करके उस वाद-युद्ध में उतरते रहे और अन्त में दयानन्द वागीश के वचनास्त्रों से अवाक् हो जाते रहे। कोई दो घण्टे

के भीतर ही शास्त्री-समूह निर्वात सरोवर की भाँति प्रशान्त हो गया। उस समय सारी सभा साधुवाद के नाद से बार-बार निनादित होने लगी। पण्डित कृष्णराम इच्छाराम को इतने दिनों के पश्चात् ज्ञात हुआ कि प्रत्येक पद में उनके गुरुदेव का ज्ञान अगाध है। उसकी थाह कोई भी नहीं ले सकता।

एक दिन स्वामीजी बैठे हुए क्षौर करा रहे थे। उसी समय एक शास्त्री वहाँ आगया और कहने लगा, "संन्यासियों का धर्म्म तो त्याग है। आप इस देह-विभूषा में क्यों लगे हुए हैं?"

स्वामीजी ने हँसकर कहा, "यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है, तब तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी सिद्ध होगा! ऐसी बातों में त्याग और वैराग्य नहीं है। देह की रक्षा के लिए उसे सँवारना, सुधारना धर्म्मानुकूल है। जैसे प्रमादी पुरुष पुष्ट शरीर से अधिक पापाचरण करते हैं, ऐसे ही परोपकारी जन परिपुष्ट और बलिष्ठ काय से अधिक धर्म्म-कर्म करते हैं।"

एक दिन एक पण्डित ने भगवान् को कहा, "हमने सुना है कि आप धन ले लेते हैं, परन्तु शास्त्र में तो यह लिखा है कि 'न यतीनां कांचनं दद्यात्', यतियों को सुवर्ण न दिया जाय।"

महाराज ने उत्तर दिया, "वहाँ तो केवल सुवर्ण देना वर्जित किया है, तो क्या आपकी मति में यतियों को चाँदी, हीरा, मोती आदि देना चाहिए? भाई! यदि इसके भाव को समझना चाहते हो तो वह अति सरल है। यतियों को संग्रह नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि परोपकार के लिए द्रव्य लेना भी पड़े तो कोई दोष नहीं है। जिन भगवद्भक्तों ने पर-हितार्थ अपनी काया को भी अर्पण कर दिया है वे करोड़ों मन कांचन रखते हुए भी अकिञ्चन हैं। अब रही मेरी बात। मैं जब गङ्गा पर पर्यटन करता था तो उन दिनों में केवल कोपीनधारी दिगम्बर था। उस समय मुझे कौड़ीतक छूने की आवश्यकता न थी। परन्तु अब मैंने जन-हित के कार्यों में अधिक भाग लेना आरम्भ कर दिया है। इसलिए, 'कूप-मृत्तिका-न्याय' से लोगों से धन लेकर उन्हींके हितकर कार्य्य में लगा देता हूँ। पर यदि आप यह मानते हैं कि द्रव्य का स्वभाव पापमय है—इसको छू लेने से संक्रामक व्याधि की भांति पाप लग जाता

है, तो आप भी तो धनवान् प्रतीत होते हैं। क्या ऐसी अवस्था में आप अपने को पापी मानते हैं ?"

महाराज के कथन के अनन्तर शास्त्री ने उनके चरण-चुम्बन करके कहा, "आप वास्तव में वीतराग हैं। यह मेरी धृष्टता थी जो मैंने आपके आगे ऐसा प्रश्न किया ?"

एक दिन श्री स्वामीजी ने श्रीमान् माधवरावजी के कथन से एक व्याख्यान राजधर्म्म पर दिया। उसमें उन्होंने आर्य्य राज्य-पद्धति का चित्र चित्रण करके राष्ट्र-नीतिविशारदों को भी आश्चर्यचकित कर दिया। किसी भी विद्यमान राज्यप्रबंध पर, किंचिदपि कटाक्ष किये बिना, महाराज ने राजा और प्रजा के धर्म्मों और सम्बंधों का ऐसी योग्यता से निरूपण किया कि व्याख्यान की समाप्ति पर माधवराव महोदय ने भी उनकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की।

बड़ौदा राज्य के दीवानबहादुर ने एक दिन महाराज को भोजनार्थ अपने गृह पर निमन्त्रित किया। जब महाराज भोजन पाकर लौटने लगे तो एक सहस्र रजत-मुद्रायें श्रीचरणों में भेंट कीं। महाराज ने वह रुपया न लिया और कहा, "मैं कुरीतियों का खण्डन करता हूँ। यदि यह रुपया ले लूँगा तो गोसाइयों को अपनी पधरावनी के लिए एक दृष्टान्त मिल जायगा।"

नवसारी का एक भूमिहार, किसी अपराध के कारण, चिरकाल से कारावास में पड़ा हुआ था। उसका निर्णय होने में ही न आता था। उसके सम्बंधियों ने एक दिन पण्डित कृष्णराम इच्छाराम को कहा कि स्वामीजी के पास दीवान आदि सभी अधिकारी आते हैं; यदि उनको कह कर महाराज हमारे बन्धु का निर्णय शीघ्र करादें तो हम उन्हें पचास-साठ सहस्र तक रुपया देने को समुद्यत हैं।

पण्डितजी ने ऊपर की सारी वार्त्ता गुरुचरणों में निवेदन कर दी। इस पर स्वामीजी ने कहा कि राज्यकार्य में हस्तक्षेप करना हमारा काम नहीं, और फिर शुल्क लेकर तो महापाप है। हाँ, यदि यह बद्ध पुरुष निरपराधी है तो समयानुसार छूट ही जायगा। वह भूमिहार उसके पश्चात् थोड़े ही दिनों में मुक्त हो गया।

एक दिन रावबहादुर शङ्कर पाण्डुरङ्ग राज्य-अनुवादक स्वामीजी के मिलापार्थ बड़ोदा में आए और विनीत नमस्कार करके वार्तालाप करने लगे। प्रसंग आ पड़ने पर रावबहादुर ने अपने ऋग्वेद-भाष्य का नमूना महाराज के आगे रख कर कहा कि यदि आप मेरे साथ मिल कर मेरी पद्धति पर वेदभाष्य करें तो बहुत ही अच्छा हो। स्वामीजी ने उनके कुछ पृष्ठों को पढ़ कर कहा कि आप मोक्षमूलर और सायण के पीछे चलना चाहते हैं। मैं तो इन दोनों भाष्यकर्ताओं को आर्षशैली से अनभिज्ञ समझता हूँ। आप मेरे साथ मिल जाइए अथवा मुझे अपने साथ मिला लीजिए, परन्तु यह सुनिश्चित है कि मैं अनार्ष कल्पना पर कार्य कदापि नहीं करूंगा।

राव महाशय इस उत्तर से निराश होकर चले गये।

उधर मुम्बई नगर में पौराणिक पण्डितों ने बड़ा ऊधम मचा रक्खा था। वे आर्य-समाजियों को शास्त्रार्थ करने के लिये बार-बार विवश कर रहे थे। इस लिए महाराज भी वहां शीघ्र ही आ गये और पण्डित-दल को आह्वान करने लगे। इन लोगों ने जब सुना कि दयानन्द मुम्बई आ गये हैं तो लगे इधर-उधर मुँह छिपाने। मुम्बई में, उस समय, कमलनयनाचार्य चोटी के पण्डित गिने जाते थे। लोगों ने अत्याग्रह से उन्हें शास्त्रार्थ के लिए सुसज्जित किया। आषाढ़ बदी ३ सं० १९३२ को "फरामजी कावसजी इन्स्टिट्यूट" में शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ। लोग नियत समय से बहुत पहले ही आने लगे। दिन के तीन बजे स्वामीजी उस स्थान पर पधारे। उनको अति सम्मान से चौंतरे के ऊपर कुर्सी पर बैठाया गया। महाराज के सामने कमलनयनजी के लिए कुर्सी रक्खी गई। उन दोनों कुर्सियों के मध्य में, कोई डेढ़ सौ संस्कृत की पुस्तकें प्रमाण के लिए रक्खी गईं। चौंतरे के नीचे समाचारपत्रों के आठ सम्वाद-दाताओं के बैठने का प्रबंध किया गया। उस सभा में नगर के प्रायः समस्त सेठ, सज्जन, गण्य, मान्य और अधिकारी जन आये हुए थे। शास्त्रियों का समूह भी पर्याप्त था। स्वामीजी के पहुंचने के आध घण्टा पीछे, बीस-पच्चीस शिष्यों सहित कमलनयनजी भी आ गये और स्वामीजी के सामने विराजमान हुए। उस समय सभापति रावबहादुर बेचरदासजी को बनाया गया।

सभापति महाशय ने अपनी वक्तृता में सभा के उद्देश्य और नियम सबको सुना दिये। तदनन्तर कमलनयनजी खड़े होकर बोले, "शास्त्रार्थ तब किया जायगा, जब यहाँ आये हुए समस्त पण्डित अपने-अपने सम्प्रदाय का नाम बता दें।"

लोगों ने उनको बहुत समझाया कि लोगों से उनके सम्प्रदाय का नाम-निर्देश कराना सर्वथा असंगत है। इससे आपका कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। परन्तु आचार्य महाशय अपने हठ से राई और रत्ती भर भी इधर-उधर न हुए।

महाराज ने अति मधुर और मृदु शब्दों में कहा, "कमलनयनजी! आज का दिन मैं माङ्गलिक मानता हूँ कि आप सत्यासत्य के निर्णय के लिए मेरे सामने पधारे हैं। इतना बड़ा जनसमुदाय सच-झूठ के जानने की जिज्ञासा ही से यहां सम्मिलित हुआ है। अब आपका परम कर्त्तव्य है कि प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाण देकर प्रतिमा-पूजन के पक्ष का पोषण करें। यद्यपि व्यवस्था देने के लिए पक्षपातरहित सभापतिजी हैं परन्तु सर्वोपरि मध्यस्थ चारों वेद हम दोनों के बीच स्थापित हैं। अपने पक्ष की सिद्धि के लिए इनमें से एक तो प्रमाण निकालिए।"

महाराज की ओजस्विनी वाणी से, तेजस्विनी आकृति से और असीम साहस से पराभूत होकर कमलनयनजी तो चौकड़ी ही चूक गये। वे बार-बार इसी बात की रट लगाने लगे कि 'शास्त्रार्थ तभी होगा जब पण्डित लोग अपने सम्प्रदाय का नाम बतायेंगे' और अन्त में वे अतीव लज्जित होकर सभा से उठकर चले गये। उनके चले जाने से सारी सभा पर स्वामीजी के पक्ष की सचाई छा गई, उनके पाण्डित्य का सिक्का बैठ गया।

उसी सभा में एक सेठ के पूछने पर महाराज ने कहा कि मूर्ति-पूजा बौद्ध और जैन लोगों से चली है, पुरातन नहीं है।

महाराज ने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध वहाँ एक प्रभावशाली व्याख्यान भी दिया और जब वे डेरे को आने लगे तो उनके गले में फूलों का एक अत्युत्तम हार पहराया गया।

पञ्जाब प्रान्त के होशियारपुर जिले के अन्तर्गत हरयाना नामक एक नगर है। उस नगर की एक कुलीन लड़की तरुणावस्था ही में वैराग्यवती हो गई थी।

सब परिवार परिजन का परित्याग करके कषायाम्बर के वेश में रहती थी। उसने अपने गुरुजनों के समीप वेदान्त के कुछ ग्रन्थ अध्ययन किये थे। उसका नाम उस समय भगवती था। स्वामीजी जब मुम्बई प्रान्त में विचर रहे थे, उन्हीं दिनों में राजा जयकृष्णदास जी के प्रबंध से 'सत्यार्थप्रकाश' छप कर प्रकाशित हुआ था। किसी प्रकार यह ग्रन्थ उस देवी को भी प्राप्त हो गया। उसके पाठ से उसके वेदान्त के विचारों की लड़ी एका-एक टूट गई।

विचारों के परिवर्तन से उसके हृदय में स्वामीजी के लिए गाढ़ भक्ति और उनके दर्शनों की तीव्र लालसा उत्पन्न हो गई। अन्त में वह माई को साथ लेकर स्वामीजी के दर्शनों के लिए मुम्बई पहुँची। स्वामीजी व्याख्यान के पश्चात् स्त्रियों को अपने स्थान पर नहीं आने देते थे, परन्तु उन्होंने सुदूर देश से दर्शनार्थ आई देवी को वस्त्र की ओट में बैठ कर वार्तालाप करने का अवसर प्रदान कर दिया। भगवान् के दर्शनों को पाकर माई भगवती अपने को निहाल हुई मानने लगी। कुछ-एक प्रश्नोत्तर के पश्चात् श्री स्वामीजी ने उसे उपदेश दिया, "स्त्री जाति में विद्या का बड़ा भारी अभाव है। उनको कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी बोध नहीं। यदि आप पुण्योपार्जन करना चाहती हो तो अपने प्रान्त में जाकर अपनी बहिनों में विद्या का प्रचार करो। जो कुछ जानती हो वही उन्हें सिखाने लग जाओ।"

माई भगवती ही पहली पुण्यवती देवी थी, जिसको महाराज ने उपदेश करके स्त्री-जाति के सुधार में सन्नद्ध किया। उस देवी ने मुम्बई से आकर अपने नगर में स्त्री-शिक्षा और स्त्री-सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया।

मुम्बई नगर में ही श्री महाराज ने 'संस्कार विधि' और 'आर्य्याभिविनय' ये दो ग्रन्थ मुद्रित कराकर प्रकाशित किये। वेद-भाष्य करने का उद्योग भी आरम्भ हो गया था।

श्रीयुत् महादेव गोविन्द रानडे पूने में जज थे। उन्होंने स्वामीजी को पूने पधारने के लिए आग्रहपूर्वक विनती की। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके महाराज ने आषाढ़ वदी १३ सं०१६३२ को पूना पुरी में पदार्पण किया। यहाँ उनके पन्द्रह व्याख्यान बड़ी धूम-धाम से हुए। इन व्याख्यानों से लोग इतने प्रभावित हुए कि स्थान-स्थान पर श्री स्वामीजी की ही चर्चा होती थी।

महाराज के व्याख्यानों में श्रीमान् महादेव गोविन्द रानडे भी निरन्तर आया करते थे। व्याख्यानों के प्रबन्ध में भी उन्हीं का अधिक हाथ था।

जब महाराज की विदाई का दिन आया तो लोगों ने स्वामीजी के सत्कार के लिए नगर-कीर्त्तन करने का प्रबन्ध किया। महाराज की सवारी का सारा प्रबंध रानडे के ही घर पर हुआ था।

सायं समय जब अन्तिम व्याख्यान समाप्त हुआ तो महाराज के गले में पुष्प-माला पहराई गई। एक पालकी में वेद रक्खे गये और स्वामीजी को हाथी पर आरूढ़ किया गया। ऐसे भारी समारोह के साथ नगर-कीर्तन-यात्रा निकली। उधर पूना नगर में कुछ उपद्रव-प्रिय लोगों ने गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली। जैसे-जैसे नगर-कीर्त्तन आगे बढ़ता था वे लोग भी कलह और कोलाहल की मात्रा बढ़ाते जाते थे; असंख्य अण्ड-बण्ड बातें बकते थे। कई सभ्य पुरुष उन नर-पिशाचों की पैशाच लीला को शत-शत बार धिक्कारते थे, परन्तु वे टलने वाली मूर्त्तियाँ न थीं। कुछ पानी पड़ जाने के कारण मार्ग में कीचड़ हो रहा था। उपद्रवियों ने स्वामीजी पर कीचड़ उठाकर फेंकना आरम्भ कर दिया। ईंटें और पत्थर भी बरसाये!! उस समय रानडे महाशय भी साथ थे। स्वामीजी की सम्मति से उन्होंने पोलिस को कह दिया कि किसी को कुछ भी न कहा जाय।

पामर पुरुष अपमान करते, अपशब्द कहते, महामलीन कीचड़ फेंकते, विविध प्रकार से अवहेलना कर रहे थे, परन्तु स्वामीजी थे कि हँसते थे। उनके मुखमण्डल की रौनक लवलेश मात्र भी न घटी। उनको यत्किंचित् रोष भी नहीं आया।

रानडे महाशय पर भी कीचड़ पड़ा। जब वे घर गये तो उनके कपड़े कीचड़ से लतपत देख कर लोगों ने कहा कि आप पर भी कीचड़ पड़ गया है? उन्होंने उत्तर दिया कि जब हमने एक पक्ष अवलम्बन कर लिया तो साथियों के साथ मानापमान पर हमें भी ध्यान न देना ही उचित था। रानडे महोदय के मनमें महाराज के लिए बड़ा सन्मान था। वे उनको उस समय का तुलनातीत महापुरुष मानते थे।

एक दिन पूना में तीस-चालीस पण्डित मिलकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये; परन्तु थोड़े समय में ही परास्त होकर चले गये।

दो मास पर्यन्त महाराज ने पूना नगर के अधिवासियों को उपदेश दिये और फिर मुम्बई जाने का सङ्कल्प कर लिया।

भाद्रपद सुदी २ सम्वत् १९३२ को स्वामीजी पूना से लौट कर मुम्बई में शोभित हुए। अब की बार श्रीयुत नवीनचन्द्र राय, प्रतापचन्द्र मोजमदार और डाक्टर भण्डारकर आदि ब्राह्मसमाजी सज्जन स्वामीजी के निकट वेद विषय पर वार्तालाप करने आये। इन लोगों का पक्ष था कि वेद में अग्नि आदि जड़ पदार्थों की स्तुति है। स्वामीजी ने उत्तर में मन्त्रों के अर्थ से और प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि जहाँ आपको जड़ पदार्थों की स्तुति का भ्रम होता है, वहाँ वास्तव में परमात्मा का वर्णन है।

स्वामीजी ने अपने सब कर्मचारियों को आज्ञा दे रक्खी थी कि ठीक समय पर भोजन कर लिया करो। समय पर भोजन पा लेने से आप स्वस्थ और सुखी रहोगे। शीघ्र निपट जाने से रसोइए को भी आराम मिल जायगा।

स्वामीजी के स्वभाव में कार्य्य की नियमता और व्यवहार की समानता समाई हुई थी। उनको इस बात का बड़ा ध्यान रहता था कि किसी छोटे-बड़े कर्मचारी पर अन्याय-अनीति न होने पावे। भोजन में भी वे इस बात को नहीं भुलाते थे। रसोई में कभी-कभी स्वयं आकर निरीक्षण किया करते थे कि कहीं किसी को नियत वस्तु से थोड़ी तो नहीं मिलती।

रसोई में आटा, दाल, भात और घृतादि भोज्य पदार्थ तोल कर दिये जाते थे। उन्होंने सबको कह रक्खा था कि आवश्यकता से अधिक पदार्थ न तो परसो और न ही लो; थाली में जूठन छोड़ना बहुत बुरा है। इस में एक तो खाद्य वस्तु का व्यर्थ में नाश होता है और दूसरे यदि किसी को दिया भी जाय तो बिगाड़ कर देना निषिद्ध है। जूठा अन्न किसी मनुष्य को भी नहीं देना चाहिए।

मुम्बई में स्वामीजी ने नियम बनाया था कि नित्य के भोज्य पदार्थों से घृतादि वस्तुएँ प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी निकाल कर रख ली जायँ। उन बचाई हुई वस्तुओं से आठवें दसवें दिन क[र्म]चारियों को मिष्टान्न भोज दिया जाता था।

एक कर्मचारी ने एक समय निवेदन किया,"आप रसोई में तोलकर वस्तुएँ देते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आपको लोग कृपण समझने लग जायँ।"

महाराज ने मुस्कराकर कहा, "लोग मुझे क्या समझते हैं अथवा क्या समझेंगे, इसकी चिन्ता तो मुझे स्वप्न में भी नहीं होती। पाकशाला में परिमित पदार्थ इसलिए देता हूँ कि अधिक न पकने से अन्न का नाश और निरादर नहीं होता। कर्मचारी जन यदि मिताहारी रहेंगे, तो उनको रोग भी न होगा और वे काम भी अच्छा करेंगे। मिताहार और मितव्यय से कोई कृश और कृपण नहीं हो सकता।" उन दिनों स्वामीजी भी प्रायः सायंकाल भोजन नहीं किया करते थे। रात को दूध ही लेते थे।

स्वामीजी प्रति दिन सवेरे तीन बजे उठते और कुल्ला इत्यादि करके जलपान करते थे। शौच-स्नानादि से निवृत्त होने पर आसन लगा कर योगारूढ हो जाते थे। विविध आसनों द्वारा ही व्यायाम कर लेते थे। जिस समय वे प्राणायाम के कुम्भक में अवस्थित होते थे तो उनकी मूर्ति तप्त स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान दिखाई दिया करती थी। उनके मुखकमल की कान्ति अतीव उज्ज्वल होती थी।

सूर्योदय से पूर्व ही वे भ्रमणार्थ निकल जाया करते। महाराज इतने शीघ्र चलते थे कि यदि कोई दूसरा उनके साथ जाता तो उसे साथ दौड़ना पड़ता था। चलते समय साँस नाक द्वारा ही लेते थे। सुदूर एकान्त स्थान में जाकर एक घण्टा तक समाधिस्थ रहते। फिर आठ बजे आसन पर लौट आते। बाहर से आते ही अपने पाँव और पादरक्षक झाड़ने लगते; परन्तु विद्यार्थी उन्हें यह कार्य्य प्रायः नहीं करने देते थे। वे आप दौड़ कर झाड़ने लग-जाते थे।

तदनन्तर श्री महाराज शवासन होकर बीस पल तक विश्राम लेते। उस समय उनका शरीर निश्चेष्ट हो जाता था। विश्राम के पश्चात् सेर भर दूध पान करते थे। उसी समय कर्मचारी उनके निकट आ उपस्थित होते थे। तत्काल लिखने आदि का कार्य आरम्भ हो जाता था और दिनके ग्यारह बजे तक निरन्तर होता रहता था।

महाराज भोजन के समय भी स्नान किया करते, इसलिए कार्य से उठकर स्नान करके भोजन पाते। वे दो तोले से अधिक घी और छोटे-छोटे आठ फुलकों से अधिक अन्न नहीं खाते थे। वे ग्रास को अच्छे प्रकार चबाते और आहार करने में कोई आध घण्टा लगाते थे। उसी समय समाचारपत्र भी सुन लिया करते थे।

भोजन के पश्चात् आधी घड़ी तक बायें करवट के भार पड़कर आराम करते और फिर उठकर सायं के चार बजे तक कार्यपरायण रहते। ठीक चार बजे मिलने-जुलने वाले आया करते थे। महाराज उस समय से रात के दस बजे तक लगातार प्रश्नों के उत्तर देते और लोगों के संशय मिटाते। ठीक दस बजे श्री महाराज खाट पर स्वच्छ बिछौना बिछाकर शय्याशायी हो जाते। निद्रा उनके इतने वश में थी कि खाट पर पड़ते ही तुरन्त उनकी आँख लग जाती। दो-तीन पलपर्यन्त भी उनको निद्रा की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी।

दूसरा सर्ग

सुचिर काल तक मुम्बई प्रान्त के अधिवासियों को महाराज उपदेशामृत पिलाते और भवसागर से पार उतारते रहे। फिर अन्त में आगरा और अवध के प्रान्तों की यात्रा के लिए प्रस्तुत हो गये।

ज्येष्ठ वदी १ सं० १६३३ को स्वामीजी पाँचवीं बार फर्रुखाबाद में आकर विराजमान हुए। उस समय फर्रुखाबाद की पाठशाला में अध्यापकों ने बड़ा गोलमाल कर रक्खा था। वे प्रच्छन्न रूप से स्वामीजी के विरुद्ध चलते थे। इस लिए महाराज ने वह पाठशाला तोड़ दी।

ज्येष्ठ सुदी १ सम्वत् १६३३ को फर्रुखाबाद से प्रस्थान करके स्वामीजी ने कायमगंज, काशी, जौनपुर और अयोध्या आदि नगरों में धर्म्म-प्रचार किया। लोगों को सरल और सन्मार्ग दिखाया। तत्पश्चात् आश्विन सुदी नवमी सम्वत् १६३३ को श्री महाराज लखनऊ पधारे। हुसैनगंज में सरदार विक्रमसिंह आहलूवालिया की कोठी में ठहरे। लखनऊ के अधिवासी श्री रामाधारजी स्वामीजी से पहले ही से सु-परिचित थे। इस लिए उनकी सेवा-शुश्रूषा से वही अधिक लाभ उठाते थे। स्वामीजी ने वहाँ एक बङ्गीय महाशय को सेवा में रखकर उससे अँगरेजी सीखना आरम्भ किया था। इससे कई लेखकों ने जो यह अनुमान किया है कि वे यूरोप महाद्वीप में प्रचारार्थ जाना चाहते थे, सो भ्रममूलक प्रतीत होता है। यदि यूरोप जाने का उनका सङ्कल्प होता तो वे अधिक काल

तक अधिक समय लगाकर अंगरेज़ी पढ़ते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। महाराज ऐसे भी नहीं थे कि उनके सङ्कल्प पानी की रेखा की भाँति इधर बनते और उधर मिटते रहते थे। वे सुदृढ़ सङ्कल्प के धनी थे। यदि वे यूरोप जाना चाहते तो एकचित्त होकर थोड़े ही समय में सुसज्जित हो जाते। यह कल्पना बहुत ही ठीक है कि सङ्गठन-कार्य में लग जाने से उनका पत्रव्यवहार बहुत ही बढ़ गया था। प्रतिदिन अनेक रजिस्टर्ड पत्र आते थे। रुपया भी प्रायः आता-जाता रहता था। पुस्तकों को छपने भेजना, प्रूफ़ आदि मंगाना-लौटाना, ये कुछ ऐसे कार्य हैं कि उस समय अंगरेज़ी जाने बिना ठीक नहीं निभ सकते थे। इसी कारण से वे अंगरेज़ी सीखने लगे थे।

आश्विन सुदी १२ सं० १६३३ को स्वामीजी का व्याख्यान 'ईश्वर की निराकारता' पर हुआ। सुनने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी। व्याख्यान को सुनकर लोग अत्यन्त प्रभावित हुए।

लखनऊ में लाला मजलालजी एक सम्भ्रान्त व्यक्ति रहते थे। उन्होंने महाराज से प्रश्नोत्तर करके अपने सकल संशय निवारण किये।

स्वामीजी ने एक 'वाक्य-प्रबोध' नामक पुस्तक छपवाई थी। उसमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं। इस पर काशी के पण्डितों ने स्वामीजी की योग्यता पर तीक्ष्ण आक्षेप किये। स्वामीजी के शिष्य उन अशुद्धियों को शुद्ध सिद्ध करने के लिए सु-सज्जित हो गये। परन्तु महाराज ने उनको कहा, "मिथ्या पक्ष को ग्रहण करके झगड़ना धार्मिक जनों का काम नहीं है। सरलता से अशुद्धियाँ मान लो और दूसरे संस्करण में वह पुस्तक शुद्ध करके मुद्रित कराओ।"

एक दिन पण्डित प्रभुदयालजी ने स्वामीजी से पूछा, "मीमांसा के जिन सूत्रों का अर्थ लोग पशु-वध करते हैं आप उनको कैसे लगाते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मीमांसा में पशु-वध-विधायक सूत्र कोई भी नहीं है। सूत्रों का हिंसापरक अर्थ करना भाष्यकारों की भारी भूल है। उन सूत्रों में 'आलम्भन' शब्द आता है, जिसके दो अर्थ हैं—एक स्पर्श और दूसरा वध। यदि उन सूत्रों के आलम्भन शब्द का अर्थ स्पर्श कर दिया जाय तो उनके अर्थों में कोई बाधा नहीं आती और सङ्गति भी लग जाती है।"

स्वामीजी ने प्रभुदयालजी से वार्तालाप करते हुए यह भी कहा, "मैंने

वेदों में एक-एक मन्त्र को भली-भांति विचार-दृष्टि से जांच लिया है। उनमें ऐसा एक भी मन्त्र नहीं है, जो अयुक्त सिद्ध हो सके। जैसे सराफ़ रुपयों को परख कर थैली में रख लेता है और फिर उनकी निर्दोषता में निर्भ्रान्त हो जाता है, ऐसे ही एक-एक वेद-मन्त्र को युक्ति और प्रमाण की कसौटी पर कस कर उनकी सत्यता में मैं निस्सन्देह हो गया हूँ।"

एक व्यक्ति ने स्वामीजी को कहा, "आप ग्रन्थों के शब्दों का अर्थ उलट देते हैं।" उन्होंने हंसकर कहा, "मैं तो अर्थ नहीं उलटता, उलटने वाले कोई और ही हैं। हां, उनके उलटे हुए अर्थों को अवश्यमेव उलट देता हूँ।"

लखनऊ-निवासी लोगों को कृतार्थ करने के अनन्तर महाराज वहां से कार्तिक पूर्णिमा सम्वत् १९३३ को चलकर शाहजहांपुर में पधारे। वहां पांच दिवस तक टिके। फिर मार्गशीर्ष वदी पञ्चमी को बांसबरेली में आ गये। वहां उन्होंने लाला लक्ष्मीनारायण की कोठी में निवास किया। बरेली में आपके उपदेश भी होते रहे।

मुरादाबादनिवासी श्रीयुत इन्द्रमनजी स्वामीजी को कई स्थानों में मिल चुके थे। उनके उद्देश्यों और उपदेशों से मोहित होकर उनके अनुयायी भी बन गए थे। स्वामीजी को मुरादाबाद में पदार्पण करने के लिए वे सदा अनुरोध-पूर्वक विनती किया करते। उनकी अनुनय-विनय से महाराज बरेली से मुरादाबाद में आये। उनको स्वागत-पूर्वक लाकर राजा जयकृष्णदासजी के बंगले में उतारा गया। उसी बङ्गले के चबूतरे पर महाराज, प्रतिदिन सायं समय, सत्सङ्ग लगाते और उपदेश देते।

मुरादाबाद में लाला खेमकरणदास आदि कई सज्जनों ने श्री महाराज के कर-कमलों से यज्ञोपवीत धारण किया। इस पर अनेक जन कहने लगे कि संन्यासियों को जनेऊ धारण कराने का अधिकार नहीं है। एक यजमान ने स्वामीजी से ऐसा प्रश्न भी कर दिया। इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि संन्यासी से यज्ञोपवीत लेना शास्त्रोक्त है।

पादरी पार्कर महाशय प्रतिदिन सवेरे पन्द्रह दिवस तक महाराज से धर्म-चर्चा करते रहे। यह धर्म-चर्चा नित्य तीन घण्टे तक राजा जयकृष्णदास के बंगले पर ही होती थी।

उन्हीं दिनों में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन का अधिवेशन भी उसी बङ्गले के एक कमरे में हुआ करता था। वाद के अन्तिम दिन का विषय था "सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई ?" पादरी महाशय कहते थे कि सृष्टि को उत्पन्न हुए पांच सहस्र वर्ष बीते हैं। स्वामीजी महाराज उठकर एक दूसरे कमरे में गये और वहां से एक बिलौरी पत्थर लाकर उपयुक्त एसोसिएशन के सदस्यों से पूछने लगे कि आप भूगर्भ-विद्यावेत्ता हैं। कृपया यह तो बताइए कि इस पत्थर को इस अवस्था में आने के लिये कितना समय लगा है ? उन्होंने उत्तर दिया कि कई लाख वर्षों में इसका यह स्वरूप बना है। तब महाराज ने पादरी महाशय को कहा कि अब आप ही बताइए, जब सृष्टि को बने पांच सहस्र वर्ष हुए तो लाखों वर्षों में यह पत्थर कैसे बन गया ? इस पर पादरी महाशय बहुत कटे और लगे इधर-उधर की बातें बनाने।

इस धर्म्म-चर्चा का लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनको ईसाई धर्म्म के विविध वाद विद्या-विरुद्ध दीखने लगे।

एक दिन स्वामीजी के उपदेश में वेंकटेश्वरदास नामक एक चक्रांकित वैष्णव आ निकला। वह 'आ कृष्णेन रजसा' इस मन्त्र को बोलकर बार-बार कहता था कि दयानन्द ! इसका अर्थ बता। इन्द्रमनजी ने उसे बहुत कहा कि व्याख्यान में विघ्न-बाधा न करो। इसकी समाप्ति पर यथेष्ट प्रश्न पूछ लीजियेगा। परन्तु वह महात्मा मौन साधने वाली मूर्ति न थी। अन्त में महाराज ने उसको उस मन्त्र का अर्थ ईश्वर पर घटाकर बताया। वह इससे और भी अधिक भड़क उठा और असंख्य अपशब्द सुनाने लगा।

महाराज बहुत देर तक तो उस मूढमति की मूर्खता पर मुस्कराते रहे, परन्तु जब देखा कि यह ग्रह टलने ही में नहीं आता तो उससे बोले कि यदि मेरा किया अर्थ ठीक नहीं तो अपना ही बताइए। वास्तव में वह वैष्णव देवता था निरा भोजनभट्ट, इस लिए कुछ भी न बता सका। इस पर सारी सभा ने उसे लज्जित किया।

मुरादाबाद के कई समृद्धिशाली पुरुषों ने वाराङ्गनायें रक्खी हुई थीं। स्वामीजी के उपदेश को सुनकर उनमें से अनेक सुधर गये। उनके पारिवारिक जीवन में सुख का संचार हो गया।

महाशय दयालसिंहजी एक समृद्ध पिता के एकलौते पुत्र थे। वे चण्डाल-चौकड़ी के चक्र में आकर कुव्यसनों का घर बन गए थे। कुसंगतिवश, उनमें मदिरापान की बान बहुत बढ़ गई थी। रात-दिन मद्य में मस्त रहते थे। मित्रों की प्रेरणा से वे भी एक दिन स्वामीजी के उपदेश में आ पहुँचे। दैवयोग से उस दिन स्वामीजी सुरापान के दोष दिखाकर उसका खण्डन कर रहे थे। उस समय उन्होंने सुरासेवी मनुष्यों की दुर्दशा का चित्र ऐसे मर्मस्पर्शी शब्दों में खींचकर दिखाया कि दयालसिंह का हृदय थर्रा उठा। व्याख्यान की समाप्ति पर महाशयजी ने श्री-चरणों को छूकर प्रतिज्ञा की, "आजसे मैं सुरापानरूप पाप-पङ्क में कदापि पदार्पण नहीं करूंगा।"

इस व्रत के पश्चात् उनको अतिसार लग गये। वे कई दिनों चारपाई पर पड़े रहे। प्राणान्तकारी कष्ट भी होने लगा। ऐसे समय में ममता की मारी माता ने आप सुरा देकर पुत्र को पान के लिए प्रेरणा की। परन्तु प्रतिज्ञा के पक्के दयालसिंहजी ने अपना व्रत भंग नहीं किया। श्रीमान् वधीरामजी ने एक दिन महाराज से अति विनयपूर्वक योग के साधन पूछे। पहले तो महाराज बताने से सङ्कोच करते थे, परन्तु उनके अत्याग्रह करने पर कृपा की कि जो अभ्यास कभी मैं भी किया करता था वही आपको बताता हूँ।

स्वामीजी ने यह सन्ध्याभ्यास बताया :—

"ओम् भूः ओम् भुवः ओम् स्वः ओम् महः ओम् जनः ओम् तपः ओम् सत्यम्। तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्। ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा।"

महाशय वधीरामजी ने महाराज के आदेशानुसार इस पाठ का आराधन किया और उनको बड़ी शान्ति लाभ हुई।

मुरादाबाद नगर में धर्मप्रचार और आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् स्वामीजी कर्णवास आदि स्थानों में विचरते हुए दिल्ली जाने का उद्योग करने लगे।

दिल्ली में महाराणी विक्टोरिया के महोत्सव के उपलक्ष में बड़ी राजसभा होने वाली थी। उसके लिए सभी राजे-महाराजे और प्रतिष्ठित नागर राज-निमन्त्रण से वहाँ एकत्र हो रहे थे। कहा जाता है कि महाराजा इन्दौर ने ऐसे

अवसर पर धर्म्म-प्रचार करने के लिए स्वामीजी को निमंत्रित किया था। वे रासमण्डल में भी उनके भाषण कराना चाहते थे।

स्वामीजी दिसम्बर मास के अन्त में ठाकुर मुकुन्दसिंहजी के साथ अलीगढ़ से दिल्ली को पधारे। वहाँ आकर उन्होंने नगर से बाहर शेरमल के अनारबाग में डेरा लगाया। प्रचार और निवासादि के लिए उस उद्यान में तम्बू लगा दिये गये। उद्यान के प्रवेश-द्वार पर एक पट्ट पर 'स्वामी दयानन्द सरस्वती का निवास-स्थान' लिख कर लटका दिया गया।

पण्डित भीमसेनजी, राजा जयकृष्णदासजी, छलेसरनिवासी ठाकुर मुकुन्दसिंहजी, भूपालसिंहजी और श्रीयुत इन्द्रमनजी आदि अनेक सज्जन स्वामीजी के पास ही ठहरे।

दिल्ली में विज्ञापन वितरण होने पर स्वामीजी के सत्संग में सहस्रों मनुष्यों की भीड़ लगने लगी। सभी मतों और सभी जातियों के लोग स्वामीजी के निकट आते थे। एक मुसलमान सज्जन ने उनको कहा, "आप जो हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हैं, यह बहुत अच्छा काम है और ठीक इस्लाम के अनुकूल है।"

स्वामीजी ने उसे कहा, "मैं तो सब मतों की मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करता हूँ। पुराण-पन्थियों की प्रतिमायें परिमाण में चार अङ्गुल से एक हाथ तक की होती हैं। इनको तो किसी प्रकार हटाया जा सकेगा। परन्तु मुसलमानों की मूर्तियाँ तो कब्र आदि के रूप में तीन-खन मकानों से भी बड़ी हैं। उनको हटाना अति दुष्कर है।" यह सुन कर वह सज्जन चुप हो गया।

एक श्रीकृष्ण-भक्त स्वामीजी के पास आया और उनके आगे मिट्टी की डली रख कर बैठ गया। स्वामीजी ने उससे पूछा, "यह मिट्टी कैसी है?" वह बोला, "बालकाल में श्रीकृष्णजी ने मृत्तिका खाई थी, इसलिए मैं यह मिट्टी प्रसादरूप आपके निकट लाया हूँ।" उन्होंने कहा, "भोले भाई! बच्चे मिट्टी खाया ही करते हैं। सो कृष्णजी ने भी खाई होगी, परन्तु तरुण मनुष्य तो मिट्टी नहीं खाते।"

वैसे तो स्वामीजी के स्थान पर उच्च कोटि के अनेक मनुष्य आया करते थे; कश्मीर राज्य के मंत्री श्री सन्तरामजी ने भी उनके दर्शनों से लाभ उठाया

था; परन्तु स्वामीजी महाराज जो चाहते थे वह यह था कि राजों-महाराजों की सभा करके सब आर्य्यों में एक धर्म्म और एकता का तागा परो दिया जाय। पर अनेक कारणों से इसमें सफलता न हो सकी।

भारतीय भूपालों से आशा को सफल न होते देख, एक दिन महाराज ने अपने स्थान पर भारत के भिन्न-भिन्न मतों और जातीय विभागों के नेताओं की एक सभा बुलाई। उनके निमन्त्रण पर पंजाब के प्रसिद्ध सुधारक कन्हैयालालजी अलखधारी, श्रीयुत नवीनचन्द्र राय, श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, सर सय्यद अहमद, श्री केशवचन्द्रसेन और श्री इन्द्रमनजी, ये छः सज्जन वहाँ पधारे, उनमें सातवें श्री महाराज सम्मिलित हुए और सब मिलकर भारत के हित के साधनोपाय सोचने लगे। यह बात सहज से समझ में आ सकती है कि आर्य्यावर्त्त की उच्च आत्माओं ने, उस सम्मेलन में भारत प्रजा के सुधार और निस्तार के अनेक साधन सोचे होंगे। परन्तु प्रसंग से सम्बंध रखनेवाली बात यह है कि इस अभूतपूर्व सभा में स्वामीजी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि हम भारतवासी सब परस्पर एकमत होकर एकही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है कि भारत देश सुधर जायगा।

उन्होंने श्री केशवचन्द्रसेन आदि सज्जनों को यह भी कहा कि पृथक्-पृथक् सभा स्थापन करने के स्थान यदि हम मिलकर एक ही धर्म्म का प्रचार करें तो बहुत ही अच्छा हो। परन्तु कई मौलिक मन्तव्यों में मतभेद होने के कारण वे सब एकता के सूत्र में सम्बद्ध न हो सके।

स्वामीजी का एक सेवक राजों-महाराजों के डेरों पर विज्ञापन बाँटने जाया करता था। उसने स्वामीजी से कहा, "महाराज! यदि आप ऊपर से पौराणिक बन कर भारत के राजों में प्रचार करें तो आपको, अति अल्पकाल ही में, आशातीत सफलता प्राप्त हो जाय।" स्वामीजी ने उसे भर्त्सनापूर्वक कहा, "मैं अमृत को विष में मिश्रित करके देना नहीं चाहता। सचाई को छिपाना महापाप है। अन्त में सत्य ही की जय हुआ करती है।"

दिल्ली में श्री महाराज के दर्शनों और उपदेशों से पंजाबी सज्जन अतीव प्रसन्न हुए। उनके हृदयों में महाराज के लिए भक्तिभाव उत्पन्न हो आया। अपने प्रान्तवासियों को भी उस महापुरुष के दर्शनों से निहाल कराने के लिए

एक दिन सरदार विक्रमसिंहजी आहलूवालिया, पण्डित मनफूलजी और श्रीयुत कन्हैयालाल जी अलखधारी आदि सज्जनों ने श्री-सेवा में जाकर प्रार्थना की कि भगवन्! पंजाब में भी पधार कर उपदेश कीजिए। हमारे प्रान्त के लोग आपके उपदेश सुनने के लिए अतीव उत्कण्ठित हैं। श्री स्वामीजी ने उनकी विनीत विनती को स्वीकार कर लिया और अनुकूल अवसर पर पधारने का वचन दे दिया।

• इसके पश्चात् श्री स्वामीजी दिल्ली से प्रस्थान कर ६ जनवरी सन् १८७७ को भीमसेन सहित मेरठ पधारे और सूर्यकुण्ड के निकट महतावसिंहजी की कोठी में ठहरे। स्वामीजी के स्थान पर मिलने-जुलने वाले लोग बहुत आते थे। शङ्का समाधान भी होता रहता था।

उन दिनों स्वामीजी हुक्का पिया करते थे। एक दिन एक पण्डित ने उनसे पूछा, "हुक्का पीना वेद में कहाँ लिखा है?" स्वामीजी ने कहा, "वेद मे कहीं इसके पीने का निषेध भी तो नहीं है?" पंडित ने फिर कहा कि आप संन्यासी होकर हुक्का पीते हैं। स्वामीजी ने कहा कि यदि आप हुक्के से अप्रसन्न हैं तो लो मैं इसे परे फेंक देता हूं।

फाल्गुन वदी ७ सं० १९३३ को मेरठ से चल कर स्वामीजी सहारनपुर आ विराजे। उस समय उनके साथ पण्डित भीमसेनजी आदि कई विद्यार्थी थे। महाराज ने अपना डेरा कन्हैयालाल के शिवालय में लगाया।

सहारनपुर में चण्डीप्रसाद नामक एक सज्जन ने स्वामीजी से धार्मिक और सामाजिक अनेक प्रश्न पूछे, जिनका उन्हें सन्तोषजनक उत्तर मिल गया। उन्हीं प्रश्नों में चण्डीलाल जी का एक यह भी प्रश्न था कि "भारत के लोग स्त्रियों को इसलिए आवरण मे रखते हैं कि वे धर्म्म से पतित न हो जायँ। ईसाई लोग अपनी स्त्रियों को पर्दा नहीं कराते और स्वच्छन्दता से भ्रमण के लिए ले जाते हैं। आर्य स्त्रियों पर पर्दा होते हुए भी वे आचार मे ईसाई स्त्रियों से अधिक गिर जाती हैं, इसका क्या कारण है?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "आर्यों में पर्दे की रीति पुरातन नहीं है। यह मुसलमानों के राज्य से प्रचलित हुई है। नित्य नये उपद्रवों से अपनी बहू-बेटियों को बचाये रखने के लिए, उस अत्याचार के युग में, आर्यों ने यह रीति चलाई थी। परन्तु अब मूढ़ लोग इसे धर्म्म मानने लग गये हैं।"

स्वामीजी के प्रभावोत्पादक भाषण चित्रगुप्त के मन्दिर में होते थे। श्रोताओं की संख्या इतनी होती थी कि कहीं तिल धरने को स्थान न रहता था। जन-संघट्ट के मारे सांस घुटा जाता था। नगर के सभी प्रतिष्ठित सज्जन, पंच और पुरोहित सुनने आते थे। महाराज के व्याख्यानों में इतनी चुपचाप होती थी कि कोई खांसता तक न था। सभी श्रोताजन भित्ति पर चित्रित चित्र से बन जाते थे। स्वामीजी तीन-तीन घण्टों तक एकतार और एकरस बोलते चले जाते थे। उनके कथन में इतना प्रभाव था कि लोगों के मुख से आप ही आप धन्य-धन्य शब्द निकलने लगता था।

एक व्याख्यान में स्वामीजी ने 'कौन सुखी है और कौन दुःखी है' इसपर यह दृष्टान्त सुनायाः—

"किसी नगर में एक धनाढ्य मनुष्य निवास करता था। उसपर अपराध-वश कोई अभियोग चल गया। राजद्वार में उसके अभियोग के निर्णय के लिए जो तिथि नियत हुई थी, उसके कई दिन पहिले ही वह चिन्ता-सागर में डूब गया। उसके सारे नौकर-चाकर बड़ी प्रसन्नता से खाते-पीते और काम-काज करते थे।

अभियोग की तिथि आने पर उसको न्यायालय में पहुँचाने के लिये एक पालकी उपस्थित की गई। उसमें सुकोमल वस्त्र बिछा हुआ था और खस की टट्टियाँ लगी हुई थीं। उसमें आरूढ़ होकर वह धनी न्यायालय को गया, परन्तु उसके चित्त में चिन्ता की चिता प्रचण्ड हो रही थी। उसके मन में सुख का नाम तक न था। उसके नौकर उस समय भी प्रसन्नता से पालकी उठाये लिए जाते थे।" महाराज ने इसका सार यह समझाया कि ऊपर के ठाठ-बाठ और ऋद्धि-समृद्धि में सुख नहीं है। सुख तो मन की सम अवस्थाओं में रहता है।

सहारनपुर में भी कुछ विरोधी लोग महाराज को कष्ट देने का यत्न करते थे; इसीके कारण उनको डेरा भी उठाकर दूसरे स्थान में ले जाना पड़ा।

तीसरा सर्ग

जिस समय स्वामीजी सहारनपुर में धर्म्मनाद गु जा रहे थे, उस समय शाहजहांपुर से पांच कोस के अन्तर पर चांदापुर ग्राम में ब्रह्ममेला मनाने का उद्योग हो रहा था। इस मेले की नींव इस प्रकार पड़ी कि चांदापुर गांव में पादरी लोग आकर अपना प्रचार किया करते थे। वहां के भूमिहार कबीरपन्थी थे। उनको पादरी लोग कहते थे कि कबीर को छोड़कर क्राईस्ट को मान लो, आपकी मुक्ति हो जायगी। कबीरपन्थी सन्त उनके साथ वादविवाद भी किया करते थे। परन्तु श्रीयुत प्यारेलाल आदि प्रतिष्ठित भूमिहारों ने इस बखेड़े को निपटाने के लिए पादरियों की सम्मति से एक मेला लगाया। उसमें मौलवी भी निमन्त्रित किये गये। पादरियों, मौलवियों और कबीरपन्थियों में ईश्वर आदि विषयों पर वादविवाद होता रहा।

मेले की समाप्ति पर चाँदापुर के चारों ओर यह प्रसिद्ध हो गया कि "मेले में कबीर-पन्थियों की भारी हार हुई है और मुसलमान जीत गये हैं।" श्री प्यारेलाल के भाई श्री मुक्ताप्रसादजी लेन-देन के व्यवहार में आस-पास के गाँव में जाया करते थे। मेले के पश्चात् वे जिस ग्राम में जाते वहाँ के मुसलमान उनको कहते,"अब तो आपने इसलाम की सचाई देख ली है, फिर इसलाम को स्वीकार क्यों नहीं करते हो? आपके कबीर पन्थ में पड़ा ही क्या है?"

लोगों की नित्य की छेड़-छाड़ और चिढ़ाने से श्री मुक्ताप्रसादजी ने मन ही मन स्थिर कर लिया कि अब के वर्ष किसी ऐसे विद्वान् को बुलायेंगे, जो मुसलमानी मत को अच्छे प्रकार जानता हो और मौलवियों को वाद में नीचा दिखा कर हमारे पिछले सारे धब्बे को धो जाय।

एक समीपस्थ ग्रामवासी ने उनको बताया कि इस समय आर्यों में मुसलमानी मत के मर्म को जानने वाले इन्द्रमनजी मुरादाबादी हैं। उनके आने पर आपकी निश्चय ही जीत होगी।

इस विषय पर श्री मुक्ताप्रसादजी ने श्री इन्द्रमनजी से पत्र-व्यवहार किया। इन्द्रमनजी ने उनको उत्तर में लिखा, "मैं तो आ जाऊंगा, परन्तु इस समय भारत भर में वेद-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् श्रीदयानन्दजी महाराज हैं। उनके

सामने कोई भी मतवादी ठहरने नहीं पाता। यदि आप अपने विजय के निश्चय को सर्वथा सुनिश्चित बनाना चाहते हैं तो उनको अवश्य बुलाइए।"

इन्द्रमनजी के पत्र से पहले इस छोटे से गाँव के अधिवासियों ने महाराज का नाम भी न सुना था। उन्होंने इन्द्रमनजी से उनका पता पूछ कर, सहारनपुर में पत्रों द्वारा उनसे प्रबल प्रार्थना की कि आप चाँदापुर पधार कर हमारी डगमगाती नौका के नाविक बनें। उन्होंने महाराज के मार्गव्यय का भी प्रबन्ध कर दिया।

श्री स्वामीजी चाँदापुरवासियों को प्रोत्साहन का पत्र भेज कर आप भी दो एक सेवकों सहित उसी ओर चल पड़े। शेष सेवकों को उन्होंने सहारनपुर ही में रहने का आदेश दिया। स्वामीजी पालकी में चाँदापुर पहुँचे। उस समय उनके साथ श्री इन्द्रमनजी भी थे। स्वामीजी ने गाँव में रहना स्वीकार न किया। मेले के स्थान पर ही एक स्वच्छ और उत्तम तम्बू में उन का डेरा कराया गया। यह स्थान ग्राम से कोई आधा कोस दूर गर्रा नदी के किनारे था। वहाँ उस समय कबीरपन्थियों का एक छोटा-सा आश्रम भी था। मेले का स्थान यद्यपि नदी तट पर था, फिर भी यात्रियों के आराम के लिए सात कूँये नये खुदवाये गये थे।

१६ मार्च को मेला भरने लगा। मौलवी और पादरी अपने दलबल सहित बड़ी धूमधाम से उसी तिथि को वहाँ पहुँच गये। दर्शकों की संख्या भी पचास सहस्र से ऊपर थी।

रात के समय श्री इन्द्रमनजी ने कुछ भीत ध्वनि में स्वामीजी की सेवा में आकर कहा, "महाराज! मौलवियों की मण्डली आ पहुँची है। मेले में दर्शक मुसलमानों की संख्या भी बहुत बड़ी होगी। ये लोग झटपट भड़क उठते हैं, इस लिए आप वाद के समय अति कोमल शब्दों ही से काम लीजिएगा।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "असत्य का सम्भाषण और समर्थन करना मेरे लिए असम्भव है। सत्य मेरा बनाया हुआ नहीं है। वह सनातन है और ईश्वर का है। उस सत्य को यथावत् प्रगट करने में मैं किसी से किंचिन्मात्र भी भयभीत नहीं होता। आप भी न डरिये। मेरे होते कोई भी ऐसा माई का लाल नहीं जो आपका बाल भी बाँका कर सके।"

२० मार्च को सवेरे साढ़े सात बजे पण्डित, मौलवी और पादरी सभी सभा-मण्डप में आये और यथायोग्य कुर्सियों पर बैठ गये। बात की बात में वह

विशाल मण्डप दर्शकों से ठसाठस भर गया। उस समय श्री मुक्ताप्रसादजी ने अपने भाई प्यारेलालजी की ओर से निम्नलिखित पाँच प्रश्न सब धर्मावलम्बियों के आगे रख कर उनका उत्तर माँगा:—

१. सृष्टि को ईश्वर ने किस वस्तु से, कब और क्यों रचा? २. ईश्वर सर्वव्यापक है अथवा नहीं? ३. ईश्वर न्यायकारी और दयालु किस प्रकार है? ४. वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वर-वाक्य होने में क्या युक्ति है? ५. मुक्ति क्या वस्तु है और किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?

मुक्ताप्रसादजी जब प्रश्न उपस्थित करके बैठ गये तो थोड़ी देर इस बात पर ही झगड़ा होता रहा कि पहले कौन बोले। अन्त में पादरी स्काट महाशय उठे और प्रथम प्रश्न पर कहने लगे कि यद्यपि यह निकम्मा प्रश्न है, मेरी सम्मति में इस पर बोलना समय ही गंवाना है, तथापि इसका उत्तर देता हूँ। पादरी महाशय के उत्तर का सार यह था कि ईश्वर ने सृष्टि को नास्ति से बनाया है। उस के बनाने के वरसों का हमें ज्ञान नहीं। संसार के सुख के लिए सृष्टि रची गई है।

फिर पहले प्रश्न पर मौलवी महाशय ने कहा कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से बनाया है। कब बनाया, यह प्रश्न व्यर्थ है। हमें रोटी खाने से प्रयोजन है, न कि यह कब पकी थी, इस से। सारी वस्तुयें ईश्वर ने मनुष्य के लिए रची हैं और मनुष्य को अपनी स्तुति करने के लिए निर्माण किया है।

अपने-अपने कथन में पादरी और मौलवी एक-दूसरे को कटुवचन कहते रहे थे, इसलिए जब श्री स्वामीजी महाराज ने बोलना आरम्भ किया तो सब को सम्बोधन करके बोले, "यह मेला सत्य की जिज्ञासा से लगाया गया है। यह सब को निश्चयपूर्वक जानना चाहिए कि विजय सत्य की ही हुआ करती है। परस्पर पादरी को अथवा मौलवी को मिथ्यावादी और झूठा कहने से जीत नहीं हो सकती। हम सब का यह कर्तव्य कर्म्म है कि परस्पर के मेल-मिलाप से असत्य का खण्डन और असत्य का मण्डन करें। सत्यासत्य के निर्णय के लिए, वैर-विरोध छोड़ कर सम्वाद करना विद्वानों का धर्म्म है। कठोर और कटु वचन बोलना सभ्याचार के सर्वथा प्रतिकूल है।"

पहले प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा कि "सृष्टि को परमात्मा ने अव्यक्त प्रकृति से बनाया। वह परमाणुरूप प्रकृति जगत् का उपादान कारण है और आदि तथा अन्त से रहित है। अभाव से किसी वस्तु का भाव नहीं हो सकता। जैसे गुण कारण के होते हैं वैसे ही कार्य्य के भी हुआ करते हैं। इसलिए यदि जगत् का कारण नास्ति मानें तो कार्य्य को भी नास्तिरूप ही मानना पड़ेगा।"

महाराजने यह भी कहा, "यदि यह माना जाय कि ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से रचा है तो जगत भी ईश्वररूप ही सिद्ध होगा। जैसे घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं हो सकता, ऐसे ही जगत् और ईश्वर भी एक ही ठहरेंगे। फिर तो चोर, हत्यारा और पापात्मा होने का आरोप परमात्मा पर ही हो जायगा! इसलिए जो लोग जगत् के कारण प्रकृति को परमात्मा से पृथक् नहीं मानते उनका मत प्रमाण-प्रतिकूल और युक्तिशून्य है।

सृष्टि कब बनी, इसका उत्तर भी अन्यमतावलम्बियों के पास नहीं है। हो भी कैसे, जब कि किसी मत को चले अठारह सौ, किसी को तेरह सौ, किसी को सात सौ और किसी को पाँच सौ वर्ष बीते हैं! इसका उत्तर तो हम आर्य्य लोग ही दे सकते हैं, क्योंकि हमारा ही धर्म्म सृष्टि के आदि में प्रवृत्त हुआ है।

युगों का ब्योरा वर्णन करते हुए महाराज ने कहा कि प्रत्येक शुभ कर्म में आर्य पण्डित जो सङ्कल्प का पाठ उच्चारण करते हैं, उसमें सृष्टि के आदि से आज तक के वर्षों, मासों, दिनों और तिथियों की गणना विद्यमान है। इस सङ्कल्प के साथ आर्य्यजन सृष्टि के जन्म के इतिहास को अनवच्छिन्न रूप से ले आये हैं।"

सृष्टि के रचने का प्रयोजन वर्णन करते हुए श्री महाराज ने कहा, "जीव और जगत् का कारण स्वरूप से अनादि हैं और कार्य्य जगत् तथा जीवों के कर्म्म प्रवाह से अनादि हैं। जब सृष्टि का प्रलय हो जाता है तो उस समय भी जीवों के कुछ कर्म्म शेष रह जाते हैं। उन कर्म्मों का फल-भोग प्रदान करने के लिए न्यायकारी ईश्वर सृष्टि की रचना करता है।

सृष्टि को रचने की शक्ति ईश्वर में स्वाभाविक है। उसने, अपने सामर्थ्य से, इस लिए सृष्टि निर्माण की है कि लोग धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करके सुख उपलब्ध करें।"

जब महाराज ने अपना कथन समाप्त किया तो उनके पक्ष पर मौलवियों और पादरियों ने कुछ शङ्कायें कीं, जिन का उन्होंने उसी समय सन्तोषजनक समाधान कर दिया।

महाराज के उत्तर देते समय सारी सभा में सन्नाटा छा रहा था। सभी जन प्रभावित हो रहे थे। ये सब बातें उस सभा के लोगों ने पहले कभी सुनी ही न थीं। उनको यह भी ज्ञान न था कि आर्य्य धर्म्म में भी कोई ऐसा वीर हो सकता है जो दूसरे मतवादियों को जीत कर दिखाए। इस लिए दर्शक लोग आश्चर्य्यमय हो हो जाते थे। आर्य दर्शकों के हृदय तो प्रसन्नता देवी के क्रीड़ा-केतन बन रहे थे। उस समय सर्वत्र श्री स्वामीजी का ही यशोगान होता था।

दिन के ग्यारह बजे कार्य्यवाही समाप्त हुई। सभी मतों के प्रतिनिधि अपने-अपने तम्बुओं में चले गये। फिर दोपहर के पश्चात् एक बजे सभा लगी और सबने मिल कर यह स्थिर किया कि समय बहुत अल्प है, अन्य विषयों को छोड़ कर केवल मुक्ति पर ही विचार किया जाय। पर उस समय पादरियों और मौलवियों में कोई भी पहले बोलना न चाहता था। उनको यह भ्रम हो गया था कि सवेरे हमारा पक्ष इसी लिए निर्बल सिद्ध हुआ कि हम पहले बोले थे।

जब कोई भी न उठा तो महाराज ने उठ कर कहा, "मुक्ति छूट जाने का नाम है। जितने भी दुःख हैं उनसे छूट कर सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति से सदानन्द में रहना और फिर जन्म-मरण में न गिरना मुक्ति है।"

"मुक्ति का पहला साधन सत्याचरण है। दूसरा, वेद-विद्या का ठीक रीति से लाभ करना और सत्य का पालन करना है। तीसरा, सत्पुरुषों और ज्ञानी जनों का सत्संग करना। चौथा, योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से निकाल कर सत्य में स्थापन करना। पाँचवाँ, ईश्वर की स्तुति करना, उसकी कृपा का यश वर्णन करना और परमात्म-कथा को मन लगाकर सुनना। छठा साधन प्रार्थना है। प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए—हे जगदीश्वर! कृपानिधे! हमारे पिता! मुझे असत् से निकाल कर सत् में स्थिर करो। अविद्यान्धकार और अधर्म्माचरण से पृथक् करके ज्ञान और धर्म्माचरण में सदा के लिए स्थापन करो। जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त कर अपनी अपार दया से मोक्ष प्रदान करो।"

"प्रार्थना का फल यह है कि जब कोई जन अपने सच्चे मन से, अपने आत्मा से, अपने प्राण से, अपने सारे सामर्थ्य से परमेश्वर का भजन करता है तब वह कृपामय परमात्मा उसको अपने आनन्द में निमग्न कर देता है। जैसे छोटा बालक, घर की छत पर से अथवा नीचे से, अपने माता-पिता के पास जाना चाहता है तो उसके मां-बाप, इस भय से कि कहीं हमारे प्रिय पुत्र को इधर-उधर गिर पड़ने से कष्ट न हो, अपने सहस्रों कामों को छोड़, दौड़कर उसे गोद में उठा लेते हैं, ऐसे ही परम कृपानिधि परमात्मा की ओर यदि कोई सच्चे आत्म-भाव से चलता है तो वह भी अपने अनन्त-शक्तिमय हाथों से उस जीव को उठा कर सदा के लिये अपनी गोद में रख लेता है। फिर उसको किसी प्रकार का कष्ट-क्लेश नहीं होने देता और वह जीव सदा आनन्द ही में रहता है। परमात्मा माता-पिता की भांति अनेक भक्तों को सदा सुखसम्पन्न करने की ही कृपा करता है।"

इस प्रकार महाराज ने नाना युक्तियों से अलंकृत भाषण किया। फिर कुछ परस्पर समालोचना के अनन्तर सायंकाल का कार्य समाप्त हो गया।

यद्यपि स्वामीजी के कथनानन्तर दूसरे मतवादी भी बोले, परन्तु उनके कथन में लोगों को कुछ भी तो रस नहीं आता था। जैसे सूर्य के सामने दीपक की ज्योति मन्द पड़ जाती है, ठीक ऐसी ही अवस्था स्वामीजी के सम्मुख अन्य मताभिमानियों की हो गई।

२१ मार्च को पादरी महाशय तो सवेरे ही वहां से चले गये। मण्डप में किसी ने यों ही झूठ-मूठ घोषणा कर दी कि मेला समाप्त हो गया है। स्वामीजी ने बहुतेरा बल लगाया कि यह मेला न्यून-से-न्यून पांच दिवस तक तो होना चाहिए; परन्तु मौलवी और पादरी चल गये थे, इसलिए मेला बिखर ही गया।

मेले की समाप्ति पर बहुत से पादरी सज्जन श्री स्वामीजी के पास मिलापार्थ पधारे। महाराज ने उनका अत्यादर से स्वागत किया और फिर कुर्सियों पर बैठ कर, विविध धार्मिक विषयों पर, वार्त्ता-विनोद करने लगे।

एक पादरी ने मनोरञ्जन की रीति में स्वामीजी से कहा, "पण्डितजी ! हम भी आर्य्य हैं।" स्वामीजी ने मुस्करा कर उत्तर दिया, "महाशय ! आप सभ्य तो अवश्य हैं, परन्तु आर्य नहीं हैं।" कारण पूछने पर उन्होंने कहा, "आर्य्य

कहते हैं श्रेष्ठ धर्म्मात्मा को। आपकी मान्य पुस्तक आपको श्रेष्ठ धर्म्मात्मा नहीं बताती।"

"एक बार श्री ईसा के शिष्यों ने उनसे पूछा था कि आप अन्धों और कोढ़ियों को चङ्गा कर देते हैं, परन्तु हम क्यों नहीं कर सकते ? उत्तर में ईसा ने कहा कि तुम में राई जितना भी विश्वास नहीं है। जब गुरु के सामने ही शिष्यों में राई जितना विश्वास न था तो आज आप में कैसे हो सकता है ?" महाराज के इस कथन को सुनकर पादरी महाशय ने मूकभाव धारण कर लिया।

वार्त्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने उनको यह भी कहा, "हमने बाइबिल का आद्योपान्त पाठ किया है। उसमें ईसा ने कहीं भी नहीं कहा कि यदि मुझ पर विश्वास लाओगे तो तुम्हारी मुक्ति होगी। यह केवल पादरियों की ही कल्पना है।"

विदाई के समय पादरियों ने उनके मिलाप पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और वे उनके विस्तृत ज्ञान का गुण-गान करते हुए चले गये।

एक दिन स्वामीजी ने श्री प्यारेलालजी से भुने हुए चने मंगाए। उस समय श्री इन्द्रमनजी ने कहा, "स्वामीजी ! चनों में घुन हुआ करता है। चने भुनने पर भाड़ में वह भी भुन जाता है।"

उन्होंने उत्तर दिया कि "गेहूँ में भी तो घुन हुआ करता है और दानों के साथ ही चक्की में पिस जाता है; तो क्या आप आटा फेंकवा दिया करते हैं ?" इस पर इन्द्रमनजी अवाक् हो गये।

श्रीयुत प्यारेलालजी को निश्चय था कि स्वामीजी केवल सभा को जीतने वाले पण्डित ही हैं। योगविद्या में इनकी गति नहीं है। वे हमारे कबीरपन्थियों की भांति सन्त भी नहीं हैं। एक दिन प्यारेलालजी श्री-सेवा में गये और परीक्षार्थ प्रश्न किया कि अजपा जाप क्या है ? स्वामीजी ने कहा कि अजपा जाप तो सब में निरन्तर होता रहता है। उसको सुनने के लिए कुछ दिन साधन करना चाहिए। फिर प्यारेलालजी ने कहा—हमारे मत में लिखा है, सोते समय सांस शब्दरूप होकर अनहत नाद में मिल जाता है। महाराज ने उत्तर दिया कि यह बात अनुभव विरुद्ध है,इसलिए असत्य है। कालान्तर में अधिक अभ्यास करने पर प्यारेलालजी को स्वामीजी के परम योगी होने का पूर्ण विश्वास हो गया।

एक दिन बखीरामजी मुरादाबादी और श्री इन्द्रमनजी स्वामीजी के निकट बैठे हुए बातें कर रहे थे। उस समय श्री महाराज ने उनको अपनी बीती कथा सुनाई, "जिन दिनों में मैं एकाकी घूमता था, उन दिनों मे मेरा एक ऐसे स्थान पर जाना हुआ जहाँ सभी शाक्त बसते थे। उन्होंने मेरी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। जब कई दिन के निवास के अनन्तर, मैं वहाँ से चलने लगा तो उन लोगों ने अत्याग्रह से मुझे ठहरा लिया। मैं समझता रहा कि वे भक्ति-भाव से मुझे ठहराते हैं। ऐसे ही बहुत दिन बीत जाने पर उनका पर्वदिन आ गया। उस दिन सारे शाक्त देवी के मन्दिर में एकत्रित होकर गीत गाने लगे। उस दिन उन्होंने मुझे भी कहा कि आज हमारे मन्दिर मे महोत्सव है, आप वहाँ अवश्य चलिए। मैंने बहुत समझाया कि देवी के दर्शनों में मेरा निश्चय नहीं, परन्तु वे एक न सुनते थे। पाँव पकड़कर कहने लगे कि यदि आज पर्व के दिन आप मन्दिर में न पधारेंगे तो हमारा सारा उत्साह भङ्ग हो जायगा। आप मूर्ति को नमस्कार आदि कुछ भी न करना, परन्तु हमारे लिए चले तो चलिए।"

"वह मन्दिर नगर से बाहर एक उजाड़ स्थान में था। उनके विवश करने पर मुझे उस मन्दिर में जाना पड़ा। उस समय वहाँ आँगन में होम हो रहा था और लोग उत्सव मना रहे थे। मुझे वे दुर्गा की मूर्ति दिखलाने के बहाने भीतर ले गये। मैं सहज स्वभाव से दुर्गा की प्रतिमा के सन्मुख जा खड़ा हुआ। मूर्ति के पास ही एक बलिष्ठ व्यक्ति बड़ी तलवार लिये खड़ा था।

वहाँ वे लोग मुझे कहने लगे कि 'महात्माजी! माता के आगे झुक कर नमस्कार अवश्य कीजिए।' मैंने उनको स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझ से ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। मेरे वचनों से पुजारी चिढ़ गया और पास आकर मेरी ग्रीवा को पकड़ कर मेरे सिर को नीचा करने लगा। उसके इस वर्ताव से मैं चकित हो गया, परन्तु ज्यों ही मैंने दृष्टि फिराई तो क्या देखता हूँ कि वह खड्गधारी मेरे पास आ गया है और मेरी ग्रीवा पर खड्ग बरसाना ही चाहता है।

इस दृश्य को देखकर मैं तुरन्त सावधान हो गया। मैंने झपट कर उसके हाथ से खड्ग छीन लिया। पुजारी तो मेरे बायें हाथ के एक ही धक्के से मन्दिर की दिवाल से जा टकराया। मैं तलवार लिये मन्दिर के आँगन में आ गया। उस

समय आँगन के सभी लोग कुल्हाड़ा, छुरी आदि शस्त्र लेकर मुझ पर टूट पड़े। द्वार की ओर देखा तो उसको ताला लगा हुआ था। अपने आपको बलिदान से बचाने के लिए मैं उछलकर दिवाल पर चढ़ गया और परले पार कूदकर भाग निकला। उस स्थान के समीप ही एक वन था। दिन-भर तो मैं वहाँ छुपा बैठा रहा, परन्तु जब रात का राज्य विस्तृत हो गया तो रातों-रात ग्रामान्तर में जा पहुँचा। उस दिन से मैंने शाक्त लोगों का कभी भी विश्वास नहीं किया।"

उस समय महाराज ने दोनों सज्जनों को यह भी सुनाया, "एक बार गवर्नर-जनरल महोदय से भी मुझे मिलने का अवसर मिला। मुझे मिलकर उन्होंने अति प्रसन्नता प्रकट की और मेरे विचारों को बड़े सम्मान से सुना। मेरी विपत्तियों की कहानी सुनकर उन्होंने आश्चर्य और खेद, दोनों प्रकाशित किये। चलते समय मुझे कहने लगे, "यदि आप चाहें तो आपकी रक्षा के निमित्त कुछ सैनिक नियत किये जायँ, और भ्रमण में कष्ट न हो, इस लिए रेल के प्रथम दर्जे का आपको पास मिल जाय।" मैंने उनकी सहानुभूति और उदारता का धन्यवाद किया और कहा कि मैं आपकी इस सहायता को स्वीकार नहीं कर सकता। इसे स्वीकार करने पर लोग मुझे राजनौकर अथवा ईसाई धर्म्म का नौकर समझने लग जायँगे। उन्होंने कहा, "क्या आप राजनौकरी को बुरा समझते हैं?" इस पर मैंने उत्तर दिया कि मैं संन्यासी हूँ और सच्ची सरकार—परमेश्वर—का नौकर हो गया हूँ। उसी पर भरोसा रखता हूँ। इस लिए किसी मनुष्य की नौकरी करना मैं अपने लिए अच्छा नहीं समझता। मुझसे फिर पूछा गया, "क्या आप वर्तमान सरकार को सच्ची नहीं मानते?" मैंने कहा कि सच्ची से मेरा तात्पर्य न परिवर्तन होने वाली से है, सो ऐसा एक ईश्वर ही है। उसका नियम अटल और न्याय निर्भ्रान्त है। मनुष्यों के न्याय और नियम तो समयानुसार बदलते ही रहते हैं। लाट महोदय मेरी बातों से बहुत ही प्रसन्न हुए।"

चाँदापुर से स्वामीजी अतिसम्मानपूर्वक विदा होकर, शाहजहाँपुर से रेल-गाड़ी में बैठ, सहारनपुर आये और राम-उद्यान में ठहरे। उस उद्यान ही में उनके चित्ताकर्षक भाषण होते थे।

चौथा सर्ग

वैशाख वदी २ सं० १९३४ को सहारनपुर से प्रस्थान कर श्री महाराज ने लुधियाना नगर को शोभा प्रदान की। पञ्चनदप्रक्षालित पवित्र प्रान्त में, ऋषि-मुनियों के पुरातन निवास-स्थान में और वीर-सन्तति-सत्कुल भूभाग में श्री परमहंसजी का यह पहली ही बार पदार्पण था। लुधियाना में वे नगर से पौन कोस के अन्तर पर लाला वंसीधर के उद्यान में ठहरे। उस समय उनके साथ दस-बारह कर्मचारी थे। स्वामीजी पण्डितों से वेदभाष्य लिखवाते थे।

वैशाख वदी द्वितीया सम्वत् १९३४ को महाराज का पहला उपदेश श्रीयुत जटमल खजानची के आवास में हुआ। व्याख्यान के आरम्भ ही में महाराज ने घोषणा कर दी कि यहाँ सात व्याख्यान होंगे। बीच में कोई प्रश्नादि न करे। आठवें दिन केवल शङ्का-समाधान ही होगा। उस दिन सभी स्वतंत्रता से प्रश्न पूछ सकेंगे।

उनके सातों व्याख्यानों में सहस्रों मनुष्य आये और अतीव प्रभावित होकर गये। एक दिन पादरी वेरी महाशय अपने साथियों सहित स्वामीजी की सेवा में आये। वार्त्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा कि श्रीकृष्णजी के जो कर्म लोग वर्णन करते हैं उनसे उनका महात्मा होना बुद्धि नहीं मानती। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि श्रीकृष्णजी पर जो दोष लगाये जाते हैं वे सब मिथ्या और निर्मूल हैं; परन्तु बुद्धि के न मानने के विषय में क्या कहा जाय? बुद्धि जब यह स्वीकार कर लेती है कि परमेश्वर की आत्मा कबूतर के स्वरूप में एक मनुष्य पर उतरी तो श्रीकृष्ण की लीला स्वीकार करने में उसे क्या कठिनाई है?

एक पादरी महाशय ने पुनर्जन्म पर प्रश्न किये। इनका उत्तर देते समय स्वामीजी ने उनसे पूछा, "खाना, पीना, सुनना, देखना आदि कर्म देहधारी में होते हैं, अथवा देहरहित में?" पादरी ने कहा, "ये सारे कर्म देहधारी में ही होते हैं।"

फिर महाराज ने उनसे पूछा, "एक देह को छोड़ कर दूसरी देह को धारण करना ही पुनर्जन्म है?" पादरी महाशय ने कहा, "हाँ, यही पुनर्जन्म है।" तब स्वामीजी ने कहा, "आपने मान लिया कि खान-पान आदि कर्म देहधारी

में होते हैं और एक देह को छोड़ कर दूसरी देह को धारण करना पुनर्जन्म है। अब आपको मान लेना चाहिए कि मनुष्य-देह छोड़ कर जो लोग ईसाई धर्म्म के स्वर्ग में नाना भोगों को भोगते हैं उनका वहाँ पुनर्जन्म होता है।" यह सुन कर ईसाई महाशय चुप्प हो गये।

रामशरण नामक एक ब्राह्मणवंशीय व्यक्ति ईसाई लड़कियों के स्कूल में नागरी पढ़ाता था। उसकी आर्थिक अवस्था अति दीन थी। वह पादरियों का नौकर तो था ही, अन्त में उन्होंने उसे एक ऐसा चकमा दिया कि वह ईसाई बनने के लिए समुद्यत हो गया।

मेल-मिलाप वालों की प्रेरणा से एक दिन रामशरण भी श्री-उपदेश सुनने आया। व्याख्यान के पश्चात्, श्रीमहाराज ने ईसाई धर्म्म की भूलभरी बातों को बताकर उसे इस प्रकार समझाया कि वह ईसाई बनने से बच गया।

भूत-प्रेत के भ्रम का खण्डन करते हुए, एक दिन, महाराज ने एक खेल दिखाया। जिस आवास में वे रहते थे उसके तीन द्वार और दो ताक थे। उन्होंने उन दोनों ताकों में दीपक जलाकर आमने-सामने रख दिये। फिर उनमें से एक दीपक बुझा दिया और दूसरे को बुझा देने का आदेश किया। जिस समय दूसरा दीपक बुझाया गया तो तत्काल पहला दीपक अपने आप जल उठा। इस प्रकार एक दीपक के बुझाने पर दूसरे के अपने आप जल उठने के खेल को लोग बड़ी देर तक देखते रहे। दर्शकों को आश्चर्य भी होता था कि बीस-पच्चीस हाथ के अन्तर पर रखे हुए इन दीपकों में यह कैसा चमत्कार हो रहा है। खेल हो चुकने के पश्चात् महाराज ने कहा कि जो कुछ आपको दिखाया गया है वह विद्या की बात है। भूत-प्रेत कोई वस्तु नहीं है। उनका भ्रम न किया करो।

लुधियाना में श्रद्धाराम फिल्लौरी आदि कुछ पण्डित दूर-दूर बैठे स्वामीजी के विरुद्ध अण्ड-बण्ड बोला करते, परन्तु उनके सामने आने का साहस नहीं कर सके।

एक ब्राह्मण स्वामीजी के निकट आकर संस्कृत में बात करने लगा। महाराज ने थोड़ी देर तक उससे संस्कृत में बातचीत करने के अनन्तर कहा, "अब तो आपको ज्ञात हो गया होगा कि मैं संस्कृत जानता हूँ; अब भाषा में बातचीत कीजिए, जिससे पास बैठे दूसरे सज्जन भी कुछ समझ सकें।"

एक पण्डित ने अपने साथियों को कहा, "ऐसे दुष्ट का मुख देखना अधर्म है। चलो, यहाँ से उठ चलें।" इस बात को सुनकर स्वामीजी ने कहा, "मेरा मुख देखने से यदि आपको घृणा है तो पीठ पीछे खड़े हो जाइए, परन्तु मेरे कथन को अवश्य सुनिये।"

उन दिनों श्रीमान् कार-स्टीफन महाशय वहाँ जज थे। वे स्वामीजी को मानते थे। उनके उपदेशों म भी आया करते थे और चरण छूकर उनको नमस्कार किया करते थे। उनकी विनतीवश श्री महाराज लुधियाने से प्रस्थान करने के समय, श्री कन्हैयालालजी के साथ, उनके बंगले पर पधारे। कार-स्टीफन महाशय ने बड़े आदर से उनका स्वागत किया और विदाई के समय कुछ द्रव्य लिफाफे में बन्द करके श्रीचरणों में भक्तिभाव से भेंट-स्वरूप रख कर नमस्कार किया।

लुधियाना-निवासियों के हृदयों में धर्माङ्कुर उत्पन्न करने के उपरान्त श्री-महाराज वैशाख सुदी ६ सम्वत् १९३३ को वहाँ से प्रस्थान कर लाहौर में सुशोभित हुए। पण्डित मनफूलजी आदि सज्जनों ने रेलवे-स्टेशन पर उनका स्वागत किया और उनको अति सम्मान से लाकर श्रीमान् रतनचन्दजी दाढ़ी-वाला के उद्यान में ठहराया। उस समय स्वामीजी के साथ इतने ग्रन्थ थे कि एक चौपहिया गाड़ी में केवल वे ही लाद कर लाये गये।

स्वामीजी के पधारने का समाचार पाकर लाहौरवासी भद्रजन सत्संग के लिए उनके उतारे पर आने लगे। उनके उपदेशों का अत्युत्तम प्रभाव पड़ता था। महाराज का पहला व्याख्यान वैशाख सुदी १३ को बावली साहब में बड़े समारोह से कराया गया। सायंकाल के ६ बजे वेद विषय पर व्याख्यान आरम्भ होना था, परन्तु सभास्थान नियत समय से बहुत ही पहले भरपूर होगया था। सहस्रों मनुष्यों की भीड़ थी, दलों के दल उमड़े चले आते थे। महाराज ने अत्युत्तम रीति से विषय का वर्णन किया और श्रोताजन बड़े प्रभावित होकर घरों को लौटे।

महाराज ने बावली साहब में दूसरा व्याख्यान वैशाख पूर्णमासी सम्वत् १९३४ को दिया। इसमें सुनने वालों की संख्या और भी अधिक थी। महाराज के वचन, बिजली की भाँति, पंजाबियों के अन्तःकरणों में संचार करते जाते थे। आवेश में आकर लोग फड़क उठते थे। इस अदृष्टपूर्व महापुरुष के दर्शनों से,

उसके अश्रुतपूर्व उपदेशों से और अननुभूत उपदेश-प्रभावों से लोग इतने मोहित हुए कि जहाँ सुनो, श्री स्वामीजी के ही गुणकीर्तन हो रहे थे। समाचारपत्र भी उन्हीं का अनुराग-राग अलापते थे। कई सज्जनों ने अपने ठाकुर रावी-धाराशायी कर दिये।

बावजी साहब के उपदेशों में प्रसंगानुसार उन्होंने आप-बीती तीन बातें सुनाई थीं। एक तो यह कि एक बार मैं गङ्गा-तीर पर विचरता हुआ एक निविड़ सघन वन में जा निकला। वहाँ मुझे सामने आता एक सिंह दृष्टिगोचर हुआ। मैं सीधा चलता हुआ जब उसके पास पहुंचा तो वह सिंह मेरी ओर देख मुँह फिराकर जङ्गल में चला गया।

दूसरी घटना यह थी—एक बार मैं एक पर्णकुटी में आसन रमाये बैठा था। उसके पास ही कुछ साधु रहते थे। वे अकारण ही मेरे द्वेषी बन गये। जब महाकाली निशा आकाश की निविड़ कालिमा के साथ एकाकार हो रही थी, तो वे साधु मुझे मार मिटाने के लिए मेरी कुटिया पर आये और वध की विधि सोचने लगे। उनकी बातें मुझे सुनाई पड़ती थीं। थोड़ी देर तक परस्पर परामर्श करने के अनन्तर, उन्होंने मेरी झोपड़ी में आग लगा दी। जब घास-फूस की कुटी को आग की लपटें लपेट कर भस्मीभूत करने लगीं तो मैं छप्पर को उठाकर बाहर निकल आया।

तीसरी घटना यह है—बनारस में एक दिन, जब कि मैं व्याख्यान दे रहा था, एक मनुष्य ने मुझे पान लाकर दिया। ज्यों ही मैंने उसे मुख में रख उसका रस चूसा तो मुझे ज्ञात होगया कि इसमें विष मिला हुआ है। मैंने उसी समय वमन द्वारा उसे निकाल दिया।

स्वामीजी को लाहौर बुलाने में अधिक हाथ ब्राह्मसमाजियों का था। उनके निवासादि का प्रबंध भी प्रायः वे ही करते थे। पर परमहंसजी अपने सिद्धान्त के इतने पक्के थे कि व्याख्यान के समय सहायकों तक के धर्म्म और रुचि का किंचिन्मात्र भी पक्षपात नहीं करते थे। न्यायानुकूल सबको स्पष्ट सुना देते थे।

महाराज के दो व्याख्यान ब्राह्मसमाजियों ने अपने धर्म्म-मन्दिर में कराये। उन्होंने अपने प्रथम व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है और दूसरे में पुनर्जन्म के वाद को युक्ति-युक्त बताया। ये दोनों ही व्याख्यान ब्राह्म-

समाज के मन्तव्य के नितान्त विरुद्ध थे; इसलिए ब्राह्मसमाजियों को बहुत बुरे लगे। वे लोग इतनी बात से ही ऐसे अधीर हुए कि स्वामीजी का विरोध करने पर उतर आये।

स्वामीजी ने अपने भाषणों में पुराणों की निर्मूल कल्पनाओं की तीव्र समालोचना की, जिससे पौराणिकों में बड़ी हलचल मच गई। बहुत से पण्डित तो विघ्न-विरोध करने पर इतने तुल गये कि जिस उद्यान में महाराज निवास करते थे, वे उसके अधिपति श्री रत्नचन्द्रजी को भड़काने लगे कि आपने अपने उद्यान में किस नास्तिक को उतार रक्खा है! यह सब देवताओं का खण्डन करता है। न जाने कोई कृष्टान है अथवा कोई और है। लोकापवाद से भीत रत्नचन्द्रजी ने स्वामीजी को उद्यान छोड़ देने के लिए विवश किया। स्वामीजी के प्रेमी उनको डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में ले आये। यह कोठी भक्त बुज्जू के चौबारे के पास थी।

पण्डित मनफूलजी स्वामीजी के सत्कार करने वालों में उस समय मुख्य माने जाते थे। ब्राह्मसमाजियों ने जो रुष्ट होकर स्वामीजी के व्यय के लिए द्रव्य देना बन्द कर ही दिया था, इसलिए उनके आतिथ्य का प्रबंध पण्डित मनफूलजी को ही करना पड़ता होगा। परन्तु महाराज किसी के भी अनुचित दबाव में नहीं आते थे। एक दिन मनफूलजी ने स्वामीजी से कहा, "नगर के सारे लोग मूर्त्तिपूजा के खण्डन से अप्रसन्न हैं। आप अब उसका खण्डन न किया करें। ऐसा करने से महाराजा जम्मू और कश्मीर भी आप पर प्रसन्न हो जायंगे।" महाराज ने तत्काल उत्तर दिया, "मैं महाराजा जम्मू और कश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय ज्ञान वेद के आदेशानुसार चलूं? चाहे जो हो, मैं वेदाज्ञा को भङ्ग नहीं करूंगा।" यह सुनकर मनफूलजी ने मनमुटाव उत्पन्न कर लिया और उनके समीप आना-जाना छोड़ दिया।

डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में स्वामीजी एक दिन व्याख्यान देते और दूसरे दिन शङ्का-समाधान करते थे। उनके सत्संगों में सहस्रों आर्य्य, मुसलमान और ईसाई आते, उपदेश सुनते और संशय दूर कराते। एक दिन स्वामीजी के पास पादरी हूपर महाशय आये और पूछने लगे कि वेद में जो अश्वमेध और गो-मेध यज्ञ का वर्णन है, आप उसका क्या समाधान करते हैं?

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वेदों में पशु-बलि का वर्णन कहीं भी नहीं है। अश्वमेध का अर्थ न्यायपूर्वक प्रजापालन है, और गोमेध का अर्थ है अन्न का उपार्जन करना, इन्द्रियों को पवित्र बनाना, भूमि को शुद्ध रखना और मृतक का दाह कर्म करना।

दूसरा प्रश्न पादरी महाशय ने वैदिक वर्ण-व्यवस्था पर किया। इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि 'वेदों में वर्ण गुण-कर्मानुसार माना गया है'। तब पादरी महाशय बोले कि यदि मेरे गुण-कर्म्म उत्तम हों तो क्या मैं भी ब्राह्मण कहला सकता हूँ ?

महाराज ने कहा कि निस्सन्देह गुण-कर्म ब्राह्मण वर्ण के होने पर आप ब्राह्मण कहे जा सकते हैं।

डाक्टर रहीमखाँ की कोठी में एक दिन महाराज भाई दित्तसिंह को वेदान्तवाद का अधूरापन समझा रहे थे। उस समय वहाँ पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्रीजी भी विद्यमान थे। वह आप ही आप बीच में बोलने लग गये। स्वामीजी ने पण्डित महाशय को कहा, "आप यों-ही बीच में हस्तक्षेप कर रहे हैं। आप यह तो बताइये कि भाईजी ने क्या प्रश्न किया और मैंने उसका उत्तर क्या दिया है ?" अग्निहोत्री महाशय प्रश्न और उत्तर को ठीक-ठीक न बता सके। तब महाराज ने उनको कहा, "जिस बात की समझ ही न हो उसमें हस्तक्षेप करना अच्छा नहीं।" उनकी इस शिक्षा से पण्डित महाशय रुष्ट हो गये।

एक दिन पण्डित शिवनारायणजी ने स्वामीजी से कहा कि आप वेद में किस्से-कहानी नहीं मानते, परन्तु सामवेद में तो उल्लू की कहानी विद्यमान है। स्वामीजी ने उनको कहा—सामवेद में उल्लू की कहानी नहीं है। परन्तु वे कब मानते थे ! वे यही कहते रहे कि साम में उल्लू की कहानी अवश्यमेव है। तब स्वामीजी ने सामवेद उठा कर उनको दिया और कहा कि व्यर्थ का झगड़ा क्यों करते हो ? इसमें से वह कहानी निकाल कर सब को दिखा दो। पण्डित महाशय पुस्तक के पृष्ठों को उथल-पुथल तो बहुत देर तक करते रहे, परन्तु कहानी न निकाल सके। स्वामीजी ने तो उन्हें कुछ न कहा, परन्तु लोगों ने उनको उस समय बहुत ही लज्जित किया।

स्वामीजी के प्रचार से अनेक सज्जन उनके अनुयायी बन गये और आर्य-समाज की स्थापना का उद्योग होने लगा। उस समय यह आवश्यक समझा गया कि समाज की स्थापना के पूर्व समाज के नियमों का नूतन संस्कार किया जाय। इसलिए महाराज ने यहां स्वयं आर्य्यसमाज के नियमों को संगठित किया। वे नियम ये हैं :—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सत्य-विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्म्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहियें।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है; अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्म्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

नियम बनाते समय ब्राह्मसमाजियों ने स्वामीजी से कहा, "यदि आप तीसरा नियम न रखें तो हम भी आपके समाज में सम्मिलित हो सकते हैं।" परन्तु महाराज ने उनकी बात को स्वीकार नहीं किया।

रायबहादुर लाला मूलराजजी स्वामीजी के प्रेमियों में से एक थे। नियम-निर्माण के समय वे उपस्थित थे। संशोधन में वे सम्मति भी देते थे। उन्होंने महाराज से निवेदन किया, "आपने जो तीसरे नियम में 'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है' यह वाक्य रखा है, यदि इसमें 'सत्य' शब्द निकाल कर 'वेद विद्याओं का पुस्तक है' ऐसा वाक्य बना दिया जाय तो यह नियम बहुत व्यापी हो जायगा। फिर इसको मानने में किसी को कुछ भी हिचक न होगी।" महर्षि दयानन्द आचार्य्य थे। वे लोकमत के पीछे दौड़ने वालों मे से न थे, किन्तु लोकमत के निर्माता थे। उन्होंने महाशय मूलराज की सम्मति को सर्वथा अस्वीकार किया।

संगठन का नवीन संस्कार हो जाने पर आर्य्यसमाज की शुभ-स्थापना की गई। उस समय महाशय मूलराजजी प्रधान और श्रीमान् साईंदासजी मंत्री नियत हुए। समाज का पहला सत्संग डाक्टर रहीमखांजी की कोठी में स्वामीजी के पास ही लगाया गया। इस पर महाराज ने आशीर्वाद देते समय कहा, अब यह समाज अवश्य ही फूले-फलेगा।

दूसरा सत्सङ्ग आषाढ़ बदी पंचमी सम्वत् १९३४ को सत्य-सभा के स्थान पर लगाया गया। उसमें स्वामीजी ने एक प्रभावशाली भाषण किया।

लाहौर में स्वामीजी ने आर्य्यसमाज के नियमों का नूतन संस्कार करके आर्य-समाज की नींव एक प्रबल चट्टान पर रख दी, आर्य्यसमाज के सिद्धान्तों को परिमार्जित कर दिया, और उसके उद्देश्यों को एक अभेदनीय भित्ति पर चित्रित कर दिया। मुम्बई के नियमों की लड़ी जहां बड़ी लम्बी थी वहां साथ ही अधूरी भी थी।

मुम्बई के नियमों का निर्माण पारिख महाशय ने किया था। वे महर्षि की रचना न थे, इसलिए सिद्धान्त-दृष्टि में वे अनार्ष-कल्पना थे। यह उनकी पहली त्रुटि थी। दूसरे, उनमें वेद को 'ईश्वरीय ज्ञान' कहीं भी नहीं कहा गया। तीसरे, उनमें से कोई भी नियम ईश्वर को सृष्टि का रचयिता नहीं बतलाता। चौथे, उनमें एक ऐसा नियम रखा गया है जिसके आधार पर श्रेष्ठ सभासदों की सम्मति से कोई भी नियम बदला जा सकता है—चाहे यह नियम ईश्वर की उपासना और वेदों की प्रामाणिकता वाला ही क्यों न हो।

मुम्बई के नियमों में यद्यपि स्त्रियों को सभासद बनने का अधिकार है, परन्तु प्रधान और मन्त्रि-पद के साथ पुरुष शब्द लगाकर धर्म्म में समता के आदर्श को संकुचित कर दिया गया है। लाहौर के संस्कार में नियमों को सिद्धान्त का स्वरूप प्राप्त हो गया। वे सुस्पष्ट और निर्भ्रान्त बन गए। उनके परिवर्त्तन का किसी को भी अधिकार नहीं रहा। समुच्चयरूप होने से वे स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान हैं और प्रत्येक समाज को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं।

लाहौर के नूतन संस्कार में उपनियमों को पृथक् किया गया और उनको प्रायः स्वामीजी के भक्तों ने ही कार्त्तिक सुदी १ सम्वत् १६३४ को बनाया और स्वीकार किया। महाराज ने केवल अनुमति ही प्रदान की।

एक दिन स्वामीजी ने कहा,"वैदिक धर्म्म-प्रचार का कार्य बहुत बड़ा है। हम जानते हैं कि वह हमारे इस सारे जीवन में पूर्ण न हो सकेगा। परन्तु चाहे दूसरा जन्म धारण करना पड़े, मैं इस महन् कार्य को अवश्य पूर्ण करूँगा।"

एक दिन महाराज आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में उस समय पधारे जब प्रार्थना और उपासना हो रही थी। गुरुदेव को आते देख सारे सभासदों ने उनका अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया। जब प्रार्थना समाप्त हो चुकी तो महाराज ने उपदेश दिया,"उपासना के समय उपासक जन ईश्वर के सत्संग में निमग्न होते हैं। उस प्रभु से महान् कोई भी वस्तु नहीं है। इस लिए उपासना काल में चाहे कितना ही बड़ा मनुष्य क्यों न आये, उठना नहीं चाहिए। ऐसे समय में किसी व्यक्ति के लिए अभ्युत्थान आदि आदर करना उपासना-धर्म्म का निरादर है।" सब सभासदों ने बड़े विनीत भाव से श्री-वचनों को स्वीकार किया।

यद्यपि आर्यसमाज में संशोधन और परिवर्तन आदि के सारे अधिकार स्वामीजी के ही हाथ में थे, परन्तु वे इतने निरभिमान और निर्लेप थे कि जिसका दूसरा दृष्टान्त मिलना अति दुर्लभ है। आर्य्य-समाज लाहौर के साधारण अधिवेशन में महाशय शारदाप्रसादजी ने प्रस्ताव किया "आर्य्य-समाज के संस्थापक को पदवी से विभूषित किया जाय।" सब सभासदों ने इस प्रस्ताव का सुप्रसन्नता से अनुमोदन किया। स्वामीजी महाराज ने हँसकर कहा, "मैंने कोई नया पन्थ चलाकर गुरुगद्दी का मठ नहीं बनाया है। मैं तो लोगों को मतवादियों के मठों से स्वतंत्र करना चाहता हूं। ऐसी पदवियों से अन्त में हानियाँ ही हुआ करती हैं।"

शारदाप्रसादजी ने दूसरा प्रस्ताव किया कि "महाराज को इस समाज का परम सहायक नियत किया जाय।" इस पर उन्होंने कहा, "यदि मुझे परम सहायक मानोगे तो उस परमपिता परमेश्वर को क्या कहोगे ? परम सहायक तो वह जगदीश्वर ही है। हां, यदि आप मेरा नाम लिखना ही चाहते हैं, तो सहायकों की पंक्ति में लिख लीजिए।"

स्वामीजी के उपदेशों को सुन कर लोगों के हृदय मे संस्कृत भाषा सीखने के लिये बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया था। प्राय: सभी सभासद संस्कृत पढ़ने लग गये थे। स्वामीजी के पास भी बहुत से लोग अध्ययन करने आया करते थे।

मुज़फ्फरगढ़-निवासी महाशय गणपतिराय उन दिनों लाहौर में कानून पढ़ते थे। वे भी स्वामीजी के निकट संस्कृत सीखने आते थे। एक दिन महाराज ने गणपतिरायजी से पूछा, "आप विवाहित हैं या कुमार ?" उन्होंने उत्तर दिया कि "अभी तक मेरा विवाह तो नहीं हुआ, परन्तु सगाई कभी की हो चुकी है।"

स्वामीजी ने कहा, "गणपति आप विवाह कदापि न कराइयेगा। आपकी आयु का तार तीस वर्ष तक पहुँचने के पहले ही टूट जायगा।" महाशय गण-पतिराय को पूर्ण विश्वास था कि उसके गुरु का ज्ञान अगम्य है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य है। इस लिए उन्होंने 'मैं विवाह नहीं करूंगा' इस प्रण की पक्की गाँठ बान्ध ली।

कुछ काल के उपरान्त गणपति के बन्धु-बाँधवों ने उसे विवाह के लिए अति बाधित किया और समझाया कि साधु-सन्तों के वचन सदा सच्चे नहीं हुआ करते। भ्रम-भरी बातों में पड़ कर विवाह से विमुख हो जाना आपकी भारी भूल है। परिवार-परिजन की परवशता में पड़ गणपतिराय को अन्त में विवाह करना ही पड़ा। परन्तु स्वामीजी के वचनों की सत्यता का उसे पूरा निश्चय था। वह मुलतान जिले में वकालत का काम करने लगा। वहाँ एक दिन वह एका-एक रोगग्रस्त हो गया और थोड़े दिनों में ही, उसकी आयु के अट्ठाइसवें वर्ष, उसके प्राण-पखी परलोक की ओर उड्डीयमान होने लगे। उस समय उसने अपने कुटुम्बियों को बताया कि गुरुदेव ने जो बताया था

वह आज सत्य हुआ चाहता है। फिर प्रियजनों की उपस्थिति में गणपति-रायजी ने सदा के लिए नेत्र बंद कर लिए।

एक दिन महाराज के पास एक जन आकर बोला, "महाराज, आप तो यह कहते थे कि ध्यान में तुमको प्रकाश दिखाई देगा। मुझे तो उलटा अंधकार दिखाई देता है।" स्वामीजी ने उसे कहा, "श्रद्धा-भक्ति से अभ्यास करते जाइए, अन्त में उसी अन्धकार में ज्योति दीखने लग जायगी।"

प्रसङ्ग चलने पर महाराज ने सत्संगियों को कहा, "योग-शास्त्र का सारा वर्णन सत्य है, परन्तु उसके बताने का यह समय नहीं है!"

डाक्टर रहीमखाँ की कोठी पर एक दिन बहुत से पण्डितों ने स्वामीजी से कहा कि आप वेदों का प्रचार करते हैं, यह तो बहुत अच्छी बात है। परन्तु यदि पुराणों को भी साथ मिलाए रखते तो सोने में सुगंधि का संयोग हो जाता।

महाराज ने कहा कि मैं कई वर्षों तक यह सोचता रहा कि किसी प्रकार पुराणों की संगति वेदों के साथ मिल जाय, परन्तु जब मैंने देखा कि ये किसी प्रकार भी वेदों से मेल नहीं खाते और सर्वथा वेदविरुद्ध हैं तब से मैंने पुराणों की प्रमाणता का परित्याग कर दिया।

एक भद्र पुरुष ने स्वामीजी से कहा कि आप जो मुक्ति से पुनरावृत्ति मानते हैं, यह मन्तव्य कोई चिरकाल के विचार का परिणाम प्रतीत नहीं होता।

उन्होंने उत्तर दिया कि आपका यह भारी भ्रम है। पुनरावृत्ति पर तो मैं कई मास तक विचार करता रहा हूं। अन्त में मैंने यही परिणाम निकाला है कि सान्त कर्म का अनन्त फल नहीं हो सकता। इस लिए मुक्ति से पुनरागमन ही मानना समीचीन है।

पाँचवाँ सर्ग

महर्षि ने पंजाब प्रान्त के मस्तिष्क लाहौर को अपने प्रभावशाली उपदेशों से प्रभावित कर लिया, वेद-शास्त्र के महत्त्व पर मोहित बना दिया और अपने प्रेम के परम पुनीत तार में पिरोकर उसे कार्यक्षेत्र में उतार लिया। पंजाबियों के सादा प्रेम से, सरल स्वभाव से, श्रद्धा-भक्ति से, कार्यतत्परता से और धर्मावेश से श्री महाराज अति प्रसन्न हुए।

लाहौरवासियों में आर्यत्व का सच्चा अभिमान उत्पन्न करने के पश्चात् श्री महाराज आषाढ़ वदी ६ सं० १६३४ को अमृतसर में पधारे और सरदार दयालसिंह मजीठिया के प्रबंध से रामबाग में मियाँ मुहमदखाँ की कोठी में ठहरे। उनके पधारने से अमृतसर के अधिवासियों में धर्म्म-प्रेम उमड़ पड़ा। शत-शत और सहस्र-सहस्र पुरुष श्री-दर्शनों को आने लगे। महाराज ने लोगों के उत्साह को देख कर उसी दिन सायंकाल व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। श्री-उपदेशों को सब नर-नारी श्रद्धापूर्वक सुनते थे।

वहाँ महाराज ने प्रतिमापूजन, अवतारवाद और मृतकश्राद्ध आदि मिथ्या-मूलक मन्तव्यों का घोर खण्डन किया, जिससे पण्डितों में हलचल मच गई।

यजमान अपने पुरोहितों और पण्डितों को शास्त्रार्थ करने के लिए विवश करने लगे। पण्डित लोग भी स्थान-स्थान पर सभा लगाते, स्वामीजी को नास्तिक और ईसाई कहते, अगणित गालियाँ देते; परन्तु शास्त्रार्थ करने के लिए उनमें से कोई भी साहस नहीं करता था।

उन दिनों अमृतसर में श्री रामदत्तजी सबसे बड़े विद्वान् गिने जाते थे। पण्डित-मण्डल ने उनसे जाकर प्रार्थना की, "दयानन्द धराधाम से पौराणिक मत का बिन्दु-विसर्ग तक मिटा देना चाहता है। इस समय हमारे मत की नौका भंवर में पड़ी डाँवाडोल हो रही है। इस लिए आप चलिए और शास्त्रार्थ करके उसे परास्त कीजिए। इस समय आप ही हमारी लाज रखने वाले हैं।"

पण्डित रामदत्तजी ने उनको बहुत समझाया कि स्वामीजी वेदशास्त्र के धुरन्धर पण्डित हैं; उनसे मैं शास्त्रार्थ नहीं कर सकता। परन्तु वे लोग उन्हें शास्त्रार्थ के लिए बहुत ही विवश करते थे। अन्त को पण्डितजी अमृतसर छोड़ कर हरिद्वार चले गये।

एक दिन एक पाठशाला के अध्यापक पण्डित ने अपने छोटे-छोटे विद्यार्थियों को कहा, "आज कथा में हम सब चलेंगे। तुम अपनी-अपनी झोलियों में ईंटों के रोड़े भर लो। वहाँ जिस समय मैं संकेत करूं, तुम तत्काल कथा कहने वाले पर इन्हें फेंकने लग जाना। इसके बदले में कल तुमको लड्डू दिये जायेंगे।"

वे अबोध बालक अपने अध्यापक के बहकाने में आ गये और झोलियों में ईंटों के टुकड़े लिये व्याख्यान के स्थान पर आ पहुँचे। व्याख्यान रात के आठ बजे समाप्त हुआ करता था। थोड़ा-सा अन्धेरा होते ही अध्यापक का संकेत पाकर वे अनजान लड़के स्वामीजी पर कंकड़ बरसाने लगे। एक बार तो सारी सभा चलायमान हो गई, परन्तु स्वामीजी ने सभा को तुरन्त शान्त कर दिया।

पुलिस के कर्मचारियों ने अपने चातुर्य से उन उपद्रवी बालकों में से कुछ-एक को पकड़ लिया और व्याख्यान की समाप्ति पर महाराज के सामने उपस्थित किया। पोलिस के पल्ले में पड़े हुए वे बालक चिल्लाते और फूट-फूटकर रोते थे। स्वामीजी ने उनको ढाढ़स बंधाया और ईंट मारने का कारण पूछा। तब वे हिचकियाँ लेते हुए बोले, "हम को पण्डितजी ने लड्डुओं का लोभ देकर ऐसा करने को कहा था।"

श्री स्वामीजी ने कल्याणराम में आकर तत्काल वहीं मोदक मंगाए और उन बालकों में बाँटकर कहा, "तुम्हारा अध्यापक तो सम्भव है तुम्हें लड्डू न दे, इस लिए मैं ही दिये देता हूँ।" फिर महाराज ने उन नासमझ लड़कों को छुड़ा दिया।

श्री स्वामीजी के उपदेशों में नगर के सभी सम्मानित मनुष्य आते। महाराज सिंहासन पर आरूढ़ होकर उपदेश दिया करते। अपने सामने एक कुर्सी रखवा देते कि उपदेश के अनन्तर यदि कोई प्रश्न पूछना चाहे तो उस पर बैठकर पूछे। एक दिन एक पण्डित उस कुर्सी के पास खड़ा होकर कहने लगा, "आपने हमको नीचा आसन दिया है। मुझे भी आपके समान ही कुर्सी मिलनी चाहिए।" स्वामीजी ने हँसकर कहा, "मैं तो व्याख्यान के कारण ऊँचे आसन पर बैठता हूँ, परन्तु आप यदि सामने की कुर्सी पर बैठना अपमान समझते हैं तो उसे मेज पर रखकर बैठ जाइए। आप विद्वान् होकर भी आसन पर बैठने में बड़ाई-छोटाई की कल्पना करते हैं, इसका मुझे बड़ा आश्चर्य है। क्या किसी चक्रवर्ती के मुकुट पर मक्खी-मच्छर बैठकर बड़े हो सकते हैं?"

एक दिन एक पण्डित ने कहा कि हम आपकी सभा में आकर क्या करें, आप तो कहते हैं कि ब्राह्मणों को एक श्लोक भी नहीं आता। इनको गोदान लेने का अधिकार ही नहीं है। आप ही बतायें कि यदि हम लोग गोदान न लें तो खायें क्या, राख?

स्वामीजी ने कहा कि हमने दान लेने का अनधिकार अविद्वानों को बताया है। यदि तुम विद्वान् नहीं हो तो दान मत लो। और राख क्यों खाओ? घास खाया करो।

कमिश्नर महाशय की प्रार्थना पर एक दिन स्वामीजी उनके बङ्गले पर पधारे। वार्तालाप में कमिश्नर महाशय ने कहा, "स्वामीजी! यह तो बताइये, हिन्दू धर्म्म को सूत के तार के सदृश कच्चा क्यों कहते हैं?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यह कच्चा नहीं, किन्तु लोहे से भी पक्का है। लोहा तो भले ही टूट जाय, परन्तु यह कभी भी टूटने का नहीं।" कमिश्नर महाशय ने पूछा, "यह इतना दृढ़ क्योंकर है?"

महाराज ने कहा, "हिन्दू धर्म्म समुद्र के समान है। इसमें भी अनेक अच्छे और बुरे मतों के तरङ्ग विद्यमान हैं। इस धर्म्म में ऐसे भी लोग हैं जो अत्यन्त दयावान् हैं, सदाचारी हैं, परोपकार-परायण रहते हैं और एक निराकार परमेश्वर को अपने मनोमन्दिर में पूजते हैं। इनके विपरीत वे लोग भी हिन्दू धर्म्म में पाये जाते हैं जो महाक्रूर, अनाचारी, वामी हैं। कोरे नास्तिक, अवतारों के मानने वाले हैं। यहाँ योगी, ध्यानी, तपस्वी और आजीवन ब्रह्मचारी रहने वाले भी विद्यमान हैं, और ऐसे भी अनेक हैं जिनका उद्देश्य आमोद-प्रमोद और संसार का सुख है। हिन्दू धर्म्म में जहाँ छूआछूत करने वाले सहस्रों हैं वहाँ सबके साथ खा लेने वाले भी सैकड़ों हैं। परमार्थदर्शी और तत्त्वज्ञानी लोग इस धर्म्म में उच्च पद के पाये जाते हैं। और ऐसे भी मिल जाते हैं जो ज्ञान के पीछे दण्डा लिये डोलते हैं।"

"उत्तम, मध्यम और निकृष्ट विचारों और आचारों के सभी मत और उनको मानने वाले मनुष्य इस मार्ग में मिलते हैं। वे सभी हिन्दू हैं, कोई उन्हें हिन्दूपन से निकाल नहीं सकता। इस लिए मैं कहता हूँ कि हिन्दू धर्म निर्बल नहीं, किन्तु परम सबल है।"

फिर कमिश्नर महाशय ने पूछा कि आप कैसे धर्म्म को फैलाना चाहते हैं? स्वामीजी ने कहा कि मैं केवल यह चाहता हूँ कि लोग वेद पवित्र की आज्ञाओं को मानें। एक निराकार परमात्मा की उपसना करें, दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करें।

महाराज धमृतसर में ईसाई धर्म्म पर भी युक्तियुक्त समालोचना किया करते थे। उसकी असम्भव कथायें सुनाकर लोगों को समझाते और आर्य्य धर्म्म के साथ उसे तर्क-तुला पर तोल कर त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर देते थे।

ईसाइयों के स्कूलों में पढ़ने वाले चालीस आर्य्य-युवक मन से ईसाई बन चुके थे। उन्होंने 'प्रार्थना-सभा' नाम से एक अपनी सभा बना रक्खी थी। आदित्यवार को वे वहाँ ईसाई रीति से प्रार्थना आदि किया करते थे।

स्वामीजी के उपदेशों से ये सारे युवक अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके हृदयों से ईसाई मत का एक-एक विचार कपूर की भाँति उड़ गया और वे अपने पुरातन धर्म्म के महत्त्व को मानने लग गये।

पादरी क्लार्क महाशय एक दिन स्वामीजी के पास आकर कहने लगे, "आओ, हम और आप मिलकर एक दिन एक ही मेज़ पर भोजन करें।"

स्वामीजी ने कहा, "ऐसा करने से लाभ ही क्या है?"

पादरी महाशय बोले, "इकट्ठे खाने से परस्पर प्रीति बढ़ जायगी।"

इस पर श्री स्वामीजी ने कहा, "शीया और सुन्नी मुसलमान एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंगरेज, इसी तरह आप और रोमन कैथोलिक ईसाई एक ही मेज़ पर जीम लेते हैं। परन्तु यह सब जानते हैं कि परस्पर कितना वैर-विरोध है, एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है।" यह सुनकर पादरी महाशय अवाक् हो गये।

सरदार दयालसिंह ने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने पर कुछ प्रश्न किये। परन्तु वे नियम का पालन नहीं करते थे। बहुत लम्बा व्याख्यान देने लग जाते और स्वामीजी के उत्तर पर कोई ध्यान नहीं देते थे। स्वामीजी ने उनको समझाया कि यदि आप निर्णय ही करना चाहते हैं तो केशवचन्द्रजी को आमन्त्रित करके बातचीत करा लीजिए। सरदार महाशय ने स्वामीजी की शिक्षा को बहुत बुरा मनाया और रुष्ट होकर चले गए।

श्री बिहारीलालजी एक्स्ट्रा-असिस्टेण्ट कमिश्नर ने महाराज को कहा कि यदि आप मूर्त्ति-पूजन का खण्डन छोड़ दें तो सभी हिन्दू आपके अनुगामी बन जायँ। उन्होंने कहा कि मैं इस लोक की बातों के लिए सनातन सत्य का परित्याग नहीं कर सकता।

मनसुख नाम का एक सज्जन अमृतसर में निवास करता था। वह धर्म-कर्म से विमुख था और किसी भी साधु-सन्त की नहीं सुनता था। स्वामीजी के उपदेशों के सुनने से उसके हृदय में भी भक्तिभाव की शुभ-लता लहलहाने लगी। एक दिन वह मिश्री का थाल लेकर श्रीचरणों में उपस्थित हुआ और नमस्कारपूर्वक उसे समर्पण कर उसने दीक्षा की याचना की। श्री स्वामीजी ने महाशय मनसुख को अपार दया से धर्म-दीक्षा दे दी और गुरुमंत्र गायत्री सिखाकर कृतकृत्य कर दिया।

स्वामीजी के निकट एक साधारण स्थिति का मनुष्य आया करता और अति श्रद्धा से सत्संग का लाभ उठाया करता था। एक दिन उसने हाथ जोड़ कर विनय की, "भगवन्! धनी लोग तो अन्नादि के दान और परोपकार से संसार-सागर पार कर जायँगे, परन्तु मेरे ऐसे निर्धन का निस्तार कैसे होगा? मैं दान-पुण्य तो कुछ नहीं कर सकता।"

महाराज ने कहा, "सौम्य! आप भी बड़े उपकारी और पुण्यात्मा बन सकते हैं। एक मनुष्य तो परोपकार और दान-पुण्य करने से पवित्र हो जाता है और दूसरा पर-अपकार और पापकर्म न करने से भी अपना मङ्गल साधित कर लेता है। सो आप अपने हृदय में पर-अपकार और अनिष्ट-चिन्तन का भाव कदापि न लाइए। इससे आप बड़े धर्मात्मा बन जायँगे। अपकार न करना भी संसार का उपकार है।"

एक दिन स्वामीजी महाराज अपने निवास-स्थान के एक कमरे में बैठे पण्डितों से वेद-भाष्य लिखवा रहे थे। बीच में एकाएक उठ खड़े हुए और कर्मचारियों को कहने लगे कि पुस्तकादि सभी उपकरण, झटपट इस कमरे से बाहर निकाल दो।

कर्मचारियों ने उनकी आज्ञा का पालन तो किया, परन्तु वह मन-ही-मन यह कहते रहे कि स्वामीजी ने यह कष्ट व्यर्थ ही दिया है। जब सारे उपकरण दूसरे कमरे में पहुँच गए तो प्रथम कमरे की छत धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ी। उस समय कर्मचारियों को महाराज की आज्ञा की उपयुक्तता का निश्चय अति विस्मय के साथ हुआ।

श्री स्वामीजी एक समय उपदेश दे रहे थे। उस समय एक ओर से घोर आँधी, धूलिराशि से भूतलाकाश को एकाकार करती, उमड़ी चली आती दिखाई दी। पवन भी प्रचण्ड रूप धारण करने लगा। झंझावात के [illegible]

मानसरोवर क्षुभित हो, ऐसे ही वह सत्संग-सरोवर चलायमान हो गया। उठने के लिए लोग दायें-बायें झांकने लगे।

उस समय महाराज ने मेज़ पर करतल-प्रहार कर उच्च स्वर से कहा कि धैर्य रखिए, हिलिये नहीं, यहाँ आँधी नहीं आयगी। महाराज के कथन से लोग शान्त हो गये और सचमुच आंधी भी वहां नहीं आई।

महाराज के उपदेशों से अमृतसर में आर्य्यसमाज स्थापित हो गया। अनेक सज्जनों ने ज्ञान-चक्षु लाभ किये, उन्होंने परोपकार का पवित्र पथ प्राप्त किया और उनमें लोक-हित की बुद्धि जागृत हो गई।

स्वामीजी अमृतसर के अधिवासियों को उपदेशामृत पान कराकर गुरुदासपुरवासियों की विनय-अनुनय से वहाँ जाने के लिये समुद्यत हो गये। गुरुदासपुर में स्वामीजी के प्रेमी भक्त डाक्टर बिहारीलालजी थे। उन्होंने अपने भाई को गाड़ी सहित अमृतसर भेजा कि स्वामीजी को लिवा लाओ। गुरुदासपुर से अमृतसर तक के मार्ग में भी गाड़ियों की डाक लगा दी।

श्रावण सुदी ६ सं० १६३४ को स्वामीजी अमृतसर से गुरुदासपुर को पधारे। नगर के सभी प्रतिष्ठित सज्जन, छोटे-बड़े, राजकर्म्मचारी और सर्वसाधारण नागरिक लोग, महाराज की अगुवाई के लिए पौन कोस तक आगे गये। जब वे समीप आ पहुँचे तो लोगों ने गगनगामी नमस्ते नाद गुंजाकर, नम्र नमस्कारपूर्वक, उनका स्वागत किया। महाराज भी गाड़ी से उतर पड़े और कुशल-क्षेम तथा आशीर्वाद आदि शब्दों से लोगों को आनन्दित करने लगे। शिष्टाचार के उपरान्त महाराज फिर गाड़ी में आरूढ़ हो गये और सज्जन-समूह सहित धीरे-धीरे डाक्टर बिहारीलाल के मकान पर आ कर ठहरे। उस समय सायंकाल के पांच बजे थे। महाराज ने कोई आध घड़ी तक विश्राम करके स्नानादि किया और तत्पश्चात् लोगों को एक मधुर और मनोहर उपदेश सुनाया।

स्वामीजी के व्याख्यानों में सैकड़ों श्रोताजन आते थे। उच्च कर्मचारी भी सम्मिलित होते थे। डेरे पर भी रात-दिन सत्संग की गङ्गा बहती रहती थी।

उन दिनों गुरुदासपुर में मियाँ हरिसिंह एक्स्ट्रा-असिस्टेण्ट कमिश्नर और मियाँ शेरसिंह सुपरिण्टेण्डेण्ट पोलीस थे। ये दोनों महाशय कट्टर प्रतिमापूजक थे। स्वामीजी के खण्डन के व्याख्यानों से वे बहुत रुष्ट हुए। गणेशगिरि नामक

एक विरक्त महात्मा नगर से बाहर एक उद्यान में रहते थे। उन दोनों ने उनके पास जाकर कहा कि दयानन्दजी हमारी देवमूर्तियों का खण्डन करते हैं। आप चलिए और शास्त्रार्थ से उनका मुख बन्द कीजिए।

महात्मा गणेशजी ने उनको समझाया कि हम विरक्त हैं, तुम्हारे झगड़े-बखेड़े में पड़ना नहीं चाहते। यदि अधिक सताओगे तो यह स्थान छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जायँगे।

गणेशगिरि से निराश होकर मियाँ हरिसिंह और शेरसिंहजी ने पण्डित लक्ष्मीधर और दौलतराम को दीनानगर से बुलाया। वे शास्त्रार्थ के लिए स्वामीजी के पास आये। जिस समय वे महाराज के पास पहुंचे, स्वामीजी शिवपुराण की कथा पर समालोचना कर रहे थे और बतला रहे थे कि इन पुस्तकों में ऐसी अश्लील लीलायें भरी पड़ी हैं।

मियाँ हरिसिंह और शेरसिंह अपने पण्डितों सहित बीच-बीच में बार-बार कहते थे कि यह जो कुछ कह रहा है सर्वथा झूठ बकता है। डाक्टर महाशय ने उनको बहुत समझाया कि ऐसे कठोर शब्द कहना आपको उचित नहीं है, और व्याख्यान के बीच में भी बोलना नहीं चाहिए। परन्तु उस समय वे लोग नियम, नीति और न्याय सब कुछ छोड़ बैठे थे।

महाराज ने जब देखा कि ये लोग व्याख्यान आगे चलने ही नहीं देते तो भाषण बंद कर दिया और कहा कि "दोनों पण्डितों में से एक सामने की कुर्सी पर आ बैठे। जिस विषय पर उसका जी चाहे प्रश्न करे।" इस पर मियां महाशय ने कहा कि क्या कोई कंजरियों का खेल है, जो बीच में आ जायें? हम तो यहीं से शास्त्रार्थ करेंगे और सभी बोलेंगे।

महाराज ने 'दुर्जन-तोष-न्याय' से उन पण्डितों को कहा कि अच्छा, आप मनमानी विधि से ही शास्त्रार्थ कर लीजिए।

तब पण्डितों ने 'गणानां त्वा' इस मंत्र को पढ़कर कहा कि इससे गणेश को प्रतिमा का पूजन सिद्ध होता है। महाराज ने उत्तर दिया कि अपना अर्थ किसी भाष्य में दिखलाइए। उन्होंने महीधरभाष्य निकालकर आगे किया। महाराज ने महीधर के अत्यन्त अश्लील अर्थों को सुनाकर कहा कि इसमें न तो मूर्त्ति-पूजन है और न ही गणेशपूजन। फिर आपने इस मन्त्र का सच्चा अर्थ परमात्मा पर

लगा कर जनता को बताया। इससे लोगों को पण्डितों के पानी की पैठ का पूरा पता लग गया। परन्तु मियाँ महाशय आपे से बाहर हो गये। वे दुर्वचन-बाण बरसाते हुए बोले कि यदि कोई देशीय राजा होता तो कोई आप का सिर काट डालता। यहाँ पर भी मजिस्ट्रेट और पोलीस दोनों विद्यमान हैं। उनका भी कुछ ध्यान कीजिए।

डाक्टर विहारीलालजी तो आवेश में आ गये, परन्तु श्री महाराज के प्रशान्त और गम्भीर मुखमण्डल पर कोप की एक रेखा भी तो न आई। वे हाथी की भाँति गम्भीरता से शंका-समाधान करते रहे। उन्होंने मियाँ महाशयों की अनुचित क्रिया पर कर्णपात तक नहीं किया।

उन दिनों में 'काक' महाशय वहाँ इञ्जिनियर थे। वे भी महाराज के व्याख्यानों में आया करते थे। एक दिन भाषण के प्रसङ्ग में स्वामीजी ने कहा कि अंग्रेज लोगों को इस देश में आए हुए चिर हो गया। परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अभी तक नहीं सुधारा। तकार के स्थान टकार ही बोलते हैं। इससे काक महाशय रुष्ट हो गये और चलते हुए बोले कि यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर जाओ तो तुम्हें स्वाद् चखाया जाय।

श्री स्वामीजी के उपदेशों से लोगों ने भादों वदी १ सं० १९३४ को गुरुदासपुर में आर्य्यसमाज स्थापित कर दिया। महाराज के पास आकर अनेक मौलवी और पण्डित प्रश्न पूछते थे और सन्तोषजनक उत्तर पाकर चले जाते थे।

भादों वदी २ सं० १९३४ को गुरुदासपुर से चलकर महाराज ने बटाले में राय भागमल के उद्यान में एक घण्टा विश्राम किया और फिर अमृतसर में आ विराजे। भादों सुदी ६ सम्वत् १९३४ को अमृतसर से प्रस्थान कर उसी दिन दो बजे जालन्धर आ पहुँचे और अपना डेरा सरदार विक्रमसिंह की कोठी में किया। स्वामीजी का पहला व्याख्यान कुँवर सुचेतसिंह के मकान पर 'सृष्टि की उत्पत्ति' पर हुआ। परन्तु वह स्थान संकीर्ण था, इसलिए जनता को सूचना दे दी गई कि कल से व्याख्यान सरदार विक्रमसिंह के मकान पर हुआ करेंगे। जालन्धर में महाराज के विविध विषयों पर कोई चौबीस-पँचीस व्याख्यान हुए

स्वामीजी अपने व्याख्यानों में प्रकरणानुसार मनोरञ्जक कहानियाँ भी सुनाया करते थे। चापलूसी पर, हाँ में हाँ मिलाने पर और सत्यवचनियापन पर

महाराज बैंगन का दृष्टान्त दिया करते थे कि एक राजा ने बैंगन खाने की इच्छा प्रकट की। पुरोहित ने अनुमोदन करते कहा कि राजन्! बैंगन एक अत्युत्तम पदार्थ है। यह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण की तरह श्यामल है। इसके सिर पर मनोहर मुकुट विराज रहा है और इसका नाम भी बहुगुण है।

पुरोहित के प्रशंसा करने पर राजा महाशय अति प्रसन्न हुए और प्रतिदिन दोनों काल बैंगन का यथेष्ट भोग लगाने लगे। बैंगनों के अधिक आहार से उनकी देह में पित्त प्रकुपित हो गया और अर्श-रोग से रक्त-स्राव होने लगा। जब राजा महाशय का स्वास्थ्य बिगड़ गया तो उसने पण्डितजी से कहा कि बैंगन तो बहुत बुरे हैं। पुरोहितजी ने कहा कि श्रीमन्त का कथन सर्वांश में सत्य है। राजन्! इसका रङ्ग ही देखिए, विधाता ने कैसा भूँडा, कोयले-सा काला-कलूटा रचा है। इसके सिर पर काँटों का मुकुट है और सीधी शूल ठुक रही है।

लोग सुगम धर्म्म को अधिक स्वीकार करते हैं। सत्यासत्य का कोई ध्यान नहीं रखते। हमारे बड़े-बूढ़े ऐसा ही करते आये हैं। इसलिए हम भी इस टेर को लिए चलेंगे। ऐसी बातों पर स्वामीजी दिल्ली की मिठाई का दृष्टान्त दिया करते थे कि एक बार बहुत से गँवार दिल्ली में आए। अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ देखकर उनके मुँह में पानी भर आया। परन्तु पर्याप्त पैसे पास न होने के कारण वे मिठाई मोल न ले सके। एक हलवाई ने उन्हें सस्ती मिठाई देने का वचन दिया और भीतर जाकर ऊँट के लेंडों और बकरी की मेंगन पर खाँड चढ़ा दी। फिर बाहर आकर उनसे कहने लगा कि लो, तुम्हें सस्ती मिठाई देता हूँ। ऐसी मिठाई यहाँ से नित्य ले जाया करो। उन गँवारों ने उसे दाम देकर अपनी झोलियाँ भर लीं और उस मिठाई का आनन्द-पूर्वक भोग लगाया।..."

वे दिल्ली में प्रतिदिन आकर वह मिठाई मोल लेते थे। एक दिन एक बुद्धिमान् मनुष्य ने उनको समझाया कि तुम्हारी मिठाई अच्छी नहीं है और भीतर से बकबकी सी है। गँवार बोले कि तुम हमें यों-ही बहकाते हो। यह तो दिल्ली की मिठाई है और बड़ी सस्ती है। फीकी है तो क्या हुआ? हमारे बाप-दादा इसी को खाते आये हैं। इसको छोड़कर हम दूसरी मिठाई कभी भी न लेंगे।

स्वामीजी एक राजा की कथा सुनाया करते कि एक ठग एक राजा को मिला और कहने लगा कि मैं एक ऐसा वेष निर्माण कर सकता हूँ, जो केवल उसी को दृष्टिगोचर हो सकता है जो निर्दोष माता-पिता की सन्तान है। राजा ने ऐसे वेष के लिए उत्कण्ठा प्रकट की। वह वंचक मनुष्य कुछ दिनों के अनन्तर आ कर राजा महाशय से कहने लगा कि वह अद्भुत दिव्य-वेष बन गया है। भीतर पधारिये, श्रीमन्त को उसमें विभूषित कर दिया जाय। राजा सुप्रसन्नता से उसके साथ भीतर गया और वंचक ने उसके बहुमूल्य वस्त्र उतरवा लिये। फिर योंही इधर-उधर हाथ फिराकर वह कहने लगा कि श्रीमन्तजी! अब आपको दिव्य वेष पहरा दिया है। मुझे पारितोषिक दीजिए और स्वच्छंदता से राज्य-पाट का काम-काज करने लग जाइए।

अब वह राजा, यद्यपि अपने को वस्त्रहीन देखता था परन्तु वंचक के वचनानुसार अपनी माँ ही को दूषित समझता था। जो कोई उसे उसकी अवस्था सुझाता तो वह उसके माता-पिता में भी चरित्र-दोष की कल्पना कर लेता। इस प्रकार विहंगम दशा में राजा महाशय न्यायालय में आ पहुँचा।

बुद्धिमान् मंत्री ने अपने मुग्ध महाराजा से कहा कि राजन्! आपका वेष तो विदेशी है, परन्तु यदि एक स्वदेशी कोपीन कस लो तो बहुत अच्छा हो। मंत्री महाशय के बहुत समझाने से राजा ने माना कि मैं वास्तव में ठगा गया हूँ।

स्वामीजी इस दृष्टान्त से यह शिक्षा निकाला करते थे कि जो लोग अपनी बुद्धि से काम नहीं लेते और दूसरे के बहकाने में फँस जाते हैं, जो अपने धर्म्म-कर्म को आप नहीं समझते, अपने देश तथा जाति की दशा को आप नहीं निहारते, अपने धर्म-ग्रन्थों और इतिहासों को आप नहीं पढ़ते, केवल पर-कथन पर ही निर्भर करते हैं, वे अन्त में उस मूर्ख राजा की भाँति दीन हीन होकर दूसरों की दृष्टि में उपहास की वस्तु बन जाते हैं।

महाराज ने वहाँ वेश्या-कुव्यसन का घोर खण्डन किया, तीर्थ-माहात्म्य और गङ्गा-स्नान के फल को भी अमूलक बताया। अमृतसर के दरबार साहब के विषय में स्वामीजी ने कहा कि दीपमाला के दिन सिख वहाँ सकेश स्नान करते हैं। हमारा जी तो वहाँ आचमन करने को भी नहीं चाहता। इस पर सरदार

विक्रमसिंह ने कहा कि स्वामीजी ! आज तो हम पर भी वर्षा हो गई ।

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि व्याख्यान में पक्षपात नहीं किया जा सकता। सत्य बात को कहना ही पड़ता है ।

मुक्ति के विषय पर बोलते हुए महाराज ने कहा, "जीव और ब्रह्म को एक मानना भारी भ्रम है । पिता-पुत्र का सम्बंध और परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है । मोक्ष से जीव कल्पान्तर में फिर जन्म धारण करता है। श्रीकृष्ण आदि महापुरुष मोक्ष से ही आये थे । पापों का नाश किसी तीर्थ आदि स्थान पर नहीं हो सकता। दुष्कर्म तो शुद्ध सङ्कल्प, तपस्या और फलभोग से नष्ट होता है ।"

स्वामीजी के शुभागमन के समय वेद-ज्ञान के विषय में पञ्जाब की यह दशा थी कि महाशय रामनाथ ने स्वामीजी से निवेदन किया कि महाराज! जब हम लोग अपने पुरोहितों से पूछते हैं कि अथर्ववेद क्या है तो वे उत्तर देते हैं कि स्त्रियाँ जो गीत विवाह में गाती हैं वही अथर्ववेद है । स्वामीजी ने कहा कि अथर्ववेद ब्याहों के गीत नहीं हैं । वह एक अत्युत्तम ग्रन्थ है । उस समय महाराज ने उसे अथर्ववेद के दर्शन भी करा दिये ।

मौलवी अहमद हसन ने स्वामीजी के साथ पुनर्जन्म और चमत्कार पर विवाद किया । इसमें मौलवी महाशय-को पूर्ण पराजय प्राप्त हुई । यह वाद कई समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हुआ था ।

जालन्धर नगर में अमृत-वर्षा करके श्री स्वामीजी आश्विन सुदी ११ सं० १९३४ दसहरे के एक दिन पीछे लाहौर में पधारे । अब की वे नवाब रज़ा अलीख़ाँ के उद्यान में ठहरे । इसी उद्यान में एक पादरी एक कुमारी सहित स्वामीजी के मिलापार्थ आये । वार्त्तालाप में महाराजने कहा, "सम्पत्ति का बहुत ही बढ़ जाना अन्त में अवनति का साधन हो जाया करता है। आर्य्य जाति के अधःपतन का यही कारण है । अति धन के कारण अब अँगरेज़ों की प्रकृति भी बदल रही है । जिन दिनों हम जङ्गलों में रहा करते थे तो प्रातः काल जब भ्रमणार्थ निकलते तो अंगरेज़ भी घूमते हुए बहुधा मिलते थे। परन्तु आजकल ये लोग बहुत दिन चढ़े उठते हैं ।"

जिन दिनों स्वामीजी अमृतसर आदि में उपदेश दे रहे थे उन्हीं दिनों में एक साप्ताहिक सत्संग में श्री शारदाप्रसादजी ने एक व्याख्यान दिया और उसमें कहा, "वेद, कुरान और बाईबिल आदि सभी ग्रन्थ एक-से ईश्वरीय आदेश हैं।" आर्य्य पुरुषों ने इस कथन को अच्छा नहीं समझा और स्वामीजी के आने पर उनसे व्यवस्था माँगी। स्वामीजी ने शारदा महाशय को उपालम्भ-पूर्वक कहा, "आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध आप को बोलना न चाहिए था। ऐसा करने का अधिकार किसी भी सभासद को नहीं है।" महाराज ने सब सभासदों को अभिमुख करके कहा, "चाहे प्रधान भी क्यों न हो, यदि कोई आर्यसमाज में इस समाज के नियमों के प्रतिकूल कथन करे तो प्रत्येक सभासद को अधिकार है कि उसे रोके टोके और बैठा दे।" उस उपदेश का यह प्रभाव हुआ कि आर्यसमाज के सत्संग-स्थान की दीवारों के साथ यह लिख कर लगा दिया गया कि आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध बोलने का किसी को भी अधिकार नहीं है।

एक दिन का वर्णन है कि एक लाटपादरी महाशय स्वामीजी से मिलने आये। बातचीत में उन्होंने कहा, "स्वामीजी महाशय! हमें तो 'हिरण्यगर्भः' इत्यादि मंत्र से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल के ऋषि-मुनिजन ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे।" स्वामीजी ने राय मूलराज से उस मंत्र का अँगरेज़ी अनुवाद सुना और फिर बिशप महाशय को कहा, "इस मंत्र का अँगरेज़ी में अशुद्ध अनुवाद किया गया है। इसका याथातथ्य अर्थ यह है कि प्रकाश के धाम, जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता, स्वामी और सुखमय सनातन परमेश्वर की हम उपासना करते हैं।" फिर लाटपादरी महाशय बोले, "बाईबिल का महत्त्व देखिये। इसकी शिक्षा सूर्य के उदयास्त तक फैल रही है।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यह बाईबिल का महत्त्व नहीं है, परन्तु आप लोगों के परिश्रम का परिणाम है। आर्य लोग वेदानुसार ब्रह्मचर्य्य, विद्याप्राप्ति, एक स्त्री से विवाह, दूरदेश की यात्रा और स्वदेश-प्रेम आदि शुभ कर्मों का परित्याग कर बैठे हैं। इसीलिए इनकी यह अधोगति हो रही है। आप लोग इन वैदिक नियमों के अनुसार चलते हैं, इसीलिए इतनी उन्नति के दिन

देख रहे हैं। वास्तव में आर्य्य जाति के प्रताप से ही दूसरी जातियों में शिक्षा, सभ्यता और सदाचार विस्तृत हुआ है।"

आश्विन सुदी १४ सं० १९३४ आदित्यवार को आर्य्यसमाज का साप्ताहिक सत्संग था। उसमें महर्षि भी सम्मिलित हुए उसी दिन स्थानीय ब्राह्म-समाज का वार्षिकोत्सव था। साप्ताहिक सत्संग समाप्त हो जाने पर भगवान् दयानन्द अपने दो-ढाई सौ भक्तों सहित ब्राह्म-समाज के उत्सव पर पधारे। ब्राह्म-समाजियों और सर्वसाधारण पर उनकी इस उदारता का अत्युत्तम प्रभाव पड़ा।

छठा सर्ग

लाहौर में स्वामीजी के प्रचार और आर्यसमाज की स्थापना से पंजाब के सारे नगरों में धर्मान्दोलन होने लगा। धर्म्म के नूतन संस्कारकर्त्ता की उज्ज्वल कीर्ति सर्वत्र फैल रही थी। प्रत्येक नगर में ऐसे मनुष्यों की पर्याप्त संख्या उत्पन्न हो गई थी जो धर्म के नूतन संस्कार के पक्षपाती थे, जिनके हृदयों में जातीय सुधार के उत्ताल तरल तरङ्ग उठ रहे थे। ऐसे ही कुछ-एक महानुभाव महाशयों ने फ़ीरोज़पुर छावनी में 'हिन्दू सभा' नाम से एक सत्संग स्थापित कर रक्खा था। इस सभा के दो-एक सभ्य लाहौर में श्री स्वामीजी के उपदेश भी सुन गये थे। उन्होंने, अपने नगर में जाकर, अपने भाईयों के चित्त-पट पर महाराज के परमपवित्र चरित्र का चित्र ऐसा चित्रण किया कि वे लोग श्री-दर्शनों के लिए अति व्यग्र हो गए। उन्होंने श्री-सेवा में विनय-पत्रों का तार लगा दिया।

इस हिन्दू-सभा के प्रधान श्रीमान् मथुरादास थे। उनके हृदय में श्री महाराज के लिए इतना गहरा, इतना प्रबल और उच्च भक्ति-भाव उत्पन्न हुआ कि उन्होंने एक नूतन आवास इसीलिए बनवाया कि उसमें महाराज का निवास कराया जायगा।

फ़ीरोज़पुर छावनी के सभ्यों ने स्वामीजी को लिवा लाने के लिए अपने एक सभ्य को लाहौर भेज दिया। स्वामीजी को कार्त्तिक बदी २ सं० १९३४ को फ़ीरोज़-

पुर में पधारे। जो आवास महाराज के निवास के निमित्त निर्माण किया गया था वह बस्ती में था, इसलिए स्वामीजी लाला बनवारीलाल की कोठी में ठहरे। व्याख्यानों के लिए श्री मथुरादासजी के आवास के सामने एक स्वच्छ स्थान पर मण्डप बनाया गया और पुष्पादि से सुसज्जित किया गया। वहीं महाराज के उपदेश होने लगे।

स्वामीजी का पहला व्याख्यान 'सृष्टि की उत्पत्ति' पर था। व्याख्यान के बीच ही एक पण्डित कहने लगा कि हमको कुछ प्रश्न करने हैं इसलिए अवसर दिया जाय। महाराज ने कहा कि व्याख्यान के पश्चात् पूछ लीजियेगा। उसने कहा कि तब तक तो मैं पूछने योग्य बातें भूल जाऊंगा। तब महाराज ने कहा कि यदि भूल जाने का भय है तो लिखते जाइए। व्याख्यान की समाप्ति पर आपका समाधान कर दिया जायगा। परन्तु वह पण्डित ऐसा अधीर हो गया कि उसे यह भी सुध-बुध न रही कि मैं कह क्या रहा हूं? उसकी जीभ तुतला गई और काया काँपने लगी। मुँह से झाग फेंकता और अण्ड-बण्ड बकता सभा-स्थान से निकल गया।

पण्डित कृपाराम नामक एक सज्जन प्रश्न पूछने के लिए आया और महाराज को सिंहासन पर विराजमान देख कर कहने लगा, "आप तो ऊँचे आसन पर बैठे हैं, हम नीचे खड़े होकर आपके साथ शास्त्रार्थ क्यों करें? हमें भी अपने बराबर की कुर्सी दीजिये।"

महाराज ने उसके लिए कुर्सी लाने की आज्ञा देकर कहा, "कुर्सी के बिना भी आपके बोलने में तो कोई बाधा नहीं पड़ती, परन्तु यदि मेरा ऊँचा बैठना आपको खटकता है तो ईर्ष्या न कीजिए, मैं भी नीचे स्थान पर बैठ जाता हूं।" इन्हीं बातों में कुर्सी आ गई। तब कृपाराम महाशय ने पूछा, "खुदा महदूद है या ला महदूद?" महाराज ने कहा, "मैं अरबी नहीं जानता; आर्य-भाषा में भाषण कीजिए। क्या आपका तात्पर्य एकदेशी अथवा सर्वव्यापक से है?" उसने कहा, "हाँ, इसी से है!" तब उन्होंने कहा, "परमात्मा सर्वव्यापक है।"

कृपारामजी ने अपनी जेब से तत्काल घड़ी निकाल कर मेज पर रख दी और कहा कि, "यदि ईश्वर सर्वव्यापक है तो बताइये कि इस घड़ी में कहाँ बैठा है"।

महाराज ने उत्तर दिया कि "परमात्मा आकाश की भाँति परम सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। इसलिए चर्म-चक्षुओं से अगोचर है।" फिर अपना लोटा उठाकर कहा, "आकाश सर्वव्यापक है, इस लोटे के भीतर और बाहर भी रमा हुआ है। जैसे इस लोटे में आकाश तो है पर दीखता नहीं, इसी प्रकार आपकी घड़ी में ईश्वर है, परन्तु परम सूक्ष्म होने से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता।" यह सुनकर कृपाराम निरुत्तर हो गये।

एक दिन फीरोज़पुर छावनी के बड़े मन्दिर का पुजारी रघुनाथ, स्वामीजी के निकट गया। स्वामीजी ने उससे कहा कि प्रश्न पीछे कीजिएगा, पहले यह तो बताइए कि पुजारी शब्द का अर्थ क्या है? रघुनाथ इस पर अवाक् बना रहा। तब श्री स्वामीजी ने बताया कि पुजारी पद का अर्थ है पूजा का शत्रु! आप लोग पण्डित होकर ऐसे नाम क्यों रख लेते हैं?"

रघुनाथ ने महाराज से कहा, "वेद के आधार पर सारे शास्त्र रचे गये हैं, इसलिए उनको भी तो वेदों की तरह प्रमाण मानना चाहिये।"

महाराज ने उत्तर दिया कि "वेद के आश्रय से तो अन्य ग्रन्थ बने हैं, परन्तु थैली में रक्खे रुपयों को जैसे परीक्षक ही परख सकता है ऐसे ही दूसरे ग्रन्थों की सत्यता का निर्णय करना केवल विद्वानों का ही काम है।"

स्वामीजी से अनेक पण्डितों और मौलवियों ने प्रश्न पूछकर अपने सन्देह मिटाये, भ्रम दूर किये और आत्मिक प्रसाद उपलब्ध किया। महाराज के प्रताप से उस हिन्दू सभा ने ही आर्य समाज का चोला धारण कर लिया। विधिपूर्वक आर्य समाज की स्थापना हो गई।

भक्त स्वरूपसिंहजी एक भजन-पाठ करने वाले पुरुष थे, सत्संग-रस के रसिक थे। एक दिन वे श्री महाराज से बहुत देर तक योग-चर्चा करते रहे। भक्तजी ने भगवान् से योग-मार्ग के अनेक बहुमूल्य मोती उपलब्ध किये और अपने को कृतार्थ बनाया।

फीरोज़पुर-निवासियों को धर्म्म-जीवन दान करने के पश्चात् स्वामीजी कार्तिक वदी १५ सं० १९३४ की सायं को वहाँ से चलकर अगले दिन प्रातःकाल लाहौर में आ विराजे।

कार्तिक सुदी १ सम्वत् १९३४ को लाहौर आर्य समाज की अन्तरङ्ग सभा का अधिवेशन था। उसमें आर्य-समाज के उपनियम निर्मित, परिवर्तित और संशोधित होकर सभासदों के सामने स्वीकृति के लिए रक्खे गये थे; सभासद् उन पर मतामत प्रकाशित कर रहे थे। दैवयोग से उस समय उस सभा में स्वामीजी भी विराजमान थे। सभासदों ने उनसे विनय की कि आप भी अपनी सम्मति प्रदान कीजिए। महाराज ने कहा जब मैं आपकी अन्तरङ्ग सभा का सभासद् ही नहीं हूँ तो सम्मति कैसे दे सकता हूँ। महाराज की महामूल्य सम्मति से अलभ्य लाभ उपलब्ध करने के लिए, सभासदों ने सर्वसम्मति से, उनको उसी समय सभासद् बना लिया।

लाहौर से प्रस्थान कर श्री महाराज कार्त्तिक सुदी द्वितीया सम्वत् १९३४ को प्रातःकाल रावलपिण्डी में पहुँचे। वहाँ उनको श्रीयुत गिरीशचन्द्र महाशय ने स्वागतपूर्वक लाकर 'जामसनजी' पारसी की कोठी में उतारा। गिरीश महाशय ने विज्ञापन आदि बाँटकर व्याख्यानों का उचित प्रबंध कर दिया। वहाँ स्वामीजी बीस दिन पर्यन्त प्रति सायं उपदेश देते रहे। उनके व्याख्यान मूर्ति-पूजा खण्डन और अवतारवाद के विरुद्ध भी बड़े धड़ल्ले के हुए। इससे पोठोहार के पौराणिक जगत् में भयङ्कर भूकम्प आ गया। अयोधजन विविध प्रकार के विघ्न-बाधा और विरोध करने पर तुल गये। उस समय, उनसे और तो कुछ न बन आया, परन्तु सेठ जामसनजी को भड़काने लगे।

स्वामीजी ने जब देखा कि सर्वप्रियता के बनाये रखने के लिए, सेठ महाशय कोठी छुड़वाना चाहते हैं तो वे प्रबंध करके सरदार सुजानसिंह के उद्यान की बारहदरी में जा विराजे। उस उद्यान में भी वे प्रति सायं को सत्संग लगाते और सत्योपदेश देते थे।

स्वार्थ-सिन्धु और उदरार्थी लोगों ने सारे नगर में यह बात फैला रक्खी थी कि दयानन्द अभ्यन्तर से ईसाई है; लोगों को भ्रमाने के लिए भगवे पहने फिरता है। इसका उद्देश्य लोगों को धर्म्म से भ्रष्ट करना और सनातन हिन्दू धर्म्म को नष्ट करना है। कोई-कोई यह भी कहते थे कि यह नास्तिक है; इसके पास जाने से पातक चढ़ता है। इसका मुँह देखने से पाप लगता है! फिर भी, प्रेम-प्रधान पोठोहार प्रान्त के मुख्य नगर में, ऐसे सैकड़ों सत्संगी थे जो

अति भावना से, अपार प्रीति से, अतुल लग्न से, असीम श्रद्धा से श्री-उपदेशों को श्रवण करने जाते थे। उस नगर में महाराज की कीर्ति-कथा कहने वाले भक्त भी बीसियों थे। ऐसे ही सज्जनों के उत्साह से समाज की स्थापना भी हो गई।

एक दिन व्याख्यान के उपरान्त अनेक सज्जन श्री-सेवा में बैठे सत्संग कर रहे थे। प्रसङ्ग चलने पर स्वामीजी ने कहा, "आर्य लोगों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। ये लोग अपनी रक्षा करना तो जानते ही नहीं। अन्य बातें तो जाने दो, जब कभी कोई ईसाई अथवा मुसलमान इनके धर्म पर आक्रमण करता है और ब्रह्मा की कथा सुनाता है तो यह मुँह ताकते रह जाते हैं। इनसे उत्तर तक नहीं बन पड़ता। ब्रह्मा की कहानी तो किसी प्रामाणिक पुस्तक में नहीं है, परन्तु लूत की कथा बाईबिल में विद्यमान है। यदि ये लोग दूसरों के ग्रन्थ देखें तो ऐसी बातों से उनका मुख बंद कर सकते हैं।"

अगले दिन ईसाई आपस में सम्मति करके स्वामीजी के पास आये और उनमें से एक ने कहा कि आपने कल जो लूत महाशय के विषय में सुनाया था वह सब झूठ है। महाराज ने उसे बहुतेरा समझाया कि संन्यासी-जन असत्य भाषण नहीं करते परन्तु वह ईसाई अपना दुराग्रह किये ही जाता था। अन्त में महाराज ने बाईबिलमें से वह कहानी निकाल कर उसके आगे रख दी। इससे वह बहुत कटा और फीका पड़ गया।

वहाँ के पौराणिक पण्डित अपने घरों में, मन्दिरों में, धर्मशालाओं में और यजमानों के मकानों पर शास्त्रार्थ करने के लिए भुजायें तो बहुत सँवारते थे परन्तु उस महामल्ल के सम्मुख होने से, भीतर ही भीतर, सभी जी चुराते थे। उन्हीं दिनों में वहाँ एक विद्वान् संन्यासी, सम्पतगिरिजी आये हुए थे। पण्डितों ने अपनी विपत्ति उनके सिर पर डालनी चाही। उन्होंने उनके पास जाकर अत्याग्रह किया कि दयानन्द से शास्त्रार्थ करने के लिए आप हमारे साथ चलिए। उन देवताओं को टालने के लिए गिरिजी ने साथ चलना स्वीकार कर लिया, परन्तु जब पण्डित लोग उनके भरोसे दल बाँधकर स्वामीजी पर चढ़ चले तो गिरिजी ने, ठीक समय पर, किनारा कर लिया। जब गिरिजी, मक्खन में से बाल की भाँति, उनमें से बाहर निकल गये तो 'गले पड़ा ढोल' उन्हें आप ही बजाना पड़ा।

उस दिन सारे नगर में धूम मच गई थी कि आज भूदेव-दल स्वामीजी से शास्त्र-समर करने जा रहा है। इसलिए दर्शकों की टोलियां भी सुजानसिंहजी के उद्यान में पहुंचने लगीं।

ऐसे समय में, एक प्रेमी ने स्वामीजी से कहा, "आज पण्डित लोग बड़ी धूम-धाम से शास्त्रार्थ करने आ रहे हैं।" जिस केसरी ने ऐरावत हस्ती का मद-मर्दन किया हो वह क्षुद्र पशुओं की कोरी भबकियों से कब डरता है ? जिस महात्मा ने काशी, बङ्ग और दक्षिण के महाविद्वानों का मुख बन्द कर दिया हो वह भला रावलपिण्डी के पण्डितों की कब चिन्ता करने लगा था ! महाराज ने उसे उत्तर दिया "उन्हें आने तो दो, फिर देखना होता क्या है।"

पण्डित-दल आकर महाराज के पास बैठ गया। थोड़ी देर तक तो इधर-उधर की बातें होती रहीं। अन्त में पण्डित व्रजलालजी ने एक श्लोक उच्चारण किया। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि यह श्लोक किस ग्रन्थ का और किस समय का है ? इस पर व्रजलाल निरुत्तर हो गये।

हरिपुर के पण्डित हरिश्चन्द्रजी ने एक महा अशुद्ध श्लोक बोला। इस पर स्वामीजी ने उनको डाँटकर कहा कि यदि कोई सार-मर्म की बात करना जानते हो तब तो वार्तालाप करो; नहीं तो योंही वितण्डावाद में मेरा समय क्यों बिगाड़ते हो ? यह कोई अबोध बालकों की पाठशाला नहीं है कि जो भी मुंह में आये कहते चले जाओ, शुद्धाशुद्ध पर कुछ भी ध्यान न दो। व्रजलालजी ने भी हरिश्चन्द्र की अशुद्धि को स्वीकार किया। इसपर वे सब शान्त होकर चले गये।

रावलपिण्डी में स्वामीजी के पास महाराज जम्मू तथा कश्मीर का निमंत्रण आया कि इस राज्य में पधारकर शोभा प्रदान कीजिए। स्वामीजी ने उत्तर में कहा, महाराजा जम्मू ने बहुत से मन्दिर बनवाये हैं। वे हैं भी पक्के प्रतिमा-पूजक। मैं यदि वहाँ जाऊँ तो खण्डन अवश्य करूंगा। इससे वे चिढ़ तो जायेंगे परन्तु मुझसे लाभ नहीं उठा सकेंगे, इसलिए अभी मैं वहाँ नहीं जाना चाहता।" उस समय स्वामीजी ने एक कहानी सुनाई कि "मारवाड़ के एक राजा के यहां हम गये। वह पन्द्रह सेर तक मालारूप में रुद्राक्ष का बोझा उठाये फिरता था। सवेरे स्नान आदि से निवृत्त होकर पांच सेर मिट्टी की छोटी छोटी गोलियां बनाता और एक ब्राह्मण उन पर जल चढ़ाता जाता था। हमने

उसको कहा कि आप जब तक हमारा उपदेश न सुनेंगे हम आपका आतिथ्य स्वीकार नहीं करेंगे। तीस दिन तक हमने वहां निवास किया और प्रतिदिन उसे उपदेश देते रहे। अन्त में उसके विचार-नेत्र निर्दोष हो गये और उसने वह अखिल दण्ड-पाखण्ड परित्याग कर दिया।"

एक दिन भ्रमण करते समय स्वामीजी को सम्पत्‌गिरिजी मिल गये। शिष्टाचार के अनन्तर महाराज ने उनसे कहा कि कुछ उपदेश भी दिया करो। जब गिरिजी अपने डेरे पर गये तो लोगों ने उनसे पूछा कि आज दयानन्दजी से क्या बातचीत हुई है? उन्होंने उत्तर दिया कि वह ब्राह्मणवंशीय एक विद्वान् संन्यासी है। हम दोनों कभी इकट्ठे पढ़ा करते थे। लोगों ने कहा, आप भी उनकी भांति व्याख्यान क्यों नहीं देते? उन्होंने उत्तर दिया कि वह तो निधड़क हो गया है, परन्तु हमसे तो ऐसा हुआ नहीं जाता।

*एक दिन सरदार विक्रमसिंहजी ने निवेदन किया कि सुनते है कि ब्रह्मचर्य्य से मनुष्य महाबली बन जाता है, क्या यह सत्य है? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्य्य धारण करने का जो महत्त्व शास्त्रों ने वर्णन किया है वह सर्वथा सत्य है।

तब सरदार महाशय बोले कि महाराज! आप भी तो ब्रह्मचारी हैं। हमें आपमें कोई विशेष बल तो प्रतीत नहीं होता। महाराज ने इस बात का कोई उत्तर न दिया। सरदार महाशय बड़ी देर तक सत्संग में बैठे रहे। चलते समय जब नमस्कार करके गाड़ी में आरूढ़ हुए तो महाराज ने उनकी गाड़ी को पीछे से पकड़ लिया। विक्रमसिंहजी ने घोड़ों को बहुतेरे कोड़े लगाये परन्तु वे गाड़ी को न खींच सके। सरदार महाशय ने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो महाराज ने गाड़ी को छोड़ दिया और कहा कि ब्रह्मचर्य्य के बल का प्रमाण आपको मिल गया है। सरदार महाशय उनके इस सामर्थ्य पर अति विस्मित हुए।

रावलपिण्डी में धर्म्म प्रचार कर के श्री स्वामीजी गुजरात को जाते हुए, मार्ग में झेलम ठहर गये और सेठ जामाजी के बङ्गले में उतरे। झेलम में महाराज ने पहला व्याख्यान एक सराय में दिया। और दूसरा अपने उतारे पर। वहां स्थान पर्याप्त न था इसलिए पादरी महाशयों की प्रार्थना पर स्वामीजी ने शेष सारे व्याख्यान स्कूल में दिये।

* नोट—ऐसा कहा जाता है कि यह घटना जालंधर की है।

दो चार दिन तक तो पादरी लोगों ने धर्म्म-चर्चा की, परन्तु बार बार की पराजय से बचने के लिए उन्होंने वह क्रम तोड़ दिया। झेलम की ईसाई पाठ-शाला के मुख्याध्यापक महाशय शिवचरण घोष थे। वह बङ्गाली ईसाई थे। उन्होंने भी स्वामीजी से धर्म्म-चर्चा की। परन्तु महाराज ने बाईबिल के वाक्य खोलकर उनकी ऐसी युक्ति-संगत समालोचना की कि घोष महाशय देखते ही रह गये। उनसे कोई उत्तर न बन पड़ा।

स्वामीजी के प्रभावशाली उपदेशों से झेलम में आर्य-समाज स्थापित हो गया और सभासद् बड़े उत्साह से धर्म्म-कार्य्य में लग गये। आर्य-समाज के पहले संगीत शास्त्री और प्रसिद्ध भजन-निर्माता, महता अमीचन्दजी ने भी महाराज के दर्शन पहले झेलम में ही किये। उसी समय उनके हृदय में श्री चरणों की भक्ति का अङ्कुर उग आया। अन्त को धीरे-धीरे महताजी पक्के स्वामी-भक्त बन गये।

उन दिनों स्वामीजी के साथ वेद-भाष्य लिखने के लिए तीन पण्डित थे। अङ्गरेज़ी के पत्रव्यवहार के लिए एक अङ्गरेज़ी जानने वाला था। अन्यान्य कार्यों के लिए चार पांच सेवक थे। स्वामीजी निवास स्थान पर तो साधारण वेश में ही रहते थे, परन्तु जब व्याख्यान देने जाते थे तो सिर पर एक रेशमी पीताम्बर नीचे एक पीली रेशमी धोती और ऊपर एक ऊनी चोगा पहन लेते थे। वे इस वेष में पूर्ण तेजोधाम दिखाई देते थे; गौरव की मोहिनी मूर्ति जान पड़ते थे। उनकी उज्ज्वल, गम्भीर, प्रभावशालिनी और दैवी आकृति को देखकर लोगों के अन्तःकरण में आप ही आप श्रद्धा, भक्ति और प्रेम उमड़ आता था। महाराज रात का अधिक भाग ध्यान में बिताया करते थे। भोजन उनका परिमित था। वे हुक्का पिया करते थे।

एक वृद्ध संन्यासी बरसों से तटनी-तट पर निवास करते थे। वे संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। लोगों में प्रसिद्ध था कि वे एक योगी महात्मा हैं। स्वामीजी और यह वयोवृद्ध महात्मा मिलकर, चिरकाल तक वार्तालाप किया करते। इनका परस्पर प्रेम भी हो गया था।

गुजरात में डाक्टर बिशनदासजी एक प्रसिद्ध वेदान्ती थे। वे सामाजिक सुधार भी चाहते थे। स्वामीजी की व्यापिनी कीर्त्ति से वे भी प्रभावित थे।

उन्होंने महाराज को पत्र लिखकर प्रार्थना की कि कृपया लाहौर लौटते समय गुजरात-वासियों को भी कृतार्थ करते जाइएगा। डाक्टर महाशय की विनती पर स्वामीजी लगभग पौष सुदी ६ सं० १९३४ को झेलम से गुजरात आये। एक दिन तो दमदमा में ठहरे, परन्तु आगामी दिन नगर से बाहर फतेह-सर मे जा विराजे। स्वामीजी के प्रेमियों ने, वहां के विद्यालय के मुख्याध्यापक, चुर्के-नयन महाशय की आज्ञा लेकर शाखा पाठशाला में महाराज की व्याख्यान-माला आरम्भ कराई। उनके उपदेश बड़े ही प्रभावजनक होते थे।

गुजरात में नन्दलालजी और होशनाकरायजी, दो प्रधान पण्डित थे। होशनाकराय जम्मू में पढ़ाने का काम करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा, "मूर्ति-पूजा का विधान मनुस्मृति में विद्यमान है।" स्वामीजी ने मनु-स्मृति की पुस्तक उठाकर कहा, "लीजिए यह मनुस्मृति है; इसमें मूर्ति-पूजा का विधान जिस स्थल में है वह दिखाइए।" पण्डित महाशय ने झेंपकर कहा, "यह आपकी मनुस्मृति है, इसमें न होगा, परन्तु हमारी मनुस्मृति में अवश्य है। कल आपको दिखा दूँगा।"

अगले दिन होशनाकरायजी भी उपदेश में तो आये, परन्तु सर्वसाधारण में छिपकर बैठ गये। व्याख्यान की समाप्ति पर श्री महाराज ने कहा, "कल वाले पण्डित यदि आये हैं तो मनुस्मृति में प्रतिमा-पूजन का विधान दिखाकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें।" होशनाकरायजी आप तो न उठे परन्तु दर्शकों ने आग्रह-पूर्वक उनको खड़ा कर ही दिया। उस समय उनकी बगल में एक पुस्तक भी थी। पण्डित महाशय ने एक श्लोक बोलकर कहा, "यह मनुस्मृति का श्लोक है। इसमें मूर्ति-पूजा का उपदेश विद्यमान है।"

स्वामीजी ने कहा, "मिथ्या क्यों बोलते हो? यह श्लोक मनुस्मृति का नहीं, किन्तु विष्णुपुराण का है। आपने बगल में भी विष्णुपुराण ही दबा रखा है।" इस पर पण्डितजी मारे लज्जा के पानी-पानी हो गये।

फिर एक दिन पण्डित होशनाकरायजी ने स्वामीजी से तर्क-शास्त्र पर वाद करने की इच्छा प्रकट की। महाराज तो सदा तैयार ही रहते थे। उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस वाद का मध्यस्थ पण्डित नन्दलालजी को नियत किया गया। शास्त्रार्थ व्याप्ति-वाद पर होने लगा। पण्डित महाशय नव्य न्याय की

रीति से व्याप्ति के लक्षण करते थे और स्वामीजी उनके लक्षणों में दोष दिखा कर महाभाष्य में वर्णित लक्षण बताते थे। जब मध्यस्थ महाशय की सम्मति का समय आया तो उसने महाराज के पक्ष की पुष्टि में अपना मत प्रकाशित किया। इसके उपरान्त होशनाकरायजी शान्त हो गये।

पण्डित नन्दलालजी ने भी स्वामीजी से प्रश्न पूछकर अपने सन्देह दूर किये। अन्त में ऊपर कहे दोनों पण्डित स्वामीजी के अनुयायी बन गये।

विरोधी जन भी चुपके नहीं बैठे थे। वे व्याख्यानों में ईंट-पत्थर फेंकते रहते थे। एक दिन बहुत अधिक ईंट-पत्थर बरसे। सारी सभा हिल गयी, परन्तु स्वामीजी स्थिरता से उसी स्थान पर बैठे रहे।

विरोधियों ने बुकेनयन महाशय को कहना आरम्भ किया कि आप इनके व्याख्यान पाठशाला में न होने दें। एक दिन बुकेनयन महाशय ने स्वामीजी के पास आकर कहा, "आप मृत देह का दाह-कर्म्म करना चाहते हैं, परन्तु वेद में तो भूमि में गाड़ना लिखा है।" प्रमाण में उसने मोक्षमूलर का अनुवाद सुनाया कि हे भूमि! तू अपनी भुजा पसार, जिसमें मृतक की देह रक्खी जाय।

स्वामीजी ने मोक्षमूलर के अनुवाद का भली-भाँति खण्डन किया। फिर उसी मन्त्र से जलाना सिद्ध कर दिया। उन्होंने कहा, "यहाँ यह वर्णन है कि भूमि को खोद कर वेदी बनाई जाय और फिर उस में मृत देह को जलाया जाय।"

लोगों ने महाराज के कथन पर अति प्रसन्नता का प्रकाश किया, जिससे बुकेनयन महाशय कुछ लज्जित होकर चले गये। अगले दिन उन्होंने स्वामीजी को लिख भेजा कि पाठशाला में व्याख्यान देना बन्द कर दीजिए। इस पर महाराज के प्रेमियों ने पाठशाला के सामने का स्थान ले लिया और वहीं महाराज के उपदेश होते रहे।

नवीन वेदान्त का खण्डन सुन कर महाशय विशनदासजी भी बहुत रुष्ट हुए। पहले वे प्रतिदिन स्वामीजी को व्याख्यान-स्थान पर लिवा ले जाया करते थे; अब उन्होंने यह भी छोड़ दिया। परन्तु महाराज की हृदय-भूमि पर ऐसी बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ता था।

एक दिन एक सिक्ख साधु लोई ओढ़े स्वामीजी के पास आया। उस समय महाराज बैठे धूम्रपान कर रहे थे। उस साधु ने प्रारब्धवाद पर शास्त्र-चर्चा चलाई।

महाराज ने युक्तियों और प्रमाणों द्वारा उसको बताया कि "प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही ठीक हैं। प्रारब्ध पूर्व के भोग का नाम है। इस जन्म में जो शास्त्रीय कर्म किये जाते हैं वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ अवश्य ही करना चाहिये।"

वह साधु महाराज की बात नहीं मानता था और यही कहे चला जाता था, "पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं; जो होना होता है वह स्वयमेव होकर ही रहता है।"

स्वामीजी ने सेवक को आदेश किया, "इस महात्मा की लोई उतार कर सड़क पर फेंक दो। देखें, पुरुषार्थ के बिना यह इसके पास कैसे आ जाती है!" जब वह सेवक उससे लोई लेने लगा तो वह साधु लोई से इतना लिपट गया कि सेवक उसे बल लगाकर भी न उतार सका। फिर उस साधु ने स्वामीजी से कहा, "पुरुषार्थवाद को तो आपने सिद्ध कर दिया, परन्तु हुक्का आप क्यों पीते हैं? इसको पीना पराई जूठन पीना है।"

महाराज ने कहा, "मैं धूम्रपान कफ की निवृत्ति के लिये करता हूं। धर्म्म-शास्त्र में कहीं इसका निषेध भी नहीं है। मैं अपना हुक्का न किसी को देता हूँ और न ही किसी दूसरे का लेकर पीता हूँ। इस लिए इसे जूठन का पीना नहीं कहा जा सकता।"

एक दिन बहुत से मनुष्यों ने मिल कर विचार किया कि स्वामीजी सब का मुख बन्द कर देते हैं; उन पर कोई ऐसा प्रश्न करो, जिससे एक बार तो उनको भी नीचा देखना पड़े। वहाँ सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि कल यह पूछा जाय कि आप ज्ञानी हैं अथवा अज्ञानी? यदि वे कहें कि मैं ज्ञानी हूँ, तो उनको कहा जाय कि महापुरुष अहङ्कार नहीं किया करते; और यदि वे अपने को अज्ञानी कहें, तो उन से कहा जाय कि जब आप स्वयं अज्ञानी हैं तो हमें क्या समझायेंगे?

आगामी दिन जब यह प्रश्न स्वामीजी से किया गया तो उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि "मैं कई विषयों में पूर्ण ज्ञानी हूँ और कइयों में अज्ञानी। वेद-शास्त्रादि विषयों में पूर्ण ज्ञानी हूँ और फारसी, अरबी और अँगरेजी आदि विषय में नहीं जानता, इस लिए उन में अज्ञानी हूँ।" यह उत्तर पाकर प्रश्नकर्त्ता लोग हक्के-बक्के रह गये और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उस दिन गुजरात-वासियों को

निश्चय हो गया कि स्वामीजी को जीतना सर्वथा असम्भव है, उनकी तात्कालिक स्फुरणशक्ति आश्चर्यकारिणी है।

एक दिन दो उच्च राजकर्मचारी स्वामीजी से मिलने आये। वार्त्तालाप के प्रसंग में वे कटाक्षपूर्वक बोले, "स्वामीजी! जबकि मैं क्या पड़ा है? इससे लोग बहुत भड़क उठते हैं। हम तो जिस कर्म में अपने को लाभ हो उसी को अच्छा समझते हैं। परहित-चिन्तन और परोपकार एक व्यर्थ ढकोसला है।"

स्वामीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया, "यदि अपना भला करना ही उद्देश्य हो तो मनुष्यता क्या हुई? अपने भले का भाव तो गधों में भी पाया जाता है। पशुमात्र अपने लिए जीता है। परोपकार और परहितसाधन का नाम ही तो मनुष्यत्व है।" ये सज्जन इस उत्तर से शान्त होकर वहां से चले गये।

स्वामीजी महाराज परोपकारी और देश-हितैषी जनों से अतीव प्रसन्न हुआ करते; उनको प्रोत्साहन देने में सदा समुद्यत रहते। भारतवासियों की हित-कामना का भाव उनके अन्तःकरण में कितना प्रबल था, इसका प्रकाश निम्न-लिखित पत्र से होता है। पौष सुदी १४ सं० १६३४ को महाराज ने गुजरात से दानापुर आर्यसमाज के मंत्री महाशय को लिखा "जब मैं बङ्गदेश को आऊंगा तो आप सबके मिलाप से अवश्य प्रसन्नता लाभ करूँगा। आप सज्जनों की कामना और प्रयत्न से देशवासियों की उन्नति अवलोकन कर मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। यह देखकर कि आप अपने देश को उन्नत करने का यत्न करते हैं, मुझे इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। कुछ सन्देह नहीं कि आप इसके फलों का अपने जीवन में आस्वादन कर लेंगे।

ईश्वर आपको स्वस्थ और हरा-भरा रक्खे। आप सबको मेरा आशीर्वाद।"

गुजरात। दयानन्द सरस्वती।

गुजरात नगर में धर्म्म का उपदेश देने के अनन्तर स्वामीजी २ फर्वरी को वज़ीराबाद में सुशोभित हुए। इस नगर में उनके आगमन के पूर्व ही आर्य-समाज स्थापित था। सामाजिक सज्जनों ने उनको राजा फकीरुल्ला के उद्यान में ठहराया। महाराज ने वज़ीराबाद में एक सप्ताहपर्यन्त व्याख्यान दिये। उनके भाषणों में सैकड़ों लोग बड़े उत्साह से आते थे। विरोधियों के विघ्न डालने पर भी श्रोताओं की संख्या नहीं घटती थी।

स्वामीजी का आगमन सुनकर वज़ीराबाद के प्रसिद्ध पण्डित तो अपना बोरिया-बदना बाँधकर नगरान्तर में चले गये। परन्तु इस नगर में एक वासुदेव नामक पण्डित आया हुआ था। वह अच्छा हृष्ट-पुष्ट था और शाक्त पुजारियों की तरह लम्बायमान केश रखता था। नगर के उपद्रवी लोग सौ रुपये का प्रलोभन देकर वासुदेव को स्वामीजी के सन्मुख ले आये। उस दिन वहाँ लोगों की भारी भीड़ लग गई। ऐसा प्रतीत होता था, मानो सारा नगर वहाँ आगया है।

शास्त्रार्थ के आरम्भ में पण्डित ने वेद-मंत्र के नाम से एक श्लोक पढ़कर कहा कि इसमें शालिग्राम और तुलसी का पूजन कहा है। स्वामीजी ने वासुदेव को कहा कि यह वेद-मंत्र नहीं है। आप झूठ-मूठ से वेद का नाम लेकर अनर्थ कर रहे हैं। जब वासुदेव कोई उत्तर न दे सका तो क्षुद्र प्रकृति के लोग गोलमाल करने पर उतर आये। दो-एक राजसत्ताधारी मनुष्य भी विद्यमान थे, परन्तु ऐसे समय में वे चुपके से चल दिये। ज्यों-ज्यों महाराज वासुदेव को वेद में से वह मंत्र दिखलाने के लिए बल देते थे त्यों-त्यों गड़बड़ बढ़ती जाती थी। उसी समय एक छोकरे ने सीटी बजाना आरम्भ कर दिया। आर्यसमाज के प्रधान ने उस युवक को डाँटकर ऐसा करने से रोका। फिर क्या था, वासुदेव-सहित पण्डित और कलहप्रिय लोग स्वामीजी तथा आर्यसमाज के प्रधान श्री लद्धारामजी पर टूट पड़े। ज्यों-त्यों करके स्वामीजी अपने पुस्तक-पत्रों-सहित अपने डेरे में आ गये। परन्तु उपद्रवियों ने फिर भी पीछा न छोड़ा। उन्होंने ईंट-पत्थर बरसाते सावन भादों की झड़ी लगा दी। महाराज द्वार बंद करके भीतर बैठ गये और उन लोगों की धर्मान्धता पर हंसने लगे।

महाराज का एक कर्मचारी पीछे रह गया। उपद्रवियों ने उसे पकड़ कर बहुत ही पीटा। जब स्वामीजी को उसके पिटने का समाचार मिला तो वे आप उसे छुड़ाने के लिए बाहर आये और सिंह की भाँति गर्जे। उनकी गम्भीर गर्जनामात्र से कलहकारी लोग भाग गये। इसके पश्चात् तीन-चार दिवस तक उपदेश देकर उन्होंने गुजरांवाला को प्रस्थान किया।

माघ सुदी पंचमी सम्वत् १९३४ को महाराज गुजरांवाला में पधारे। सरदार सन्तसिंहजी तथा सरदार धर्म्मसिंहजी आदि सज्जन उनके स्वागत के

लिए रेलवे स्टेशन पर गये और उनको अति सम्मान से लाकर सरदार महासिंह के विशाल भवन में उतारा।

प्रतिदिन साँझ को महाराज व्याख्यान देते थे। पंजाब में वे सर्वत्र बहुधा आर्योद्देश्यरत्नमाला के विषयों पर ही व्याख्यान देते थे। क्रमशः एक-एक विषय लेकर उसकी विस्तृत व्याख्या किया करते थे। बीच ही में वेद-मंत्र, दर्शनों के सूत्र और धर्म्म-ग्रन्थों के श्लोक सुनाते थे। पाखण्ड खण्डन भी साथ ही साथ होता रहता था। समय-समय पर युक्तियों-प्रयुक्तियों का भी तार लगा देते और प्रकरणानुकूल मनोरञ्जक कहानियाँ तथा प्रहसन-रस बना देने वाले चुटकुले भी कहते थे।

गुजराँवाले में उन्होंने आर्योद्देश्यरत्नमाला के सारे विषय अठारह दिन में समाप्त कर दिये। उपदेश के पश्चात् लोग उनके कथन पर तर्कनायें और शंकायें किया करते। उनका उत्तर वे अति कोमल शब्दों में तुरन्त दे देते। किसी भी उत्तर के लिए उन्हें सोचना नहीं पड़ता था।

सातवाँ सर्ग

स्वामीजी के आगमन के पहले पंजाब में पादरियों का बड़ा प्रभाव था। बहुत से नवशिक्षित ईसाई-धर्म्म की ओर झुक रहे थे। भोले-भाले ग्रामीण भी, उनकी चिकनी चुपड़ी बातों की भूल-भुलैयाँ में फँस जाते थे। परन्तु स्वामीजी के पधारने पर उनका सारा मोहनमंत्र दूर हो गया। आर्य लोग समझने लगे कि हमारा धर्म्म सर्वाङ्गसम्पूर्ण है। धर्म्म-शिक्षा के लिए हमें भिखमंगा बनकर किसी दूसरे के द्वार पर भटकने की आवश्यकता नहीं। इस लिए पादरियों की ओर से स्वामीजी का विरोध होना इसका एक स्वाभाविक परिणाम था। गुजराँवाला के पादरियों ने स्वामीजी से उनके सिद्धान्त पूछे। उन्होंने उत्तर में आर्योद्देश्यरत्नमाला की पुस्तक उनके पास भेज दी। तत्पश्चात् पादरी महाशयों ने नगर के पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए उत्तेजित किया। परन्तु कई पण्डित तो उन दिनों में नगर ही छोड़ गये थे। एक-आध ने स्वामीजी के सन्मुख जाना पातक का कारण बताकर छुटकारा करा लिया।

पण्डित विद्याधरजी गुजराँवाले में चोटी के विद्वान् थे। उन्होंने एक पाठशाला भी चला रक्खी थी। ईसाई महाशयों ने उनको जाकर कहा, "दयानन्दजी आपके और हमारे दोनों मतों के विरोधी हैं। इसलिए हमारे साथ मिलकर उनसे शास्त्रार्थ कीजिए।"

श्री विद्याधरजी ने उनको उत्तर दिया, "मैं ऐसा नहीं कर सकता। स्वामीजी का और हमारा घरेलू मत-भेद है। इस पर हम आपस में, अपनों की तरह, जब चाहें बातचीत कर सकते हैं। आपके साथ मिलकर उनसे शास्त्रार्थ करना तो स्वजन-द्रोहरूप महापाप का भागी बनना है।" पण्डित विद्याधरजी एक दिन महाराज के निकट आकर बड़ी देर तक वार्त्तालाप भी करते रहे।

जब पादरियों को पण्डितों से निराशा हो गई तो वे आप धर्म-चर्चा करने के लिए उद्यत हो गये। दोनों पक्षों की सम्मति से वाद का समय दिन के चार बजे और स्थान ईसाईयों की पाठशाला का मकान, निश्चित हुआ। फाल्गुन वदी द्वितीया सम्वत् १६३४ को दिन के चार बजे स्वामीजी ईसाई पाठशाला के मकान में पहुँच गये। उस दिन नगर के प्रतिष्ठित जन और प्रायः सारे राज-कर्मचारी वहाँ उपस्थित थे। मकान लोगों से खचाखच भरा हुआ था।

लिखितवाद होने का निश्चय हुआ था, इस लिए पहले दिन ईसाईयों ने जीवन के अनादित्व पर लेखबद्ध शंकायें कीं। स्वामीजी ने भी उनको युक्तियुक्त उत्तर दिया। इस प्रकार दो दिन तक इसी विषय पर वाद होता रहा। वाद प्रतिदिन रात के आठ बजे समाप्त किया जाता था।

यह स्थान बहुत ही संकुचित था। जन-संख्या की अधिकता के कारण लोगों का साँस रुका जाता था। इस कारण दूसरे दिन, वाद-समाप्ति के समय, श्री स्वामीजी ने पादरियों को कहा कि कल किसी विस्तृत स्थान में वाद होना चाहिए। यहाँ लोगों को अति कष्ट होता है। यह स्थान आपका है, इस लिए प्रबंधकर्त्ता कुछ पक्षपात भी करते हैं।

उस समय तो पादरी महाशयों ने कोई स्पष्ट उत्तर न दिया, परन्तु अगले दिन, बिना स्वामीजी को बताये, कुछ ईसाईयों को घरों से बुलाकर दिन के बारह बजे अपनी पाठशाला में एकत्र हो गये। उसी समय उन्होंने स्वामीजी को समाचार भेजा कि वाद का समय हो गया है, शीघ्र आ जाइए। स्वामीजी को

पादरियों से ऐसी बात की आशा न थी, इसलिए इस समाचार से वे आश्चर्य-चकित हो गये। उनका यह समय वेद-भाष्य करने का था। उस समय वे अन्य किसी विषय की ओर ध्यान नहीं दिया करते थे।

महाराज ने समाचारदाता को कहा कि पादरियों को जाकर कहिएगा कि "जब दोनों पक्षों की सम्मति से चार बजे का समय नियत हो चुका है और जनता को भी उसी समय का पता है, तो आपने नियमविरुद्ध काम क्यों किया है ? यदि आपको बारह बजे ही वाद करना था तो एक दिन पहले सम्मति लेते और जनता को विदित करते। आप ही आप समय-परिवर्तन का आपको अधिकार नहीं है। जब आपने धींगा-धींगी से नियम न्याय का उल्लंघन किया है तो मेरे लिए आवश्यक नहीं कि वेद-भाष्य जैसे सर्वोत्तम कार्य्य को छोड़ कर वहाँ आऊं। कल मैंने किसी विशाल स्थान में वाद करने के लिए निवेदन किया था। यदि आप किसी ऐसे स्थान का प्रबंध नहीं कर सकें तो भी चार बजे के लिए सुसज्जित रहिये। मैं निश्चित समय पर पहुंच जाऊँगा।"

पादरी महाशय तो अपना पिण्ड छुड़ाना ही चाहते थे। इसलिये स्वामीजी का उत्तर पहुँचने पर उन्होंने घोषणा की कि स्वामी दयानन्दजी नहीं आये, इसलिए सभा विसर्जन की जाती है। उस समय उनके मकान में पाठशाला के बालकों और थोड़े से ईसाइयों के बिना और कोई नहीं आया था।

उसी सायं को ठीक चार बजे, स्वामीजी के प्रेमियों ने सरदार हरिसिंहजी की समाधि के पास वाद का प्रबंध कर दिया। पादरी महाशयों को वहाँ आकर वाद करने के लिए बार-बार आहूत किया गया, परन्तु वे अपने मकान से बाहर नहीं निकले। जब उनके आने की कोई आशा न रही तो श्री स्वामीजी ने ईसाई धर्म्म पर ही व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने बाईबिल की आयतों पर आयतें पढ़कर उन पर ऐसी यौक्तिक टिप्पणियाँ चढ़ाईं कि सुनने वाले आश्चर्यनिमग्न हो गये। उनके सामने ईसाई धर्म्म का पूरा चित्र खिंच गया। सभी सज्जन स्वामीजी के विस्तृत ज्ञान की प्रभूत प्रशंसा करने लगे।

जिस दिन ईसाईयों की पाठशाला में धर्म्म-चर्चा होने लगी थी, उस दिन वजीराबाद के लोग भी सुनने आये। उनमें अधिकांश वे ही लोग थे जिन्होंने स्वामीजी पर ईंटें बरसाईं थीं। जब वे पाठशाला के भीतर जाने लगे तो ईसा-

ईयों ने उन्हें भीतर आने का टिकट नहीं दिया। वे निराश होकर पाठशाला के आँगन में मँडलाने लगे। उसी समय वहाँ स्वामीजी आ पहुँचे। उन वजीराबाद-निवासियों को पहचान कर महाराज ने पूछा, "आप यहाँ घूमते हैं? भीतर क्यों नहीं जाते?" वे बोले, "महाराज! ईसाई लोग हमें टिकट नहीं देते।"

महाराज ने अति प्रेम से उनको कहा, "आप बिना संकोच मेरे साथ चले आइए। आपको भीतर प्रवेश करा दूँगा।" वे लोग महाराज के दयालु स्वभाव से प्रभावित तो उसी समय हो गये, परन्तु जब भीतर जाकर उन्होंने आर्य्य-धर्म्म के रक्षक की युक्तियाँ सुनीं तो अपने पिछले कर्म पर पश्चात्ताप भी किया।

भलाई मनुष्य को कितना कोमल बना देती है, प्रेम और सहानुभूति आदि गुण मनुष्य को कैसे खींच लेते हैं, इसका ज्वलन्त प्रमाण श्री स्वामीजी के जीवन में मिलता है।

एक दिन का वर्णन है कि श्री स्वामीजी अपने आसन पर विराजमान थे। उस समय एक मनुष्य सजलनेत्र उनके निकट आया और पाँव पकड़ कर कहने लगा—"भगवन्! वजीराबाद के अधिवासियों ने जो श्री-चरणों की अवज्ञा की है उसका मूलकारण मैं ही हूँ। उस समय मैं अभिमान-मद में मत्त और मदान्ध हो रहा था। मुझे यह ज्ञान न था कि आप ही सनातन धर्म्म के सच्चे रक्षक हैं। आपके वास्तविक गुणगान का ज्ञान मुझे तब हुआ, जब मैंने आप को ईसाइयों के साथ धर्म्म-चर्चा करते देखा, उनका मुख बंद करने वाली आपकी युक्तियाँ सुनीं। इस समय अपने पातक के पश्चात्ताप और अनुताप से मेरा आत्मा संतप्त हो रहा है। अपनी दयालुता से क्षमा प्रदान कर मुझे शान्त कीजिए।"

स्वामीजी ने पहचान लिया कि यह पण्डित वासुदेव है। उन्होंने उसको आश्वासन देते हुए कहा, "उस समय आपने जो कुछ किया वह अपने पक्ष के पोषणार्थ ही किया। मैंने जब उसे उस समय भी बुरा नहीं मनाया तो इस समय कौनसी बात है जिसको मैं क्षमा कर दूँ? वासुदेव! किसी कर्णकटु वचन और घोर कठोर कर्म से संन्यासियों के अन्तःकरण कलुषित नहीं हुआ

करते । निश्चय रखिये, किसी अवहेलना और अवज्ञा से हमारी भद्र-चिन्तन-भावना में भेद नहीं आता । स्वस्थ और शान्त हूजिये । परमात्मा आपकी यह शुभ मति बनाये रक्खे ।"

एक दिन स्वामीजी प्रातःकाल भ्रमण कर रहे थे । मार्ग में पादरी मैकी महाशय से भेंट हो गई । नमस्कारादि के अनन्तर मैकी महाशय ने कहा, "स्वामीजी आप ईसाई धर्म्म का बड़ा कड़ा खण्डन करते हैं ।" उन्होंने उत्तर दिया,"मैं जो कुछ सुनाता हूँ वह आपके ग्रन्थों का पाठ होता है । यदि आप की धर्म्म-पुस्तकों को सुनाना खण्डन है तो ऐसा खण्डन आप भी करते हैं । मैं द्वेषबुद्धि से कुछ नहीं कहता, और न ही अनुचित समालोचना करता हूँ ।"

एक दिन कुछ मनुष्य, पश्चिमी दर्शन के पूर्ण पण्डित एक बङ्गीय महाशय को स्वामीजी के पास ले आये । उनका आशय यह था कि उनको दार्शनिक जटिल-जाल में उलझाया जाय । महाराज ने उस बङ्गीय सज्जन के प्रश्नों का ऐसा युक्ति-युक्त, उपयुक्त उत्तर दिया कि वह सर्वथा सन्तुष्ट हो गया । एक लम्बे दार्शनिक वार्त्तालाप के अनन्तर जब वे लोग उठकर चलने लगे तो स्वामीजी ने पूछा,"क्या यह बङ्गीय महाशय कुछ दार्शनिक ज्ञान सम्पन्न हैं ?" उन सज्जनों ने इसका यह परिणाम निकाला कि स्वामीजी अपने से इतर जनों को यों-ही तृणतुल्य समझे बैठे हैं । नगर में आकर उन्होंने उस बङ्गीय महाशय से पूछा, "स्वामीजी का दार्शनिक ज्ञान कितना है ?" उसने उत्तर दिया, "वे तो ज्ञान की अगाध गङ्गा और विद्या के अथाह समुद्र हैं । मैं तो उनके समक्ष कुछ भी नहीं जानता ।"

एक दिन स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य्य का महत्व वर्णन करते हुए कहा,"सरदार हरिसिंहजी जो इतने वीर हुए हैं इसका प्रबल कारण यही था कि वे पचीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे थे । यद्यपि, मेरी आयु इस समय पचास वर्ष से ऊपर है परन्तु कोई भी बलिष्ठ व्यक्ति सामने आये, मैं उसका हाथ पकड़ता हूँ, वह छुड़ाकर दिखलाये । अथवा मैं भुजा अकड़ाता हूँ, कोई उसे झुकाकर दिखाये ।" उस बड़ी सभा में अनेक महामल्ल भी उपस्थित थे, परन्तु आगे आने का साहस किसी ने भी न किया ।

गुजराँवाला में अनेक सज्जनों के भ्रम दूर करने, संशय मिटाने और आर्य्य समाज की स्थापना करने के पश्चात् महाराज फाल्गुन वदी १४ सं० १९३४ को लाहौर पधारे और नवाब निवाजिश अलीखाँ की कोठी में ठहरे।

इस कोठी में एक दिन महाराज व्याख्यान देते हुए मुसलमान मत की समालोचना कर रहे थे। उस समय नवाब महाशय उसी उद्यान में आये हुए थे। व्याख्यान हो चुकने पर एक सज्जन ने उनसे निवेदन किया, "आपको कोई आर्य्य, ईसाई और मुसलमान उतरने के लिए मकान नहीं देता। नवाब महाशय का यह बड़ा भारी अनुग्रह है कि उन्होंने कोठी दे दी है। आप यहीं मुसलमान मत पर समालोचना करने लग गये हैं। आज तो नवाब महाशय भी सुन रहे थे। कहीं ऐसा न हो कि वे भी रुष्ट हो जायँ।"

महाराज ने उत्तर दिया, "मैं यहाँ वैदिक धर्म्म का प्रचार करने आया हूँ। जहाँ भी रहूँगा, उसी का उपदेश दूँगा। मेरे यहाँ आने का प्रयोजन मुसलमान मत अथवा किसी अन्य पन्थ का यश गाना नहीं है। जब नवाब महाशय व्याख्यान सुन रहे थे तो मैंने उन्हें देख लिया था। मैंने जान-बूझ कर उनको आर्य्य धर्म का महत्व सुनाया है। मुझे एक नारायण के बिना किसी नर-नारी का डर नहीं है।"

मुलतान छावनी के प्रेमीजनों ने प्रार्थनापूर्वक महाराज को आमन्त्रित किया था। उनके आग्रहवश वे फाल्गुन सुदी ८ सं० १९३४ को मुलतान छावनी में पहुँचे। स्वागत के लिए अनेक भद्र पुरुष रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी को सन्मानपूर्वक ले जाकर बेगी के उद्यान में ठहराया। उसी दिन सायं समय उनके व्याख्यानों का आरम्भ हो गया। उनके भाषणों से नगर और छावनी के लोग प्रभावित होने लगे।

धर्म्म-कार्यों में विघ्न डालने वालों का भी वहाँ अभाव न था। ऐसे लोग गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाते कहते फिरते थे कि यह ईसाईयों का नौकर है। उन्होंने इसे कह रक्खा है कि जब सारे भारतवासियों को ईसाई बना दोगे तो तुम्हें एक लाख रुपया दिया जायगा।

गोसाईयों ने सबसे अधिक ऊधम मचाया। एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे, गोसाईं लोग अपने सेवक-समूह-सहित वहाँ आ

पहुँचे और लगे शंख और घड़ियाल बजाने ! जयजयकार का भी उन्होंने तार बाँध दिया । महाराज ने उनकी कलह-जनक कलुषित क्रीड़ा पर कुछ भी ध्यान न दिया और गम्भीरता से उपदेश देने में परायण रहे । अन्त में पुलिस के कान्स्टेबलों ने उन्हें खदेड़ दिया । दूसरे दिन गोसाईं-दल फिर चढ़ आया और विघ्न-बाधा तक ही बस न करके लड़ाई लड़ने पर उतर आया । स्वामीजी को उस दिन व्याख्यान बंद कर देना पड़ा ।

होलियों के दिन थे, इस कारण क्षुद्र लोगों को उपद्रव करने का बहाना मिल जाता था । इसलिए सेठ दिनशाह बहरामजी ने, कुछ एक सज्जनों की सम्मति से अपनी कोठी में व्याख्यान कराने आरम्भ किये । वहाँ भी स्वामीजी ने विविध विषयों पर अत्युत्तम भाषण दिये । मुलतान छावनी के निवासियों के प्रबन्ध से वहाँ, महाराज के कोई छत्तीस उपदेश हुए ।

एक दिन स्वामीजी ने ब्राह्मणों के धर्म्म और कर्तव्यों का वर्णन किया और कलिकाल में उनकी अधोगति के कारण अविद्यादि बताये । उन्होंने उस समय दृष्टान्त दिया कि एक सेठ अपने मिस्सरजी के साथ देशान्तर को जा रहा था । एक मुसलमान पठान भी उनका साथी बन गया । वह सेठ जब प्रातःकाल उठता तो ब्राह्मण देव को नमस्कार करता । नहाने के समय उससे जल मँगवाता । रसोई के समय भोजन बनवाता और चलते समय अपना कम्बल और कोट तक उतार कर उस पर लाद देता । पठान को इन बातों पर बड़ा अचम्भा होता था ।

एक दिन चलते-चलते सेठ और मिस्सरजी बहुत पीछे रह गये और पठान आगे ठहर कर उनकी प्रतीक्षा करने लगा । सेठजी तो ज्यों-त्यों कर के पठान को जा मिले परन्तु मिस्सरजी न पहुँच सके । सेठ को अकेले आते देख कर पठान ने पूछा, "कहाँ गया है वह नर, पुरोहित, पाचक, कहार और खर ?"

. इससे उन्होंने शिक्षा निकाली कि सर्वप्रकार के ऊँच-नीच कर्म करने वाले अबोध जन 'ब्राह्मण' पद के अधिकारी नहीं हैं । विद्वान् जन ही ब्राह्मणत्व के योग्य होते हैं ।

एक व्याख्यान में महाराज ने अन्य सर्व पन्थाई मन्त्रों का खण्डन करके गायत्री मन्त्र की प्रधानता बतलाई और कहा कि इसका प्रतिदिन जप करना चाहिए।

एक दिन स्वामीजी ने स्वास्थ्य-रक्षा पर एक उपयुक्त भाषण दिया। उसकी समाप्ति पर एक पारसी सेठने उनसे कहा कि जब आप यह कहते हैं कि मनुष्य-मात्र एक है तो हमारे साथ मिल कर आप खाना क्यों नहीं खाते ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मुसलमानादि जातियों के साथ आप लोग खान पान का व्यवहार करते हैं, नहीं तो दूसरी कोई रुकावट नहीं है। यदि आप आर्य लोगों से अधिक मेल-जोल करने लग जायें तो कालान्तर में यह रुकावट हटाई जा सकती है।

एक थाल में भोजन पाने का जब विषय चला तो सेठ ने कहा कि इससे प्रेम बढ़ता है। स्वामीजी ने कहा कि प्रेम यदि इकट्ठे होकर खाने से बढ़ता हो तो यहाँ मुसलमान मिल कर खाते हैं। उनमें झगड़ा बखेड़ा नहीं होना चाहिये। जब तुर्कों पर रूसने आक्रमण किया था तो इकट्ठे मिल कर खाने वाले अफ़गानों ने माँगने पर भी, तुर्कों को सहायता नहीं दी थी।

फिर स्वामीजी ने कहा कि मिल कर खाने से कई संक्रामक रोग लग जाते हैं। चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार भी एक दूसरे का जूठा खाना हानिकारक है।

मुलतान के वेदान्तियों को समझाते समय स्वामीजी ने कहा, "चार महा-वाक्य उपनिषद् वचन हैं। आप लोग एक टुकड़ा लेकर मनमाना अर्थ करने लग जाते हैं। यदि सारा प्रकरण लगाओ तो उनसे नवीन वेदान्त सिद्ध नहीं होता।"

एक दिन आर्य्य, मुसलमान और ईसाई सब मिल कर आये। उन्होंने महाराज पर एक बार ही, नाना विषयों के अनेक प्रश्न कर डाले। उन लोगों की ऐसी धारणा थी कि एक बार ही अनेक विषयों के प्रश्न आ पड़ने पर स्वामीजी घबरा जायँगे, वे सबका उत्तर न दे सकेंगे। परन्तु स्वामीजी ने उनके एक-एक प्रश्न का उत्तर, ऐसी उत्तमता से दिया कि वे अतीव आश्चर्यमग्न होगये। और उनके योग-बल का माहात्म्य मुक्तकण्ठ से वर्णन करने लगे।

एक दिन स्वामीजी ने मांस-भक्षण को वेद-विरुद्ध बताया। इसपर महाशय कृष्ण नारायण ने कहा, "इसके खाने में कोई हानि तो नहीं है।" स्वामीजी ने कहा, "*परमात्मा की आज्ञा का न पालन करना यही एक बड़ी हानि है।*"

तब कृष्ण नारायण ने कहा, "मैं मांस खाता हूं। यदि इससे कोई हानि होती तो मैं उसका अनुभव कर लेता।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आज्ञायें दो प्रकार की होती हैं—एक शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाली और दूसरी आत्मा के साथ। शरीर के साथ सम्बन्ध *रखने वाली आज्ञा को भंग करने से रोग-शोक आदि दुःख होते हैं। आत्मा से* सम्बन्ध रखने वाली आज्ञा के लोप से शारीरिक दुःख तो नहीं होते, परन्तु आत्मा उच्च पद को प्राप्त नहीं होता। मांस खाना आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली परमात्म-आज्ञा का भंग करना है; इसलिए मांस खाने वाले को योग-विद्या नहीं आती। उसे योग की सिद्धियां भी नहीं होतीं।"

स्वामीजी *अपने प्रेम-भरे पत्रों द्वारा अपने प्रेमी जनों को, समय-समय पर,* उत्साहित करते रहते थे। उनके कार्यों की श्लाघा करते और अधिक अग्रसर होने के लिए उत्तेजना भी देते थे। महाराज ने चैत्र वदी १३ सं० १९३४ को मुलतान से एक पत्र महाशय माधोलालजी को लिखा। उसका सारांश यह है—

"महाशय माधोलालजी आनन्दित रहो......आर्यसमाज के ठीक नियमों *को समझकर आप को वेदाज्ञानुसार सबके हित में अवश्य लग जाना चाहिए—* विशेषता से अपने आर्यावर्त देश के सुधारने में अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम और भक्ति होनी चाहिए। सबको अपने समान जानकर उनके क्लेशों के काटने और सुखों को बढ़ाने के लिए प्रयत्न और उपाय करना उचित है। सबका हित करना ही परम धर्म है। इसी के प्रचार की वेद में आज्ञा पाई जाती है।"

महाराज अपने अनुयायियों को, समय पर अथवा यथायोग्य कार्य न करने पर उपालम्भ भी दिया करते थे। उनके आलस्य पर भर्त्सना भी करते थे। स्वामीजी ने चैत्र सुदी एकादशी सम्वत १९३५ को मुलतान से लाहौर आर्य्य-समाज के मुखिया जनों को लिखा कि :—

"राम रक्खा के पत्र मिल सके तो आपको भेज देंगे। अथवा नवीन लिखाकर भेज दिये जायेंगे। परन्तु जैसे...आजतक नहीं छपे ऐसी ही अवस्था

इनको हो तो परिश्रम करना व्यर्थ है। ऐसे न हो जैसे अन्तरङ्ग सभा के नियमों का झमेला आजतक नहीं निपट सका।

इसके लिखने का यही प्रयोजन है कि उचित समय पर ही कार्य करना चाहिए। समय पर कार्य करना सफलता का साधन है और बुद्धिमत्ता का चिह्न है।

यहां हम बहुत आनन्द में हैं और आशा है कि आप भी आनन्द में होंगे।"

मुलतान छावनी और नगर के अधिवासियों को निहाल करने के पश्चात् महाराज लाहौर पधारे। यहाँ प्रतिदिन उनके प्रभावोत्पादक उपदेश होने लगे।

महाराज का विचार था कि उनका वेद-भाष्य विद्यालयों और महाविद्यालयों में पढ़ाया जाय। लाहौर की एक यात्रा में उन्होंने राय मूलराज को कहा कि पंजाब के छोटे लाट महोदय के पास भेजने के लिए एक आवेदन-पत्र प्रस्तुत कीजिए और उसमें बलपूर्वक लिखिये कि राजप्रबन्धान्तर्गत पाठशालाओं में मेरा भाष्य अवश्य पढ़ाया जाय। राय मूलराजजी यह कार्य शीघ्रता से न कर सके। अन्त को, महाराज पंजाब के लाट महोदय, सर राबर्ट अजर्टन को आप जा मिले। स्वामीजी ने जब वेद-भाष्य पढ़ाने पर बल दिया तो लाट महाशय ने अपने मार्ग की कठिनाइयां बताकर, वेद-भाष्य के प्रथम अङ्क की कुछ प्रतियां लेकर, पण्डितों की सम्मति जानने और उसके अनुकूल का ' करने का वचन दिया।

राज्य की ओर से स्वामीजी के भाष्य के प्रथम अङ्क की कुछ प्रतियां मोल ली गईं और स्वदेशी तथा विदेशी पण्डितों के पास भेजकर उनके मत मंगाए गये। वे सम्मतियां प्रायः स्वामीजी के भाष्य के विरुद्ध थीं। जब वे राज्य की ओर से मुद्रित होकर प्रकाशित हुईं तो स्वामीजी ने उनका सन्तोषजनक उत्तर भी प्रकाशित कराया।

एक दिन भक्तों के साथ वार्त्तालाप करते हुए, महाराज ने प्रसंगवश कहा "आप मुझे इस समय अच्छा हृष्ट पुष्ट समझते हो, परन्तु मैं तो गङ्गातीरवास की अपेक्षा अब कृश हो गया हूँ। आप लोगों की हित-चिन्ता ने मुझे दुर्बल बना दिया है।"

स्वामीजी का एक कर्मचारी, बांके बिहारीलाल बड़ी चिड़चिड़ी प्रकृति का मनुष्य था। वे उससे अतिकोमलता से काम लेते थे। उसके सड़ियलपन पर खिजते नहीं थे। एक दिन वह नौकरी छोड़कर जाने लगा तो महाराज ने उसके

वेतन के रुपयों के स्थान उसको नोट निकाल कर दिया। उसने आवेश में आकर कहा कि आपने हस्ताक्षर तो किये ही नहीं। स्वामीजी ने अपना नाम लिख दिया। उसने अधिक ऊँचे स्वर में कहा कि मेरा नाम भी तो लिखना था; महाराज ने लिख दिया कि बिहारीलाल को दिया। वह अवज्ञापूर्वक बोला कि आपने बाँके बिहारीलाल ठठेरा तो लिखा ही नहीं। स्वामीजी ने हँसकर कहा कि कुपित न हूजिये। यदि आप ठठेरा ही बना चाहते हैं तो लो यह भी लिखे देता हूँ।

एक प्रेमी जन ने पूछा, "भगवन्! इसका क्या कारण है कि जहाँ नाच होता है, राग-रंग होता है, हास-विलास होता है, वहाँ तो सारी-सारी रात बैठ बीत जाती है और नींद नहीं आती, परन्तु जहाँ सत्संग हो, धर्मोपदेश हो, वहाँ लोग थोड़ी देर में ही ऊघने लगते हैं।"

स्वामीजी ने कहा, "हरि-कथा तो एक सुकोमल शय्या है। यदि उस पर नींद न आये तो और कहाँ आये? नृत्य-गीतादि उत्तेजक भाव आत्मा के लिए काँटों का बिछौना है। उस पर निद्रा कैसे आ सकती है?"

लाहौर से महाराज अमृतसर में पधारे और सरदार भगवान्सिंह के मकान में ठहरे। पण्डितों ने इस बार भी विरोध आरम्भ कर दिया। वे शास्त्रार्थ करने के लिए उद्योग करने लगे। आर्य्य-समाज अमृतसर की ओर से विज्ञापन द्वारा उनको शास्त्रार्थ के लिए आहूत भी किया गया। शास्त्रार्थ करने का स्थान सरदार भगवान्सिंहजी का मकान निश्चित हुआ।

उस दिन उस मकान में कोई छः-सात सहस्र मनुष्य एकत्र हो गये। नगर के सभी प्रतिष्ठित पुरुष भी उपस्थित हुए। आमने-सामने दो चौकियाँ लगा दी गईं, जिससे वादी और प्रतिवादी को प्रश्नोत्तर करने में सुगमता हो और दूसरा कोई बीच में गड़बड़ न कर सके।

नियत समय पर स्वामीजी तो एक कुर्सी पर विराजमान हो गये। परन्तु प्रतिपक्षियों के आने का कोई पता तक न था। बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर एक व्यक्ति ने आकर कहा कि पण्डित लोग बाहर खड़े हैं और भीतर आने के लिए आज्ञा मांगते हैं। उत्तर में कहा गया कि वे लोग बिना सङ्कोच, अति प्रसन्नता से पधारें। उन्हीं की तो प्रतीक्षा करते, यह समय होने को आया है।

थोड़ी देर में पण्डित-दल जय-जय-नाद करता हुआ भीतर प्रविष्ट हुआ। सात-आठ पण्डित तिलक लगाये और बगल में पुस्तकें दबाये, अकड़ कर स्वामीजी के सम्मुख बैठ गये। इतने में ही उनके चेले चाँटों ने चारों ओरसे ईंट पत्थर फेंकने आरम्भ कर दिये। सभा-स्थान को धूलि-वर्षा में धूंआधार बना दिया। बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हुआ। ऐसे समय में जब पुलिस के कान्स्टेबल प्रबंध करने के लिए आगे बढ़े तो पण्डित देवता, एक-एक करके, चुपके से चम्पत हो गये। उस समय, भगवान् दयानन्द के भक्त अपने भक्ति-भाजन का निरादर होते देख कर, कोपावेश से शान्त न रह सके। वे चाहते थे कि उद्दण्ड और दुष्ट जनों को वहीं दण्डित किया जाय, परन्तु स्वामीजी ने उनको शान्ति प्रदान करते हुए कहा कि "मत-मदिरा से उन्मत्त जनों पर कोप नहीं करना चाहिए। हमारा काम एक वैद्य का है। उन्मत्त मनुष्य को वैद्य औषध देता है, न कि उसकी लीला पर उसे मारपीट करता है। निश्चय जानिये, आज जो लोग मुझ पर ईंट, पत्थर और धूल बरसाते हैं वही लोग आप पर कभी पुष्प-वर्षा करने लग जायँगे।

जब महाराज अपने डेरे पर पधारे तो एक भक्त ने कहा, "महाराज! आज दुष्ट लोगों ने आप पर बहुत राख-धूल फेंकी और आपका घोर अपमान किया।" महाराज ने कहा, "परोपकार और परहित करते समय अपना मानापमान और पराई निन्दा का परित्याग करना ही पड़ता है। इसके बिना सुधार नहीं हो सकता। मैंने आर्य्यसमाज का उद्यान लगाया है। इससे मेरी अवस्था एक माली की है। पौधों में खाद डालते समय, राख और मिट्टी माली के सिर पर भी पड़ जाया करती है। मुझ पर राख-धूल चाहे जितनी पड़े, मुझे इसका कुछ भी ध्यान नहीं। परन्तु वाटिका हरी-भरी बनी रहे और निर्विघ्न फूले-फले।"

महाराज का एक व्याख्यान मजवई उर्फ में ब्रह्मचर्य्य पर हुआ। लोगों पर उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इस उर्फ में उनके और भी उत्तमोत्तम भाषण हुए। महाराज ने एक भाषण ब्राह्मण-धर्म्म पर दिया। उसमें उन्होंने ब्राह्मणों के अधःपतन के कारण ऐसे शब्दों में कहे और उनकी दुर्दशा का चित्र, कुछ इस प्रकार खींच कर दिखाया कि बीसियों ब्राह्मणों की आँखों से अनर्गल अश्रु-

धारा यह निकली। उनके वज्रशिलासदृश कठोर मन मोम होगये। उस दिन पण्डितों ने महाराज के अन्तरात्मा को पहचाना। तत्पश्चात् सब ने विरोध करना छोड़ दिया।

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान देने जा रहे थे। बाजार में एक प्रसिद्ध पण्डित ने एक थाल में मिश्री और रुपये रख कर उनको नमस्कारपूर्वक भेंट की और स्तुति करने लगा कि आप तो कलिकाल में साक्षात् विष्णु का अवतार हैं। स्वामीजी ने उसको आशीर्वाद देकर कहा कि मैं तो अगले दस अवतारों का खण्डन करता हूं और आप मुझे ग्यारहवाँ अवतार बना रहे हैं!

उस पण्डित की दुकान पर एक ऊँचा सिंहासन बना हुआ था। महाराज ने उससे पूछा कि यह क्या है? वह बोला भगवन्! कमा खाने की चक्की है। कथा करने का स्थान है। महाराज ने कहा कि पण्डितजी! यदि चक्की ही चलानी है तो सत्य की चक्की चलाओ। आजीविका का कोई विचार न करो। वह पुष्कल प्राप्त हो जायगी।

कुछ भक्तजन रात के समय महाराज के डेरे पर ही सो जाया करते थे; इस प्रकार वे एक तो सत्संग का दुर्लभ लाभ उपलब्ध करते और दूसरे उनकी रक्षा का भी ध्यान रखते थे। एक दिन का वर्णन है कि एक भक्त ने महाराज को सूचना दी कि आपने जो सिक्ख मत पर आक्षेप किये हैं उनसे चिढ़ कर, कुछ निहङ्ग आपका वध करने पर तुले बैठे हैं। रातको आपके पास बहुत से महाशय सोते हैं इसलिए निहङ्गों का दाँव नहीं चलता। यह सुनकर महाराज ने वहाँ, भक्तों का सोना बंद कर दिया और कहा कि हम अकेले ही रहेंगे। जिसकी आज्ञा का मैं पालन कर रहा हूं वही परमेश्वर मेरा रक्षक है।

स्वामीजी के एक व्याख्यान में बहुत से निर्मले आदि साधु आये और खड़े-खड़े ही भाषण सुनने लगे। महाराज ने उस समय कहा, "सहस्रों भारतवासी पेट भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे बिल्ली-कुत्ते की मृत्यु मरते जाते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ाधड़ छोटेशाही और तुम्बेशाही बनने की क्या आवश्यकता है? इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चाहिए।"

पण्डित पोलोरामजी का महाराज से बड़ा प्रेम था। इन्होंने एक दिन हाथ जोड़कर विनय की, "भगवन्! आर्य्य-समाज में केवल थोड़े से मनुष्य ही सम्मिलित हुए हैं। इतनी तुच्छ संख्या कोई महान् कार्य्य तो क्या ही कर सकेगी।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आप तो बहुत हैं; सहस्रों मनुष्यों को अपना संगी बना सकते हैं, परन्तु टुक मेरी ओर तो देखिये। जब मैंने कार्य्य का आरम्भ किया तो एकाकी और निस्सहाय था। आज परमात्मा की यह कृपा है कि आप जैसे सहस्रों सज्जन सच्चे हृदय से मेरे साथी हैं, आर्य्य-धर्म्म पर न्योछावर होने को समुद्यत हैं। पोलोराम, शुभ सब का चाहो और परिणाम परमात्मा पर छोड़ दो, निश्चय सफल हो जाओगे।"

महाराज ने उन से यह भी कहा, "यदि बालशास्त्री और विशुद्धानन्दजी मेरे साथी बन जाते तो हम तीनों सारे संसार को विजय कर लेते। शोक! मेरे आत्मगत भावों को जाने बिना उन्होंने मुझे भिन्न समझा, मेरा घोर विरोध किया। परन्तु मेरे हृदय में जो मङ्गल-भावना है उसे ईश्वर ही जानता है।"

एक दिनका वर्णन है कि पण्डित पोलोराम को किसी ने एक नवीन कुरती दान की। वे उसे लिये श्री-चरणों में आये और कहने लगे कि भगवन्! यह कुरती आज ही मुझे एक दाता ने दी है। मेरा भक्ति-भाव मुझे विवश करता है कि मैं इसमे आपके चरण पोंछ कर, फिर यह आपके किसी सेवक को दे दूँ। स्वामीजी तो नहीं मानते थे परन्तु भक्त पोलोराम ने प्रभु-पद-पद्म पकड़ लिए और कुरती से चरण-रज झाड़कर, वह एक नौकर को प्रदान कर दी।

महाराज ने अपार दया से उनको उपदेश दिया कि "गायत्री का जप प्रतिदिन किया करो। यह कल्याणकारी मंत्र है। मेरे पास यही वस्तु है जो मैंने आपको दे दी है।"

एक दिन महाराज ने उनको यह भी कहा, "जब शय्याशायी होने लगो तो प्रणव पवित्र का जप किया करो। जब तक नींद न आये पाठ करते रहो, यहाँ तक कि उसी नाम स्मरण में ही सो जाओ। इससे उत्तमोत्तम लाभ होते हैं। वासनामय देह बदल जाती है।"

महाराज ने तालु का काग गिरा कर ध्यान करना भी बताया। स्वामीजी ने उनको प्राणायाम करना सिखा कर कहा कि इस से चित्त स्थिर होता है, बुद्धि की वृद्धि होती है, बल बढ़ता है, रोग नष्ट हो जाते हैं।

पोलोरामजी ने एक दिन, महाराज के ध्यानारूढ़ अवस्था में दर्शन किये। उस समय वे अचल समाधिस्थ थे। उनके अङ्गों में क्रिया का कोई सूक्ष्म चिह्न भी दिखाई नहीं देता था।

महाराज की मूर्त्ति मनमोहिनी थी। उन की व्यक्ति का अद्भुत प्रभाव था। वे रेशमी वस्त्र पहने अथवा कौपीनधारी, सब दशाओं में प्रिय प्रतीत होते थे। उनका चलना, टहलना, उठना, बैठना आदि सब व्यापार प्यारा लगता था। वे सब क्रियाएं करते मन को भाते थे। उनका कृपाकटाक्ष मन को मोह लेता था और उनकी प्रेम-भरी वाणी सबको तत्काल अपना लेती थी।

उनके मुख-मण्डल पर तेज, प्रभाव, उदारता, गम्भीरता, धैर्य्य, अनुग्रह और आशीर्वाद निवास करते थे। उन के रसीले नेत्रों में प्रेम, कृपा, आकर्षण, रस और माधुर्य था। उनका वर्ताव अतिमृदु, सुकोमल और चित्ताकर्षक था। उनकी प्रकृति कोमल थी, सरल थी, और निष्कपट थी। वे कभी किसी व्यक्ति की समालोचना तथा निन्दा पर कर्णपात नहीं करते थे। वे अपने प्रतिपक्षियों को भी रुष्ट नहीं होने देते थे। प्रश्नोत्तर में उनके भावों पर सदा ध्यान रखते थे। वार्तालाप में, व्यवहार में, कहने-सुनने में और उपदेश में वे इतने समदर्शी थे कि प्रत्येक छोटा-बड़ा यही समझता था कि महाराज मुझे ही अभिमुख कर रहे हैं, मुझे ही समझाते हैं, उनका अधिक अनुग्रह, अधिक कृपा और अधिक प्रीति मुझ पर ही है।

महाराज पूर्व की यात्रा के लिए समुद्यत थे, इस लिए पञ्जाबी भक्त उनके प्रस्थान-दिवस का दुःख से अनुभव करते थे। एक प्रेमी ने विनय की, "भगवन्! आपने इस प्रान्त में आर्य्य-समाज रूपी उद्यान तो स्थान-स्थान पर लगा दिये हैं, परन्तु आपके चले जाने के पश्चात् इनकी रक्षा कौन करेगा?"

महाराज ने उत्तर दिया कि "इस प्रान्त के लोग उत्साह और साहस वाले हैं, श्रद्धालु और वीर हैं। मुझे इन पर बड़ी आशा है। मैंने अपने सकल सामर्थ्य से भूमि को स्वच्छ बना कर उद्यान लगाया है। खाद भी इसमें पड़

गया है । जल भी सींचा जा चुका है । अब इसके मुरझाने और कुम्हलाने को कुछ भी चिन्ता नहीं है । यह सब कुछ होते हुए भी, ऐसे सब कार्य भगवान्-भरोसे ही किये जाते हैं । इस लिए आर्य्य समाज का भी वही रक्षक है जो चन्द्र और सूर्य को चलाता और उनकी रक्षा करता है ।"

श्री स्वामीजी श्रावण वदी १ सं० १६३५ को अमृतसर से प्रस्थान करके लुधियाने पहुंचे और वहाँ लाला वंशीधर के उद्यान में ठहरे । इस बार भी उनके सत्सङ्ग में सभी मतों के लोग बड़े उत्साह से आते और प्रश्नादि पूछते रहे । श्रावण वदी ८ को लुधियाने से चल कर वे अम्बाले पहुँचे और श्रावण वदी ११ सं० १६३५ को वहाँ से रुड़की को पधार गये ।

आठवाँ सर्ग

स्वामीजी महाराज, छः-सात दिन कम डेढ़ वर्ष पर्यन्त पञ्जाब में रहे और इस प्रान्त के कोई बारह-तेरह नगरों में घूमे । परन्तु उन का अधिक समय तीन-चार नगरों में ही व्यतीत हुआ । वे लाहौर आदि नगरों में रहते हुए, बीच-बीच अमृतसर आदि स्थानों में भी भ्रमण कर आया करते थे । यद्यपि पञ्जाब प्रान्त को पूज्यपाद आनन्दकन्द श्री दयानन्दजी ने थोड़े मास ही दर्शन दिये और केवल बारह नगरों को ही पदार्पण से पुनीत किया, परन्तु इस स्वल्प समय में ही उन्होंने इस प्रान्त के अधिवासियों को इतना प्रभावित किया, उन को इतना जीवन दिया, उन्हें इतना कार्य्यपरायण बनाया और उनमें इतनी आत्मा और ऊष्मा भरी कि उसका दूसरा दृष्टान्त नहीं मिलता, उस की तुलना नहीं की जा सकती ।

श्रावण वदी १२ सं० १६३५ को महाराज रुड़की पधारे और देहली-निवासी श्री शम्भुनाथजी के बङ्गले में ठहरे । उसी सायं को 'ईश्वरीय आदेश' पर उनका व्याख्यान हुआ । रुड़की के महाविद्यालय के उपाध्याय और विद्यार्थी और शहर के लोग उस व्याख्यान में आये और अतीव प्रसन्न हुए ।

स्वामीजी के व्याख्यान प्रतिदिन होते थे । वे नियम के इतने पक्के थे कि वेद-भाष्य का गुरुतर कार्य-भार होते भी ठीक समय व्याख्यान-स्थान पर पहुँच जाते । सभी लोग उनकी सुनियमता पर आश्चर्य करते ।

श्रावण सुदी ६ सं० १९३९ को महाराज के व्याख्यान का समय सार्द्ध के पांच बजे था। श्री उमरावसिंहजी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को साथ लेकर सवा चार बजे श्रीसेवा में पहुँचे। महाराज ने घड़ी देखकर कहा, "अभी सवा चार बजे हैं। मार्ग केवल पाव घण्टे का है इतना पहले जाकर क्या करेंगे? मैं तो पाँच मिनिट ही पहले पहुँचना चाहता हूँ।"

स्वामीजी के समालोचनात्मक व्याख्यानों से कुछ एक मतवादी लोग भड़क उठे, परन्तु सामने आकर शास्त्र-चर्चा करने का साहस किसी ने न किया। प्रश्न पूछने वाले सज्जन उनके स्थान पर भी जाकर संशय मिटाते थे।

अमेरिका-निवासी कर्नल अल्काट के पत्र स्वामीजी के पास पंजाब में ही आ गये थे। परन्तु उनका उत्तर अभी तक नहीं दिया गया था। पण्डित उमरावसिंहजी ने उन पत्रों का अनुवाद रुड़की की जनता को सुनाया। इसमें लोग बड़े प्रोत्साहित हुए।

रुड़की में स्वामीजी ने उन पत्रों के उत्तर लिखे और उमरावसिंहजी से उनका अंगरेज़ी अनुवाद कराकर बम्बई-निवासी चिन्तामणि द्वारा उन्हें अमेरिका भिजवा दिया।

एक दिन अपने आसन पर बैठे महाराज सत्संगियों को उपदेश दे रहे थे कि भारतवर्ष का ऐसा अभाग्य है कि यहाँ के अधिवासी अपने धर्म्म की और अपने कर्त्तव्य कर्म की कुछ भी चिन्ता नहीं करते। उस समय उस सत्संग में एक पंजाबी मज़हबी सिक्ख भी बैठा हुआ सुन रहा था। उसी समय एक मुसलमान डाकिया वहाँ आया। उसने उस मज़हबी सिक्ख को पहचान कर ताड़ना की कि तू इन लोगों में क्यों आकर बैठा है? नीच! तुझे ध्यान नहीं आया कि मैं कहाँ बैठने लगा हूँ। उस डाकिये ने उसे इतना डाँटा कि उसके आँसू निकल आये।

महाराज ने डाकिये को ऐसा कहने से रोक कर उस मज़हबी सिक्ख को बड़े प्रेम से आश्वासन दिया और कहा कि बिना सङ्कोच नित्य सत्सङ्ग में आया करो। हमारी दृष्टि में ईश्वर की सृष्टि के सारे मनुष्य समान हैं। यहाँ तुम से कोई घृणा न करेगा। श्री वचनों से उत्साहित होकर वह प्रतिदिन सत्संग में आता और उपदेशामृत पान करता।

उन दिनों कन्हैयालाल नाम के इञ्जीनीयर रुड़की में रहते थे। उन्होंने श्री स्वामीजी को कहा, "मादक वस्तुओं के सेवन से ध्यान अत्युत्तम लगता है; चित्त इधर-उधर भटकना छोड़ देता है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यह तो ठीक है कि मादक वस्तु से मत्त मनुष्य का मन एक ही विचार में गड़ जाता है, परन्तु इससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। यथार्थ ज्ञान तो एक दूसरे के साथ गुणों की तुलना करने से होता है। गुण-गुणी का ज्ञान और सत्यासत्य का विवेक मादक वस्तुओं के प्रभाव में होना असम्भव है।" स्वामीजी के कथन का कन्हैयालालजी ने हार्दिक समर्थन किया।

एक दिन एक यूरोपीय कर्नल और कप्तान स्वामीजी के व्याख्यान में आये। उस दिन स्वामीजी इञ्जील की समालोचना कर रहे थे। कर्नल महाशय आक्षेप सुनकर उत्तेजित हो प्रश्न करने लगे। प्रश्नोत्तर-क्रम में, उनकी प्रकृति में उबाल तो अवश्य आया, परन्तु महाराज के उत्तर ऐसे युक्तिसङ्गत थे कि अन्त में, उनके लिए मौनी बने बिना दूसरा कोई मार्ग न रहा।

मौलवी मुहम्मद कासिम ने बड़ा लम्बा-चौड़ा पत्र-व्यवहार किया, परन्तु सरलतापूर्वक सम्वाद करने के लिए सामने न आये।

भोटूसिंह नाम का एक वेदान्ती सज्जन स्वामीजी के पास आकर कहने लगा कि आप परा-विद्या नहीं जानते। यदि आप को परा-विद्या आती होती तो आप द्वैतवाद का प्रचार कभी न करते। उस समय उसने अनेक उपनिषद्वाक्य बोलकर बताया कि यह जीवात्मा ही ब्रह्म है।

महाराज ने कहा कि भोटूसिंह! क्या आप भी ब्रह्म हैं? उसने उत्तर दिया कि निस्सन्देह मैं ब्रह्म हूँ। फिर स्वामीजी ने उससे पूछा कि इस चराचर सृष्टि को किसने रचा है? भोटूसिंह ने कहा कि ब्रह्म ने।

तब स्वामीजीने पास ही मरी पड़ी मक्खी को उठाकर उसके आगे रक्खा और कहा कि यदि आप ईश्वर हैं तो इसमें जीवन तो डाल दीजिए, जिससे आपके ईश्वरत्व का पूरा परिचय प्राप्त हो जाय। इस पर भोटूसिंह मूक और लज्जित हो गया।

स्वामीजी नियत समय पर व्याख्यान आरम्भ कर दिया करते थे। उपस्थिति की प्रतीक्षा नहीं करते थे। मनुष्य थोड़े हों अथवा बहुत, वे समय के परिपालन

में नहीं चूकते थे। एक दिन, दैव-योग से व्याख्यान के आरम्भ के समय पण्डित बलदेवसहाय और उमरावसिंहजी, ये दो ही श्रोता उपस्थित थे। इन्होंने श्रीचरणों में बहुतेरी विनय की कि भगवन्! दस बारह पलपर्यन्त प्रतीक्षा कर लीजिए। लोग अभी आ जाते हैं। परन्तु स्वामीजी ने नहीं माना। ठीक समय पर भाषण आरम्भ कर दिया। उस दिन से लोग इतने समय पालक हो गये कि व्याख्यान के नियत समय से बहुत पहले ही आकर बैठ जाते।

श्री स्वामीजी सदैव सुप्रसन्न रहते थे। उन आपो उनका मुखमण्डल सदा विकसित ही दिखाई देता था। उनकी भौंहों में खिचावट और उनके माथे पर बल कभी किसी ने नहीं देखा। उनके दोनों होठों पर, मन्द मुस्कान की विद्युत् रेखा सदा अठखेलियाँ लेती रहती। कोई कितने ही कुवचन कहता उनकी चित्तवृत्ति स्वस्थान से विचलित न होने पाती।

व्याख्यान के समय एक मनुष्य ने पुकार कर कहा, "यह बाबा ऊपर से वेद-वेद पुकारता है, भीतर से हिन्दुओं पर कैंची का काम कर रहा है। ईसाई भेस बदल कर हिन्दुओं के कर्म-धर्म को नष्ट-भ्रष्ट करने आया है। यह पूरा कपटवेषी पाखण्डी है। भोले-भाले हिन्दू भाइयों को भ्रमजाल में फँसाने के लिए संन्यासी बना फिरता है।" महाराज उसके वचनों पर हँसते ही रहे। उन्होंने उसकी बाल-लीला को कुछ भी बुरा नहीं मनाया।

जिस कोठी में महाराज विराजमान थे उसी के एक कमरे में रुड़की आर्य्य समाज की अन्तरङ्ग सभा होरही थी। सभासद् अभी सभा के कार्यों को यथावत् परिपालन करने में प्रवीण न हुए थे। इसलिए उन्होंने श्री स्वामीजी से निवेदन किया कि सभा में पधार कर शुभ सम्मति से हमें कृतार्थ कीजिए। उन्होंने उत्तर दिया कि सभासद् बने बिना मैं सभा में सम्मति नहीं दे सकता। इस पर तत्काल उन्हें प्रतिष्ठित सभासद् बनाया गया। उस समय स्वामीजी ने परमोपयोगिनी सम्मति के साथ उपयुक्त उपदेश दिया, "सभा में हठ और दुराग्रह नहीं करना चाहिये। अपने पक्ष की पुष्टि में चाहे जितनी युक्तियाँ दो, परन्तु प्रकृति और हृदय में ऐंठन न आने दो। किसी बात को पकड़कर इतना नहीं खींचना चाहिए कि परस्पर के भ्रातृ-भाव का तार ही टूट जाय। बहुमतानुसार जो मत उत्तीर्ण हो जाय उस पर फिर हठ नहीं करना चाहिए। अन्तरङ्ग

सभा के कार्य्यों को प्रकाशित करना उचित नहीं है। वह मनुष्य अतीव तुच्छ और ओछा होता है जो किसी गुप्त सम्मति को गोपन नहीं कर सकता। ऐसा मनुष्य विश्वास-पात्र भी नहीं रहता।"

रुड़की में एक वैद्य, थानसिंहजी निवास करते थे। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि महाराज! जब आप योग-विद्या को इतना प्रबल मानते हैं तो हम आर्य्यों को उसकी शिक्षा क्यों नहीं देते? महाराज ने उत्तर दिया कि पहले दूसरी विद्याओं को उपलब्ध कर लीजिए, फिर इसकी भी बारी आ जायगी।

रुड़की में धर्म्मोपदेश देने के अनन्तर महाराज ने वहाँ से भादों बदी ८ सं० १६३५ को प्रस्थान किया और अगले दिन वे अलीगढ़ पहुँच गये। ठाकुर मुकुन्दसिंहजी तथा भूपालसिंहजी आदि सज्जन श्रीमान् मूलसी की कोठी में ठहरे हुए थे। उन्होंने महाराज को भी अपने पास ही ठहराया। यहाँ उनके दर्शन करने के लिए बम्बईसे श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि और श्यामजी कृष्णवर्मा आये। उनसे धर्म्मादि विषयों पर बड़ी देर तक वार्त्तालाप होता रहा।

अलीगढ़ में स्वामीजी से एक सज्जन ने पूछा, "महाराज! अन्य मत के लोगों के हाथ का पका भोजन खाना अच्छा है अथवा बुरा?" उन्होंने उत्तर दिया कि "ऐसा करने में न तो कोई भलाई ही है और न कोई बुराई।"

स्वामीजी अलीगढ़ से प्रस्थान कर भादों बदी १३ सं० १६३५ को मेरठ में सुशोभित हुए और लाला दामोदरदास की कोठी में ठहरे। उनके शुभागमन का समाचार सारे नगर में कानों-कान फैल गया। धर्म्म-जिज्ञासु आने लगे। उसी दिन उसी कोठी के बरामदे में उनका पहला भाषण हुआ। अगले दिन, लोगों की प्रार्थना पर, दूसरा व्याख्यान राय गणेशीलाल की कोठी पर हुआ। इस कोठी में कई दिन तक स्वामीजी के व्याख्यान होते रहे। महाराज ने घोषणा कर दी थी कि "मेरे कथन पर जिसे, जो भी शङ्का हो, वह उसे व्याख्यान की समाप्ति पर उपस्थित करे। नियत समय पर उत्तर अवश्य दिया जायगा।" वे एक दिन शङ्का-समाधान के लिए ही नियत कर देते थे।

श्रीमान् लाला रामसरनदासजी के विनीत आग्रह से महाराज ने पाँच अगस्त को उनके मकान पर उपदेश दिया। वहाँ छः दिन तक व्याख्यान वर्षा होती रही। उन व्याख्यानों में पुराणों पर अति मनोरञ्जक समालोचना हुई।

सं० १६२५ आश्विन बदी ३ से ११ तक श्री घूंटेलालजी की कोठी पर सत्संग लगते रहे। वहाँ महाराज ने अच्छी तरह से पाखण्ड-खण्डन किया और ऋग्वेद के कुछ सूक्त सुनाकर लोगों को मोहित कर लिया।

मेरठ की धर्म्म-सभा ने स्वामीजी से ये प्रश्न पूछे:—

१. चार धाम और सप्तपुरी आदि नगरों और ग्रामों में, जो उन्नत-शिखर मन्दिर हैं और उनमें जो देवमूर्त्तियाँ हैं उनका पूजन परम्परा से होता चला आता है। सुना है कि आपको इन बातों में सन्देह हो गया है। यदि सचमुच आपको सन्देह है तो उसकी निवृत्ति स्मृतियों के प्रमाणों से कर लेना और यदि संशय न हो तो सूचना दीजिएगा।

२. गङ्गा-नदी के श्रेष्ठ और पुण्यतमा होने में प्रमाण दीजिये। यदि आप उसके ऐसा होने में सन्देह करते हैं तो वह सन्देह प्रकट कीजिए।

३. जितने अवतार हुए हैं उनको किसने अवतार बनाया और किसने अतुल सामर्थ्य दिया?

स्वामीजी ने इनका जो उत्तर दिया उसका क्रमपूर्वक सार यह है:—

१. मुझे पाषाणादि की प्रतिमाओं के पूजन में सन्देह नहीं है; मैं तो मूर्त्ति-पूजा को निश्चयरूप से वेद विरुद्ध मानता हूं। किसी वेद-शास्त्र में प्रतिमा-पूजन का विधान नहीं है। किसी भी ऋषि-मुनि ने मूर्त्ति का पूजन नहीं किया और न ही ऐसा करने के लिए किसी को उपदेश ही दिया। वेद में कहा है कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' पवित्र परमेश्वर की प्रतिमा नहीं है। जो लोग जड़ पदार्थों को परमेश्वर मानकर पूजते हैं उनके लिए कहा गया है 'अन्धं तमः प्रविशन्ति'—अर्थात् वे अविद्यादि घोर दुःख-अन्धकार में फंस जाते हैं। इसलिए वेद-आज्ञानुसार एक परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिए।

अब जड़-पूजन के भी विरुद्ध युक्तियाँ दी जाती हैं। आप यदि कहें कि हम मूर्त्तियों को देव तो नहीं मानते, किन्तु देव की भावना उनमें करते हैं, इसलिए फल मिल जायगा। तो हम पूछते हैं कि आपकी वह भावना सच्ची है अथवा झूठी? यदि उसे सच्ची मानते हो तो यह बताओ कि सारा संसार जो सुख की भावना करता है, वह पूर्ण क्यों नहीं होती? यदि प्रतिमा में देव-भाव से स्वर्ग मिलता है तो पानी में दूध और मिट्टी में मिश्री का भाव करने से

भी कार्य-सिद्धि होनी चाहिए। यदि भावना झूठी करते हो तो मिथ्या व्यवहार वाले मनुष्य की बात विश्वास के भी योग्य नहीं रहती। यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर मूर्ति में पूजते हो तो वह परमात्मा पुष्पों में भी पाया जाता है। उनको तोड़कर मूर्ति पर क्यों चढ़ाते हो? सर्वव्यापक को एक स्थान में मान कर पूजना उसकी व्यापकता के साथ उपहास करना है।

यदि यह मानते हो कि मूर्ति-पूजा परमेश्वर के ज्ञान के लिए एक साधन है तो यह कथन भी अयुक्त है। गुणों से गुणी का ज्ञान होता है। मूर्ति में तो ईश्वर का एक भी गुण नहीं है।

२. दूसरे प्रश्न के उत्तर में महाराज ने कहा कि "प्रथम तो आपका प्रश्न ही विचित्र है। आप मुझसे पूछते हैं कि गङ्गानदी के श्रेष्ठ और पूज्य होने का प्रमाण दीजिए। इससे दो बातें निकलती हैं—प्रथम तो यह कि आपको गङ्गा के श्रेष्ठ और पूज्य होने में सन्देह है; दूसरे सन्देह नहीं है, तो आपको उसके श्रेष्ठ और पूज्य होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए मुझसे प्रमाण पूछते हो।

मुझे तो इस बात का पूर्ण निश्चय है कि दूसरी सब नदियों से गङ्गाजल उत्तम है। साथ ही, मैं यह भी निश्चित मानता हूँ कि गङ्गा में स्नान करने अथवा गङ्गा-जल पान करने से मुक्ति नहीं होती; इससे पाप नहीं धुलते।

श्री स्वामीजी महाराज श्री कृष्णादि महापुरुषों को निर्दोष मानते थे। सत्यार्थ-प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है कि श्री कृष्णजी का उत्तम वर्णन महाभारत में मिलता है। महाभारत में ऐसी कोई बात नहीं मिलती, जिससे पता लगे कि श्री कृष्ण ने जन्म से मरणपर्यन्त कोई भी पापाचरण किया था। पुराण कर्त्ताओं ने ही उनपर मिथ्यारोप किये हैं। बारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है कि श्री कृष्णादि महापुरुष धर्मात्मा और महात्मा जन थे।

३. धर्म-सभा, मेरठ के तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए महाराज ने लिखा था कि जिनको आप परमेश्वर का अवतार कहते हैं वे ईश्वरावतार तो नहीं, किन्तु बड़े उत्तम पुरुष थे। वे परमेश्वर की आज्ञा में चलनेवाले थे। वे सद्धर्म और न्याय आदि गुणों से अलंकृत और वेद-शास्त्र के पूर्ण विद्वान् थे। उन ऐसा उत्तम पुरुष न पहले हुआ और न अब है।

आप उन उत्तम पुरुषों को ईश्वरावतार मानते हैं, यह आपकी भारी भ्रान्ति है। जो अजर, अमर और सर्वव्यापक है वह अवतार धारण नहीं कर सकता। जो सर्वत्र परिपूर्ण है उसे अवतार धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? अवतार लेने से वह सर्वत्र परिपूर्ण नहीं रह सकता। यदि कहो कि दुष्टों को दण्ड देने के लिए परमेश्वर देह धारण करता है तो यह भी अयुक्त है। जो बिना देह के सृष्टि की उत्पत्ति, पालना और प्रलय करता है, क्षुद्र कार्य्य के लिए उसके काया-धारण की कल्पना करना कितना तुच्छ और मिथ्या विचार है।

फिर महाराज ने कहा, "जो आपने पूछा कि अवतारों को कौन बनाता और सामर्थ्य देता है, उसका उत्तर यही है कि परमेश्वर ही सबका रचने वाला है। वही बल-भण्डार सब को सामर्थ्य प्रदान करता है। बड़े शोक की बात है कि आप लोग श्री रामचन्द्रजी और श्री कृष्णजी आदि उत्तम पुरुषों को परमेश्वर का अवतार मानकर भी उनका घोर अपमान करते हो। उनकी मूर्तियों को बाज़ार और गली में घुमाकर भीख मंगाते हो। उनके स्वांग निकाल कर तो और भी अधिक निरादर प्रदर्शित करते हो। रामादि महापुरुषों और सीतादि सतियों के जब आप स्वांग निकालते हैं तो परमत वाले उन्हें देखकर हँसी उड़ाते हैं। अश्लील कटाक्ष और संकेत करते हैं। दुकानवालों के लिए तो रास मनो-रञ्जन का एक साधन है, परन्तु इससे आर्य्य जाति के महापुरुष की, दूसरों की दृष्टि में, बड़ी अवहेलना होती है।

माखन-चोर आदि के स्वांग भी कुछ कम अपमान जनक नहीं। अपने देश के जो राजे-महाराजे लाखों मनुष्यों का शासन, पालन, रक्षण करते थे; जो महापुरुष आजीवन परमात्मा की आज्ञा में रहे; जो सत्य में, धर्म्म में और न्याय में अद्वितीय थे; महाशोक है कि आप लोग उनके स्वांग बनाकर पैसे-पैसे के लिए हाथ पसारते हो और साथ ही अपने को उन महात्माओं का भक्त प्रख्यात कर रहे हो। हा! आप तो उनके स्वांग भरते, लीला करते और उनको नाचते तथा मांगते देखते हो, परन्तु मेरा हृदय तो इस वर्णन से ही विदीर्ण हो रहा है। इस समय शोक-सागर इतना उमड़ पड़ा है और जी इतना भर आया है कि कुछ अधिक वर्णन करना वाणी की सामर्थ्य से बाहर है। केवल इतने को पर्याप्त

जानिए कि ईश्वर का अवतार नहीं होता। प्रमाण के लिए एक मन्त्र भी उपस्थित करता हूँ:—

"सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

मौलवी अबदुल्ला महाशय ने धर्म-चर्चा करने के लिए स्वामीजी से पत्र-व्यवहार किया। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना को तुरन्त स्वीकार कर लिया और लिख भेजा कि *'धर्म-चर्चा लेखबद्ध ही होगी'*। *मौलवी महाशय ने लेखबद्ध* वाद करना स्वीकार न किया।

महाराज ने अपने प्रभावशाली व्याख्यानों में अमूलक मतों की पोल खोल कर सर्व साधारण को दिखला दी। उनकी काल्पनिक कथाओं के अच्छे चित्र खींचे। असम्भव बातों पर मनोरम टीका टिप्पणी चढ़ाई। इससे पौराणिक दल में हलचल मच गई। खण्डन की प्रबल पवन से पौराणिक सागर झकझोरे खाने लगा। पण्डित लोग स्थान-स्थान पर सभा करते और हस्ताक्षरहीन पत्र भेजकर महाराज को अपनी सभा में बुलाते। परन्तु स्वामीजी यही उत्तर देते कि किसी प्रामाणिक पुरुष के हस्ताक्षरयुक्त पत्र लाइए; मैं शास्त्रार्थ के लिए जहाँ चाहो चला चलता हूं! बहुतेरे मनुष्य इधर-उधर गये; दोनों ओर के प्रतिष्ठित पुरुषों ने मिलकर बड़े लम्बे चौड़े नियम भी बनाये, परन्तु परिणाम फिर भी वही रहा। स्वामीजी के पास उधर से जो भी पत्र आया वह हस्ताक्षर-शून्य ही आया। अन्त में महाराज ने सारा पत्र-व्यवहार जनता को सुनाकर व्यर्थ के समयनाश को बन्द कर दिया।

महाशय बैनीप्रसादजी श्री-सत्सङ्ग में प्रतिदिन आया करते थे। उन्होंने एक दिन पूछा, "भगवन्! गङ्गा-माहात्म्य, तिलक आदि का लगाना सब योंही प्रवृत्त हो गया है अथवा इसका कोई कारण भी है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "माहात्म्य तो सारे निर्मूल हैं, परन्तु ये गङ्गादि स्थान हमारे पूर्वज महर्षियों के आश्रम-स्थान थे। इन पवित्र और स्वच्छ प्रदेशों में वे तप, जप और योगानुष्ठान किया करते, विद्यार्थियों को ज्ञान-दान

देते। सांसारिक कार्यों के भूरि भार से परिश्रान्त और अशान्त जन इन स्थानों में जाकर विश्राम किया करते थे। तपोधन महात्माओं के दर्शनों से उनको आत्मिक शान्ति भी लाभ हो जाती। बहुत से जन दुर्वासना से मलिन मन को उन सन्तों के सत्संग में बैठ कर शुद्ध कर लेते। परन्तु आज वे बातें नहीं रहीं। अब तो ये स्थान स्वार्थ-परायण लोगों से घिरे हुए हैं।

तिलक लगाने का भी कोई पुण्य नहीं है। यह रीति व्यर्थ में ही चल गई है। हाँ, यह बात तो ठीक है कि पुरातन आर्य्य लोग दोनों भौंहों के मध्य में ध्यान किया करते थे। अपने शिष्यों को भी इसकी शिक्षा देते थे। इस स्थान में ध्यान करने से लाभ भी महान् होता है। त्रिकुटी के अभ्यासियों में से किसी किसी को बिन्दु समान उज्ज्वल ज्योति-कण दीखने लगता है। कोई तेजोमय चक्राकार को देख पाता है। कोई अर्द्धचन्द्राकार तथा पूर्णचन्द्राकार प्रकाश-पुंज के दर्शन करता है और किसी को दीप-शिखा के आकार की ज्योति दिखाई देती है। ये सब योग-चमत्कार हैं; आत्मिक उन्नति के चिन्ह हैं। कोरे तिलकों का इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

बेनीप्रसादजी ने विनय की, "महाराज! आप परमात्मा की सिद्धि युक्तियों से तो कर देते हैं, परन्तु युक्तियाँ सदा बदलती रहती हैं। जो युक्ति आज अकाट्य कही जाती है कोई आश्चर्य नहीं कि कालान्तर में वह किसी के कर्णपात करने योग्य भी न रहे।"

महाराज ने उत्तर दिया कि 'हम निरे बौद्ध नहीं हैं, जो युक्तियों के बिना अन्य किसी प्रमाण का आदर ही न करें। हमारे सर्वोपरि प्रमाण वेद हैं। उनमें ईश्वर-विश्वास की आज्ञा है। ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।"

'ईश्वर सबके समीप है और प्रतिदिन सब को उपदेश देता है। जो लोग अविद्यान्धकार में ग्रस्त हैं वे उसको नहीं समझते। सोचिये, एक मनुष्य चला जा रहा है। एक मूल्यवान् वस्तु को मार्ग में पड़ी देखकर उसका जी ललचा जाता है। उसे उठाने के लिए ज्योंही वह हाथ आगे बढ़ाता है तो उसे उसके भीतर से उपदेश मिलता है; ऐं! ऐसा काम मत करना, यह महा अधम कर्म है, इसका फल अति दुःखदायक होता है। ऐसे ही जब कोई मनुष्य परोपकारादि शुभ कर्म करने लगता है तो उसमें उत्साह तथा हर्ष की

मात्रा बढ़ जाती है। उसके अन्तःकरण में यह ध्वनि होने लगती है कि यह कर्म अत्युत्तम और सुखमय फलका देने वाला है। यह दोनों प्रकार का उपदेश सबके अन्तरात्मा-परमात्मा की ओर से होता है। यह देववाणी सबके हृदयों में गूंजायमान बनी रहती है। परन्तु इसे सुनते और समझते वे ही हैं जिनके अन्तःकरण से कलिमल कालिमा का कलङ्क दूर हो गया है। ईश्वर-प्रत्यक्षता में यही प्रबल प्रमाण है।"

महाशय बेनीप्रसाद उन दिनों में तरुण थे। एक दिन वे अपने छः सात मित्रों-सहित श्री सेवा में गये। रात के नौ बजे का समय था। उन्होंने महाराज से निवेदन किया कि भगवन्! आज हम आपके पाँव दबाना चाहते हैं। स्वामी-जी ताड़ गये कि ये लोग पैर दबाने के मिस मेरा बल देखना चाहते हैं। वे मुस्कराते हुए बोले कि पाँव पीछे दबाना, पहले आप सब मिल कर हमारे पाँव को भूमि पर से उठाओ। स्वामीजी ने पाँव पसार दिया और वे सात आठ युवक सारा बल लगाकर भी उसे न उठा सके। अन्त को पानी पानी होकर हाँपने लगे!

एक दिन अनेक मुसलमान सज्जन तथा पादरीगण स्वामीजी के साथ ईश्वरीय आदेश पर सम्वाद करने आये। सब ने स्वमतानुसार युक्तियाँ दीं और अपनी धर्म्म-पुस्तकों को ईश्वर का आदेश बताया।

उत्तर देते समय महाराज ने अन्य मतवादियों की युक्तियों का भली भाँति खण्डन किया, वेद के पक्ष में अटूट युक्तियाँ दीं और कहा, "संस्कृत भाषा भी एक स्वाभाविक और, ईश्वर-प्रदत्त भाषा है। इसके स्वरों को लीजिए। इन की ध्वनि सब देशों में पाई जाती है। सब प्रचलित भाषाओं में इसीकी अक्षर-माला नैसर्गिक है। छोटा सा बच्चा भी अ, इ, उ का उच्चारण बिना सिखाए करने लग जाता है। क, ख आदि व्यञ्जन अक्षरों का उच्चारण भी ऐसा ही सुगम और स्वाभाविक है। जो भाषा स्वाभाविक ध्वनि के अक्षरों से बनी है वही भाषा स्वाभाविक और आदिम होनी चाहिए। ईश्वरीय आदेश भी उसी भाषा में होना उचित है।"

बख्तावरसिंहजी उन दिनों मेरठ में सबजज थे। वे प्रतिदिन महाराज की सेवा में आया करते थे। एक दिन वे अपने एक युवक बन्धु के साथ दर्शनार्थ

आये। महाराज ने उन महाशय से कहा, "इस युवक की आयु सोलह वर्ष की प्रतीत होती है। इतनी छोटी आयु में आपने इसका विवाह क्यों किया है? आप पढ़े-लिखे सज्जन हैं। यदि आप लोग ही इस कुप्रथा को न हटायेंगे तो आर्य्य जाति का सुधार कैसे होगा? यह बालविवाह आपकी जाति के जीवन जड़ में घुन बनकर उसका सर्वनाश कर रहा है। अब जो होना था सो तो हो गया, परन्तु पचीस वर्ष के पहले इसकी वधू का द्विरागमन न कराना।"

स्वामीजी का परमात्मा पर परम विश्वास था। उसीके भरोसे कार्य्य करते और निर्भय होकर विचरते थे। मेरठ छावनी का एक सेठ स्वामीजी का घोर विरोधी बन गया। स्वामीजी पर छापा मारने के लिए उसने छः सात गूजर सुसज्जित कर लिये। इस बात का पता शिवलाल आदि महाशयों को भी लग गया। उन्होंने यह समाचार श्री स्वामीजी को सुनाकर कहा, भगवन्! ऐसे दुष्ट लोगों से सावधान रहना उचित है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "आप मेरी चिन्ता न कीजिये। मैं तो परब्रह्म पर ही निर्भर करता हूँ। वही मेरा एक मात्र रक्षक है।"

स्वामीजी ने श्राद्ध-खण्डन पर मेरठ नगर में एक व्याख्यान दिया। इससे वहाँ के ब्राह्मण और आचार्य्य बहुत चिढ़े। जिस मार्ग से स्वामीजी को अपने डेरे पर जाना था उस पर वे लाठियाँ लेकर स्थान-स्थान पर बैठ गये और कहने लगे,"आज दयानन्द इधर से निकले तो सही हम उसे जीता न जाने देंगे।"

इस गोलमाल का भेद, स्वामीजी के प्रेमियों को भी मिल गया। व्याख्यान के पश्चात् जब महाराज चलने लगे तो भक्तों ने विनय की, "भगवन्! कुछ देर ठहर जाइए। पहले प्रबन्ध कर लेने दीजिए। आज कुछ उपद्रवी जन मार्ग में लट्ठ लिये बैठे हैं गड़बड़ करना चाहते हैं।"

वे हँसते हुए बोले, "ये लोग कुछ नहीं कर सकेंगे। ऐसी घटनाओं से मैं सर्वथा निर्भय हूँ। मैंने एक सभ्य को समय दे रक्खा है, इस लिए ठहर नहीं सकता।"

महाराज उस सारी गली में गम्भीर गति से चलते हुए उसके दूसरे छोर पर पहुँच गये परन्तु किसी को 'चूँ' तक कहने का साहस न हुआ। वे उपद्रवी एक दूसरे का मुँह ताकते ही रह गये।

एक ज्योतिषी महाशय, अपने सज्जन मित्रों-सहित स्वामीजी की सेवा में गये। उस समय मध्यान्हकाल था। स्वामीजी ने उनसे कहा कि मैं पचीस मिनट तक नींद लेने के उपरान्त आपसे वार्त्तालाप करूंगा। इतनी देर आप सुखपूर्वक विराजिये। वे सब कमरे से बाहर बैठ गये। थोड़ी देर में स्वामीजी का प्रेमी एक तहसीलदार दर्शनार्थ आया। ज्योतिषीजी ने उसे कहा कि महाराज-को पच्चीस मिनट तक सोना है। उनको सोये पन्द्रह मिनट हुए हैं। दस मिनट और बीतने पर वे अवश्य जाग उठेंगे। इस लिए आप भी बैठ जाइए। ठीक पचीस मिनट बीतने पर महाराज की निद्रा भङ्ग हो गई और वे जाग उठे। इससे उन महाशयों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ।

ज्योतिषी से महाराज ने वार्त्ता-विनोद में पूछा, "आप किस प्रयोजन के लिए यहाँ आये हैं?" उसने निवेदन किया, "भगवन्! मैं ज्योतिषी हूँ। कुछ प्राप्ति की लालसा से ही यहाँ आया हूं।" महाराज ने हंसते हंसते कहा, "यहाँ आते समय यदि आप को यह ज्ञान था कि कुछ प्राप्ति हो जायगी तो आपका ज्योतिष-ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि मैं आपको कुछ भी न दूँगा। यदि आपका ज्योतिष यह बताता था कि कुछ प्राप्ति नहीं होगी तो आप व्यर्थ-कार्यकर्त्ता सिद्ध हो गये। तब इस बात का क्या प्रमाण है कि आप ज्योतिष-विद्या की भी व्यर्थ ही बातें नहीं बताते फिरते?" ज्योतिषी महाशय को इसका कुछ भी उत्तर न सूझा।

एक दिन महाराज की सेवा में नहर के जिलादार श्री सेवारामजी आये। जब वे जाने लगे तो उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया, "भगवन्! यदि मैं नहर-विभाग में डिपटी हो गया तो पहले मास का वेतन वेदभाष्य के लिए अर्पण करूँगा। कुछ कालान्तर में उनकी मनोकामना पूरी हो गई। अभी उन्होंने अपने इष्ट-मित्रों को भी इसका समाचार नहीं दिया था कि स्वामीजी का पत्र उन्हें प्राप्त हुआ; जिसमें महाराज ने उन्हें नवीन पद प्राप्ति की बधाई देते हुए उनका प्रण भी स्मरण कराया। इस पर सेवारामजी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी को इस बात का पता कैसे लग गया।

एक दिन अनेक, तिलक-मालाधारी ब्राह्मण, स्वामीजी के निकट बैठे थे। उसी समय एक भद्र पुरुष ने आकर उनको नमस्कार किया और कुशल पूछा।

महाराज ने उत्तर दिया कि "हमें कुशल कहाँ!" भक्त ने फिर पूछा, "भगवन्! क्या कोई मानस खेद है?"

उस समय महाराज ने एक लम्बी साँस भर कर कहा, "इससे बढ़ कर खेद और क्या हो सकता है कि ये ब्राह्मण, जो पास बैठे हैं अपने कर्त्तव्य कर्म से कोसों दूर हैं। बाहरी आडम्बर और पाखण्ड से अधिक प्यार करते हैं। धर्म्म के प्रचार का इन्हें ध्यान तक नहीं। आर्य्य सन्तान की दीन-हीन दशा पर इनको टुक दया नहीं आती!"

महाराज की प्रकृति कोमल थी। उनका हृदय इतना मृदु था कि आर्य्य जाति तथा आर्य्य धर्म्म की दुःख-कथा और दुर्दशा का वर्णन करते समय उनका जी भर आता था और नेत्र अश्रु-मोचन करने लग जाते थे।

महाराज के मेरठ में विराजने से नगर में बड़ा धर्म्मान्दोलन हुआ। लोगों में सत्य की जिज्ञासा प्रकट हो गई। अनेक व्यक्तियों ने अपने जीवनों को शुद्ध किया। वहाँ आर्य्य समाज भी स्थापित हो गया। लाला रामसरनदासजी और श्री छेदीलालजी प्रभृति, अनेक प्रतिष्ठित पुरुष, उसके सभासद बन गये।

मेरठ से चल कर कोई आश्विन सुदी १२ सं० १९३५ को महाराज देहली आये। सब्ज़ीमण्डी में लाला बालमुकुन्द केसरीचन्द के उद्यान में विराजमान हुए। विज्ञापनों द्वारा सारे नगर में श्री उपदेशों की सूचना दे दी गई। शाहजी के छत्ते में उनके प्रभावजनक व्याख्यान हुए।

स्वामीजी यज्ञों में और यज्ञोपवीत आदि संस्कारों में गायत्री-पुरश्चरण कराया करते। बहुत से विद्वान् मिल कर बारह चौदह दिन तक गायत्री जप करते। यजमान से भी यह पवित्र जप कराया जाता। जयपुर के ठाकुर श्री रणजीतसिंह ने एक बड़ा भारी यज्ञ करने का सङ्कल्प किया था। इस पर महाराज ने उन्हें कह रक्खा था कि हमारे कथनानुसार गायत्री का अनुष्ठान कराइएगा। उस चिरकालिक सङ्कल्पको सफलीभूत बनाने के लिए, ठाकुर महाशय ने, जोशी रामस्वरूप को श्री स्वामीजी की सेवा में भेज कर, उन्हें यज्ञ कराने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामीजी ने देहली से जयपुर जाना स्वीकार कर लिया।

स्वामीजी के दर्शन करने और उन्हें दानापुर ले जाने के लिए भोलानाथ और मक्खनलालजी, दो सभ्य आये और नमस्ते कह कर महाराज के पास बैठ गये।

उनके नम्र निवेदन को सुन कर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि 'यहाँ से तो मैं जयपुर जाने का वचन दे चुका हूँ। फिर जब पुष्कल अवकाश होगा तो आपके नगर में अवश्य आऊँगा।' वेद-भाष्य पर बात-चीत करते हुए उन्होंने कहा कि यह कार्य मैं आप लोगों के लिए ही कर रहा हूँ; मेरे शरीर छोड़ने के अनन्तर यह अतिशय उन्नति का साधन होगा।

महाराज देहली में *आर्य्यसमाज की शुभ स्थापना करके* कार्तिक शुक्ला एकादशी अथवा द्वादशी सम्वत् १९३४ को जयपुर को प्रस्थान कर गये। जब वे जयपुर के रेलवे स्टेशन पर पहुँचे तो वहाँ जोशी रामस्वरूपजी को उपस्थित पाया। उन्होंने सारा सिर मुण्डवाया हुआ था। स्वामीजी ने कारण पूछा तो जोशीजी अविरल आँसू बहाते बोले "भगवन्! अति शोक है कि ठाकुर रणजीतसिंहजी का देहान्त हो गया है।"

स्वामीजी ने, उस समय उन्हें कहा कि ऐसे समय में मैं जयपुर नहीं जाता। आप ठाकुर महाशय के बन्धुओं को मेरी ओर से आश्वासन दीजियेगा और कहियेगा कि अजमेर से लौटते समय, मैं जयपुर अवश्य आऊँगा।

महाराज वहाँ से अजमेर का टिकट लेकर गाड़ी में बैठ गये और कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी सं० १९३४ को, दिन के तीसरे पहर, अजमेर जा पहुँचे। कई प्रतिष्ठित सज्जन, उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर विद्यमान थे। स्वामीजी सरदार भक्तसिंह इञ्जनीयर की बग्घी में बैठ कर, सेठ रामप्रसाद के उद्यान में गये, वहाँ विश्राम लिया। कार्त्तिक पूर्णिमा को पुष्करजी में मेला हुआ करता है। महाराज उस पर धर्म्म-प्रचार करना चाहते थे इसलिए उसी दिन अजमेर से चल कर महाराज जोधपुर के घाट पर, ईश्वरनाथजी के दरीचे में विराजे। आगामी दिन विज्ञापन द्वारा सबको धर्मप्रचार की सूचना देकर सत्संग लगाया गया। महाराज के धर्म्म-नाद को सुन कर पन्थाई लोगों में भारी हलचल मच गई।

इसके पश्चात् महाराज अजमेर लौट आये। मार्गशीर्ष बदी चतुर्थी सं० १९३४ को वहाँ व्याख्यान-वारि-वर्षा करने लगे। वहाँ उनके विविध विषयों पर अनेक उत्तमोत्तम भाषण हुए।

उनका एक भाषण ईसाई धर्म्म पर था। उसमें वे बाइबिल की आयतों का पाठ सुना कर उन पर समालोचना करते थे। उस समय एक योरुपीय पादरी ने

कहा, "आप जिन बाईबिल-वचनों पर आक्षेप करते हैं वे सब लिख कर हमारे पास भेज दीजिए। हम जब उनको भली भाँति विचार लेंगे तो फिर, यहाँ आकर उनका उत्तर आपको सुना देंगे।"

अगले दिन स्वामीजी ने चौबीस वाक्य लिख कर, असिस्टेंट कमिश्नर पण्डित भागीरामजी द्वारा पादरियों के पास भिजवा दिये। दस दिन पर्यन्त पादरी महाशय उनका समाधान सोचते रहे और अन्त में मार्गशीर्ष सुदी चतुर्थी को सम्वाद के लिए आये। उस दिन सम्वाद-सभा में दर्शकों की बड़ी भारी संख्या थी। उच्च कर्मचारी भी आये थे। सम्वाद को आरम्भ करते समय स्वामीजी ने कहा, "पादरियों के साथ मेरा बहुत बार सम्वाद हुआ, परन्तु कभी कोई गड़बड़ नहीं हुई। सो आशा है कि यहाँ भी शान्ति भङ्ग न होगी।" इसके उपरान्त महाराज ने पूर्व पक्ष की स्थापना की, "तौरेत की उत्पत्ति पुस्तक पर्व १, आयत २ में लिखा है कि पृथ्वी बे-डौल है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है तो उसका कार्य बे-डौल नहीं हो सकता। यह काम तो किसी अल्पज्ञ जीवन का ही कहा जा सकता है।"

इसपर पादरी ग्रे महाशय ने कहा, "यहाँ, बे-डौल से तात्पर्य ऊजड़ से है।"

इसपर स्वामीजी ने समालोचना की, "इससे पहली आयत में यह कहा गया है कि आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी को सृजा और पृथ्वी बे-डौल सूनी थी। जब सूनी शब्द विद्यमान है तो बे-डौल का अर्थ उजाड़ नहीं हो सकता।"

इसका उत्तर पादरी महाशय ने यह दिया, "एक अर्थ के दो शब्द सभी भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं।"

महाराज इस पर प्रत्यालोचन करने ही लगे थे कि पादरी महाशय कह उठे—"महाशय! एक वाक्य पर दो प्रश्नोत्तर ही होने चाहियें। नहीं तो चौबीस वाक्यों पर हम आज नहीं बोल सकेंगे।" स्वामीजी ने बहुत यत्न लगाया कि "तीसरी बार भी बोलने दीजिए। समय का ध्यान न कीजिए। जो वाक्य आज रह जायँगे उन पर कल विचार कर लिया जायगा।" परन्तु पादरी महाशय ने ऐसा करना स्वीकार न किया।

२ स्वामीजी ने कहा, "उसी आयत में कहा है कि ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था। इसके पहले केवल आकाश और पृथ्वी की रचना कही

गई है। जब जल की रचनाही न हुई थी तो जल पर डोलना कैसे सिद्ध हो सकता है ? जल पर डोलना हमारी तरह देहधारी के लिए होना सम्भव है। जब आपके मतानुसार ईश्वर देहधारी सिद्ध हुआ तो साकार से आकाशादि की रचना नहीं हो सकती।

इसका उत्तर पादरी महाशय ने यह दिया कि "पृथ्वी की रचना में जल भी आ गया। तौरेत के आद्योपान्त में ईश्वर को आत्मरूप वर्णन किया है।"

स्वामीजी ने समालोचना की, "ईश्वर का जो वर्णन बाईबिल में आता है उससे प्रतीत होता है कि वह किसी प्रकार का शरीर भी रखता है—जैसे आदम की वाड़ी बनाना, फिर ऊपर चढ़ जाना, मूसादि से वार्त्तालाप करना, तम्बू में आना, और याकूब से मिल कर युद्ध करना आदि।"

प्रत्युत्तर में पादरी ने कहा, "ये सब बातें उस आयत के साथ सम्बन्ध नहीं रखतीं ये केवल अनजानपन की बातें हैं।"

फिर स्वामीजी ने कहा, "उसी आयत में वर्णन है कि तब ईश्वर ने कहा कि आदम को अपने स्वरूप में, अपने समान बनावें। इससे तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैसे आदम देहधारी था ठीक वैसाही इस आयत का ईश्वर है।"

पादरी महाशय ने उत्तर दिया कि "इस वाक्य में शरीर का कोई वर्णन नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ईश्वर ने आदम को पवित्र, ज्ञान-वान् और आनन्दयुक्त बनाया।"

इसपर महाराज ने प्रत्यालोचना करते कहा, "जब आपकी धर्म्म-पुस्तक में यह विद्यमान है कि ईश्वर ने आदम को अपने समान बनाया तो इसका पवित्र और ज्ञानवान् आदि अर्थ कैसे करते हो ? यदि पवित्र रचा था तो उसने ईश्वर की आज्ञा, क्यों भङ्ग की ?"

"आपके धर्म्म-ग्रन्थों में लिखा है कि जब आदम ने ज्ञान के पेड़ का फल खाया तो उसकी आँख खुली। इससे सिद्ध होता है कि वह ज्ञानवान् नहीं बनाया गया था; ज्ञान उसे पीछे प्राप्त हुआ। यदि आप आदम की आँख खुलने और अपने को नग्न आदि समझने को अज्ञान मानते हो तो क्या ईश्वर को और ईश्वर समान स्वरूपवालों को इन अवस्थाओं का ज्ञान नहीं होता ? इससे तो आपके ईश्वर की सर्वज्ञता ही खण्डित हो जायगी।

इसके पश्चात् पादरी महाशय ने कहा, "अब समय समाप्त हो गया है। इससे अधिक काल हम नहीं ठहर सकते। इस प्रकार सम्वाद करने में बोलना और लिखना, दोनों काम करने पड़ते हैं। इससे समय अधिक व्यय होता है। अच्छा तो यह है कि आप, अपने सारे आक्षेप लिख कर हमारे मकान पर भेज दीजिये। हम भी आपको लेखबद्ध उत्तर भेज देंगे।"

स्वामीजी ने कहा कि "जब आपने पहली प्रतिज्ञा बदल डाली तो दूसरी का आप पालन करेंगे, यह कैसे माना जाय? लिख कर पत्र व्यवहार करने में जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता। हमारा प्रयोजन है, लोगों को समझाना। घर में बैठ कर पत्र-व्यवहार करने से तो, यह क्रम एक वर्ष में भी समाप्त नहीं हो सकेगा।" पर पादरी महाशय ने स्वामीजी का कथन स्वीकार नहीं किया और वे उठकर चले गये।

इस सम्वाद का अजमेर की जनता पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ा। लोग ईसाई धर्म्म की वास्तविक मूर्त्ति को समझ गये।

अजमेर के मुसलमान भी सम्वाद करने की बातें करते थे, परन्तु जब उनको कहा गया कि आप अपने गुरु से स्वामीजी का शास्त्रार्थ कराइए तो वे संवाद करने से टल गये।

अजमेर में एक दिन व्याख्यान देते समय, स्वामीजी ने ढाई पुराने पत्रे उठाकर दिखाये और कहा कि मैंने अखिल आर्यावर्त्त में धनुर्वेद को खोजा परन्तु केवल ये ढाई पत्रे ही मिले। यदि मेरे जीवन की लड़ी बनी रही तो मैं वेदों से धनुर्वेद का प्रकाश अवश्यमेव कर दूँगा।

स्वामीजी के हृदय में भारत के निर्धनों के लिए अपार दया निवास करती थी। एक दिन वे व्याख्यान दे रहे थे। उसी समय समाचार मिला कि भरतपुरिये चमारों के गंज में आग लग गई है और उनके घास-फूस के मकान जल कर राख का ढेर हो गये हैं। यह सुनते ही, उनके दयालु हृदय में दया उमड़ आई। उनके त्राण तथा सहायता के लिए, उन्होंने अपने पास से कुछ द्रव्य दिया और दूसरे लोगों को भी इसके लिए प्रबल प्रेरणा की। उनके उपदेशों से तत्काल पर्याप्त रुपया एकत्र हो गया।

मसूदा राज्य के राव श्री बहादुरसिंहजी ने, प्रबल-प्रार्थनापूर्वक, स्वामीजी को अपने नगर में निमंत्रित किया। उनके आग्रह से स्वामीजी मार्गशीर्ष सुदी अष्टमी सं० १६३२ को मसूदा में सुशोभित हुए। महाराज के वहाँ तीन-चार व्याख्यान हुए। राव महाशय व्याख्यानों में तो आते ही थे, परन्तु स्वामीजी के सत्संग में उनको इतना रस आता कि वे सारा दिन, श्री-चरणों में ही बैठे-बैठे बिता देते। मन-चाहे प्रश्न पूछते और संशय निवारण कराते रहते।

पौष वदी पड़वा सम्वत् १६३२ को स्वामीजी मसूदा से चल कर नसीराबाद में पधारे और मसूदा राज्य के उद्यान में ठहरे। वहाँ महाराज ने अपने अमृतमय उपदेशों से लोगों को कृतार्थ कर दिया। नसीराबाद में तीन दिवस रह कर चौथे दिन वे जयपुर को प्रस्थान कर गये।

पौष वदी ५ सं० १६३२ को स्वामीजी जयपुर पहुँचे और डेढ़मास तक एक उद्यान में ठहरे। उनके खण्डन विषय के प्रभावशाली व्याख्यान हुए। ठाकुर रघुनाथसिंह ने महाराजा महाशय को स्वामीजी के दर्शनार्थ प्रेरित किया और वे समुद्यत भी हो गये। परन्तु दो एक ब्रह्मचारियों ने उनको कुछ उलटे फेर में डाल दिया और श्री-दर्शनों से वञ्चित रक्खा।

जयपुर-राज्य के एक बहुत बड़े सत्ताधारी मनुष्य को एक सज्जन ने कहा कि यहाँ स्वामीजी पधारे हुए हैं। आप भी उनके दर्शन कीजिए। उसने आवेश में आकर उत्तर दिया कि आपतो दर्शनों को कहते हैं, हमारा वश चले तो उन्हें कुत्तों से नुचवा डालें।

महाराज ने जब मृतक-श्राद्ध और मूर्ति-पूजा का खण्डन किया तो महाराजा जयपुर भी अप्रसन्न हो गये। उनकी अप्रसन्नता से कम्पित-काय होकर, ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी ने कहा, "भगवन्! ऐसी अवस्था में आपका यहाँ रहना अच्छा नहीं है। श्री-चरणों को कहीं कोई कष्ट-क्लेश न भोगना पड़े।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठाकुर महाशय! आप हमारे विषय में सर्वथा निश्चिन्त रहिये। मैं, विपत्ति और बाधाओं के कारण, अपने उद्देश्यों को नहीं छोड़ सकता। मुझे इन बातों का भय नहीं है। हाँ, आप राजकर्मचारी हैं। इस लिए, आपको भय भी हो सकता है। सो उससे बचने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि श्रीमन्त मेरे समीप न आया करें, परन्तु मैं तो किसी

मनुष्य का नौकर नहीं हूं। मेरे आत्मा को तो कोई मनुष्य छीन सकता ही नहीं। शेष कौन-सा पदार्थ है, जिस के छिन जाने का मुझे डर हो सकता है ?"

स्वामीजी के सामर्थ्य को जयपुर के पण्डित जानते थे। वे आप तो उनके सामने आने का साहस न करते, किन्तु विद्यार्थियों को सिखा-समझा कर भेजते थे। महाराज उनकी चातुर्य्ययुक्त चाल को जान गये। उन्होंने विद्यार्थियों को कहा, "यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो हमारे शिष्यों के साथ कर लो; हम तो तुम्हारे गुरुओं से ही सम्वाद करेंगे।"

जयपुर में स्वामीजी के तीन अत्युत्तम भाषण, ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी की हवेली में हुए। इन व्याख्यानों में कई ठाकुर और उच्च राजकर्मचारी भी आते थे।

स्वामीजी के प्रेमियों के कोमल अन्तःकरणों को ठेस लगाने के लिए दुष्ट जन अनेक मिथ्या समाचार उड़ा देते थे। कभी उनकी मृत्यु का समाचार और कभी उनके बन्दी बनाए जाने का समाचार उड़ा देते थे। जब स्वामीजी जयपुर में थे तो रुड़की में किसी दुर्जन ने यह बात फैला दी कि महाराजा जयपुर ने स्वामीजी को, उनके कर्मचारियों सहित, कारावास में आबद्ध कर लिया है। यह समाचार सुनने के पश्चात् जब तक भक्तजनों ने स्वामीजी का सुख-समाचार न मंगा लिया तब तक वे व्याकुल ही रहे।

रेवाड़ी में राव युधिष्ठिरसिंह नामक एक प्रतिष्ठित-व्यक्ति वास करते थे। वे अति सज्जन थे और कोई पचास गाँव के भूमिहार थे। उन्होंने श्री महाराज के दर्शन राजमहोत्सव के समय देहली में किये थे। तभी से उनके हृदय में स्वामीजी की भक्ति निवास करती थी। उन की बार-बार की विनीत विनती पर श्री स्वामीजी पौष सुदी १ सं० १९३५ को रेवाड़ी में सुशोभित हुए। नगर से दूर एक उद्यान में उन्होंने डेरा किया। वहाँ राव महाशय के प्रबन्ध से स्वामीजी के उत्तमोत्तम व्याख्यान हुए। उन व्याख्यानों में उन्होंने कुरीतियों का बड़े बल से खण्डन किया। गायत्री के महत्त्व पर भी उनका एक अत्युत्तम उपदेश हुआ।

गङ्गाप्रसाद नामक एक व्यक्ति ने महाराज की सेवा में निवेदन किया, "भगवन्! ब्राह्मण यह कहते हैं कि ब्रह्मगायत्री को ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "उनका ऐसा मानना अमूलक है। शास्त्र में तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए एक ही गायत्री और सन्ध्या विधान की है।" इस के साथ ही स्वामीजी ने गङ्गाप्रसाद को अपनी पञ्च-महायज्ञ-विधि पुस्तक की एक प्रति प्रदान की। एक घण्टा लगा कर, उसे गायत्री का शुद्ध उच्चारण सिखाया। जब वह गायत्री सीख कर नगर में गया तो ब्राह्मण उसे कहने लगे, "तू जो कुछ सीख कर आया है वह ब्रह्मगायत्री नहीं है।" गङ्गाप्रसाद ने आकर यही बात श्री-सेवा में निवेदन कर दी।

स्वामीजी ने उसे कहा, "जो कोई आप से कहे कि यह ब्रह्मगायत्री नहीं है, उसे मेरे पास ले आना। मैं उसे अच्छी तरह समझा दूँगा।" तब तो गङ्गाप्रसाद सिंह हो गया। नगर में सब को ललकारने लगा कि यही ब्रह्मगायत्री है।

राव महाशय ने स्वामीजी के व्याख्यान सुनने के लिए अपनी बिरादरी के लोग बड़ी दूर-दूर से बुलाये थे। इसलिए रेवाड़ी के आस-पास के गाँव में भी धर्म्म-प्रचार हो गया।

राव महाशय को उत्तम जीवन प्रदान करने के अनन्तर, महाराज माघ बदी १ सं० १९३५ को रेवाड़ी से चल कर देहली आये और सब्ज़ी-मण्डी के पास बालमुकुन्द किशोरचन्द्र के मोती-उद्यान में विराजमान हुए। इस बार उन्होंने वहाँ दो तीन ही व्याख्यान दिये और फिर वे हरिद्वार के कुम्भमेले पर जाने के लिए प्रस्थान कर गये। माघ बदी ६ को महाराज मेरठ में उतरे। वहाँ से उन्होंने विज्ञापन छपवा कर साथ ले लिये और मार्ग में सहारनपुर और रुड़की में ठहरते हुए फाल्गुन सुदी ६ सं० १९३५ को ज्वालापुर में पहुँचे। वहाँ वे मूला मिस्त्री के बङ्गले में विराजे और प्रतिदिन धर्म्मोपदेश करते रहे।

ज्वालापुर में राव ओजखाँ नाम के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति निवास करते थे। वे स्वामीजी के सत्संग में आया करते थे। उन्होंने एक दिन प्रार्थना की, "महाराज! क्या गो-रक्षा सब जीव-रक्षा से अच्छी है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हाँ, गो-रक्षा सर्वोत्तम है और इसमें सब से अधिक लाभ है। गो-रक्षा करना सब मनुष्यों का कर्तव्य है।"

ओजखाँ महाशय ने यह भी पूछा, "आर्यों में नित्यप्रति नहाने का नियम किस नींव पर रक्खा गया है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आयुर्वेद-विद्या के

अनुसार प्रतिदिन स्नान करना बल-पुष्टि का वर्द्धक, आरोग्यता तथा स्वास्थ्य सम्पादक है। इससे देह में स्वच्छता और स्फूर्ति बनी रहती है।" राव महाशय ने स्वामीजी का युक्तिसंगत कथन स्वीकार कर लिया और प्रभावित हो कर मांस खाना भी छोड़ दिया।

फाल्गुन सुदी ६ सम्वत् १६३५ को स्वामीजी ज्वालापुर से हरिद्वार पधारे। वहाँ उन्होंने श्रवणनाथ के उद्यान और निर्मलों की छावनी के सामने, मूला मिस्त्री के खेत में, अपना डेरा डाला। वहीं तम्बू ताने गये, पर्ण-कुटियायें निर्माण की गईं। सत्संग के लिए भी एक सुन्दर मण्डप सुसज्जित हो गया।

उस समय स्वामीजी की सहायतार्थ उनके शिष्य श्री रामसरनदासजी मेरठ से आ गये। पण्डित उमरावसिंहजी आदि अन्य भी अनेक शिष्य, अपने गुरुदेव के साथ सहयोग देने को, उपस्थित हुए और उसी छावनी में ठहरे। विज्ञापनों द्वारा सर्वसाधारण को विदित कर दिया गया कि पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज, विक्रमी सम्वत् १६३५ फाल्गुन शुक्ला ६ गुरुवार को हरिद्वार में आकर निर्मलों की छावनी के सामने, मूला मिस्त्री के खेत में ठहरे हैं। जो महाशय उनसे लाभ उठाना चाहें वह उपर्युक्त स्थान में उपस्थित हो कर सभ्यता और प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करें।

विज्ञापन के निकलते ही सारे मेले में स्वामीजी का नाम गूँज गया। सहस्रों नरनारी उनके उपदेशों में आने लगे। साधु लोग भी टोलियाँ और मण्डलियाँ बना कर आते थे। महाराज ने जब तत्कालीन कुरीतियों पर टीका-टिप्पणी चढ़ाई, कुप्रथाओं पर कठोर कुठाराघात किया और वेषमात्रोपजीवी जनों की समालोचना की तो सारा साधु-सागर संक्षुब्ध हो गया। महन्तों के आसन डोलने लगे। मण्डलेश्वर अपनी मंडलियों सहित घबरा उठे। उन दिनों में, जहाँ जाओ, जिधर देखो, लोग स्वामी दयानन्दजी का ही कथोपकथन करते मिलते। कई पौराणिक पण्डित विरोध करने के लिए कटि-बद्ध हुए, परन्तु जब सारा सामर्थ्य लगा कर भी वे कुछ न कर सके तो अन्त में जी छोड़ बैठे।

दो नांगे साधु स्वामीजी के निकट आ कर, अपमानजनक वचनों द्वारा, बातचीत करने लगे। वे दोनों विनय-विहीन, बकवादी और हठीले थे।

श्री महाराज उनके साथ हँसते-हँसते सादर उत्तर देते थे। इस वार्त्तालाप में नांगे कई बार कुपित्त हुए, परन्तु स्वामीजी की प्रकृति-लता पर उनके क्रोधाङ्गार की एक भी चिङ्गारी उड़ कर न पड़ी। वे प्रशान्त और प्रसन्न बने रहे। महाराज की शान्ति का यह प्रभाव हुआ कि उन नांगों ने अपनी जटा-जटा को उसी दिन विसर्जन कर दिया और श्री-चरण-शरण लेकर अपने अपराध क्षमा कराये।

एक दिन तम्बू के द्वार खुले हुए थे। महाराज उसमें बैठे कार्य्य कर रहे थे। उसी समय एक आनन्दवन नामक परमहंस वहाँ पधारे। उनके एक हाथ में कमण्डलु, दूसरे में दण्ड और तन पर एक लम्बा उज्ज्वल चोला शोभायमान था। उनके साथ कोई दस शिष्य थे।

ज्योंही स्वामीजी ने आनन्दवनजी को भीतर पदार्पण करते देखा, वे तत्काल आसन से उठ खड़े हुए और तम्बू द्वार पर जाकर उनका स्वागत किया। उनको उचित आसन पर बैठाया। उसी समय दोनों में शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। जब दिन के ग्यारह बजे तो स्वामीजी के सेवक ने आकर निवेदन किया, "भगवन्! भोजन प्रस्तुत है।"

स्वामीजी ने अतिथि से भोजन के लिए कहा, तो वे बोले कि जब तक इस प्रश्न का निर्णय न हो ले, हम भोजन नहीं करेंगे। शास्त्रार्थ द्वैताद्वैत पर था। स्वामीजी, चारों वेदों और पचास-साठ अन्य पुस्तकों को अपने पास रख कर, प्रमाणों के प्रबल अस्त्रपात से परमहंस आनन्दवनजी के सघन संशय-वन को लगे उड़ाने। जब द्वन्द्व-युद्ध होते दिन के दो बज गये तो वे दोनों महात्मा उठ खड़े हुए। थोड़े-से वार्त्तालाप के उपरान्त आनन्दवनजी ने अपने शिष्यों को सम्बोधन कर के कहा, "मैंने स्वामी दयानन्दजी के द्वैत सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। आज इनकी युक्तियों की वायु ने मेरे अहं-ब्रह्मवाद के घमण्ड-रूप घोर घन-घटाटोप को उड़ा दिया है। अब आपको भी ऐसा ही करना उचित है।" तत्पश्चात् वे महात्मा चले गये।

आनन्दवनजी श्री-उपदेशों में प्रायः आया करते और एकाग्रचित्त से सुना करते थे। वे संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे। उनकी आयु उस समय कोई अस्सी वर्ष के लगभग होगी।

एक निर्मला साधु, जोतसिंह स्वामीजी के निकट आया और वार्त्तालाप करने लगा। वह स्वामीजी के विरुद्ध बार बार उल्टे-कटे वचन कहता था। यद्यपि स्वामीजी के शिष्य आवेश में आ जाते, परन्तु महाराज उनको शान्त करके उस मूर्ख महात्मा से कथोपकथन करते ही जाते थे। दो दिन तक तो वह साधु टेढ़ी ही चाल चलता रहा। वक्रवाक्य और व्यङ्ग-वचन बाण-वर्षा में उसने कोई त्रुटि न छोड़ी, परन्तु जब वह तीसरे दिन श्रीसेवा में आया तो उसके चित्त का चित्र और ही था। उसके दोनों कपोलों पर आँसुओं की धारा का तार बंधा हुआ था। वह बद्धाञ्जलि श्री-चरणों पर गिर पड़ा और अपने किये अपराधों के लिए क्षमा माँगने लगा। जोतसिंह के पश्चात्ताप के उत्ताप से महाराज को अति अनुकम्पा आ गई। उसे ढाढस बँधा कर उन्होंने उसे अपने पास ही रख लिया। अन्त में वह पक्का आर्य्य बन गया।

एक दिन, एक अमृतसर-निवासी आर्य्य ने श्रीसेवा में आकर निवेदन किया कि भगवन्! मुझे अमृतसर के आर्य समाजियों ने आर्य्यसमाज की सभासदी से निकाल दिया है।

स्वामीजी ने उससे पूछा कि आपको किस अपराध पर बहिष्कृत किया गया? उसने उत्तर दिया कि पुस्तक चुराने का दोषारोप करके उन्होंने मुझे निकाला है। भगवान् ने गम्भीर भाव में उसे कहा कि सच-सच कहना, क्या आपने पुस्तकें चुराई भी थीं? उसने कह दिया कि महाराज! यह दोष हुआ मुझ से अवश्य है।

स्वामीजी ने परिलक्षित कर लिया कि सच्चे अन्तःकरण से अनुताप कर रहा है। इसलिये उन्होंने उसे शिक्षा दी कि फिर ऐसे पाप-सोपान पर पदार्पण कभी न करना और आर्य्यसमाज, अमृतसर के नाम भी पत्र लिख दिया कि हमने इसका अपराध क्षमा कर दिया है। अब इसे सभासद् बना लीजियेगा।

एक दिन, स्वामीजी को महात्मा रत्नगिरिजी मिले। बातचीत में महाराज ने कहा, "सारे मठधारियों, महन्तों और मण्डलेश्वरों में सुखदेव गिरिजी, जीवन गिरिजी और विशुद्धानन्दजी, ये तीन पूरे पण्डित हैं। शेष तो निरे घाऊघप हैं। केवल लड्डू-पूरी उड़ाना ही जानते हैं। आप इन तीन महात्माओं के पास हमारे प्रश्न-पत्र ले जायं।"

स्वामीजी के कथनानुसार, रत्नगिरिजी उनका पत्र सुखदेव गिरिजी के निकट ले गये। वे श्री दयानन्द का पत्र पाते ही तिलमिला उठे और मुंझला कर कहने लगे, "तुम दो-घड़ी बिल्ली की नाईं बन गये हो। हम तुम पर विश्वास नहीं करते। आगे को, हमारे पास उनका कोई पत्र न लाना।"

श्री स्वामीजी महाराज का ईश्वर की प्रार्थना और उपासना में बड़ा विश्वास था। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा भी है कि स्तुति से ईश्वर-प्रेम बढ़ता है। उसके गुण, कर्म और स्वभाव से अपने गुण, कर्म और स्वभाव सुधर जाते हैं। ईश्वर को प्रार्थना से निरभिमानता आती है और उत्साह प्राप्त होता है प्रभु की सहायता मिलती है। परोपकार करने की प्रार्थना ही में परमेश्वर सहायता देता है। महाराज व्याख्यान के आरम्भ में पहले परमात्मदेव की प्रार्थना किया करते। वे ईश्वर-गुणगान ऐसे स्वर से करते कि उनका गला गद्-गद् हो जाता। श्रोता भी भक्ति-रस में झूमते हुए प्रेमाश्रु बहाने लग जाते। उनकी प्रार्थना में एक विशेष अलौकिक रस होता था।

एक दिन निर्मल महात्मा रामसिंहजी ने स्वामीजी से विनय की, "महाराज! इतने पण्डित और ज्ञानी होकर भी, आप भिखारियों की भांति ईश्वर से भीख माँगते हैं। ऐसे कर्म तो अज्ञानियों के लिए कहे हैं। जिस ज्ञानी ने 'अहं ब्रह्मास्मि' का मनन कर लिया उसे इस प्रकार रोने-खीझने की क्या आवश्यकता है?" महाराज ने उत्तर दिया, "मनुष्य में प्रार्थना की वृत्ति स्वाभाविक है। जैसे आप में खाने, पीने और सोने की वृत्ति तो विद्यमान है, परन्तु परितृप्ति प्राप्त करने के लिए, आप उस वृत्ति को जगाते हैं। ऐसे ही प्रार्थनारूप, भक्ति-वृत्ति को जगाने की आवश्यकता है। यह सत्य नहीं है कि ज्ञानी-जन प्रार्थना नहीं करते। आप अपने को पूरे वेदान्ती मानते हैं, परन्तु फिर भी वेदान्त-वाक्य दुहराते रहते हैं। जिस वस्तु का किसी को जितना अधिक ज्ञान होता है वह उसे उतना ही अधिक स्मरण करता है। जितनी अधिक प्रीति परमेश्वर म बढ़ेगी उसका उतना ही अधिक प्रकाश होगा। भाई रामसिंहजी! ऊपर से चाहे जो करो, परन्तु जब तक भूख-प्यास और सुख-दुःख आदि का अनुभव करते हो तब तक आप पूर्ण नहीं हो। आपमें न्यूनता अवश्य है। अपनी न्यूनता को पूर्ण करने के लिए—तीन गुणमयी माया से ऊपर होने के

लिए प्रार्थना आवश्यक है।" रामसिंहजी ने सिर झुका कर श्री-वचनों को स्वीकार किया।

स्वामीजी के व्याख्यानों में निर्मल साधु बड़ी भारी संख्या में आया करते थे। उनमें से बहुतों का महाराज से प्रेम भी हो गया था। निर्मलों के अखाड़े में ये साधु ग्रन्थ को नमस्कार किया करते हैं। जब एक दिन व्याख्यान में निर्मलों का एक दल आया तो महाराज ने मुस्कराकर कहा—"आओ भाई जड़ पूजको! बैठ जाओ।" यह सुन कर सारे साधु खिल-खिला कर हंस पड़े। इसके उपरान्त स्वामीजी ने उनको उपदेश दिया, "आप लोग रात-दिन तो आत्मवाद छांटते रहते हो, उपनिषद् वचनों की घोंटें लगाते हो, वेदान्त-सूत्रों की छानबीन में प्रवीणता प्रकट करते हो, कर्म्म-काण्ड की कतरब्योंत में कौशल दिखाते हो, परन्तु भ्रम में इतने ग्रस्त हो कि जड़ वस्तुओं को भी नमस्कार करते हो।" स्वामीजी के कथन का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

महाराज को सम्प्रदायों के आडम्बर देख कर, देश की अधोगति पर अति दया आती थी। वे कहा करते थे कि इन पन्थाई लोगों ने सन्मार्ग का लोप कर दिया है। ये लोग अपनी प्रतिष्ठा की लालसा में अपनी-अपनी खिचड़ी पृथक् ही पकाते हैं। जनता में एक मत होने ही नहीं देते।

वे भारत के सामाजिक बिगाड़ पर भी, भारी मार्मिक वेदना का अनुभव करते थे। एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी बैठे-बैठे लेट गये और फिर उठ कर टहलने लगे। एक भक्त ने विनय-पूर्वक पूछा, "महाराज को आज क्या कोई वेदना हो रही है?" उन्होंने एक लम्बा सांस भर कर कहा—"भाई! इससे अधिक हृदय-विदारक दारुण वेदना और क्या हो सकती है कि विधवाओं की दुःख-भरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्त्तनाद से और गो-वध से, इस देश का सर्व-नाश हो रहा है।"

एक दिन सवेरे, मेरठ के कमिश्नर कई राज-कर्म्मचारियों सहित स्वामीजी के मिलापार्थ आये। स्वामीजी के सेवकों ने उन्हें आदर से आसन दिया। थोड़ी ही देर में महाराज भी अपने तम्बू से बाहर आये और अतिथियों से सम्मान-पूर्वक मिले। कमिश्नर महाशय स्वामीजी से बातचीत करके अति प्रसन्न हुए और उनकी रक्षा आदि के लिये पुलिस के कई कान्स्टेबल नियुक्त कर गये।

एक दिन स्वामीजी अपने आसन पर विराजमान थे। एक मनुष्य ने आकर चरण-वन्दन किया और कहा—"भगवन् ! मुझे जम्मू-कश्मीर के महाराजा रणवीरसिंहजी ने श्री-सेवा में भेजा है। लोगों ने आपकी मृत्यु का समाचार भी उड़ा रखा है। परन्तु उस पर पूर्ण विश्वास न करके, महाराजाजी ने कहा है कि यदि स्वामीजी जीवित हैं तो हरिद्वार के कुम्भ पर अवश्य आयेंगे। उनके पास जाकर हमारा विनय-पत्र उपस्थित करना।"

तब उस भद्र पुरुष ने एक पत्र श्री-सेवा में उपस्थित किया। उस पर महाराजा की मुहर थी। उसमें स्वामीजी से एक ऐसी पुस्तक के बनाने के लिए प्रार्थना की गई थी, जिसमें, शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा, यह सिद्ध किया हो कि जो जन हिन्दू-धर्म्म से पतित होकर मुसलमानादि मतों में मिल गये हैं वे फिर हिन्दू बन सकते हैं। साथ ही यह भी कहा गया था कि यदि हो सके तो इसमें यह भी सिद्ध कर दीजिए कि ईसाई और मुसलमान जातियों के लोग भी हिन्दू-धर्म्म में आ सकते हैं। उनके साथ खान-पान का व्यवहार करने में कुछ भी दोष नहीं है।

उस समय महाराज ने उस आगन्तुक पुरुष को कहा, "ईसाई और मुसलमानों को शास्त्र-रीति से आर्य्य बनाना सिद्ध करने में कोई भी कठिनाई नहीं है। यह बड़ी सुगमता से सिद्ध हो जायगा। मैं श्री महाराजा के नाम, इस विषय पर आपको एक पत्र लिख कर दूंगा।"

उमीदखां और पीरजी इब्राहीम ने स्वामीजी से विनय की, "महाराज ! हमने सुना है कि आप मुसलमानों को आर्य्य बना सकते हैं।" महाराज ने उत्तर दिया, "आर्य्य, सन्मार्ग पर चलने वाले श्रेष्ठ मनुष्य को कहते हैं, सो यदि आप आर्य्य-धर्म्माचार को ग्रहण कर लें तो आप भी आर्य्य बन जायेंगे।"

तब उन दोनों ने पूछा, "हमारे आर्य्य बन जाने पर क्या आप हमारे साथ मिल कर भोजन करेंगे ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हमारे धर्म्म में केवल किसी का जूठन खाना विवर्जित है। सहभोजन में तो कुछ भी दोष नहीं है।"

वे बोले, "जूठा खाने से परस्पर प्रेम बढ़ता है।" इस पर महाराज ने कहा, "इस प्रकार प्रीति बढ़ती हो तो कुत्ते भी तो इकट्ठे खाते हैं, परन्तु, खाते-खाते

ही एक दूसरे को काटने-नोचने लग जाते हैं।" यह सुनकर वे दोनों महाशय अवाक् हो गये।

रुड़की के तहसीलदार नजफ अली तो स्वामीजी का उपदेश सुन कर मोहित ही हो गये। उन्हें सिद्ध पुरुष मानने लगे। उनको निश्चय हो गया कि जैसा धार्मिक ज्ञान संस्कृत पुस्तकों में पाया जाता है वैसा दूसरे धर्मों की पुस्तकों में नहीं मिलता।

एक दिन नजफ अली महाशय ने निवेदन किया कि हमारे मत में अनेक स्त्रियों से विवाह करने की आज्ञा है। इसमें आपकी क्या सम्मति है?

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि अनेक स्त्रियों से विवाह करना सर्वथा अनुचित है और अन्याय है। बहुत विवाह में महाराज ने अनेक दोष दिखा कर कहा कि वेद पवित्र में केवल एक स्त्री-पुरुष ही के विवाह का उपदेश है। तहसीलदार महाशय ने श्री-वचनों को सिर आँखों से स्वीकार किया।

नववाँ सर्ग

महाराज के उपदेशों और शङ्का-समाधान से सहस्रों मनुष्यों ने अपने भ्रम निवारण किये। भक्त जनों के लिए तो भगवान् का सत्सङ्ग गङ्गा-स्नान, कुम्भ के पर्व और मठधारियों के दर्शनों से कहीं अधिक मूल्यवान् वस्तु बन रहा था। वे लोग अति प्रेम से श्री-उपदेश श्रवण करते और अपने को पवित्र हुआ मानते थे।

आर्य्य भाषा के प्रचार में सबसे पहले यदि किसी ने प्रयत्न किया तो वे स्वामी दयानन्दजी थे। गुर्जर देश में उत्पन्न होकर, देश-देशान्तरों में आर्य्य-समाज स्थापित करने के अनन्तर भी आर्य भाषा को अपनाया, यह उनका एक तुलनातीत कर्म है। उन्होंने आर्यसमाज का सङ्गठन करते हुए मुम्बई के पाँचवें नियम में संस्कृत और आर्य भाषा का पुस्तकालय स्थापित करना और आर्य भाषा में 'आर्य प्रकाश' नामक पत्र निकालना, प्रधान समाज के लिए आवश्यक ठहराया। लाहौर के संगठन-संस्कार में, एक उपनियम बनाकर सब आर्यसमाजियों के लिए आर्य भाषा का सीखना अत्यावश्यक कर दिया।

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आर्य भाषा को राष्ट्रीय भाषा का रूप देने वाले प्रथम पुरुष दयानन्द ही थे।

स्वामी दयानन्द गुर्जर भाषा के पूर्ण पण्डित थे। अपने मुम्बई-वास में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे; परन्तु वे सब आर्य भाषा में ही लिखे; गुर्जर भाषा में एक भी नहीं लिखा। अपने जन्म-प्रान्त में भी वे अपनी मातृभाषा को छोड़ कर आर्य भाषा में ही व्याख्यान देते रहे। उनकी सारी पुस्तकें आर्यभाषा ही में प्रकाशित हुईं। इन सब बातों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हुए मुक्त कण्ठ से कहना पड़ता है कि आर्य भाषा की मौलिक जड़ में जीवन डालने वाले श्री दयानन्दजी ही थे। निम्न-लिखित प्रश्नोत्तर से उनका आर्य भाषा के प्रति असीम स्नेह प्रकट होता है:—

हरिद्वार में एक दिन महाराज अपने आसन पर बैठे सत्सङ्गियों को समझा रहे थे। बीच में एक सज्जन ने निवेदन किया, "यदि आप अपनी पुस्तकों का अनुवाद कराकर फारसी अक्षरों में छपवा दें, तो पञ्जाबादि प्रान्तों में जो लोग नागरी अक्षर नहीं जानते उनको आर्य धर्म्म के जानने में बड़ी सुविधा हो जाय।"

महाराज ने उत्तर दिया, "अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करता है। नागरी के अक्षर थोड़े दिनों में सीखे जा सकते हैं। आर्य भाषा का सीखना भी कोई कठिन काम नहीं है। फ़ारसी और अरबी के शब्दों को छोड़कर, ब्रह्मावर्त की सभ्य भाषा ही आर्य भाषा है। यह अति कोमल और सुगम है। जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जा सकती है? उसमें धर्म्म-लग्न है, इसका भी क्या प्रमाण है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं कि, जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त्त भर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही, अपने सकल ग्रन्थ आर्य भाषा में लिखे और प्रकाशित किए हैं।"

महाराज को हरिद्वार में मुम्बई का तार मिला कि श्रीयुत् अल्काट यहाँ आ गये हैं और श्री-दर्शनों के लिए आतुर हैं। उन दिनों महाराज का स्वास्थ्य

कुछ बिगड़ रहा था, इसलिए वे विश्राम लेना चाहते थे। उन्होंने मुम्बई समाचार भेज दिया कि अलकाट महाशय अभी आने का कष्ट न उठावें।

स्वामीजी ने यहाँ अन्तिम उपदेश की समाप्ति पर परमेश्वर का धन्यवाद किया कि हे जगदीश्वर! आपकी अपार कृपा में प्रचार का यह कार्य निर्विघ्न समाप्त हुआ है। फिर उन्होंने अपने साथियों को सम्बोधन करके कहा, "अब आप यथा-सम्भव शीघ्र ही अपने अपने घरों को चले जाइए। कोई आश्चर्य नहीं कि मेरे इस कथन का यह भी परिणाम निकाला जाय कि अँगरेज मेले को बखेरना चाहते हैं और स्वामीजी भी उनके साथ ही मिल गये हैं। परन्तु मैं तो आपको चेतावनी देता हूँ। जलवायु के बिगड़ जाने से महामारी, विषूचिका के फैलने का भय है। यदि आप शीघ्र ही चले जायँगे तो इस संक्रामक महा भयङ्कर रोग के पंजे से बच जायँगे।" स्वामीजी का कथन सत्य ही हुआ। मेले के अन्तिम दिनों में सचमुच ही विषूचिका रोग फूट पड़ा।

महाराज की सावधानता भी आदर्शरूप थी। उनके डेरे पर कूड़ा कर्कट इकट्ठा करके सब जला दिया जाता था। वे अपने डेरे में जूठन सहित पत्ते और कागज पड़े नहीं रहने देते थे। वहाँ इधर-उधर सड़ी-गली वस्तुयें सर्वथा नहीं छोड़ा करती थीं। उनकी सारी छावनी स्वच्छ और मार्जित रहती। वहाँ प्रति-दिन हवन होता, जिससे वायु में विकार नहीं उत्पन्न हो पाता था।

उस महामेले में बहुत थोड़े साधु-सन्त ऐसे थे जो स्वामीजी के अतिशय उच्च आशय को जानते थे। अधिकांश साम्प्रदायिक लोग तो हठधर्मी और धड़े-बन्दी की दलदलों में धँसे हुए थे। वे लोग महाराज का जी खोलकर विरोध करते थे। बहुतेरे ऐसे भी वेष-विडम्बक थे, जो धर्म की ओट में और भगवें बाने की आड़ में, उस महापुरुष को मार मिटाने की चेष्टा भी करते फिरते थे। स्वामीजी महाराज भी सात्वती कौशल की परमावधि पर पहुँचे हुए थे। वे सचेत थे और ऐसे प्रत्येक खटके की आहट लेते रहते थे।

एक दिन, एक जटाजूट नागा उनके निकट आया और कहने लगा, "मैं आपके पास रह कर अध्ययन करना चाहता हूँ। आपको कोई कष्ट नहीं दूँगा, अन्न माँगकर ले आया करूँगा और आपकी सेवा करता रहूँगा।" स्वामीजी

उसके भीतरी भाव को ताड़ गये और बोले, "आपको पढ़ाने के लिए मुझे अवकाश नहीं है।"

एक दिन दो नाईं ने आकर शिष्य बनने की विनय की। उनको भी महाराज ने टाल दिया। स्वामीजी प्रायः जिस किसी के हाथ का लेकर नहीं खाते थे, अपनी रक्षा में आप चौकस रहते थे।

हरिद्वार में प्रचार करने के अनन्तर महाराज ने विश्राम लेने के लिए देहरादून जाने का निश्चय किया और अपने शुभागमन की वहाँ सूचना भेज दी। पण्डित कृपाराम गौड़ महाराज के प्रेमी थे। गुरुदेव के आगमन का प्रेम-पत्र पाकर वे पुलकित-गात हो गये। कुछ बङ्गीय सज्जनों के साथ मिल कर उन्होंने एक बङ्गला ले लिया। साथ ही उन्होंने अपने भतीजे और दो नौकरों को हरिद्वार की सड़क पर खड़ा कर दिया कि जब स्वामीजी की गाड़ी आये तो उन्हें उस बङ्गले में ले जाकर उतार देना।

महाराज वैशाख वदी ८ सं० १९३६ को देहरादून पहुंचे। उस समय उनके साथ तीन चार कर्म्मचारी थे। बहुत से बङ्गीय सज्जन स्वागत के लिए पहुँच गये और उपर्युक्त बङ्गले में उनका डेरा कराया गया।

महाराज के पहुँचते ही सारे नगर में उनके शुभागमन का समाचार फैल गया और सत्संगियों की टोलियाँ आने लगीं। यद्यपि स्वामीजी स्वस्थ नहीं थे फिर भी अति प्रसन्नतापूर्वक वार्त्तालाप करते।

कृपारामजी से पूछने पर स्वामीजी को पता लगा कि भोजनादि के व्यय का प्रबन्ध ब्राह्म समाजियों ने किया है। उन्होंने कृपाराम को कहा, "यह आपने अच्छा नहीं किया, हमारे प्रचार से तो ये लोग रुष्ट हो जायंगे, उस समय आपको कठिनता का सामना करना पड़ेगा।" श्री कृपारामजी ने हाथ जोड़कर विनती की, "ये लोग भले ही अप्रसन्न हो जायें; पूज्यपाद का आतिथ्य करने को सेवक के पास पत्र पुष्प पर्याप्त हैं।"

कुछ दिन विश्राम करने के उपरान्त स्वामीजी ने व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। लोग बड़े प्रेम से सुनने आते थे। एक दिन उनके व्याख्यान का विषय बाईबिल और क़ुरान की समालोचना था। उस दिन चार पांच यूरोपीय पादरी सुनने आये हुए थे। उनकी यौक्तिक समालोचना को सुनकर एक पादरी

आवेश में आ गया। व्याख्यान की समाप्ति पर उसने कहा कि पण्डितजी ने जो कुछ कहा है, निरी धूल उड़ाई है। इस धूल में इसका वेद भी ढँप गया है।

स्वामीजी की युक्तियों का खण्डन करने के लिए उसे अवसर दिया गया। जब वह बोल कर बैठ गया तो महाराज ने खड़े होकर, उसका प्रत्युत्तर देना आरम्भ किया। पादरी महाशय की प्रकृति में बार-बार उबाल उठते थे। वे आपे से बाहर हुए जाते थे और बात-बात में बोल पड़ते थे। अन्त में उसके साथियों ने ही उसे शान्त किया। व्याख्यान के पश्चात् दूसरे पादरी बड़ी देर तक स्वामीजी से धर्म-चर्चा करते रहे।

इस व्याख्यान में मुसलमानों की उपस्थिति बहुत थी। कुछ मौलवी महाशय भी बैठे सुनते थे; वे लोग भी भड़क उठे।

स्वामीजी जिस बँगले में रहते थे वह फूस से छवा हुआ था। कृपारामजी ने सुना कि कुछ मुसलमान आज रात उस बँगले को जला देना चाहते हैं। उन्होंने इसकी सूचना तत्काल स्वामीजी को दे दी। अपने तीन-चार नौकर वहाँ पहरे के लिए भेज दिये। स्वामीजी अति निर्भय थे। वे यही कहते थे कि डरो नहीं, ये विरोधियों की कोरी धमकियाँ हैं। परन्तु पण्डित भीमसेनजी ने जागते हुए सारी रात आँखों में काटी।

स्वामीजी के वेद-विषयक व्याख्यान से ब्राह्म-समाजी चिढ़ गये और सहायता देना छोड़ बैठे।

ब्राह्म-समाजी कालिमोहन घोषजी ने स्वामीजी को भोजन का निमन्त्रण दिया। उन्होंने कहा कि आपका भोजन ग्रहण करने में मुझे केवल इतना ही सङ्कोच है कि आप लोगों के यहाँ भङ्गी भी भोजन बनाते हैं। घोष महाशय ने कहा कि यह तो सत्य है कि हम लोग किसी के भी हाथ से खाने में कोई हानि नहीं मानते, परन्तु कर्म में ऐसा नहीं आता। तब महाराज ने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

इस बात का पता जब कृपारामजी को लगा तो वे भोजन का थाल लेकर श्री-सेवा में पहुँचे। उस समय घोष महाशय के घर से भी थाल आ गया था। कृपारामजी ने निवेदन किया कि भगवन्! घोष महाशय के घर पर भङ्गिन पाचिका है, इस लिए उसका भोजन पीछे लौटा दीजिए और मिज जन की

रूखी-सूखी चपाती स्वीकार कीजिये । महाराज ने उसी समय घोष महाशय का थाल लौटा दिया और कृपारामजी का अन्न ग्रहण किया ।

स्वामीजी के चित्ताकर्षक भाषणों को सुनकर कई सज्जन उनके अनुयायी बन गये और आर्यसमाज की स्थापना का यत्न करने लगे ।

श्रीमान् कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की सहारनपुर में आ पहुँचे और वहाँ के आर्यों ने अत्युत्तम रीति से उनका आतिथ्य किया । उन्होंने स्वामीजी को तार दिया कि हम आपके दर्शनों के लिए देहरादून आते हैं । महाराज ने उनको तार द्वारा सूचित किया कि आप आने का कष्ट न कीजिए, मैं स्वयं सहारनपुर आ रहा हूँ ।

महाराज वैशाख सुदी १० सं० १९३६ को सहारनपुर में आये और बड़े वत्सल भाव से अपने भक्तों को मिले । वैशाख सुदी १२ को स्वामीजी कर्नल तथा मैडम सहित मेरठ पधारे । आर्यसमाज के सभी सभासद उनके स्वागत के लिए रेलवे-स्टेशन पर उपस्थित थे । अपने पूज्यतम गुरुदेव को पश्चिमी-शिष्यों सहित देख कर, आर्यपुरुषों के तन हर्ष-पूर से पुलकित हो रहे थे । उन्होंने बड़े उत्साह से उनको ले जाकर, एक कोठी में तो महाराज को और दूसरी में उन दोनों अतिथियों को ठहराया ।

वैशाख सुदी १३ से ज्येष्ठ बदी २ तक स्वामीजी के तथा उनके शिष्यों के व्याख्यान बड़ी धूम से हुए । कर्नल महाशय और मैडम ने भाषणों में भली-भाँति वेद का महत्त्व गान किया और क्रिश्चियन धर्म की त्रुटियाँ प्रकाशित कीं । इन व्याख्यानों में योरुपियन भी बहुत आते थे ।

कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की स्वामीजी के स्थान पर जाकर सत्संग में ज्ञान-चर्चा करते, आत्मा-सम्बन्धी प्रश्न पूछते और योगाभ्यास की विधियाँ सुनते थे । वे दोनों अपने को आर्य कहते । नीचे बैठ कर भोजन पाते । उन्होंने ओम् का पदक और यज्ञोपवीत धारण किया हुआ था । वे महाराज को गुरु मानते थे और उनके प्रति अतिविनय प्रदर्शित करते थे ।

महाराज एक दिन श्रीयुत छेदीलालजी की कोठी में आसनारूढ थे । सत्संगी जन ज्ञान-गङ्गा में गोते लगा रहे थे । उसी समय अल्काट महाशय और ब्लैवट्स्की महाशया भी आ गईं । उन्होंने महाराज को भक्ति-भाव से नम्रीभूत

नमस्कार किया। योग-चर्चा चलने पर अल्काट महाशय ने विनय की, "भगवन्! सुना है कि शङ्कराचार्य अपने कलेवर से आत्मा को निकाल कर पर-काया में प्रवेश कर जाते थे। इसमें आपकी क्या सम्मति है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "शङ्कराचार्य का परकाया-प्रवेश करना एक ऐतिहासिक विषय है। उसके सत्यासत्य में कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, इतना तो मैं भी दिखा सकता हूं कि चाहे जिस अङ्ग में, अपनी सारी जीवन-शक्ति को केन्द्रित कर दूँ। इससे शेष सारा शरीर जीवन-शून्य हो जायगा। परकाया-प्रवेश तो इसके आगे एक पाँव उठाना मात्र ही है।" अल्काट महाशय अपने गुरु के ऐसे योग-बल को जान कर अतीव हर्षित हुए।

कुछ दिनों पश्चात् अल्काट महाशय और ब्लैवट्स्की महाशया स्वामीजी से आज्ञा लेकर मुम्बई चले गये।

मौलवी मुहम्मद कासिम मेरठ में आकर सम्वाद के लिए मुसलमानों को उकसाने लगे। जब स्वामीजी को पता लगा कि मुसलमान महाशय सम्वाद करना चाहते हैं तो उन्होंने अपने सदा समुद्यत होने की घोषणा कर दी। दोनों ओर से प्रतिष्ठित पुरुषों की एक सभा नियम-निर्णय के लिए जुटी। उसमें राज-पाठशाला के मुख्याध्यापक श्री कैस्पन महाशय भी सम्मिलित कर लिये गये। अनेक नियमोपनियम बनते-बनाते, जो कहीं आकर बात अटक गई और टूटने लगी तो वह इस नियम पर स्वामीजी कहते थे कि सम्वाद लेखबद्ध हो, और एक विशेष सभा में जनता के सामने हो; परन्तु मौलवी महाशय रड़की की भाँति यहाँ भी अड़ते थे कि नहीं, सम्वाद मौखिक ही होना चाहिए। लिखने और फिर बोलने में चित्त उचट जाता है, स्मृति ठिकाने नहीं रहती। सम्वाद जनता के सम्मुख भी नहीं होना चाहिए। इसमें भीड़-भड़क्का बहुत होगा। कोई आश्चर्य नहीं कि परस्पर लड़ाई-भिड़ाई तक नौबत आ जाय।

स्वामीजी ने कहा, "केवल मौखिक सम्वाद से कोई परिणाम पर नहीं पहुंच सकता। कई वादी अपने सिद्धान्त को निर्बल देख कर, चातुर्य और प्रवंचना की पेचीली चालों से, अपने पक्ष ही को बदल डालते हैं। वे अपने पहले कहे शब्दों से मुकर कर बैठते हैं। एक-एक वचन पर अटक कर सारा समय व्यर्थ

में खो देते हैं। लिखकर बोलने में ऐसी बातों की सम्भावना न रहेगी। ठीक प्रबंध के हो जाने से झगड़े-टण्टे का सन्देह मिट जायगा।"

मुख्याध्यापक कैस्पन महाशय ने मौलवीजी को कहा, "स्वामीजी का कथन युक्ति-संगत है। प्रश्नोत्तर लिख कर बोलने में बहुत लाभ है। जो आपने चित्त उखड़ जाने और युक्तियाँ भूल जाने की बात कही वह उपहासजनक है। भला वह विद्वान् ही क्या है जिसके विचार इतने में ही उलट-पलट हो जाते हैं और जिसकी स्मृति ठिकाने ही नहीं रहती।"

मौलवी महाशय ने एक न मानी, किसी की न सुनी। वे यही पुराना तराना गाते रहे कि 'सम्वाद में लिख कर बोलना अनुचित है'। उनकी इसी बात पर तान टूटी कि सर्वसाधारण के सामने सम्वाद न करना चाहिए।

इस प्रकार मौलवी महाशय की टालमटोल से मेरठ में भी सम्वाद न हो सका। परन्तु वैदिक धर्म्म की सचाई का सिक्का लोगों के हृदयों पर बैठ गया।

मेरठ में धर्म्म-प्रचार करने के पश्चात् स्वामीजी अलीगढ़ आये। यहाँ उनके परम भक्त मुकुन्दसिंहजी और भूपालसिंहजी आकर उन्हें छलेसर ले गये। उन दिनों में स्वामीजी का स्वास्थ्य अच्छा न था, इसलिए वे वार्त्तालाप द्वारा ही सत्संगियों को निहाल करते रहे। श्रीयुत् इन्द्रमनजी स्वामीजी के दर्शनार्थ छलेसर आये। उन्होंने स्वामीजी से मुरादाबाद पधारने की प्रार्थना की। एक मास से अधिक समय पर्यन्त छलेसर में निवास करने के उपरान्त ३ जुलाई सन् १८७६ को स्वामीजी मुरादाबाद को प्रस्थान कर गये।

मुरादाबाद में महाराज का निवास राजा जयकृष्णजी के बङ्गले में हुआ। उनका स्वास्थ्य अभीतक पूर्ववत् नीरोग न हुआ था, इसलिए इस बार उनके तीन व्याख्यान ही हो सके।

स्वामीजी जहाँ अद्वितीय दार्शनिक थे; परम योगी थे, धर्म्म के मर्म के अनुपम ज्ञाता थे, अपने समय के असमान सुधारक थे और भारत में एक ही विख्यात वक्ता थे, वहाँ वे राजनीति और राज धर्म्म के भी एक धुरन्धर पण्डित थे। महाराज का समय, राजपुरुष-स्वतन्त्र-शासन और दमन नीति के यौवन का युग था। निर्भय परिव्राजकाचार्य समयानुसार तीव्र समालोचना और टीका-टिप्पणी भी किया करते थे। परन्तु उनके कथन इतने दार्शनिक, इतने निर्मल

और इतने व्यापी होते थे कि उन्हें सुन कर राजकर्मचारी भी प्रसन्नता प्रकाशित करते थे; उन से राजा-प्रजा-धर्म के व्याख्यान भी कराते थे।

मुरादाबाद के कलेक्टर स्पेडिङ्ग महाशय ने एक दिन श्री-सेवा में निवेदन किया कि आप राष्ट्र-नीति पर एक व्याख्यान देना स्वीकार कीजिए। उस का सारा प्रबन्ध मैं आप करूँगा। महाराज ने उन की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। कलेक्टर महाशय ने छावनी में व्याख्यान का प्रबन्ध किया और लोगों के प्रवेश के लिए टिकट वितरण कर दिये। नगर के सज्जनों और सब आर्य्यजनों को टिकट मिल गये। नियत समय पर महाराज ने भारतीय और यूरोपियन सज्जनों को सम्बोधन करते हुए राष्ट्र-नीति के उदात्त सिद्धान्त का निरूपण किया। शासकों और शासितों के सम्बन्ध बताये, शासन-नीति के पक्षपात आदि दोषों का वर्णन किया।

उन का यह व्याख्यान, कई घण्टों तक होता रहा और देशी-विदेशी सभी दत्तचित्त होकर सुनते रहे। समाप्ति पर स्पेडिङ्ग महाशय ने खड़े होकर धन्यवाद-पूर्वक स्वामीजी की प्रशंसा की और कहा, "महाराज ने जो कुछ वर्णन किया है वह सर्वथा सत्य है। यदि इस नीति के अनुसार राजा-प्रजा के सम्बन्ध होवें तो जो कष्ट हलचल में उठाने पड़े हैं वे कभी सामने न आते।"

उसी स्थान में, कालीप्रसन्न नामक एक वकील स्वामीजी के निकट बैठा अँगरेजी में बातचीत कर रहा था। उन्होंने उसे कहा, "महाशय! अपनी भाषा में वार्त्तालाप करना ही उत्तम है। स्वदेशियों में बैठ कर विदेशी भाषा में बोलने लग जाना, भला प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत ऐसा करना भद्दा लगता है और इस से घमण्ड भी प्रकट होता है। यदि छिपा कर बात करने का प्रयोजन हो तो भी ठीक नहीं। यहाँ अँगरेजी समझने वाले अनेक बैठे हैं। किसी से छिपा कर काना-फूसी करना धर्मविरुद्ध, चोर कर्म है।"

स्वामीजी में हठ नहीं था। वे अति कोमल और सरल थे। यदि कोई साधारण जन भी उन्हें नीति-न्याय की कोई बात कहता तो वे तत्काल मान लेते। एक दिन, महाराज के पास एक पण्डित आया और संस्कृत में वार्त्तालाप करने लगा। दैवयोग से उन के मुख से एक अशुद्ध शब्द निकल गया। उस पण्डित ने उसी समय उन्हें कहा कि 'आप से यह अशुद्धि हुई है'। स्वामीजी ने मान लिया कि 'हाँ, मुझ से भूल हो गई है।' थोड़ी देर के पश्चात् जब

स्वामीजी के एक दो प्रेमी वहाँ आये तो उस पण्डित ने फिर कहा, "स्वामीजी! आज मैंने आप की एक अशुद्धि पकड़ी थी," उन्होंने उत्तर दिया कि "ठीक, आप ने आज मेरी भूल निकाली है और मैंने उसे स्वीकार कर लिया है।" परन्तु वह पण्डित महाशय तो सोंठ की एक गाँठ पा कर पूरा पंसारी बन बैठा था। लगा बार-बार आलापने कि आज मैंने आप की एक भूल पकड़ ही ली है! महाराज ने जब देखा कि यह सिर ही चढ़ा जाता है तो उसे कहा, "तुम परले सिरे के सिढ़ी और अड़ियल मनुष्य हो। मेरी सरलता से लाभ उठा कर वक्र चाल चलने लग गये हो। अशुद्ध शब्द पर हठ करना अधर्म्म है। मैं ऐसा हठ कदापि नहीं करूँगा, परन्तु तुम में ऐसा सामर्थ्य कहाँ कि उसे अशुद्ध सिद्ध कर सको। इस बाल-लीला में क्या पड़ा है? यदि कुछ पूछना चाहते हो तो कोई धर्म्म-कर्म्म की बात पूछो।" इस से वह पण्डित अतीव लज्जित हुआ।

श्रावण सुदी १ सं० १९३६ को दुबारा आर्य्यसमाज स्थापन करना नियत हुआ। राजा जयकृष्ण के बङ्गले पर हवन-सामग्री मँगाई गई। यज्ञ के अनन्तर बाँटने को मोहन-भोग भी आ गया। परन्तु ठीक समय पर वर्षा होने लगी। जब वृष्टि थमने में ही न आई तो स्वामीजी के आदेश से एक कमरे में हवन-यज्ञ कर के समाज की शुभ स्थापना की गई और सब उपस्थित सज्जनों को मोहन-भोग वितरण किया गया।

श्री इन्द्रमनजी ने स्वामीजी से निवेदन किया, "आप परस्पर 'नमस्ते' कहने का आदेश करते हैं परन्तु हमने पहले 'जय गोपाल' शब्द चलाया था और फिर 'परमात्मा जीते' कहना आरम्भ कर दिया। पहले शब्दों पर ही लोगों ने बहुतेरे कटाक्ष किये थे। अब यदि नया 'नमस्ते' शब्द चलाया तो लोग हमारी खिल्ली उड़ाने लग जायँगे। वैसे भी देखें तो मेल-मिलाप में 'परमात्मा जीते' ऐसा कहना बहुत ही उचित है। छोटा तो बड़े को 'नमस्ते' करता अच्छा लगता है, परन्तु पिता पुत्र को, स्वामी नौकर को और राजा अपने एक चपरासी को 'नमस्ते' कहे यह बात शोभा नहीं देती।"

स्वामीजी ने कहा—"इन्द्रमनजी! अभिमानी पुरुष बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है जिस ने अपने अहङ्कार को जीता। जो वास्तव में बड़े हैं वे अपने

बड़प्पन को आप प्रकट नहीं किया करते। हमारे पूर्वजों में जितने भी ऋषि महर्षि और राजे महाराजे हुए हैं उनमें से एक ने भी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं बताई। 'नमस्ते' का अर्थ पाँव पकड़ना नहीं; इसका अर्थ है सम्मान-सत्कार। सभी ऊँच-नीच और छोटे-बड़े मेल-मिलाप में सम्मान-सत्कार के भागी हैं। सर्वत्र होता भी ऐसे ही है। अच्छा, आप ही अपने अन्तःकरण से कहें कि जब कोई मनुष्य आप के आवास पर आता है तो उस समय आप के हृदय में क्या भाव उत्पन्न होता है?"

इन्द्रमनजी इस पर मौन साधे रहे। तब स्वामीजी ने फिर कहा—"महाशय! इस बात को सभी जान लेते हैं कि जब कोई पूज्य और प्रतिष्ठित मनुष्य घर पर आता है तो उसे देख कर अभ्युत्थान और झुक कर सम्मान देने को जी चाहता है। पुत्र से प्यार करने का भाव उत्पन्न होता है। नौकर चाकरों को अन्न-जल और आइए, बैठिये आदि शब्दों से सत्कृत करने की हृदय प्रेरणा करता है। ऊपर कहे सारे भावों का प्रकाश 'नमस्ते' से तो हो जाता है परन्तु उस समय परमेश्वर का नाम लेना असंगत है; आन्तरगत भावों के विपरीत है। जो भाव भीतर हो उसी को बाहर प्रकाशित करना शोभा देता है।"

'पुरातन काल में आर्य्य लोग 'नमस्ते' ही कहा करते थे। यह शब्द वेदों में भी अनेक बार आया है। आर्यजनों में इसी का प्रचार होना चाहिए।"

कायमगंज के निवासी, श्री रामलालजी वर्षा ऋतु के कष्ट झेलते हुए, मुरादाबाद में इसलिए आकर ठहरे थे कि स्वामीजी से यज्ञोपवीत धारण करें। वे महाशय इन्द्रमनजी के पास टिके हुए थे। एक दिन इन्द्रमनजी ने रामलालजी को साथ ले जाकर महाराज की सेवा में विनय की—"भगवन्! यह महाशय बड़े श्रद्धालु भक्त हैं। आप से धर्म्म-दीक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। इसी लगन में कड़े कष्ट सहते यहाँ आये हैं।"

महाराज ने रामलाल के धर्म्म-भाव और दृढ़ धारणा को देख कर, शुभ समय पर विधिपूर्वक, उसे यज्ञोपवीत प्रदान किया। गायत्री का उपदेश कर के शुभ-शिक्षा दी। जब उसने गायत्री का शुद्ध उच्चारण स्वामीजी को सुनाया तो उन्होंने बड़े वत्सल भाव से उसे आशीर्वाद दिया, अपना परम पुनीत हाथ

उस की पीठ पर प्रेम से फेरते हुए कहा—"वत्स ! हमारा शरीर बहुत देर तक नहीं रहेगा। आप आजीवन हमारी पुस्तकों से उपदेश लेते रहना। जहाँ तक बन पड़े अपने भूले भटके भाइयों को भी सन्मार्ग दिखलाते रहना।"

महाशय रामलाल ने गुरुदेव के उपदेशामृत को सिर आँखों पर स्वीकार किया, अन्तःकरण में बसा लिया। रामलालजी दस दिन पर्यन्त श्री-चरणशरण में सत्संग लाभ करते रहे। एक दिन उन्होंने बद्धाञ्जलि हो कर विनय की, "भगवन् ! आप के आरोग्य पर कोई आघात हुआ जान पड़ता है।" महाराज ने कहा—"इस देह को कई बार विकट तथा विषम विष दिया गया है। ऐसे कालकूट विषों को, कितना ही योग-क्रियाओं से वमन तथा वस्ति-कर्म्म द्वारा, निकाल दिया जाय परन्तु रक्त में मिश्रित हुआ हलाहल विष सर्वांश में नहीं निकलता। उसका प्रभाव कुछ न कुछ बना ही रहता है, यही कारण है जो मेरे स्वास्थ्य की आधार-शिला हिल गई है। यदि मुझ पर ऐसे भीषण विष-प्रयोग न किये जाते तो इस शरीर पर शिथिलता का चिन्ह, एक शताब्दी में तो कदापि न दीख पड़ता और न ही इतनी देर तक जरा-रोग इसके पास फटकने पाता।"

रामलालजी ने फिर प्रार्थना की—"गुरुदेव ! जब आप अपने भक्तजनों को नैराश्य-निशा दिखाने वाले शब्द कहने लग गये हैं तो आप ऐसे सुयोग्य शिष्य क्यों नहीं बनाते जो नौका के निपुण नाविक बन सकें, जो सर्वस्व स्वाहा कर के भी आप के उद्देश्य की पालना करें।

महाराज ने गम्भीर भाव से कहा—"वत्स ! मैंने पहले पहल पाठशालायें चला कर अनेक पण्डित शिष्य बनाये। वे लोग मेरे सम्मुख तो बहुतेरी विनय अनुनय प्रदर्शित करते परन्तु मुझ से पृथक् हो कर वैसे के वैसे पौराणिक बने रहते। कई एक तो मेरे प्रतिकूल अपनी चालों का तानाबाना तनने लग जाते। अब तो मुझे निश्चय हो गया है कि इस जन्म में, मुझे सुयोग्य शिष्य नहीं मिलेगा। इस का प्रबल कारण भी है। मैं तीव्र वैराग्य-वश, यौवन-काल ही में अपने पूज्य माता-पितादि परिवार-परिजन का परित्याग कर मृत्यु को जीतने के लिए योगाभ्यास करता रहा हूँ। मैंने घर छोड़ते समय माता की ममता का कोई ध्यान नहीं किया। पितृ-ऋण भी नहीं उतारा। ये ऐसे कर्म हैं जो मुझे सुयोग्य शिष्य मिलने के मार्ग में प्रबल प्रतिबन्धक हैं। परन्तु निराशा की कोई

बात नहीं है। आर्यसमाज में ऐसे जन अवश्य प्रकट होंगे, जो मेरे परम लक्ष्य की पूर्णता से पालना करेंगे।"

दसवाँ सर्ग

मुरादाबाद में धर्म्म-प्रचार करने के उपरान्त श्री स्वामीजी श्रावण सुदी १३ सं० १९३६ को बदायूँ में सुशोभित हुए और साहू गङ्गाराम के उद्यान में ठहरे। यहाँ उनके दो-तीन प्रभावशाली उपदेश हुए। लोगों ने सत्सङ्ग का भी बहुत लाभ लूटा।

बदायूँ के मुसलमानों ने सम्वाद करने के लिए मौलवी मुहम्मद कासिम को बहुतेरा बुलाया, परन्तु वे अन्तिम दिन तक न आये। कुछ एक पौराणिक पण्डित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और अपने प्रश्नों का यथायोग्य उत्तर पाकर चले गये।

रक्षा-बन्धन के दिन बहुत से तरुण और वृद्ध रक्षा बाँधने के लिए स्वामीजी के निकट आये। महाराज ने मुस्करा कर कहा कि आप लोग अपनी देश-रीति तक भूल गये हैं। पूर्वकाल में वृद्ध रक्षा बाँधे नहीं फिरते थे। उस समय, इस पर्व के दिन विद्यार्थियों के हाथ में राज की ओर से राखी बाँधी जाती थी। उससे यह सूचित किया जाता था कि इनकी रक्षा करना राजा-प्रजा दोनों का कर्त्तव्य है।

एक वैद्य ने अपने एक साथी को स्वामीजी के सामने करके कहा कि महाराज! इसमें चिरकाल से भूतावेश है। स्वामीजी ने हँसकर कहा कि आप वैद्य होकर भी ऐसे भ्रमजाल में फँसे पड़े हैं! भूत तो बीते हुए समय का नाम है। यह कोई योनिविशेष नहीं है। आयुर्वेद में ऐसे अनेक रोग वर्णन किये हैं, जिनमें रोगी की उन्मत्त दशा हो जाती है। स्वामीजी ने उसे औषध प्रदान किया और कहा कि यदि अनुपान और पथ्यपूर्वक इसका यथाविधि सेवन करोगे तो व्याधि उपशमन हो जायगी।

बदायूँ वासियों को उपदेशामृत पान कराकर श्रीमहाराज भादों बदी द्वादशी सम्वत् १९३६ को बरेली आये और बेगम उद्यान में लाला लक्ष्मीनारायण की कोठी में विराजमान हुए। यहाँ उनके कई दिन तक अति प्रभावजनक व्याख्यान हुए। उनमें पादरी महाशय और उच्च राज-कर्मचारी सभी सम्मिलित होते थे।

स्वामीजी अपने प्रण-पालन पर बड़ा ध्यान दिया करते । एक शनिवार को लोगों ने कहा, "महाराज ! कल छुट्टी का दिन है । इसलिए नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान आरम्भ कीजिएगा । उन्होंने उत्तर में कहा, "मैं नगर से डेढ़ कोस के अन्तर पर ठहरा हुआ हूँ; यदि गाड़ी समय पर पहुंच गई तो समय पर अवश्य आ जाऊँगा।" लाला लक्ष्मीनारायण ने निवेदन किया कि गाड़ी का प्रबन्ध मैं कर दूँगा।

अगले दिन लोग तो समय पर पहुंच गये, परन्तु स्वामीजी पौन घण्टा पीछे सार्वजनिक भवन में प्रविष्ट हुए । व्याख्यान के आदि में उन्होंने कहा, "मैं तो समय पर समुद्यत था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुंच सकी । अन्त में पैदल चल कर आ रहा था कि मार्ग में गाड़ी मिली । समय अतिक्रम करने में मेरा दोष नहीं, किन्तु बच्चों के बच्चों का है, अर्थात् बाल-विवाह की सन्तानों में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं है।"

एक दिन महाराज पुराणों की कथाओं की समालोचना करते हुए कहने लगे कि इन ग्रन्थों के कर्त्ताओं ने कुन्ती आदि कन्याओं पर कितने कपोल-कल्पित कलंक मढ़े हैं। तारा और दामोदरी पर कैसे मिथ्या आरोप किये हैं। स्वामीजी के कथन में उपहास-रस इतना रहता था कि व्याख्यान चाहे जितना लम्बा हो, किसी को नहीं खलता था । किसी का भी जी ऊबता न था । कभी-कभी तो सारा सभा-समुद्र हँसी से झकझोल खाने लग जाता था।

पुराणों की समालोचना पर पादरी महाशय, कलेक्टर और कमिश्नर महाशय तथा अन्य योरुपीय सज्जन जी खोल कर हँसते रहे । थोड़ी देर ही में स्वामीजी ने कहा, "यह तो है पौराणिकों की लीला; अब किरानियों की सुनिये । ये लोग ऐसे हैं कि कुमारी के पुत्र होना बताते हैं और उसका दोष सर्वज्ञ शुद्ध-स्वरूप परमेश्वर पर लगाते हैं । यह घोर कर्म करते, ये लोग तनिक भी लज्जित नहीं होते ।"

यह सुन कर कमिश्नर महाशय का चेहरा कोपावेश से तमतमा उठा। स्वामीजी उसी वेग में व्याख्यान देते चले गये और अन्त तक ईसाई मत पर ही बोलते रहे।

अगले दिन कमिश्नर महाशय ने लाला लक्ष्मीनारायण को बुला कर कहा, "आप पण्डित महाशय को कह दीजि - कि अधिक कठोर खण्डन से काम न

लिया करें। हम ईसाई लोग तो सभ्य और सुशिक्षित हैं। वाद-प्रतिवाद में नहीं घबराते। परन्तु यदि हिन्दू-मुसलमान उत्तेजित हो गये तो उनके व्याख्यान बन्द हो जायँगे।

श्री लक्ष्मीनारायण, स्वामीजी तक यह समाचार पहुँचा देने का वचन देकर कमिश्नर महाशय से विदा हो आये। परन्तु इस समाचार को स्वामीजी की सेवा में पहुँचाए कौन? इसका उत्तर उन्हें नहीं सूझता था। आप तो वे क्या ही साहस कर सकते थे, परन्तु अपने मित्रों में से भी जिस किसी को कहते, वह कानों पर हाथ धर लेता। अन्त में एक नास्तिक ने बीड़ा उठाया कि चलिए, मैं स्वामीजी को सब कुछ कह दूँगा। श्री लक्ष्मीनारायण उस मनुष्य और कुछ एक अन्य सज्जनों-सहित श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उस नास्तिक पर महाराज की तेजमयी मूर्त्ति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बड़ी कठिनता से इतने ही शब्द कह सका, "कमिश्नर महाशय ने लाला महाशय को बुलाया था इसलिए ये कुछ निवेदन करना चाहते हैं।"

लाला महाशय ने जब देखा कि घूम-घाम कर विपत्ति उन्हीं के सिर पर आ पहुंची है तो वे बहुत घबराये। कितने ही पलों तक वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने रहे। अन्त में थर्राते-लड़खड़ाते वे रुक-रुक कर बोले, "महाराज! यदि नर्मी से काम लिया जाय तो बहुत अच्छा है। इससे जनता पर प्रभाव भी बहुत अच्छा पड़ेगा और अँग्रेज भी प्रसन्न रहेंगे।"

यह सुन कर स्वामीजी हँस पड़े और कहने लगे, "इतनी सी बात पर ही आप गिड़-गिड़ा रहे हैं। इसी के लिए ही आपने हमारा इतना समय नष्ट किया है। कमिश्नर महाशय ने यही कहा है न कि आपका पण्डित बड़ा खण्डन करता है। उसके व्याख्यान बन्द हो जायगे। भाई! मैं कोई हौवा तो नहीं था जिससे आप इतना डरते रहे। सरलता से यही बात सुनाने में झिझकते क्यों रहे हो?"

इस समय एक विश्वासी जन बोल उठा—"स्वामीजी तो सिद्ध-पुरुष हैं। मन की जान लेते हैं।"

अगले दिन का व्याख्यान आत्मा के स्वरूप पर था। जब स्वामीजी नागरिक भवन में पधारे तो वह श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। पादरी स्काट

महाशय को छोड़ कर, पहले दिन वाले अन्य सभी योरुपीय उपस्थित थे। महाराज ने व्याख्यान में आत्मा के गुणों का वर्णन करते-करते सत्य पर कहना आरम्भ कर दिया। उन्होंने गम्भीर गर्जना से कहा, "लोग कहते हैं कि सत्य का प्रकाश न कीजिए, क्योंकि कलेक्टर कुपित हो जायगा, कमिश्नर प्रसन्न नहीं रहेगा, गवर्नर पीड़ा पहुंचायगा। अजी ! चाहे चक्रवर्ती राजा भी अप्रसन्न क्यों न हो जाय, हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके पश्चात् महाराज ने कुछ उपनिषद्वाक्य बोल कर कहा, "आत्मा सत्य है। उसकी सत्ता को न कोई शस्त्र छेदन कर सकता है और न अग्नि जला सकती है। वह एक अजर, अमर और अविनाशी पदार्थ है। शरीर तो अवश्यमेव नाशवान् है, जिसका जी चाहे इसका नाश करदे। परन्तु हम देह की रक्षा के लिए सनातन धर्म्म को नहीं त्यागेंगे। सत्य को नहीं छोड़ेंगे।" फिर वे अपने दोनों उद्दीप्त नेत्रों की ज्योति का चारों ओर संचार करके बोले—"वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखाइए, जो मेरे अन्तरात्मा को छिन्न-भिन्न करने का घमण्ड करता हो। जब तक ऐसा पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता दयानन्द के लिए सत्य में सन्देह करना स्वप्न में भी असम्भव है।"

भगवान् के सिंह-नाद से सारा भवन निनादित हो गया। सब ओर से उन्हीं के शब्द प्रतिध्वनित होने लगे। सारी सभा पर सन्नाटा छा रहा था। महाराज ने भाषण समाप्त भी कर दिया; परन्तु लोगों के कानों में उसका नाद गूँजता ही रहा।

पादरी स्काट के साथ महाराज की प्रीति थी। स्काट महाशय, अत्यादर प्रतिदिन व्याख्यान में आते थे। वह पहला ही दिन था कि उनके निरन्तर आने में अन्तर पड़ा। स्वामीजी ने व्याख्यान के पश्चात् पूछा कि भक्त स्काट नहीं आये ? किसी ने उत्तर दिया कि आदित्यवार उनका गिर्जा होता है, इसी लिए वे नहीं आ सके। भवन से बाहर आकर महाराज ने कहा कि चलो, आज भक्त स्काट का गिर्जा देख आयें। तीन-चार सौ मनुष्यों के साथ स्वामीजी गिर्जे में पहुंचे। स्वामीजी को आते देख स्काट महाशय तत्काल वेदी पर से नीचे उतर आये और प्रार्थना-पूर्वक महाराज को वेदी पर ले जाकर उपदेश के लिए विनय की। उनके आग्रह पर स्वामीजी ने वहाँ कोई एक घड़ी तक उपदेश

दिया और मनुष्यों को ईश्वर मानने में दोष दिखाये। लोगों ने उनके भाषण को एकाग्रचित्त होकर श्रवण किया।

बरेली में स्वामीजी के साथ स्काट महाशय का सम्वाद भी हुआ। यह सम्वाद सम्वत् १९३६ को भादों सुदी ७ से ९ तक बरेली पुस्तकालय में लाला लक्ष्मीनारायण के सभापतित्व में हुआ। उत्तर प्रत्युत्तर लिख कर सुनाये जाते थे। इसमें तीन लेखक थे—एक स्वामीजी के पास, दूसरा पादरी महाशय के निकट और तीसरा सभापति के पास। प्रत्येक प्रति पर तीनों के हस्ताक्षर होते थे। इस सम्वाद का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:—

भादों सुदी ७ सम्वत् १९३६ को पुनर्जन्म पर व्याख्यान आरम्भ करते हुए स्वामीजी ने कहा—"जीव और जीव के स्वाभाविक गुण, कर्म और स्वभाव अनादि हैं। न्यायादि परमेश्वर के गुण भी अनादि हैं। जो मनुष्य जीव के गुणों की उत्पत्ति मानता है उसे उनका नाश भी मानना पड़ेगा। कारण के बिना कार्य का होना असम्भव है, इसलिए उसे सिद्ध करना होगा कि नाश का कारण क्या है। जीव के शुभाशुभ कर्म प्रवाह से अनादि हैं। उनका यथावत् फल देना ईश्वराधीन है। स्थूल और कारण शरीर के बिना जीव सुख-दुःख का भोग नहीं कर सकता। इसलिए उसका बार-बार देह-धारण करना आवश्यक है। प्रत्येक शरीर में क्रियावान् होने के कारण, जीव नये-नये क्रियामाण, संचित और प्रारब्ध कर्म उत्पन्न करता रहता है। दिन और तिथि के बार-बार लौट आने से भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सृष्टि में फिर-फिर आने का नियम विद्यमान है।"

इस पर पादरी महाशय ने कहा, "पुनर्जन्म का सिद्धान्त है तो पुरातन, परन्तु अब लिखी-पढ़ी जातियाँ इसे छोड़ती चली जाती हैं। यह विचार अब मिट रहा है। मैं स्वामीजी से पूछता हूँ कि क्या ईश्वरीय आत्मा के बिना अन्य आत्मायें भी अनादि हैं? वे आत्मायें कभी जन्म के चक्र से पार भी होंगी? क्या पुनर्जन्म दण्ड भोगने के लिए ही है? परमेश्वर सदा सगुण ही रहता है अथवा कभी निर्गुण भी होता है? पुनर्जन्म लेना उसी के नियम पर निर्भर करता है अथवा किसी अन्य नियम पर?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"जीव, ईश्वर और प्रकृति ये तीन अनादि पदार्थ हैं। जीव पुनर्जन्म से कभी निवृत्त न होंगे। जन्म का होना दुःख-सुख

दोनों के लिए है। ईश्वर सदा ही सगुण है और निर्गुण है। कोई जीव जैसा पुण्य-पाप करता है उसे वह वैसा ही, अपने अटल न्याय से फल प्रदान करता है। पादरी महाशय ने कहा कि 'इस पुरानी शिक्षा को सुधरी हुई जातियां छोड़ती चली जाती हैं'। मैं पूछता हूं कि क्या नवीन शिक्षा सर्वांश में सत्य है ? क्या पुरानी शिक्षा मानने के योग्य नहीं है तो बाईबिल की शिक्षा भी तो आज की अपेक्षा पुरानी है तब तो यह भी आपको छोड़नी पड़ेगी !"

पुनर्जन्म पर उत्तर-प्रत्युत्तर होकर यह विषय समाप्त किया गया और अगले दिन भाद्रपद शुक्ला ८ को पादरी महाशय ने 'ईश्वर देह धारण करता है' के विषय पर सम्वाद आरम्भ किया। उन्होंने कहा—"आज का प्रश्न यह है कि परमेश्वर देह धारण करता है अथवा नहीं ? मनुष्य को चाहिए कि इस विषय पर सोच विचार कर बातचीत करे। अहङ्कार से काम न ले। हम उसके ज्ञान और सामर्थ्य को कुछ भी नहीं जानते। यदि जानते भी हैं तो बहुत स्वल्प जानते हैं। आज के प्रश्न के दो भाग हैं—एक तो यह कि क्या ईश्वर देह धारण कर सकता है ? और दूसरे यह कि क्या कभी ऐसा हुआ भी है ? मनुष्य के और परमात्मा के आत्मा में बहुत से गुणों में समानता है। इन के दयादि गुण आपस में मिलते हैं। इस अवस्था में, जब हम देह धारण करते हैं तो ईश्वर क्यों न देह धारण करेगा ?"

इस पर स्वामीजीने समालोचना की, "पादरी महाशय ने जब यह कह दिया कि हम ईश्वर-विषय में कुछ नहीं जानते और यदि जानते भी हैं तो अति स्वल्प, तो फिर पादरी महाशय को कुछ कहने का अधिकार नहीं रहा। पादरी महाशय ने कहा कि ईश्वर देह धारण कर सकता है। मैं पूछता हूं, उसे ऐसा करने की क्या आवश्यकता है ? दूसरे उसकी इच्छा का कोई नियम है या नहीं ? तीसरे वह निराकार है अथवा साकार ? चौथे वह सर्वव्यापी है वा एकदेशी ? जीव और ईश्वर के दयादि गुण क्या पूर्णता से मिलते हैं ? यदि गुणों से दोनों बराबर हैं तो दोनों परमेश्वर सिद्ध हुए। ईश्वर जब देह-धारण करता है तो वह अखिल स्वरूप से देह मे आता है अथवा अंश-अंश होकर ? यदि अंशका आना मानते हो तो परमात्मा नाशवान् सिद्ध हो जायगा। यदि यह मानो

कि परमात्मा अपने सकल स्वरूप से शरीर में प्रवेश करता है तो वह शरीर में छोटा सिद्ध हुआ। अल्प, महान् का ईश्वर नहीं हो सकता। देहधारी हो जाने से ईश्वर और जीव दोनों समान हो जाते हैं। दोनों में कुछ भी भिन्नभेद न रहने से उनमें से एक को ईश्वर मान लेना सर्वथा अयुक्त है।

यदि ईश्वर एक देशी है तो वह एक स्थान में रहता है अथवा सर्वत्र घूमता फिरता है? यदि उसे एक स्थान में स्थित माना जाय तो उसे सर्वत्र का ज्ञान नहीं हो सकता। उसका घूमते रहना मानना भी दोषयुक्त है। फिर उस का अटक जाना और दूसरे पदार्थों से टकरा कर आघात प्रत्याघात का सहन करना भी मानना पड़ेगा।

परमात्मा सृष्टि की रचना निराकार स्वरूप से करता है अथवा साकार से? निराकार स्वरूप से रचना मानना तो ठीक है, परन्तु यदि साकार स्वरूप से आप सृष्टि की रचना मानते हैं तो यह युक्ति-सङ्गत नहीं है। साकार ईश्वर से सृष्टि का रचा जाना सर्वथा असम्भव है। जब त्रसरेणु ही साकार की पकड़ में नहीं आते तो वह साकार ईश्वर सृष्टि के कारण रूप परमाणुओं को कैसे वशीभूत कर सकेगा।"

वाद-प्रतिवाद हो जाने के अनन्तर यह विषय समाप्त हो गया। फिर भाद्रपद शुक्ला नवमी को 'ईश्वर पाप क्षमा भी करता है' इस विषय पर संवाद आरम्भ हुआ। पादरी महाशय ने पूर्व पक्ष स्थापन करते कहा, मेरी यह प्रतिज्ञा नहीं है कि ईश्वर दण्ड नहीं देता। वह दण्ड तो अवश्य देता है, परन्तु देता है समयानुसार और उचित रीति से। वह मनुष्य की भलाई के लिए पाप क्षमा भी कर देता है। जब वह पूर्ण है, सगुण है और चेतन है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें देखता है और हमारी चिन्ता भी करता है। ईश्वर की और हमारी समानता अवश्य है। बहुधा जीव और ईश्वर के गुण मिलते हैं। इस से हमें समझना चाहिए कि ईश्वर के साथ भी हमारा वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा हमारे सम्बन्धियों के साथ। वेद आदि सभी धार्मिक ग्रन्थ, ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध राजा-प्रजा और पिता-पुत्र का वर्णन करते हैं। उनके इस कथन में अवश्यमेव यह बात समाई हुई है कि परमात्मा भी राजा और माता-पिता के तुल्य ही वर्ताव करता है। यद्यपि राजा और माता-पिता दण्ड

देते हैं परन्तु उनका इसमें यही आशय होता है कि ये लोग सुधर जायँ। यदि वे समझें कि सुधार क्षमा से हो सकता है तो वे क्षमा भी कर देते हैं।"

स्वामीजी ने पादरी महाशय के पक्ष का प्रतिवाद करते कहा, "इनका यह कथन कि परमेश्वर क्षमा भी कर देता है और दण्ड भी अवश्य देता है, परस्पर विरुद्ध है। क्या वह आधे कर्मों के लिए दण्ड देता और आधे कर्म क्षमा कर देता है, अथवा कुछ न्यूनाधिक। जैसे हम में ज्ञान और न्याय आदि गुण हैं, क्या वैसे ही ईश्वर मे हैं?

मैं भी मानता हूँ कि ईश्वर के साथ हमारा राजा और पिता के समान संबंध है; परन्तु वह अन्याय के लिए नहीं है। ईश्वर में अन्याय नहीं है, इस लिए वेदादि शास्त्रों में पाप का क्षमा करना नहीं कहा। ईश्वर पाप क्षमा कर देता है यह मानने से यह पाप का बढ़ानेवाला सिद्ध हो जाता है। क्षमा की आड़ मे पापी जन पाप-कर्म करने में उत्साहित हो जाते हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है। इसी लिए उसके कर्मों में भूल और भ्रांति नहीं होती। वह अपने स्वभाव से उलटा कार्य्य भी नहीं करता। न्याय उसका स्वाभाविक गुण है। इससे उलटा कर्म क्षमा कर देना—भला वह कब करने लगा? परमात्मा दयालु ठीक है, परन्तु उसका न्याय और दया एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। यदि एक डाकू को क्षमा कर दिया जाय तो यह कर्म दया में नहीं गिना जायगा। वह सहस्रों मनुष्यों की हत्या करने वाला दस्यु, क्षमा-प्राप्ति के अनन्तर चौगुने साहस से भ्रूण-हत्या तक करने लगेगा। ईश्वर की दया का जो अर्थ पादरी महाशय ने समझा है वह यथार्थ नहीं।"

इस विषय पर उत्तर-प्रत्युत्तर सविस्तार होते रहे और अन्त में बड़ी शान्ति से सम्वाद समाप्त हुआ।

जिन दिनों में महाराज बरेली में धर्म्म-प्रचार कर रहे थे उन्हीं दिनों महात्मा मुन्शीरामजी के पिता वहाँ नगर के कोतवाल थे। महात्माजी भी अपने पिता के पास ही आये हुए थे। उस समय वे राजकीय महाविद्यालय में अध्ययन करते थे। ईश्वर और वेद में उनका विश्वास न था। धर्म्म-कर्म में भी उनकी धारणा न थी।

महात्माजी के पिता पुराण-धर्म्म में बड़े निष्ठावान् थे। प्रतिदिन तीन घण्टे तक पूजा-पाठ में परायण रहते। उन्होंने स्वामीजी का पहला व्याख्यान श्रवण किया और घर पर आकर अपने पुत्र से कहा—"मुन्शीराम ! यहाँ एक दण्डी स्वामी आये हैं। बड़े विद्वान् और योगीराज हैं। उनके उपदेश सुनने से तुम्हारे सारे संशय अवश्य दूर हो जायँगे।"

पुत्र ने विनीत भाव से पिता के सम्मुख निवेदन किया कि बहुत अच्छा, कल मैं आप के साथ अवश्य चलूंगा। परन्तु उनके मन में यही धारणा बनी रही कि वह संस्कृत-मात्र जाननेवाला साधु कोई बुद्धि की बात क्या बता सकेगा। आगामी दिन जब सत्सङ्ग में गये तो महाराज के दर्शन से ही वे प्रभावित हो गये। स्काट महाशय आदि योरुपीय सज्जनों के हृदय में स्वामीजी का महत्त्व देख, उनमें और भी लगन बढ़ी। परन्तु जब पाव घड़ी पर्यन्त उपदेश सुन लिया तो महात्मा मुन्शीराम की विचार-परम्परा में बड़ा भारी पलटा आ गया। वे भगवान् के यौक्तिक कथनों पर आश्चर्यचकित हो गये।

दैव-योग से उस दिन उपदेश भी परमात्म-देव के 'ओम्' नाम पर था। वह व्याख्यान उनके लिए अश्रुत-पूर्व था। इस लिए उनको अपार प्रसन्नता प्राप्त हुई। उस दिन से वे प्रायः श्री-उपदेशों को सुनते रहे।

अब महात्मा मुन्शीराम को यह धुन समाई कि महाराज की जीवन-चर्य्या को देखना चाहिए। इस लगन में मग्न वे पहली बार तो रात के ढाई बजे ही गाड़ी में बैठकर उद्यान के निकट जा पहुँचे, जहाँ महाराज का निवास था। कोपीन-मात्र धारण किये, महामुनि उद्यान-द्वार से बाहर भ्रमणार्थ जाने लगे तो वे भी पीछे-पीछे हो लिये। महाराज की गति का वेग इतना तीव्र था कि महात्माजी थोड़ी देर ही पीछे चलकर हाँपने लगे और गाड़ी में बैठ कर घर चले आये। परन्तु अगले दिन उनकी लगन की मात्रा इतनी बढ़ गई कि वे रात के बारह बजे उठ बैठे और उद्यान के समीप जा खड़े हुए। इस बार वे बहुत दूर तक उनके पीछे गये। वे महाराज को कुछ काल तक ध्यानावस्थित भी अवलोकन कर सके।

महात्मा मुन्शीरामजी ने अपने तर्क-शक्ति के अभिमान में महाराज के साथ ईश्वर विषय पर प्रश्न किये,परन्तु स्वामीजी की युक्तियों ने उन्हें दस पल में ही

अवाक् बना दिया। महात्माजी ने तीन बार ये वाक्य दुहराए,—"महाराज ! आपने मेरा मुंह तो बन्द कर दिया, परन्तु अभी तक मुझ में विश्वास का अंकुर उत्पन्न नहीं हुआ।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"महाशय ! आपकी युक्तियों का मैंने युक्तियों से खण्डन कर दिया है। विश्वास तो परमात्मा की अपनी कृपा से हुआ करता है।"

बरेली में विष्णुलाल नामक एक वकील निवास करते थे। उन्होंने पाश्चात्य पद्धति पर उच्चतम शिक्षा पाई थी। पदार्थ-विद्या* और पाश्चात्य दर्शन के वे पूर्ण पण्डित माने जाते थे। आर्य्य-दर्शन को वे तुच्छ दृष्टि से देखा करते थे। एक दिन इष्ट-मित्रों के साथ वे श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने आर्यों के दार्शनिक विचारों पर हृदय खोल कर आक्षेप किये। अपनी ओर से उन्होंने पूर्वीय दर्शन की धज्जियाँ उड़ा दीं। परन्तु जब स्वामीजी के बोलने की बारी आई तो वकील महाशय को अपना निश्चय भारी भ्रम से भरा हुआ दीखने लगा। महाराज के दार्शनिक कौशल पर वह लट्टू हो गये। उन्होंने अपने मित्रों को कहा, "स्वामीजी पूर्वीय तथा पश्चिमीय, दोनों दर्शनों को जानते हैं। इनका तात्त्विक ज्ञान हम लोगों से बहुत बढ़ा-चढ़ा है।"

महाराज लोगों को सदाचार की अत्युत्तम शिक्षा दिया करते। पारिवारिक जीवन को विशुद्ध बनाये रखने के लिए पतिव्रत और पत्निव्रत धर्म का उपदेश देते। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर कई धनाढ्यों ने सुचिर रक्षिता वाराङ्गनायें अपने भवनों से निकाल दीं। इस सत्यानाशी कुव्यसन के कीचड़ में अपने कुल को कलङ्कित न करने का, उन्होंने पक्का प्रण धारण कर लिया।

महाशय लक्ष्मीनारायण ने एक वेश्या रखी हुई थी। इसका ज्ञान महाराज को भी हो गया। एक दिन लक्ष्मीनारायणजी उनके निकट आये तो महाराज ने पूछा—"लाला महाशय ! आपका वर्ण क्या है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"महाराज ! आप तो गुण-कर्मानुसार वर्ण मानते हैं, इसलिए मैं उत्तर दूं तो क्या दूं ?"

स्वामीजीने कहा, "आपको जो वर्ण लोग कहते हैं वही बतलाइये।" लाला महाशय ने निवेदन किया कि "लोग तो मुझे क्षत्रिय कहते हैं।" तब महाराज ने गम्भीर भाव से कहा, "लाला महाशय ! आप हमारे सामान-

है सही परन्तु हम सत्य के कहने में कुछ भी सकोच नहीं करेंगे । भला यह तो बताइए कि क्षत्रिय से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे आप क्या कहेंगे ?"

महाराज के वचन सुन कर लाला महाशय के सिर पर घड़ों पानी पड़ गया । वे लज्जा के मारे भूमि ताकने लगे । भवन पर जाकर उन्होंने तत्काल वेश्या को निकाल दिया ।

बरेली में बहुत दिनों तक व्याख्यान-वारि-वर्षा करने के पश्चात् स्वामीजी आश्विन बदी ४ सं० १६३६ को शाहजहांपुर पधारे । विज्ञापनों द्वारा सबको विदित कर दिया कि धर्म्म के प्रेमी-जन नियत समय पर आकर व्याख्यान श्रवण करें और लाभ उठावें । जिन को प्रश्न पूछने हों वे स्वामीजी के आसन पर जाकर अपनी शङ्काओं का समाधान करावें ।

शाहजहांपुर में सत्य पर व्याख्यान देते हुए महाराज ने कहा, "संसार में अनेक मत फैल रहे हैं । पन्थाइयों पर विश्वास कर जिज्ञासु के लिए सत्य का जानना कठिन है । जिससे पूछो वही अपने पन्थ को सच्चा और दूसरों को झूठा वर्णन करता है । इस पर महाराज ने दृष्टान्त दिया कि एक जिज्ञासु किसी तत्त्वदर्शी पण्डित के पास जाकर कहने लगा कि महाराज ! मुझे वह सच्चा धर्म्म बताइए, जिसके आराधन से मेरा कल्याण हो, मुझे परम धाम की उपलब्धि हो।"

तत्त्वदर्शी महात्मा ने उसे कहा—चलो आपको सद्धर्म्म का बोध करावें । वे उसे एक मतवादी के पास ले गये । उन्होंने उस मतवादी से पूछा कि 'सत्य धर्म्म कौनसा है ?' उस पन्थाई पुरुष ने अपने मत की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की और दूसरे मतों की निन्दा में भूतलाकाश एक कर दिया । इस प्रकार वह जिज्ञासु सभी मतवादियों के निकट गया । सभी अपने उठने बैठने की रीति को, अपनी उपासना की पद्धति को और अपने धर्म्म-मन्दिरों को 'धर्म्म' वर्णन करते रहे । प्रत्येक ने अपने ही तीर्थों का यशगान किया । अपनी ही देव-मूर्तियों को उत्तम बताया । अपने ही धर्म्म-चिन्हों को, बहिरंग साधनों को और अपने महापुरुषों के वाक्यों को 'धर्म्म' प्रदर्शित किया, और अपने से भिन्न मतों की प्रत्येक बात की भरपेट निन्दा की ।

प्रत्येक मतवादी की नवीन धारणा, नवीन पद्धति, नूतन धर्म्म-चिन्ह, नई मूर्तियाँ और भिन्न तीर्थ देख और सुन कर उस जिज्ञासु का जी घबरा उठा। मतवादियों के सघन-निबिड़ वन में फँस कर वह दिशामूढ़ हो गया। अन्त में वह तत्त्वदर्शी महात्मा की सेवा में उपस्थित होकर सच्चे धर्म्म की जिज्ञासा करने लगा। उस महात्मा ने जिज्ञासु को कहा, सत्य वह है जिस पर सबकी एक सी साची हो। जिस पर सौ में से निन्नानवे मनुष्यों की साची समान होती है। न्यायाधीश उसी बात को सत्य मान लेता है और एक की साची असत्य समझता है। इसी प्रकार धर्म के जिन कर्मों को सब मतवादी स्वीकार करें—उनमें कोई ननु-नच न करें—वही सच्चा धर्म्म है। उसी को मानो। किसी एक मत के आडम्बर में न फँसो।

वह साधारण धर्म्म जिसमें कोई भी मतधारी किन्तु परन्तु नहीं कर सकता, यह है—एक तो परमेश्वर का विश्वास और उसकी उपासना, दूसरे जैसा भाव और ज्ञान भीतर हो उसी का वाणी द्वारा प्रकाश करना और उसी के अनुसार आचरण करना, तीसरे जितेन्द्रिय रहना; चौथे किसी के अधिकार और वस्तु को न छीनना; पाँचवें निर्बलों और दीनों पर दया करना। यह साधारण धर्म्म ऐसा है कि इसमें किसी भी मतावलम्बी को नकार नहीं है। यही धर्म्म कल्याणकारी और मोक्षदाता है।"

एक दिन, लक्ष्मण शास्त्री स्वामीजी के निकट जाकर शास्त्रार्थ करने लगे। शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति-पूजन था। स्वामीजी ने शास्त्रीजी को कहा कि अपने पक्ष के पोषण में आप कोई वेद का प्रमाण उपस्थित कीजिए।

शास्त्री महाशय ने कहा कि वेद का प्रमाण कहाँ से दूँ? वेद तो शंखासुर ने हरण कर लिए हैं! स्वामीजी ने तत्काल वेद हाथ में उठा कर कहा—"पण्डित जी आपके आलस्य और प्रमाद-रूप शंखासुर का वध करके ये वेद मैंने जर्मनी से मँगाये हैं। लीजिये, इनमें से खोज कर कोई प्रमाण निकालिये।"

उस समय सारी सभा हास्य-रस में लोट-पोट हो गई। पण्डितजी ने भी मौन साधन ही अच्छा समझा।

लक्ष्मण शास्त्री की पराजय से पौराणिकों में खलबली पड़ गई। अन्त में उन्होंने शास्त्रार्थ करने के लिए अङ्गद शास्त्री को पीलीभीत से बुलाने का प्रबन्ध

किया। अङ्गद शास्त्री बड़ा अभिमानी पुरुष था। वह अपने मे बढ़ कर किसी को भी विद्वान् नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में सारे पण्डित तृण-तुल्य थे। उसने शाहजहाँपुर में आते ही जनता को उकसाना भड़काना आरम्भ कर दिया और शास्त्रार्थ के समय ऊधम मचाने के उपाय स्थिर कर लिये। साथ ही शास्त्रार्थ के लिए अपनी सुसज्जा का एक पत्र स्वामीजी की सेवा में भेज दिया।

उसके पत्र का उत्तर महाराज ने शास्त्रार्थ के नियमों-सहित जो दिया उसका सारांश यह है—"क्या आप लोग वेद से विमुख होकर, मूर्त्ति-पूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्म नहीं करते ? और क्या वेदोक्त एक परमेश्वर की पूजा न कर उलटे नहीं चलते ? क्या आपने मेरा कोई भी कर्म वेद के प्रतिकूल देखा सुना है ? यदि शास्त्रार्थ करने की आपकी सच्ची इच्छा होती तो सभ्यता और विनयपूर्वक शास्त्रार्थ करने से मैंने आपको कब रोका था ? सभ्यता से सम्वाद करना चाहते हो तो मेरा द्वार अब भी खुला है । परन्तु आप तो शास्त्रार्थ करना ही नहीं चाहते। यदि इच्छा थी तो मेरे पास ही क्यों न आ गये ? जहाँ मूर्ख लोग असभ्यता पर उतर आते हैं, और हल्ला-गुल्ला करने लगते हैं मैं तो वहाँ खड़ा होना भी नहीं चाहता। आपका यह लिखना कि जहाँ-जहाँ मैं जाता हूं वहाँ-वहाँ से आप किनारा काट कर निकल जाते हैं, कोरा झूठ है। आपसे मुझको कभी किंचिन्मात्र भी भय नहीं हुआ और न ही कभी होगा। आपमें ऐसी योग्यता ही नहीं, जिससे कोई डर जाय। आपको तो लोगों को परस्पर लड़ाना-भिड़ाना आता है। आपकी इसी करतूत पर बरेली में लक्ष्मी-नारायणजी ने आपको उद्यान तक में तो आने नहीं दिया था। वह तिरस्कार आपकी कलहकारिणी प्रकृति का कड़वा फल था।

इस समय हम दोनों शाहजहाँपुर में हैं। अब जो बहाने बना कर भाग जाय वह झूठा समझा जायगा। अपने सर्व सामर्थ्य से शास्त्रार्थ कर लीजिए; टल न जाइए। परन्तु साथ ही यह भी स्मरण रहे कि जय सचाई की ही होती है। सब आप्त जनों का यही मार्ग है कि सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन किया जाय। मुझे अपनी विद्या और बुद्धि के अनुसार पूर्ण निश्चय है कि मैं लोगों को सन्मार्ग पर चला रहा हूं। यदि इसमें आपको कोई भ्रम है तो शास्त्रार्थ के समय दूर हो जायगा।

मथुरा में अनेक विद्यार्थी श्रीविरजानन्दजी से अध्ययन करते थे। आप भी कदाचित् उनकी सेवा में गये होंगे। परन्तु यदि आप उनके शिष्य होते तो उनके उपदेश के प्रतिकूल आचरण न करते। बड़ा-छोटा और ऊँच-नीच तो मनुष्य अपने गुण-कर्म्म से होता है।

आपका पत्र कल मध्याह्नकाल मिला था। इसलिए कल उत्तर नहीं दिया जा सका। आपके पत्र में संस्कृत और भाषा की अनेक अशुद्धियाँ हैं। सो जब मिलाप होगा उस समय सब कुछ समझा दिया जायगा।"

श्रावण कृष्ण एकादशी १६३६।

इसके अनन्तर भी अङ्गद महाशय स्वामीजी के सामने न आये। दूर बैठे ही गप्प-शप उड़ाते रहे और लम्बे-लम्बे पत्र लिख कर समय टालते रहे। स्वामीजी के नियमों को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इसलिए यह शास्त्रार्थ न हो सका।

कितना भी बड़ा मनुष्य कोई क्यों न होता यदि वह कोई दबाव की बात कह बैठता तो महाराज तुरन्त करारा उत्तर देकर उसका मुँह बन्द कर देते। एक दिन डिप्टी कलेक्टर, अलीजान महाशय उस मार्ग से निकले, जहाँ स्वामीजी व्याख्यान दिया करते थे। डिप्टी महाशय ने कहा कि पण्डितजी! अपने व्याख्यान में कुछ सम्भल कर बोला कीजिए। महाराज ने तत्काल उत्तर दिया कि 'कोई भय की बात नहीं है, अब अंगरेजी है, औरङ्गजेबी नहीं।'

स्वामीजी को मितव्ययिता का भी ध्यान रहता था। वे व्यर्थ व्यय के बड़े विरोधी थे। धन के सदुपयोग की शिक्षा दिया करते थे।

स्वामीजी को व्याख्यान-स्थान पर पहुंचाने के लिए जो सज्जन गाड़ी भेजा करता था वह एक दिन अपनी गाड़ी न भेज सका। किराये की गाड़ी स्वामीजी के निवास पर आ गई। महाराज ने उस गाड़ी को देख कर कहा, "आप किराये की गाड़ी क्यों लाये हैं? मुझे गाड़ी में बैठने का कोई व्यसन नहीं है। आने-जाने में अधिक समय न व्यय हो जाय इसलिए मैं गाड़ी में बैठता हूं; वैसे तो मुझे पैरों चलने ही में आनन्द आता है।"

पण्डित भीमसेनजी एक दिन बाज़ार से भोजन-सामग्री लिवा लाये। महाराज ने भोज्य-पदार्थों को निरीक्षण कर पण्डितजी को कहा, "आटे आदि का दाम आपसे अधिक लिया गया है। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि आपने निरख की पूछ-

ताप कुछ भी नहीं की। पदार्थ भी उत्तम कोटि के नहीं हैं। भाई, धन एक उपयोग की वस्तु है। यह बड़े परिश्रम से प्राप्त होता है। किसी ने यदि कलकत्ते जाना हो,तो वहां न पहुंच सकने से चाहे उसे कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़े, परन्तु वह किराये में एक भी पैसे की कमी से वहां नहीं जा सकता। किसी समय तो एक कौड़ी की कमी भी करोड़ों रुपयों की हानि का कारण हो सकती है। इसलिए एक पैसे के व्यय में भी सावधान रहना चाहिए।"

महाराज समय को एक बहुमूल्य वस्तु मानते थे। उन्होंने दिन-रात के सारे पल अपने लिए तो नियम के तार में पिरो ही रखे थे, परन्तु कर्मचारियों को भी व्यर्थ में समय नहीं बिताने देते थे।

एक दिन उनके लेखक कार्य करने के लिए समय पर समुपस्थित न हो सके। वे कोई आध घण्टा देर करके काम पर आये। महाराज ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा, "हमारे देश के लोग समय का महत्त्व नहीं जानते। नियम-बद्ध कार्य्य करना इनके लिए दुष्कर कर्म है। प्रातः से सायं पर्यन्त, इनके सारे काम अनियमित होते हैं। समय का व्यर्थ खोना,इनकी अस्त-व्यस्त अवस्था का एक भारी कारण है।"

"समय कितने मूल्य की वस्तु है, इसका ज्ञान उस समय होता है जब किसी का मरणासन्न प्रिय बन्धु शय्या पर पड़ा होता है और वैद्य आकर कहता है कि यदि पांच पल पहले मुझे बुलाया होता तो मैं इसे मरने न देता। चाहे सहस्रों रुपये व्यय कर डालो, अब इसकी आँख नहीं खुल सकती।"

महाराज के इस उपदेश का कर्मचारियों पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ा। महाराज शाहजहाँपुर-निवासियों को अपने सुधा-समान उपदेशों से तृप्त करने के अनन्तर आश्विन सुदी २ सं० १९३६ को लखनऊ आये। वहाँ छः दिन तक निवास किया और आश्विन सुदी दशमी सम्वत् १९३६ को फर्रुखाबाद में पधारे। अब की बार महाराज ने लाला कालिचरण के उद्यान में आसन लगाया।

महाराज के वहां प्रतिदिन भाषण होते। सहस्रों मनुष्य सुनने आते। कलेक्टर आदि राजकर्मचारी भी सम्मिलित हुआ करते और अत्यन्त प्रसन्न होते। उनके भाषणों का प्रभाव वर्णनातीत होता था। एक व्याख्यान में गो-रक्षा के लाभ वर्णन करते हुए महाराज ने कहा—"गौ-हत्या से इतनी हानि हो रही

है, परन्तु खेद है कि राजपुरुष इस पर कुछ भी ध्यान नहीं देते। यह दोष अधिक हमारा अपना है। हममें एकता का सर्वथा अभाव है। यदि मिल कर गो-वध बन्द कराने का निवेदन करें तो क्या नहीं हो सकता ? जो लोग दान करते हैं वे भी हानि-लाभ को नहीं सोचते। भोले-भाले भाई समझ लेते हैं कि *गो-संकल्प करने से वैतरणी पार हो जायँगे। वे मर जाते हैं और गौ पुरो*हित देवता के आँगन में खूंटे से बन्धी रहती है, प्रत्युत बार-बार कई स्थानों में संकल्प कराई जाती है। बहुत से ऐसे भी कुल-कपूत हैं जो तुरन्त उसे कसाई के हाथ बेच डालते है।"

एक दिन दान पर बोलते हुए महाराज ने कहा, "अन्न-जल का दान,कोई भी भूखा-प्यासा मिले तो उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन दुःखी पड़ोसी को देना चाहिए। पास के रहने वाले का दरिद्र दूर करने से सच्ची अनुकम्पा और उदारता का प्रकाश होता है। इससे वाह-वाह नहीं मिलती, इसलिए अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता।"

"समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित को अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्ती दीन-दुःखिया जन पर तो दयादि भावों को नहीं दिखलाता, किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिए उनका प्रकाश करता है, उसे दयावान्, अनुकम्पा-कर्त्ता और सहानुभूति-प्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्य का दान बाहर का दिखलावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकाश, दीपक की ज्योति की भांति, समीप से दूर तक फैलना उचित है।"

"यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'जो निर्धन जन अन्नादि का दान नहीं कर सकते,वे दूसरों को क्या दें ?' उत्तर स्पष्ट है कि जो अन्नादि का दान करने में असमर्थ हैं वह अपने पड़ोसी आदि को कष्ट और क्लेश में सहायता दें। निर्बलों का पक्ष करें। विपत्ति और आधि-व्याधि-ग्रस्त जनों की सेवा करें। परपीड़ितों और व्याकुल मनुष्यों से प्रेम करें। उन्हें मीठे वचनों से शान्ति दें। ये सब दान हैं और आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले दान हैं। ऐसे दान नित्यप्रति निर्धन जन भी कर सकते हैं।"

महाराज ने एक दिन वर्णन किया, "अनेक जन कहते हैं कि आपके खण्डन-परक व्याख्यानों से तो लोगों में घबराहट उत्पन्न हो जाती है। उनके हृदय भड़क उठते हैं। इसका परिणाम शुभ कैसे होगा? भाई, जब रोग दूर होने में नहीं आया करता तो अच्छे वैद्य लोग, देर के बढ़े दोषों को शान्त करने और मल को बाहर निकालने के लिए, विरेचक औषधियाँ दिया करते हैं। विरेचक औषध पहले-पहल घबराहट उत्पन्न करती है। व्याकुलता लाती है। कभी-कभी उससे मुंह भी मचलाने लग जाता है। परन्तु जब विरेचन होकर कुपित दोष शान्त हो जाते हैं तब प्रसन्नता लाभ होती है। धीरे-धीरे वास्तविक पुष्टि प्राप्त हो जाती है। आर्य-जाति में अनेक कु-रीतियों के दोष और मिथ्या मन्तव्यों के मल बढ़ गये हैं। उनके कारण यह इतनी रुग्ण हो गई है कि इसके स्नेहियों को इसके जीवन के संशय पड़ गये हैं। लोग इसकी आयु के वर्षों को उंगलियों पर गिनने लगे हैं।"

"हमारे उपदेश आज, विरेचक औषध की भांति, घबराहट अवश्य लाते हैं; परन्तु हैं वे जातीय शरीर के संशोधक और आरोग्यप्रद। वर्त्तमान आर्य-सन्तान हमें चाहे जो कहे, परन्तु भारत की भावी सन्तति हमारे धर्म-सुधार को और हमारे जातीय संस्कार को अवश्यमेव महत्त्व की दृष्टि से देखेगी। हम, लोगों की आत्मिक और मानसिक नीरोगता के लिए, जो कुरीतियों का खण्डन करते हैं वह सब कुछ हित-भावना से किया जाता है।"

पौराणिक पण्डितों ने स्वामीजी के पास पचीस प्रश्न भेजे। उनका उत्तर महाराज ने आर्य पुरुषों को लिखा दिया। वे प्रश्नोत्तर ये थे—

प्रश्न १—वेदादि शास्त्रों में संन्यासियों के धर्म क्या कहे हैं? संन्यासियों को यानारूढ होना और हुक्का पीना चाहिए अथवा नहीं?

उत्तर—वेदादि शास्त्रों में संन्यासियों के धर्म ये बताए हैं—ज्ञान-पूर्वक, वेदानुकूल, शास्त्रोक्त रीति से पक्षपात, शोक, वैर, हठ और दुराग्रह का त्यागना। स्वार्थ-साधन, निन्दा-स्तुति और मानापमान आदि दोषों को छोड़ना। संन्यासियों का धर्म है कि सत्यासत्य की आप परीक्षा करें। सर्वत्र विचरते हुए लोगों से असत्य छुड़ावें और सत्य ग्रहण करावें, जिससे उनकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति हो और वे साधनों सहित विद्या लाभ कर

अपने पुरुषार्थ से व्यावहारिक और पारमार्थिक सुखों को उपलब्ध करें। लोगों से दुराचार हटाना संन्यासियों का धर्म है।

हर्ष-शोक से रहित संन्यासीजन यदि यानारूढ़ हों तो इसमें कोई भी दोष नहीं है। रोगादि की निवृत्ति के लिए, परोपकारी संन्यासीजन यदि औषधवत् धूम्रपान करें तो कुछ भी हानि-दोष नहीं है। ऐसा करना शास्त्रानुसार है।

प्रश्न २—यदि आपके मत में क्षमा नहीं मानी जाती तो मनु-स्मृति के प्रायश्चित्तों का क्या फल है ? ईश्वर की दयालुता का क्या प्रयोजन है ? यदि मनुष्य स्वतंत्रता से आगन्तुक पापों से बचा रहे तो ईश्वर की क्षमाशीलता किस काम आयगी ?

उत्तर—हमारा मत वेदोक्त है, कोई कपोलकल्पित नहीं है। वेदों में कहीं भी, किये पापों की क्षमा नहीं लिखी। पापों की क्षमा मानना युक्तिसंगत भी नहीं है। उन मनुष्यों पर शोक होता है जिन्हें प्रश्न करने तो नहीं आते, परन्तु वे पाँचों में सवार बनने की चेष्टा करते हैं।

क्षमा और प्रायश्चित्त का कुछ भी सम्बंध नहीं है। प्रायश्चित्त कोई सुख-भोग का नाम नहीं है। जैसे कारावास में अपराधी मनुष्य चोरी आदि कर्मों का फल भोग लेता है, ऐसे ही प्रायश्चित्त में पाप-फल भोगा जाता है। अनेक नास्तिक जन ईश्वर का खण्डन करते हैं। दुःखों में और दुर्भिक्षादि में मनुष्य परमात्मा को गालियाँ तक देने लग जाते हैं। वह सब सहन कर लेता है और अपनी कृपा का परित्याग नहीं करता। यही उसकी क्षमा और दया है। न्यायकारी यदि किये कर्मों को क्षमा कर दे तो वह अन्यायकारी हो जाता है। परमेश्वर अपने स्वाभाविक गुण के विरुद्ध कभी कुछ नहीं करता। जैसे न्यायाधीश पापियों को विद्या और शिक्षा द्वारा पाप से पृथक् कर प्रतिष्ठा और दण्ड से शुद्ध और सुखी कर देता है, ऐसे ही ईश्वर का न्याय समझना चाहिए।

प्रश्न ३—यदि आपके मत में तत्त्वों के परमाणु नित्य हैं और कारण का गुण कार्य में रहता है,तो यह बताइए कि सूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल सृष्टि कैसे हो गई ?

उत्तर—जो परम सूक्ष्म है उसी को परमाणु और अव्याकृत आदि नामों से पुकारा जाता है। ऐसे परमाणु अनादि और सत्य हैं। कारण के जो गुण सम-ाय सम्बंध से हैं वे कारण में नित्य हैं और कार्यावस्था में भी नित्य बने रहते

हैं। परमाणुओं में संयोग और विभाग का गुण भी नित्य है। इस लिए इनके मिलने और बिछुड़ने से इनके स्वरूप में अनित्यता नहीं आती। परमाणुओं में गुरुत्व और लघुत्व दोनों का सामर्थ्य भी नित्य है। गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध है।

प्रश्न ४—मनुष्य और ईश्वर का परस्पर क्या सम्बन्ध है? ज्ञान से मनुष्य क्या ईश्वर बन सकता है? जीवात्मा और परमात्मा में क्या सम्बन्ध है? क्या वे दोनों नित्य हैं? यदि दोनों चेतन हैं तो जीव ईश्वराधीन है कि नहीं? आधीन है तो क्यों?

उत्तर—मनुष्य और ईश्वर का राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक आदि का सम्बन्ध है। अल्पज्ञ होने से जीव ईश्वर नहीं हो सकता। जीव और ईश्वर में व्याप्य-व्यापक आदि सम्बन्ध हैं। जीवात्मा सदा ईश्वराधीन रहता है; परन्तु कर्म करने में वह स्वतन्त्र है और फल भोगने में ही पराधीन है। ईश्वर का सामर्थ्य अनन्त है और जीव का अल्प, इस लिए जीव का परमात्मा के आधीन होना आवश्यक है।

प्रश्न ५—क्या आप संसार की रचना और प्रलय मानते हैं? प्रथम सृष्टि में एक मनुष्य उत्पन्न हुआ था अथवा अनेक? आदि में जब उनके कर्म समान थे तो परमेश्वर ने कुछ एक मनुष्यों ही को वेद ज्ञान क्यों दिया? ऐसा करने से उसमें पक्षपात का दोष आ जाता है।

उत्तर—सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय हम मानते हैं। ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव अनादि हैं। इस लिए सृष्टि भी प्रवाह से अनादि है। यदि ऐसा न माना जाय तो रचना से पूर्व ईश्वर को निकम्मा मानना होगा। परमेश्वर की तरह प्रकृति और जीव भी अनादि हैं। जैसे स कल्प की सृष्टि की आदि में अनेक स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए वैसे ही पूर्व कल्पों में होते रहे और आगामी कल्पों में होते रहेंगे। जीवों के कर्म भी अनादि हैं। जिन चार आत्माओं में परमात्मा ने वेद का प्रकाश किया उनके सदृश अथवा उनसे अधिक किसी के भी पुण्य नहीं थे। इस लिए परमात्मा में पक्षपात का दोष नहीं आता।

प्रश्न ६—आपके मतानुसार कर्म-फल तथा कर्म न्यूनाधिक होता है तो मनुष्य स्वतंत्र कैसे हुआ? परमेश्वर का जैसा ज्ञान है जीव वैसा ही कर्म करेगा इसलिए स्वतन्त्र न रहा।

उत्तर—कर्म-फल न्यूनाधिक कभी नहीं होते। जिसने जैसा और जितना कर्म किया हो उसे वैसा और उतना ही फल न दिया जाय तो अन्याय हो जाता है। हे आर्य-जनो! ईश्वर में भूत-भविष्यत् काल का सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर का ज्ञान सदा एक रस है। जैसे ईश्वर अपने ज्ञान में स्वतन्त्र है वैसे ही जीव कर्मों के करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

प्रश्न ७—मोक्ष क्या पदार्थ है?

उत्तर—सब अशुभ कर्मों से रहित होकर केवल शुभ ही कर्म करना जीवन-मुक्ति है, और दुःखमात्र से छूट कर आनन्दपूर्वक परमेश्वर में रहना मुक्ति है।

प्रश्न ८—धन बढ़ाना, कला-कौशल द्वारा लोगों को सुखी करना और रोग-ग्रस्त पापी मनुष्य को औषधादि देना धर्म है अथवा अधर्म?

उत्तर—न्याय से धन बढ़ाने, कला-कौशल निकालने और औषधि आदि बनाने में धर्म्म है। यदि कोई मनुष्य ऊपर कहे कर्म अन्याय से करे तो अधर्म है। पापी मनुष्य को रोग से छुड़ाकर धर्म्म-कार्यों में लगाना धर्म्म है।

प्रश्न ९—मांस खाने में पाप है अथवा नहीं? यदि पाप है तो वेद और आप्त ग्रन्थों में, यज्ञ में हिंसा विधान है और भक्षणार्थ मारना क्यों लिखा है?

उत्तर—मांस खाने में पाप है। वेदों तथा आप्त ग्रन्थों में यज्ञादि में हिंसा करना कहीं भी नहीं लिखा। गोमेध आदि शब्दों के अर्थ वामियों ने बिगाड़े हैं। इनका वास्तविक अर्थ हिंसा-परक नहीं है। जैसे डाकू आदि दुष्ट जनों को राजा लोग मारते हैं ऐसे ही हानिकारक पशुओं को मारना भी लिखा है, परन्तु खाने का लेख नहीं है। आज कल तो वामियों ने मिथ्या श्लोक बना कर गो-मांस तक खाना भी बताया है! जैसे मनुस्मृति में इन धूर्तों का मिलाया हुआ लेख है कि गो-मांस का पिण्ड देना चाहिए। क्या कोई पुरुष ऐसे भ्रष्ट वचन मान सकता है?*

---

* यह उत्तर पं० लेखरामजी के नाम से बनाये स्वामी दयानन्दजी के जीवन चरित्र से लिया गया है। परन्तु 'भारत सुदशा प्रवर्तक' नामक पत्र में उस समय इस प्रश्न का जो उत्तर छपा था वह रोग में अपवाद सहित इससे भिन्न है।

प्रश्न १०—जीव का क्या लक्षण है ?

उत्तर—जीव के लक्षण न्याय-शास्त्र में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, और ज्ञान लिखे हैं।

प्रश्न ११—सूक्ष्म यंत्रों से ज्ञात होता है कि जल में अनन्त जीव हैं। इस अवस्था में क्या जल-पान करना चाहिए ?

उत्तर—जब पात्र और पात्रस्थ जल अन्त वाले हैं तो उनमें अनन्त जीव नहीं समा सकते। जल को आँख से देख कर और वस्त्र से छान कर पीना चाहिए।

प्रश्न १२—पुरुष के लिये बहुत स्त्रियों से विवाह करने का कहाँ निषेध है ? यदि है तो धर्म्म-शास्त्र में यह क्यों आता है कि यदि एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हों और उनमें से एक पुत्रवती हो जाय तो सब पुत्रवालियाँ समझी जायँ ?

उत्तर—वेद में बहु विवाह का निषेध है। संसार में सभी मनुष्य अच्छे नहीं होते। इसलिए यदि कोई अधर्मी पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर ले तो उसकी स्त्रियों में परस्पर विरोध अवश्य होगा। यदि एक के पुत्र हो तो दूसरी उसे विष आदि से मार न दें, इसलिए धर्म्म-शास्त्र में लिखा है कि उसे अपना पुत्र ही समझें।

प्रश्न १३—ज्योतिष-शास्त्र के फलित-भाग को क्या आप मानते हैं ? क्या भृगु-संहिता आप्त ग्रन्थ है ?

उत्तर—हम ज्योतिष-शास्त्र के फलित-भाग को नहीं मानते, किन्तु गणित भाग को मानते हैं। ज्योतिष के जितने सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनमें फलित का लेश भी नहीं है। भृगु-संहिता में गणित है, इस लिए उसे हम मानते हैं। ज्योतिष-शास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थों में भूत-भविष्यत् काल का ज्ञान नहीं लिखा है और न ही उनमें मनुष्य के सुख-दुःख के ज्ञान का लेख है।

प्रश्न १४—ज्योतिष-सिद्धान्त में आप किस ग्रन्थ को सिद्धान्त-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं ?

उत्तर—जितने भी वेदानुकूल ग्रन्थ हैं उन सबको हम आप्त ग्रन्थ मानते हैं।

प्रश्न १५—क्या आप पृथ्वी पर सुख-दुःख, विद्या, धर्म्म और मनुष्य संख्या की न्यूनता और अधिकता मानते हैं ? यदि मानते हैं तो क्या पहले इनकी वृद्धि थी ? अब है ? अथवा आगे होगी ?

उत्तर—हम पृथ्वी पर सुखादि की वृद्धि सापेक्ष होने से अनित्य मानते हैं और मध्यम अवस्था में बराबर स्वीकार करते हैं।

प्रश्न १६—धर्म्म का क्या लक्षण है? ईश्वरकृत सनातन है अथवा मनुष्यकृत?

उत्तर—धर्म्म का लक्षण पक्षपात-रहित न्याय है और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का परित्याग है। वह वेद प्रतिपादित और ईश्वरकृत सनातन है।

प्रश्न १७—यदि कोई ईसाई, मुसलमान आपके मत में दृढ़ विश्वासी हो जाय तो क्या आपके अनुयायी उसे अपने में मिला लेंगे और उसका बनाया भोजन खा लेंगे?

उत्तर—वेद ही हमारा मत है। बड़े शोक और अन्धेर की बात है कि आप लोगों ने केवल खान-पान, शौच-स्नान, वेश भूषा और उठने बैठने आदि को ही धर्म्म मान रक्खा है। ये तो अपने अपने देशों की रीतियाँ हैं।

प्रश्न १८—क्या आपके मत में ज्ञान के बिना भी मुक्ति हो जाती है?

उत्तर—परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के बिना किसी की मुक्ति नहीं होती। जो धर्म्म पर आरूढ़ होगा उसे ज्ञान भी अवश्य होगा।

प्रश्न १६—श्राद्ध करना क्या शास्त्रानुसार है? शास्त्रानुकूल नहीं तो पितृ-कर्म का क्या अर्थ है? क्या मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इसका विधान मिलता है?

उत्तर—जीवित पितरों को श्रद्धा से, सेवा से, पुरुषार्थ से और पदार्थों से तृप्त करना श्राद्ध है। ऐसे ही श्राद्ध का विधान वेद में मिलता है। मनुस्मृति में भी जो लेख वेदानुकूल हैं वही मानने योग्य हैं।

प्रश्न २०—कोई मनुष्य यह समझ कर आत्मघात कर ले कि मैं पापों से नहीं बच सकता तो क्या ऐसा करने में कोई पाप होता है?

उत्तर—आत्मघात करने में पाप ही होता है। पापाचरण के फल भोगे बिना कोई मनुष्य पापों से नहीं बच सकता।

प्रश्न २१—जीवात्मा असंख्य हैं अथवा संख्या सहित? क्या कर्मवश मनुष्य पशु और वृक्षादि की योनियों में जा सकता है?

उत्तर—ईश्वर के ज्ञान में जीवों की संख्या है, परन्तु अल्पज्ञान में वे असंख्य हैं। पाप-कर्म्मों की अधिकता से जीव, पशुओं और वनस्पतियों की योनियों में जाता है।

प्रश्न २२—क्या विवाह करना उचित है? सन्तान-प्राप्ति से फिर को पाप लगता है?

उत्तर—जो जन पूर्ण विद्वान् और जितेन्द्रिय हो कर सब का उपकार करना चाहें उन्हें तो विवाह करना उचित नहीं है। जो मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते उन्हें विवाह करना चाहिए। वेदानुसार विवाह कर के ऋतुगामी रहते जो सन्तान प्राप्त हो उसमें कोई भी दोष नहीं है। व्यभिचार अन्याय है, इसलिए उससे उत्पन्न हुई सन्तान दोषयुक्त होती है।

प्रश्न २३—क्या अपने सगोत्र में विवाह-सम्बन्ध करना दूषित है? यदि है तो क्यों? क्या सृष्टि के आदि में ऐसा हुआ था?

उत्तर—सगोत्र में विवाह करने से शरीर और आत्मा की यथावत उन्नति नहीं होती और बल तथा प्रेम भी ठीक-ठीक नहीं बढ़ता। इन दोषों के कारण भिन्न गोत्र में विवाह करना उचित है। सृष्टि के आदि में तो गोत्र ही नहीं थे। इसलिए उस समय का प्रश्न करना व्यर्थ प्रयास है।

प्रश्न २४—गायत्री के जाप से कोई फल भी होता है कि नहीं? यदि होता है तो क्यों?

उत्तर—वेद में गायत्री के अर्थानुसार आचरण करना लिखा है। इसलिए, वैदिक विधि से गायत्री का जप किया जाय तो उत्तम फल प्राप्त होता है। किया हुआ अच्छा बुरा कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता।

प्रश्न २५—धर्माधर्म मनुष्य के अन्तरङ्ग भावों से सम्बन्ध रखता है अथवा बाहर के परिणामों से? यदि कोई मनुष्य किसी डूबते मनुष्य को बचाने के लिए नदी में कूद पड़े और आप भी डूब जाय तो क्या उसे आत्मघात का पाप लगेगा?

उत्तर—धर्माधर्म मनुष्य की बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग सत्ता से होते हैं। इनको कर्म और सुकर्म-कुकर्म भी कहा जाता है। परोपकार के लिए परिश्रम करते यदि बीच ही में प्राणान्त हो जाय, तो भी वह मनुष्य पुण्य-पुञ्ज उपार्जन कर लेता है। ऐसे जन को पाप कदापि नहीं लगता।

ऊपर लिखे प्रश्नोत्तर आर्यसमाज फर्रुखाबाद में सुनाये गये और फिर 'भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक' नाम के पत्र में प्रकाशित कराए गये।

स्वामीजी महाराज अच्छे, सुन्दर और सार्थक नाम रखने की शिक्षा दिया करते। एक दिन महाराज के पास अनेक सत्संगी बैठे थे। उस समय कई स्त्रियाँ भी आ गईं। उनमें से एक के पास एक नन्हा-सा बच्चा था। महाराज ने उसका नाम पूछा तो बालक की माता बोली—'इसका नाम भीमा है'।

स्वामीजी ने उस समय कहा कि ऐसे नाम न रक्खा करो। नाम अत्युत्तम होने चाहियें। आज से इस बालक को 'भूदेव' कहा करो।

महाराज साधारण बात से भी कोई न कोई शिक्षा निकाल लिया करते। एक दिन वे अपने डेरे से आर्यसमाज के स्थान को गाड़ी में आ रहे थे। मार्ग में एक कुत्ता भौंकता हुआ गाड़ी के पीछे दौड़ने लगा। थोड़ी दूर तक तो वह पीछे आया, अन्त में थक कर रह गया। उस समय महाराज ने अपने साथी सज्जन को कहा, "कपोल-कल्पित मतों को मानने वाले पहले-पहल तो बहुतेरी बक-झक करते हैं, परन्तु अन्त में इस कुत्ते की तरह हार कर रह जाते हैं।"

फतेहगढ़ में महाराज ने व्याख्यान में वर्णन किया कि आर्यसमाज के दस नियम ऐसे पूर्ण हैं कि इन में आज तक कोई मनुष्य भी त्रुटि नहीं दिखा सका। उस व्याख्यान के मध्य में, मदिरा में उन्मत्त एक मनुष्य चिल्लाने लग गया। लोगों ने उसे चुप कराने का बहुत यत्न किया, परन्तु उसने एक न मानी। अन्त में महाराज के सिंह-नाद को सुन कर वह सर्वथा शान्त हो गया।

स्वामीजी प्रतिपक्षी को उसके ही कथन से निरुत्तर कर देते थे। एक दिन एक वकील से महाराज ने पूछा कि आप का क्या मत है? उसने कहा कि मेरा कोई मत नहीं, मैं किसी पक्ष में विश्वास नहीं करता। स्वामीजी ने कहा कि किसी को भी न मानना, यह भी तो एक पक्ष है।

स्वामीजी के सत्सङ्ग में बहुधा आत्मा, परमात्मा और आचार-विचार पर ही बातचीत हुआ करती थी। महाराज जगत सम्बन्धी व्यर्थ के जाल-जंजाल पर कान नहीं देते थे। सेठ निर्भयरामजी एक दिन श्री-सेवा में उपस्थित हुए। स्वामीजी ने उनको आनन्द पूछा तो सेठजी ने कहा कि महाराज! आपकी कृपा से धन-धान्य और पुत्र-पौत्र सभी हैं, इसलिए आनन्दित हूँ।

स्वामीजी ने हँस कर कहा—"सेठजी! धर्म-कर्म और आत्मा-परमात्मा से भिन्न वस्तुओं में आनन्द समझना अविद्या का एक लक्षण है।"

एक दिन कई सज्जनों के साथ वार्त्तालाप करते हुए महाराज ने कहा, "इस देश में अनेक दयानन्द उत्पन्न होंगे। वैदिक धर्म्म की वृद्धि के समय उन मायिक पुरुषों से इस धर्म्म की रक्षा करना आर्यों के लिए बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता का काम होगा।"

स्काट महाशय फर्रुखाबाद में मजिस्ट्रेट थे। वे बड़े सज्जन और उदारचेता थे। महाराज के व्याख्यानों में निरन्तर आया करते थे। जिस दिन व्याख्यान न होता तो दर्शनार्थ अवश्य आ जाते। श्री-चरणों में वे अति प्रीति रखते थे। उनके पाँव में कोई दोष था। इस कारण वे लङ्गड़ा कर चलते थे।

एक दिन स्काट महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि कर्म्म-फल का पता हमें कैसे लगे? स्वामीजी ने उनको कहा कि आप के पाँव में लङ्गड़ापन क्यों है? उन्होंने उत्तर दिया कि ईश्वर की इच्छा। इस पर महाराज ने कहा, "इसे ईश्वर-इच्छा न कहिए। यह कर्म-फल है। सुख-दुःख के भोग का नाम कर्म्म-फल है। जिस भोग का यहाँ कोई कारण दिखाई न दे, उसे पूर्व-जन्म के कर्मों का परिणाम कहते हैं।"

फर्रुखाबाद में बाजार की नाप हो रही थी। उसी सड़क में एक छोटी सी मढ़िया थी। उस में लोग धूप-दीप किया करते थे। श्री मदनमोहनलालजी ने आकर स्वामीजी को कहा, "महाराज! स्काट महाशय आप को बहुत मानते हैं। यदि आप उनको संकेत भी कर दें तो वह मढ़िया मार्ग में से मार्जित हो सकती है। भ्रम का स्थान दूर हो सकता है।"

स्वामीजी ने उन से कहा, "ऐसी उलटी पट्टी मुझे न पढ़ाइए। ऐसे टेढ़े, तिरछे और तीखे मार्गों से किसी मत को हानि पहुँचाना अधर्म्म है; द्रोह, नीचता, अनीति और अन्याय है। मुसलमान बादशाहों ने सैकड़ों मन्दिरों को मूर्तियों सहित मलियामेट कर दिया, परन्तु मूर्ति-पूजा बंद करने में सफल न हो सके। हमारा काम तो मनुष्यों के मनोमन्दिरों से मूर्तियाँ निकालना है; न कि ईंट-पत्थर के बने देवालयों को तोड़ना-फोड़ना।" महाराज में सहानुभूति का भाव बड़ा प्रबल था। दीन-हीन जन को देख कर उनका हृदय तुरन्त पिघल जाता था। एक दिन वे, श्री कालीचरण के उद्यान में, अपने सत्संगियों समेत बैठे शङ्का-समाधान कर रहे थे। उसी समय एक स्त्री मरा हुआ बच्चा,

एक मैले-कुचैले वस्त्र में लिपटे लिये जाती दिखाई दी। उस से महाराज ने पूछा, "माई! आपने इस पर श्वेत, स्वच्छ वस्त्र क्यों नहीं लपेटा?" उसने रो कर कहा—"महाराज! मुझ धन-हीन के पास स्वच्छ और नवीन वस्त्र कहाँ हैं जो इस पर डालती!" उसके वचन सुन कर स्वामीजी की आँखों से आँसुओं की लड़ी टूट पड़ी। उन्होंने आँसू पोंछते हुए कहा—"कभी यह भारत विभूति का भव्य भवन था, ऐश्वर्य का स्थान था, शोभा और सुखों का क्रीड़ा-धाम था, परन्तु आज यह दशा है कि भारत के मरे बालकों के तन को ढाँपने के लिए उन के बन्धुओं को नया कपड़ा भी नहीं जुड़ता!"

स्वामीजी के उपदेशों से आर्य पुरुषों में असीम उत्साह उत्पन्न हो गया। आर्यसमाज के कार्यों को दृढ़ बनाने के लिए उन्होंने एक सभा की। उस में सहस्रों रुपये एकत्र किये और उनका कुछ भाग वेद-भाष्य के काम में लगाने के लिए भी दिया।

ग्यारहवाँ सर्ग

फ़र्रुखाबाद में धर्मोपदेश करने के अनन्तर श्री स्वामीजी महाराज द्वितीय आश्विन वदी ८ सं० १९३६ को कानपुर पधारे। वहाँ से उन्होंने एक विज्ञापन निकाल आर्यसमाजों को सूचित कर दिया कि निम्नलिखित भद्र-पुरुषों को वेद-भाष्य के लिए चन्दा उगाहने का अधिकार है:—

ठाकुर मुकुन्दसिंह और मुन्नासिंह छलेसरनिवासी; समर्थ दानजी बम्बई-निवासी; इन्द्रमनजी और बख्तरसिंह जी, मंत्री आर्यसमाज शाहजहाँपुर; श्री रामशरणदासजी, उपप्रधान आर्यसमाज मेरठ; श्रीमान् साईंदासजी, मन्त्री आर्यसमाज लाहौर; बलदेवदासजी तथा डाक्टर बिहारीलालजी, मंत्री आर्य-समाज गुरुदासपुर; चौधरी लछमणदासजी, सभासद आर्यसमाज अमृतसर; पण्डित सुन्दरलालजी, प्रयाग; श्री अर्जुनाधार वाजपेयी, लखनऊ; माधोलालजी, मंत्री आर्यसमाज दानापुर।

जिसके पास जितना चन्दा हो वह फर्रुखाबाद में महाशय जसराम गोहेराम के पास भेज कर उसकी रसीद मंगा ले। मेरी बनाई पुस्तकें समर्थ दानजी और इन्द्रमनजी से मिलेंगी।

कानपुर से चल कर महाराज प्रयाग और मिरज़ापुर में ठहरते हुए द्वितीय आश्विन सुदी १२ सं० १९३६ को दानापुर में सुशोभित हुए। दानापुर-वासी आर्य्यजनों के चित्त महाराज के दर्शनों के लिए अतीव आतुर थे। वे चातक की भाँति धर्म-मेघ की उपदेश-वर्षा के प्यासे थे। उन्हें प्रार्थना करते, विनयपत्र भेजते और श्री-सेवा में उपस्थित होकर विनती करते बरसों बीत गए थे। जब उन्होंने श्रवण किया कि आज श्री महाराज पधारते हैं तो उनके हृदय हर्षपूर से भरपूर हो गये। चित्त में पूर्णमासी का चन्द्रमा चढ़ आया। उस दिन वे फूले गात नहीं समाते थे। सभी के नेत्र प्रसन्नता के प्रकाश से उज्ज्वल और विकसित हो रहे थे। जिस समय महाराज की गाड़ी ने रेलवे-स्टेशन पर पहुंचना था, उसके बहुत ही पहिले से, नगर से स्टेशन तक, गाड़ियों का ताँता बँध गया था। महाराज के स्वागत के लिए इतनी जन-संख्या रेलवे-स्टेशन पर एकत्र हो गई कि एक मेला अथवा महोत्सव प्रतीत होता था। भक्त लोग भगवान् को एक चौपहिया गाड़ी में बैठा कर बड़े समारोह से नगर में लाये। कुछ काल तक विश्राम करने के लिए उन्हें श्री माधोरामजी के निवास में ठहराया। वहाँ स्वामीजी से सज्जनों ने परिचय प्राप्त किया। फिर वे चायपान करके श्रीमान् जोन्स महाशय के बङ्गले पर जा विराजमान हुए। यहाँ उमाप्रसाद नाम के एक महाशय ने कहा, "आपके उपदेश तो सत्य हैं, परन्तु यदि लोग हठधर्मी से न मानें तो आप क्या कर सकते हैं ?" इस पर स्वामीजी ने कथन किया, "यदि हमारे वचनों को लोग एक बार भी कान देकर सुन लें तो हमारा कार्य सिद्ध हो गया। ये कथन एक बार भी कान में पड़े हुए फिर निकलने नहीं पाते। सुई की भाँति गहरे चुभ जाते हैं। इन वचनों को ऊपर से कोई कितना छिपाये रक्खे, परन्तु इष्ट मित्र से एकान्त में बात-चीत करते इनका आप ही आप प्रकाश हो जायगा।"

महाराज के व्याख्यानों के लिए, प्रेमी पुरुषों ने एक मण्डप सजाया था। वहाँ महाराज सिंहासनारूढ़ होकर उपदेश किया करते। ईश्वरादि अनेक विषयों पर सारगर्भित और चित्ताकर्षक भाषण होते। इनमें बीच-बीच में पन्थों पर मनोरम समालोचना भी होती रहती।

एक दिन कुछ-एक मुसलमानों ने स्वामीजी के व्याख्यान-स्थान के पास ही

एक मौलवी का व्याख्यान कराना आरम्भ कर दिया। परन्तु वे लोग देर तक विघ्न-बाधा न कर सके। पुलिस के एक अधिकारी ने उनका डेरा-डण्डा वहाँ से उठवा दिया।

महाशय गुलाबचन्द लालजी स्वामीजी के भक्तों में से थे। उन्होंने एक दिन निवेदन किया, "महाराज! मुसलमानों के विरुद्ध कुछ भी न कहिएगा। ये लोग चटपट बिगड़ बैठते हैं और लड़ाई-झगड़े पर उतर आते हैं।" स्वामीजी उस समय तो मौन रहे, परन्तु व्याख्यान में मुसलमान मत पर तीक्ष्ण, तर्क-तीर-वर्षा करते हुए बोले—"छोकरे मुझे कहते हैं कि मुसलमान मत का खण्डन न कीजिए। मैं सत्य को कैसे छिपा सकता हूं? जब मुसलमानों की चलती थी, उन्होंने हमारा खण्डन खड्ग से किया। परन्तु बड़े अन्धेर की बात है कि आज मुझे वचनों द्वारा खण्डन करने से भी रोका जाता है। ऐसे सुराज्य में भला मत-मतान्तरों की पोल खोलने से मैं रुक सकता हूँ?"

व्याख्यान के अनन्तर जब महाराज अपने डेरे पर पधारे तो कहने लगे, "इस समय का राज्य-प्रबन्ध किसी मत-मतान्तर की समालोचना करने से किसी को नहीं रोकता। वैदिक धर्म्म के प्रचार में इस समय यह एक सुविधा है।"

पंजाब के एक नगर का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा, "वहाँ मैंने विज्ञापनों द्वारा घोषणा कर दी कि कल ईसाइयों का खण्डन किया जायगा। व्याख्यान के समय बहुत से देशी और योरुपीय ईसाई तथा पादरी महाशय आकर बैठ गये। उस समय प्रधान सेनापति लार्ड राबर्ट्स महोदय भी वहाँ उपस्थित थे। उस दिन मैंने अपने सारे सामर्थ्य से ईसाई मत की समालोचना की। उस पर आक्षेप किये। बाईबिल में परस्पर विरोध बताया। परन्तु रुष्ट होना तो दूर, प्रधान सेनापति अति प्रसन्न हुये। व्याख्यान के पश्चात् उन्होंने पास आकर मुझसे हाथ मिलाया और कहा कि निस्सन्देह आप निर्भय मनुष्य हैं। हम लोगों की उपस्थिति में हमारे धर्म का खण्डन करते आप किंचिन्मात्र भी नहीं हिचके, तो भला दूसरों से आपको कब भय हो सकता है?"

पत्तों, फूलों और फलों को निष्प्रयोजन तोड़ना धर्म-शास्त्र में विवर्जित है। इसलिए स्वामीजी भी इनका व्यर्थ नाश नहीं करने देते थे। एक दिन महाराज बङ्गले के बाहर टहल रहे थे। उस समय महाशय अनन्तलाल दर्शनार्थ

श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने यों ही गुलाब का एक फूल तोड़ लिया। स्वामीजी ने डाँट कर कहा, "आपने यह अच्छा नहीं किया। यह पुष्प शाखा से लगा हुआ ही शोभायमान था और सुगन्धि प्रदान करता था। आपने व्यर्थ में अकाल ही में इसे तोड़ डाला है।"

इसके अनन्तर वे भीतर आकर बैठ गये और मोरछल से मक्खियाँ उड़ाने लगे। उस समय महाशय अनन्तलाल ने विनय की, "भगवन्! आपने पुष्प तोड़ने से तो मुझे रोक दिया, परन्तु आप मोरछल से मक्खियों को पीड़ा पहुँचा रहे हैं। क्या इसमें दोष नहीं?"

इस पर महाराज ने कहा, "हानिकारक और क्षुद्र जीवों के निवारण करने में आप जैसे थोड़े मनुष्यों ने बाधा डाली है। इसी नाममात्र की दया से भारत-वर्ष का सत्यानाश हुआ है। आप जैसे, मक्खी-मच्छर की दया मानने वाले, भीरु हृदय के दुर्बल मनुष्य काम पड़ने पर रण-क्षेत्र में क्या कर सकते हैं!"

स्वामीजी अपने सेवकों को प्राणायाम की शिक्षा दिया करते थे। प्राणक्रिया से वे भयङ्कर रोगों की शान्ति मानते थे। इसमें आत्मिक गुणों का विकास, प्रतिभा की जागृति और मानसशक्ति की उपलब्धि का होना भी वे स्वीकार करते थे। उन्होंने लिखा भी है कि प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी आधीन हो जाती हैं। बल और पुरुषार्थ बढ़ जाता है। बुद्धि इतनी तीव्र और सूक्ष्म हो जाती है कि अति कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण कर लेती है।

ठाकुरदास नामक एक सज्जन दानापुर में वास करते थे। उन्हें योगाभ्यास की जब लगन लगी तो उन्होंने एक निपट अनाड़ी मनुष्य से प्राणायाम सीखना आरम्भ कर दिया। विधि-विहीन, उलटी-पुलटी रीति से पूरक, रेचक और कुम्भक करने पर उनके प्राण प्रकुपित हो गये। नाभिकमल-निवासी अपान पवन में गाँठ पड़ जाने से उसमें सदा पीड़ा रहने लगी। इससे वे बड़े दुर्बल और कृष हो गये। एक दिन उन्होंने भगवान् के आगे अपने रोग-भोग का वर्णन किया। महाराज ने उनको आश्वासन देते हुए कहा, "योगासन से हम आपका तीन वर्षों का रोग दो-ढाई पल में दूर कर देंगे।"

महाराज ने ठाकुरदास को एक कोठरी में ले जाकर पीठ के बल लिटा दिया और घुटने खड़े रखवाये। उनके पाँव पर अपने पाँव रख कर दबाव डाला और

दूसरी ओर से उनका सिर ऊपर को उठवाया। इस क्रिया से वे तत्काल स्वस्थ हो गये। उनकी व्याधि दूर हो गई।

एक दिन ठाकुरदासजी ने स्वामीजी से प्रार्थना की, "भगवन्! निराकार परमात्मा का दर्शन कैसे हो सकता है?" स्वामीजी ने उत्तर में कहा, "जैसे सूक्ष्म रज-कण सारे आकाश में उड़ते-फिरते हैं; परन्तु दृष्टिगोचर तभी होते हैं जब सूर्य की किरणें झरोके में से होकर उनको प्रकाशित करती हैं; ऐसे ही परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है, परन्तु हृदय के झरोके में ध्यान किये बिना देव के दर्शन दुर्लभ हैं।"

एक दिन जोन्स महाशय कई पादरियों-सहित श्री-सेवा में आये और शिष्टाचार के अनन्तर कहने लगे—"महाराज! कोई धर्मोपदेश दीजिए।" स्वामीजी ने उनकी विनय पर उपदेश देना आरम्भ किया कि "परमात्मा के रचे हुए पदार्थ सब के लिए एक से हैं। सूर्य और चन्द्रमा सबको समान प्रकाश प्रदान करते हैं। वायु और जलादि वस्तुएँ सबको एकसी दी गई हैं। जैसे वे पदार्थ ईश्वर की देन हैं, सब प्राणियों के लिए एकसे हैं, ऐसे ही परमेश्वर-प्रदत्त धर्म भी मनुष्यों के लिए एक और एकसा होना चाहिए।"

फिर महाराज ने कहा, "उस एक साधारण धर्म को ढूंढने के लिए यदि कोई जिज्ञासु सारे मतवादियों में भटकता रहे और पन्थाइयों के कथनों पर विश्वास करके धर्म को जानना चाहे, तो उसे सच्चे धर्म का ज्ञान कदापि नहीं हो सकेगा। हाँ, यदि वह सब में से सार को निकाले तो उसे प्रतीत होगा कि थोड़ा-बहुत सत्य सब मतों में पाया जाता है; जैसे, सत्य को सब मतावलम्बी स्वीकार करते हैं। सभी कहते हैं कि परोपकार पुण्य-कर्म है, भूत-दया का भाव बहुत अच्छा है, विपत्ति-व्याधि-ग्रस्त मनुष्यों को सहायता देना और दान-पुण्य करना शुभ कर्म है। सारांश यह कि सदाचार और धर्म के जिन अङ्गों में सब मत एकमत हैं वही धर्म ईश्वर की देन है। वही सच्चा और सनातन है। शेष यह सब अपनी-अपनी खींचातानी है कि ईसा, मुहम्मद और श्रीकृष्ण के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।"

इतना कह कर महाराज ने अतिथियों से पूछा, "क्या आप इस पर कुछ कथन किया चाहते हैं?"

जोन्स महाशय ने कहा—"आपका कथन ही ऐसा है कि इस पर कुछ कहते बन नहीं आता। जब आप इतने उदार और स्वतंत्र विचार रखते हैं तो छूतछात क्यों मानते हैं ? आपको हमारे साथ मिल कर भोजन करने में क्यों नकार है ?"

इस पर स्वामी जी बोले, "किसी मनुष्य के साथ खाने-पीने में धर्माधर्म नहीं है। ऐसी सब रीतियाँ, देश और जाति के आचार-व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखती हैं। वास्तविक धर्म के साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु सोच-विचार वाले सभी मनुष्य, आवश्यकता के बिना, अपने देश और जाति के नियमों को नहीं तोड़ते; उनके प्रतिकूल आचरण नहीं करते। आप ही बताइये, क्या आप अपनी पुत्री का विवाह किसी देशी ईसाई के साथ करने को समुद्यत हैं ? क्या ऐसा कर देने से आपको प्रसन्नता होगी ?"

उस योरुपीय महाशय ने कहा, "हम ऐसा करने के लिये कभी भी समुद्यत न होंगे।"

स्वामीजी ने पूछा, "क्यों ? धर्म-विचार से ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"नहीं, अपनी जाति की रीति-नीति के कारण।"

तब फिर महाराज ने कहा, "इसी प्रकार हम भी अपने देश-बन्धुओं के नियम और व्यवहार के कारण आप लोगों से सहभोज नहीं करते।"

यह सुन कर वह लोग सन्तुष्ट हो गये।

जोन्स महाशय ने फिर निवेदन किया, "हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा क्यों है ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आर्यों के धर्म में और धर्मग्रन्थों में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है। इसके चलने का कारण यह प्रतीत होता है कि पहले लोग अपने मृत महापुरुषों की मूर्तियाँ बनवा कर घरों में रखते थे। उन्हें अपने पूज्य पुरुषों का स्मारक-चिह्न समझते थे। कालान्तर में उन्हीं प्रतिमाओं को वे प्रेम से पूजने लगे। आपके मत में भी लोग ईसा और मरियम की मूर्तियाँ रखते हैं। इनका पूजन भी करते हैं। अविद्या की ये बातें दोनों मतों में समान हैं।"

जोन्स महाशय अपने साथियों-सहित स्वामीजी की कथन-शैली पर अति प्रसन्न हुए और प्रशंसापूर्वक हाथ मिलाकर चले गये।

फिर एक दिन कई पादरी महाशय स्वामीजी के निवास-स्थान पर पधारे। गो-रक्षा पर बातचीत चल पड़ी। महाराज ने जोन्स महाशय से पूछा, "भलाई क्या है?" उसने कहा—"आप ही कृपा कीजिए।" तब स्वामीजी ने कहा, "जिस कर्म में अधिकांश मनुष्यों का उपकार हो उस कर्म को मैं भलाई मानता हूँ।" इस सिद्धान्त को जोन्स महाशय ने भी स्वीकार कर लिया। तब फिर महाराज ने बड़ी उत्तमता से सिद्ध कर दिखलाया कि गो-रक्षा से अधिकांश मनुष्यों को अत्यन्त अधिक लाभ होता है।"

उनके उपदेश को सुन कर जोन्स महाशय ने गो-मांस भक्षण के परित्याग का वहीं प्रण धारण कर लिया।

जिन दिनों में स्वामीजी दानापुर-वासियों को धर्मोपदेश प्रदान कर रहे थे, उन्हीं दिनों में वहां की धर्म-सभा ने चतुर्भुज पण्डित को अलीगढ़ से बुला लिया। उसके व्याख्यान भी होते थे। चतुर्भुज था बड़ा नटखट। उसने अपने व्याख्यानों में स्वामीजी के विरुद्ध मुसलमानों को भड़काना आरम्भ किया। दानापुर के आर्यजन उसकी चालों को ताड़ गये। उन्होंने स्वामीजी को भी संयत और सचेत रहने की प्रार्थना की।

एक दिन महाराज व्याख्यान समाप्त कर चुके तो कुछ लोगों ने आकर उनसे निवेदन किया कि कुञ्जविहारी शाह के मकान पर चलिए। वहाँ पण्डित चतुर्भुज भी आयगा। परस्पर मिलकर शास्त्रार्थ के नियमों का निर्णय कर लीजिए। स्वामीजी सहज-स्वभाव से उनके साथ चल पड़े। आर्यपुरुष भी उनके साथ हो लिए। जब स्वामीजी ने उस मकान में प्रवेश किया तो वह पहले ही से पौराणिकों और मुसलमानों से ठसाठस भरा हुआ था। वे लोग गोलमाल करने के लिए कटिबद्ध बैठे थे।

स्वामीजी ने कहा—"चतुर्भुजजी कहाँ हैं? उन्हें बुलाइये, जिससे शास्त्रार्थ के नियम नियत किये जायँ।"

चतुर्भुज बड़ा सुरांट था। वह वहाँ नहीं आया। धर्म-सभा के मंत्री ने उत्तर दिया कि आप हम ही से बातचीत कीजिए। महाराज ने फिर यत्नपूर्वक कहा कि चतुर्भुज के साथ मिल कर नियम निश्चित करने के लिए मुझे आमन्त्रित किया गया है। उन्हीं से वार्तालाप होगा।

धर्म-सभा के मन्त्री ने परुष भाषा में कहा कि चतुर्भुजजी तो आपका दर्शन करना भी पाप मानते हैं। आपने जो कुछ कहना है, हम से ही कहिए।

स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि मुझे देखने से वे पातकी बन जाते हैं तो बीच में एक पड़दा तान कर उन्हें उसकी ओट में बैठा दीजिए, पर बातचीत अवश्य कराइए।

उस समय रात के नौ बजे होंगे। ऐसे वाद में किसी ने दीपक बुझा दिया। फिर चारों ओर ताली बजने लगी। लोग ठट्ठा मार कर हँसने लगे। उनको इस प्रकार खिल्ली उड़ाते देख श्री माधोलालजी कोपावेश में आकर गर्जना-पूर्वक बोले कि स्मरण रखिये, यदि आपने कोई छेड़-छाड़ की तो हम भी आपको यहाँ से जीता न जाने देंगे। उसी समय आर्य पुरुष महाराज को आगे करके वहाँ से चल पड़े। दुष्ट जनों ने श्री-महाराज पर दो-चार ढेले भी फेंके, परन्तु वे सकुशल स्व-स्थान पर पहुंच गये।

पुराने दानापुर का रहने वाला 'दुर्गा अवस्थी' ब्राह्मण महाराज के दर्शनों को बहुत ही तरस रहा था। पर वह बिरादरी से इतना डरता था कि श्री-सेवा में जाने का साहस नहीं कर सकता था। एक दिन वह सात घड़ी रात रहते उठ कर वहाँ आ खड़ा हुआ जिधर से स्वामीजी अपने स्थान को लौटा करते थे। भगवान् निकट आ गये तो उसने श्री-दर्शनों से अपने को निहाल हुआ माना। स्वामीजी गम्भीर गति से अपने आसन को चले आते थे और दुर्गा अवस्थी उनकी मनोमोहिनी मूर्ति को अतृप्त लोचनों से निहारता पीछे-पीछे चला आता था। कोठी के सीमा-द्वार पर पहुंच कर स्वामीजी ठहर गये और उससे पूछने लगे कि क्या आप कुछ पूछना चाहते हैं? भक्त ने पहले अपनी क्लेश-कथा सुनाई; फिर निवेदन किया कि भगवन्! मैं आपके परमपुनीत,पूज्य पद-पद्मों की पवित्र रज अपने मस्तक पर रमाना चाहता हूँ। अपार कृपा से इस तुच्छ जन को यह सौभाग्य प्रदान कीजिए। महाराज ने उसे बहुत कहा कि ऐसी बातों में धरा ही क्या है,परन्तु अन्त में भक्त की भावना के वशीभूत होकर भगवान् ने अपने चरणों को उसके मस्तक के साथ छुआया। दुर्गा अवस्थी श्रीचरणों की धूल अपने भाल पर लगा कर अति प्रसन्नता से अपने गृह को चला गया।

एक रात का वर्णन है कि महाराज आधी रात के समय जाग पड़े और उठ कर इधर-उधर चक्कर लगाने लगे। उनके पाँव की आहट सुन कर एक कर्मचारी की भी आँख खुल गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वामीजी किसी बड़ी व्याकुलता और घबराहट में घूम रहे हैं। उसने विनय की, "भगवन्! यदि कोई वेदना है तो आज्ञा कीजिए। सेवक औषधोपचार करने के लिए उपस्थित है। यदि आदेश हो तो वैद्य को भी बुला लाऊँ।"

उस समय स्वामीजी ने सुदीर्घ साँस लेकर कहा, "भाई! यह बड़े वेग से बढ़ती हुई वेदना, आपके औषधोपचार से शमन होने वाली नहीं है। यह वेदना भारत के परिश्रमी लोगों की दुर्दशा के चिन्तन से चित्त में अभी उत्पन्न हुई है। ईसाई लोग कोल-भील आदि भारत-वासियों को ईसाई बनाने के लिए अपनी कल्पनाओं के ताने-बाने तन रहे हैं। रुपया भी पानी की तरह बहाने को कटिबद्ध हैं। परन्तु इधर आर्य-जाति के भी पुरोहित हैं, जो कुम्भ-कर्ण की नींद पड़े सोते हैं। उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। मैं अब यह चाहता हूँ कि राजों-महाराजों को सन्मार्ग पर लाकर सुधार करूँ। आर्य-जाति को एक उद्देश्यरूपी सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करूँ।"

महाराज आगन्तुक जन के मनोगत भावों को जानने में अति निपुण थे। एक शब्द के उच्चारण पर ही दूसरे की लम्बी-चौड़ी वार्त्ता का आशय जान जाना उनके लिए एक साधारण बात थी। किसी के प्रश्न का एक शब्द सुन पाने पर उसके सारे प्रश्न का उत्तर देने लग जाते थे। इससे श्रोताजन बड़े विस्मय को प्राप्त होते। उनके सत्संग में आने वाले प्रेमीजन इस बात का अनुभव करने लगते कि महाराज के विमल चित्त-दर्पण पर हमारे हार्दिक भावों का अवश्यमेव प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, जिससे वे हमारी बात के एक अंश को सुन कर सम्पूर्ण का परिज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

एक प्रेमी पुरुष ने प्रार्थना की, "महाराज! अभ्यास में मन लगाने का बहुत ही यत्न करता हूँ, परन्तु इसके तरल तरङ्ग अभंग ही बने रहते हैं; सङ्कल्प-विकल्प शान्त ही नहीं होते।"

स्वामीजी ने व्यंगभाव से समझाया, "मन नहीं टिकता तो भाँग-भवानी का एक लोटा और चढ़ा लिया करो।"

यह उत्तर सुन कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मन ही मन कहने लगा कि स्वामीजी को तो 'स्थाली-पुलाक न्याय' से भी पता नहीं है कि मैं भांग पीता हूं। फिर यह जान कैसे गये ? सच है, सत्पुरुषों के सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं पा सकता। महापुरुषों का माहात्म्य अगम्य हुआ करता है। एक महाशय ने एक दिन निवेदन किया—भगवन्! उपासना में चंचल चित्त को टिकाने के लिए किसी योग-क्रिया का उपदेश दीजिए।

स्वामीजी ने व्यङ्ग-वचन से शिक्षा दी कि एक और विवाह कर लो, फिर चित्त आप ही स्थिर हो जायगा। यह उत्तर सुन कर वह मनुष्य अति लज्जित और विस्मित हुआ। लज्जा तो उसे इससे आई कि एक स्त्री के जीते-जी उसने दूसरा विवाह कर लिया था, और आश्चर्य इसलिए हुआ कि बिना बताये महाराज को इसका ज्ञान हुआ तो कैसे हुआ!

महाराज सत्य को अति महत्त्व देते। सत्य पर ही सारे सुधार का निर्भर समझते। उनका निश्चय था कि जब तक किसी जन अथवा जाति में सत्य नहीं आता तब तक उसकी उन्नति के दिन सुदूर ही रहते हैं। सत्यवादी मनुष्य के लिए वे अति प्रेम और सम्मान प्रदर्शित किया करते।

महाराज व्याख्यान-स्थान में आते समय सबको नमस्ते कहा करते। मेल-मिलाप के समय भी नमस्ते उच्चारण करते। उनके पास कोई कितना ही साधारण परिस्थिति का मनुष्य क्यों न जाता, वे मुस्कराते हुए पहले 'नमस्ते' कहा करते। उनके इस शिष्टाचार पर प्रेमीजन मोहित हो जाते थे।

महाराज में निरभिमानता चरमसीमा को पहुंची हुई थी। उनमें अहङ्कार का लेश भी न था। एक बार एक भद्र पुरुष ने उन्हें कहा—"भगवन्! आप तो ऋषि हैं।"

महाराज ने उत्तर में कहा, "ऋषियों के अभाव में आप लोग मुझे ऋषि कह रहे हैं। परन्तु सत्य जानिए, यदि मैं कणाद ऋषि का समकालीन होता तो विद्वानों में भी अति कठिनता से गिना जाता।"

दानापुर में धर्म-वृक्ष को उपदेशामृत से सिंचन करके, स्वामीजी महाराज कार्तिक सुदी चतुर्दशी १९३६ को वहाँ से प्रस्थान कर उसी दिन काशीधाम में सुशोभित हुए। काशीधाम में उनका यह शुभागमन सप्तम और अन्तिम

था। पण्डित भीमसेनजी के नाम से एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ और काशी के कोने-कोने में लगाया गया कि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी महाराज यहाँ पधार कर विजयनगर के आनन्द उद्यान में विराजमान हैं। वे मूर्ति-पूजा और पुराणों का प्रबल खण्डन करते हैं। इनको वेद-विरुद्ध सिद्ध कर दिखलाते हैं। जो पण्डित इनके सिद्ध करने का सामर्थ्य रखता हो वह स्वामीजी के सामने आकर शास्त्रार्थ कर ले।

जब इस विज्ञापन पर किसी महामहोपाध्याय की निद्रा न टूटी तो चौगुने बल से दूसरा विज्ञापन निकाला गया। पण्डित लोग घरों में बैठे तो बहुतेरी डींगें मारते, परन्तु शास्त्रार्थ करने का नाम तक न लेते। जैसे कदली-कुंज को कर्दन-मर्दन करने वाले कुञ्जर, केसरी की गर्जना सुन कर चिंघाड़ते अवश्य हैं, परन्तु बल के कारण नहीं, प्रत्युत भय से; ऐसे ही शास्त्री जन स्वामीजी के सिंहनाद से कम्पित होकर चिल्लाते तो बहुत थे, परन्तु उस नरसिंह के समीप जाने का साहस नहीं करते थे।

श्रीमान् कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की, तीन चार-साथियों सहित, श्री महाराज के दर्शन करने के लिए मार्गशीर्ष सुदी २ सं० १६३६ को काशी में आए। उनके आगमन के पश्चात् दूसरे दिन राजा शिवप्रसाद् भी वहाँ आगए। स्वामीजी से थोड़ी देर तक बातचीत करने के अनन्तर, वे अल्काट महाशय और मैडम से मिले।

श्री अल्काट और मैडम, श्री महाराज के सत्संग में बैठ कर, ज्ञान-चर्चा और योग-वार्त्ता का आनन्द उपलब्ध किया करते थे।

स्वामीजी ने जब देखा कि शास्त्रार्थ के लिए तो काशी का कोई पण्डित समुद्यत नहीं होता, तो उन्होंने उपदेश देने का विचार कर लिया। पण्डित भीमसेनजी की ओर से विज्ञापन निकाला गया कि मार्गशीर्ष सुदी ७ सम्वत् १६३६ को, बङ्गाली टोला अन्तर्गत पुत्री-पाठशाला में, श्री महाराज का व्याख्यान होगा और अल्काट महाशय भी भाषण करेंगे। व्याख्यान के विज्ञापनों को देख कर काशी के कुछ मनुष्यों ने एक निन्दनीय नीति का आश्रय लिया। उन्होंने कलेक्टर महाशय को जाकर कहा कि "यदि स्वामीजी का भाषण हुआ तो काशी में शान्ति-भंग हो जायगी।"

जिन स्वामीजी के इने-गिने संगी-साथी थे वे सारे नगर की जन-संख्या के साथ लड़-भिड़ कर शान्ति-भंग कैसे कर देंगे, इस पर कुछ भी ध्यान दिये बिना कलेक्टर महाशय ने आज्ञापत्र लिख कर ठीक उस समय स्वामीजी के पास पहुँचाया जब वे पुत्री पाठशाला के द्वार पर पहुँचे। उसमें लिखा था कि काशी में कोई वाद अथवा व्याख्यान न कीजिए।

कलेक्टर महाशय की आज्ञा पर 'पायोनियर' समाचार-पत्र ने अपने पौष वदी २ सं० १९२६ के अंक में जो टिप्पणी की थी उसका सारांश यह है:-हमें निश्चय था कि भारत के शासक-जन किसी के धर्मप्रचार में हस्तक्षेप नहीं करते। दिल्ली की घोषणा का भी यही सार-मर्म है। परन्तु आज यह बात विचारणीय है कि ब्रिटिश शासन में हमको धार्मिक स्वतन्त्रता है भी कि नहीं? देखिए, एक मनुष्य जिसकी विद्या में किसी को ननु-नच तक करने का अवकाश नहीं है, वह लगातार पाँच वर्षों से नगर-नगर में चक्कर लगा कर वेदों का प्रचार करता है। वह केवल एक परब्रह्म की उपासना करने का उपदेश देता है। उसने युक्ति-प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि सती होने की रीति और मूर्त्ति-पूजन वेदविरुद्ध हैं। जो बुरी-बुरी रीतियाँ आर्यावर्त्त और आर्य जाति को बिगाड़ रही हैं उनको यह हटाता है। वह अपने देश-वासियों के सुधार में रात-दिन लीन रहता है। आज जो भारत के युवकों में उन्नति की उच्चाकांक्षा पाई जाती है, वह उसी के उपदेशों का प्रताप है। वर्त्तमान शासन के विरुद्ध आन्दोलन करने की उसने कभी इच्छा नहीं की। उसने तो अपने भाषणों में कई बार कहा है कि यह शोभा ब्रिटिश राज्य ही को प्राप्त है कि किसी के मत में विघ्न-बाधा नहीं डाली जाती। यह महापुरुष आर्यसमाज का संस्थापक आचार्य दयानन्द सरस्वती है।

उन्होंने काशी में पधार कर विज्ञापनों द्वारा धर्म्म का आन्दोलन उत्पन्न कर दिया। स्वार्थी लोग उसका विरोध करने के लिए इतने तुले कि कलेक्टर को कह कर उनका व्याख्यान बंद करा दिया। इस बात की व्याख्या करना व्यर्थ है कि एक योरुपीय मजिस्ट्रेट ने उनके व्याख्यान बंद करके एक भारी भूल की है। निस्संदेह, कलेक्टर 'वाल' महाशय विचारने पर स्वयमेव अनुभव करेंगे कि उन्होंने इस कार्यवाही से, इस युग के अत्यंत विद्वान् योग्य महात्मा के हृदय को ठेस पहुंचाई है।

वाल महाशय की उस आज्ञा पर और भी अनेक पत्रों ने कड़ी समालोचना की और उनके कर्म को सर्वथा अनुचित ठहराया। अन्त में, किसी ऊपरी दबाव से अथवा अपने पिछले किये को अनुचित जानकर, वाल महाशय ने मार्गशीर्ष सुदी १४ सं० १९३६ को स्वामीजी की सेवा में पुलिस के इन्स्पेक्टर को भेजकर सूचित किया, "अब आप अपने निश्चयानुसार धर्म्म-प्रचार करने में स्वतन्त्र हैं।"

इसके पश्चात् वाल महाशय आप स्वामीजी से मिले और अपने आज्ञापत्र के विषय में कहने लगे, "यह सब कुछ आपकी रक्षा के निमित्त किया गया था। एक तो मुहर्रम के दिनों में आपका व्याख्यान देना, अपने जीवन को जोखिम में डालना था। दूसरे, काशी के बहुत बड़े सम्भ्रान्त व्यक्ति ने हमें कहा था कि यदि स्वामीजी व्याख्यान देंगे तो अवश्य शान्ति भंग हो जायगी।"

स्वामीजी ने वाल महाशय से कहा, "आप राजपुरुष हैं। प्रबन्ध करना आपका कर्त्तव्य है। जब आपको ज्ञात हुआ था कि कुछ लोग गड़बड़ करना चाहते हैं तो आप उन्हें डाँट बताते और व्याख्यान-स्थान पर पुलिस का प्रबन्ध करते। परन्तु आपने उलटा व्याख्यान ही बंद कर दिया!"

वाल महाशय ने अपनी भूल स्वीकार की और आगे को सावधान रहने का वचन दिया।

कहा जाता है कि प्रान्तीय गवर्नर महोदय ने वाल महाशय से उत्तर माँगा था कि 'तुमने स्वामीजी के व्याख्यान क्यों बंद किये हैं?' व्याख्यानों के मार्ग की रुकावट तो एक अठवाड़े में ही उठा दी गई थी, परन्तु श्री महाराज फाल्गुन सुदी नवमी सम्वत् १९३६ तक अपने स्थान पर ही सत्संग लगाते रहे। धर्म्माभिलाषी जन वहीं आकर आनन्द उठाते थे।

फाल्गुन सुदी दशमी सम्वत् १९३६ से लक्ष्मीकुण्ड पर साँझ के सात बजे से नौ बजे तक प्रतिदिन महाराज के धुँआधार व्याख्यान होने लगे। इन व्याख्यानों में उन्होंने मिथ्यामूलक मन्तव्यों का बलपूर्वक खण्डन किया। चैत्र सुदी ६ को जब व्याख्यान-माला समाप्त हुई तो उसी दिन आर्यसमाज की शुभ स्थापना कर दी गई।

महाराज के व्याख्यानों से एक बार तो काशी हिल गई थी। जहाँ जाओ, वहीं व्याख्यानों की ही चर्चा सुनाई देती। उपदेशों में पण्डित लोग दल बाँध

कर आने, परन्तु शास्त्रार्थ और प्रश्नोत्तर करने के लिए एक भी समुद्यत न होता।

स्वामीजी अपने शिष्यों से कहा करते थे कि "प्रथम शास्त्रार्थ में ताराचरण भट्टाचार्य्य ने बड़ी टेढ़ी चाल से काम लिया था। जो पुस्तक उन्होंने मेरे सम्मुख की वह हस्तलिखित थी, और इसी प्रयोजन से प्रस्तुत की गई थी कि पढ़ी ही न जाय। अबकी बार मैं ऐसी सुमज्जा से आया हूँ कि कोई किसी कुटिल और कूट नीति से भी मुझे धोखा नहीं दे सकेगा। पण्डित लोग अपने विद्यार्थियों के सामने मुझे सहस्रों गालियाँ देते हैं, परन्तु सामने आने का नाम तक नहीं लेते।"

एक दिन एक ब्राह्मण ने महाराज से कहा—आप मूर्ति का खण्डन क्यों करते हैं ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मैंने अपने सारे जीवन में एक भी मूर्ति का खण्डन नहीं किया। हाँ, मूर्ति-पूजा का खण्डन तो प्रतिदिन करता हूँ।

महाराज के कर्मचारियों में एक दिनेशराम लेखक था। वह ऊपर से तो बड़ा भक्त बना रहता, परन्तु भीतर से स्वामीजी के कार्यों में जान-बूझ कर अशुद्धियाँ कर देता। स्वामीजी के सम्मुख वह बड़ी चिकनी-चुपड़ी बातें करता, पर उनकी पीठ पीछे दूसरे कर्मचारियों को कहता कि यह साधुड़ा हम लोगों के हथकण्डों को क्या जाने ! हम अपने चातुर्य से इसके ग्रन्थों में ऐसी बातें मिला देंगे और इस प्रकार मिला देंगे कि उनका पता इसे प्रलय-काल तक भी न लगेगा। अन्त में दिनेशराम महाराज की सूक्ष्म दृष्टि से न बच सका। वह लेखक के काम से पृथक् कर दिया गया।

स्वामीजी के कर्मचारी कई बातें उनके मन्तव्य के विरुद्ध कर देते। विद्यार्थी जन कई बातें बार-बार समझाने पर भी न मानते। महाराज ने एक दिन सब को एकत्र करके कहा, "आप लोगों के हृदयों में जो मेरे कथनों का विश्वास उत्पन्न नहीं होता, इसके अनेक कारण हैं। एक तो आप में सचाई के लिए अधिक आदर नहीं है। दूसरे, आप सब मिथ्या कथाओं से प्राप्त किये अन्न से पले हो। तीसरे, आप लोग मृतकों का आदर करने वाले बन गये हो। यह भाव आप में से उठ गया है कि जीवित पितरों का श्रद्धा-भक्ति से आदर करना धर्म्म है।"

महाराज का एक कर्मचारी आनन्द उद्यान में एक दिन बेर तोड़ रहा था। उन्होंने उसे देख कर पास बुलाया और शिक्षा दी कि उद्यान के स्वामी से पूछे बिना आगे को कभी कोई फल न तोड़ना।

काशी नगर के कोतवाल महाशय स्वामीजी के भक्त बन गये थे। उन्होंने महाराज के रसोइए को कह दिया था कि जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह हमारे नाम पर दुकान से ले आया करो। एक दिन कोतवाल महाशय ने स्वामीजी से निवेदन किया कि भगवन्! आज बुढवा-मङ्गल का मेला है। यदि उसमें चलें तो नौका का प्रबन्ध कर दिया जाय। महाराज ने उत्तर दिया कि जिस मेले में वेश्याओं के नृत्य और गीत होते हैं, वह बुढवा-मङ्गल नहीं किन्तु भड़वा-मङ्गल है। ऐसे मलिन मेले को देखना मैं कदापि उचित नहीं समझता।

कोतवाल महाशय ने अति प्रीति से, महाराज के बैठने के लिये एक गद्दी बनवा कर उनकी भेंट की। एक शीतलपाटी भी श्री-चरणों में रक्खी। वे प्रतिदिन दर्शनार्थ आते थे।

एक दिन पण्डित हरिश्चन्द्रजी श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उस समय स्वामीजी अक्काट महाशय से अपना जीवन-चरित्र लिखवा रहे थे। वार्त्तालाप में श्री हरिश्चन्द्रजी ने निवेदन किया—"महाराज! आपके खण्डन करने से लोगों में वैर-विरोध बहुत बढ़ता है।"

महाराज ने अपने हाथों को मिला कर कहा—"मेरा उद्देश्य इस प्रकार लोगों को आपस में मिलाना है। सकल समुदायों को एकता में लाना है। मैं चाहता हूँ कि कोल-भील से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त, सब में एक ही जातीय जीवन की जागृति हो। चारों वर्ण के लोग एक दूसरे को अङ्ग-अङ्गी समझें। परन्तु क्या करें, सुधार के बिना मिलाप होना असम्भव है। मेरा खण्डन करना हित और सुधार से भिन्न और कुछ भी नहीं है।"

एक भक्त ने स्वामीजी से निवेदन किया—"भगवन्! जहाँ आर्यसमाज न हो वहाँ आर्य जनों को अपने धार्मिक जीवन को परिपुष्ट बनाये रखने के लिए क्या उपाय करने चाहियें?"

महाराज ने उपदेश दिया, "जब कोई आर्य एकाएकी हो तो उसे स्वाध्याय करना चाहिए। दो आर्य जन हों तो उन्हें परस्पर प्रश्नोत्तर और सम्वाद करना उचित है। यदि दो से अधिक आर्य एकत्र हों तो उनको चाहिए कि परस्पर सत्संग करें, किसी धर्म्म-ग्रन्थ का पाठ सुनें-सुनावें।"

स्वामीजी को खुली वायु में बैठना मनोनीत था। जिस कोठरी में बैठ कर ये कार्य्य किया करते वह कभी-कभी दर्शकों की भीड़ से खचाखच भर जाती थी। ज्यों ही लोग वहां से चले जाते, महाराज उसी समय उसमें से उठ कर बाहर टहलने लगते। कभी-कभी घूमने भी चले जाते। रात के समय उनके शयन की कोठरी में दोनों ओर की खिड़कियां खुली रहतीं। पवन के गमनागमन का उनको बड़ा ध्यान रहता था। मुख पर वस्त्र डाल कर वे कभी न सोते थे।

खुले स्थान में बैठकर कार्य्य करना, एक आसन बैठ कर घण्टों तक काम करते चले जाना, नियत समय पर नियमित कार्य्य आरम्भ करना और उस दिन का निश्चित कार्य्य समाप्त करके ही उठना, उनके स्वभाव का एक अंग था। वे नित्यप्रति नियत काल पर ही घूमने निकला करते और ठीक समय पर लौट आते। उनकी सारी दिनचर्या का मार्ग घड़ी की सूइयों के मार्ग की भांति नियमित था। शिष्टाचार में, मर्यादापालन में और रहन-सहन में वे दृष्टान्तरूप थे। सकल सद्गुणसमूह का समावेश श्री स्वामीजी के स्वभाव में पाया जाता था। वैसे तो वे बड़े सरल, कोमल और मृदु थे, परन्तु स्पष्टवादिता में वे किसी का भी पक्षपात नहीं करते थे। सत्य-भाषण में वे आदर्श-स्वरूप थे। उनकी वाणी में लाग-लपेट की वासना तक नहीं होती थी। उनके चित्त में दूसरों के लिए बड़ा आदर था। आगन्तुक की आव-भगत में वे वचन-कंजूस कभी नहीं कहलाये। वे छोटे बड़े सबको सम्मान देते। बातचीत में वे अति सौम्य और प्रिय लगते थे। सब दर्शक जन, अतृप्त और निर्निमेष नेत्रों से, उनकी मनोज्ञ मूर्ति को देखा किया करते। परन्तु जब वे धर्म-संग्राम में उतरते तो उनका तेज सूर्य्य समान हो जाया करता था। उनकी ओर झांकने से वादियों की आंखें चौन्ध्या जातीं। उनको वे केसरी सदृश दिखाई देते।

काशी-वास में, स्वामीजी ने अनेक उत्तमोत्तम कार्य्यों के साथ-साथ, माघ सुदी २ सं० १९३६ को लक्ष्मीकुण्ड पर, महाराज विजयनगर के स्थान में, वैदिक मुद्रणालय स्थापित करके उसी में अपनी पुस्तकें छपाने का पूरा-पूरा प्रबन्ध भी कर दिया।

स्वामीजी महाराज ने काशी-निवास में, कई मास के लगातार सत्सङ्ग से, वहाँ वालों को कृतार्थ कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने निर्धारित कर दिया कि

"वैशाख कृष्ण एकादशी १९३७ को हम यहां से प्रस्थान कर जायँगे, इसलिए जिस किसी को धर्म्म-चर्चा करनी हो और प्रश्न पूछने हों, वह उक्त तिथि से पहले, हमारे स्थान पर आकर, अपने सन्देह मिटा सकता है।"

इतने मास में किसी को पूछने योग्य कुछ भी न सूझा। किसी को भी स्वामीजी के कार्य्यों और ग्रन्थों में कोई भूल दिखाई न दी। परन्तु जिस समय स्वामीजी के उपकरण रेलवे-स्टेशन को जा रहे थे और वे आप भी चलने ही को थे, उस समय राजा शिवप्रसाद ने पत्र पहुंचाया और कुछ प्रश्नों के उत्तर मांगे।

यद्यपि राजा महाशय का यह कर्म्म घृणित था और उनके घमण्ड को प्रकट करता था, फिर भी मान-मत्सर-रहित उस महापुरुष ने राजा महाशय को लिख दिया कि मैं प्रस्थान करने को समुद्यत हूँ, आप यथासम्भव शीघ्र आइए और अपनी शङ्काओं का समाधान सुन जाइए। पर वहां आना-जाना किसने था! वह तो उंगली को लहू लगाकर वीर बन जाने वाली बात थी। राजा महाशय ने तो जैसे-तैसे अपना पाण्डित्य प्रख्यात करना था।

स्वामीजी देर तक शिवप्रसादजी की प्रतीक्षा करते रहे। जब वे न आये और गाड़ी का समय हो गया, तो वे वहां से प्रस्थान कर लखनऊ आ गये। श्री रामाधार और सरयूदयाल आदि सज्जनों ने महाराज को नदी के किनारे मोती महल में ठहराया। एक दिन, उस स्थान की मनोभाविनी शोभा देख कर, श्री रामाधारजी ने कहा, "यदि ऐसा शोभाशाली आर्य्यसमाज का मन्दिर हो तब आनन्द आये।" इस पर महाराज ने कहा, "ऐसा विशाल धर्म्म-मन्दिर मिलना, कोई दुर्लभ बात नहीं है। यह कोठी राजा दिग्विजयसिंहजी की है, यदि आप उनको पक्का आर्य्यसमाजी बना लें तो यही धर्म्म-मन्दिर बन सकता है। रामाधारजी! पहले मनुष्यों को प्रेम से अपनाओ, आर्य्य बनाओ, फिर उनके सुन्दर स्थान आप ही के हो जायँगे।"

श्री रामाधारजी ने एक दिन लम्बी साँस लेकर कहा—"भगवन्! आप इतना पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु लोग पौराणिक लीलायें छोड़ते ही नहीं। उन्हीं लोगों में रह कर सुधार कैसे होगा? ये कहीं हमें भी तो न ले डूबेंगे?"

स्वामीजी ने ढाढस बंधाते कहा, "ब्राह्मसमाजियों और ईसाइयों की भांति पृथक् हो कर, सामूहिक जातीय जीवन की मात्रा को घटा देना हमारा उद्देश्य

नहीं है। इन्हीं लोगों में रहते हुए अपने कर्त्तव्य-कर्म को करते जाओ। वैदिक धर्म्म का प्रचार करो। ये लोग यदि आपका विकट विरोध करें और आपसे घोर घृणा करें तो भी इनको अपनाने का प्रयत्न करो, परन्तु अपनी धर्म्म-धारणा से एक उंगली भर भी इधर-उधर नहीं झुकना चाहिए। अन्त में सब आपका रूप बन जायेंगे। उछालने से कुछ मनुष्य आगे निकल सकते हैं, परन्तु शोभा सबको साथ लेकर आगे बढ़ने में है।"

एक दिन महाराज व्याख्यान देकर अपने आसन को जा रहे थे। उस समय उनके साथ सरयूदयाल आदि कई सज्जन थे। मार्ग में जराजीर्ण कलेवर वाली एक अतिकृशा बुढ़िया मिली। उसके तन के सारे वस्त्र जर्जरित थे। महाराज को आते देख वह कातर स्वर से कहने लगी, "बाबा! मैं कई दिनों की भूखी, अनाथा हूँ। मेरा पालन-पोषण करने वाला कोई भी नहीं है। भगवान् तेरा भला करेगा। आज का अन्न तो दिला दे।"

उस वृद्धा के आर्त्तनाद को सुनकर स्वामीजी के पाँव रुक गये। उसका दारुण दुःख देख कर उनका हृदय पसीज गया। वे आँखों से टप-टप आँसू बरसाते अपने प्रेमियों को कहने लगे, "कभी वह भी काल था जब भारतवर्ष सुवर्णमय बन रहा था। यहाँ खाद्य पदार्थों की इतनी अधिकता थी कि भूखा अनाथ देखने को नहीं मिलता था। परन्तु आज यह समय है कि क्षुधा-वेदना ने इस बुढ़िया को इतना व्याकुल बना दिया है कि इसे यह भी विवेक नहीं रहा कि जिससे मैं माँग रही हूँ वह तो आप माँग कर निर्वाह करता है।" महाराज ने उस वृद्धा को पर्याप्त अन्न दिला दिया।

जब महाराज लखनऊ में आए तब भी उनका स्वास्थ्य कुछ अच्छी अवस्था में न था। वे जब सवेरे वायु-सेवन करके आसन पर आते तो दही का मठा पिया करते थे। यह सेवा श्री रामाधारजी को ही प्राप्त थी।

बारहवाँ सर्ग

लखनऊ से चल कर श्री महाराज वैशाख सुदी ११ सं० १६३७ को फर्रुखाबाद में पधारे और व्याख्यानों से लोगों को कृतार्थ करने लगे।

उनके आगमन के बहुत दिन पहले, कुछ-एक उद्दण्ड लोगों ने मिलकर एक आर्य सभासद् को मारा पीटा था और अभियोग चलने पर उनको स्काट महाशय के न्यायालय से दण्ड मिला था। जब स्वामीजी यहाँ पधारे तो आर्य पुरुषों ने अपनी विजय का समाचार बड़े हर्ष से उन्हें सुनाया। स्वामीजी ने कहा, "हमने लोगों के कठोर हृदयों को कोमल बनाना है। दूर भागतों को आकर्षित करना है। यदि वे अत्याचार भी करें तो अपने उदात्त उद्देश्य को दृष्टि में रख कर हमें तो उनसे प्रेम ही करना चाहिए। धर्म के नाम से बदला लेने की भावना सर्वथा अभद्र है।"

स्काट महाशय ने जब महाराज से भेंट की तो प्रशंसा-वश कहा—"आपके एक सेवक को कुछ-एक दुष्ट मनुष्यों ने पीटा था। उन लोगों को उचित दण्ड मिल गया है।"

स्वामीजी ने कहा—"महाशय! संन्यासी लोग तो अपने प्राणघातक को भी पीड़ा पहुँचते देख कर प्रसन्न नहीं होते। इस आश्रम में अपने पराये सब समान समझे जाते हैं।" महाराज की उदारता से स्काट महाशय अतीव प्रसन्न हुए।

फर्रुखाबाद से चल कर श्री महाराज आषाढ़ वदी ६ सं० १९३७को मैनपुरी पधारे और थानसिंह के उद्यान में विराजमान हुए। यहाँ उनके तीन-चार प्रभावशाली भाषण हुए। उनमें नगर के सभी सामान्य और मान्य लोग तथा कलेक्टर आदि राज-पुरुष आते रहे। उनके भाषण प्रत्येक हृदय पर अङ्कित हो जाते थे। उनको सुनकर सब सज्जन मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगते थे। मैनपुरी में सहस्रों मनुष्यों को उपदेश-सुधार से सींच कर महाराज आषाढ़ वदी १४ सं० १९३७ को मेरठ को प्रस्थान कर गये।

आषाढ़ सुदी १ सं० १९३७ को श्री स्वामीजी ने मेरठ में पदार्पण किया और श्रीमान् रामशरणदासजी की कोठी में आसन लगाया। यहाँ उन्होंने एक-एक दो-दो सप्ताह की अनेक व्याख्यान-मालायें दीं; जिनसे मेरठ के अधिवासी जन कृतार्थ हो गये। एक दिन महाराज के व्याख्यान में बहुत से पण्डित, ईसाई और मुसलमान अपनी शङ्कायें लिखते जाते थे। परन्तु व्याख्यान की समाप्ति पर

सबने अपने टिप्पणी-पत्र फाड़ डाले। जब उनसे ऐसा करने का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि हमारी शङ्काओं के उत्तर व्याख्यान ही में आ गये हैं।

महाराज की यह हार्दिक कामना थी कि किसी प्रकार मातृ-शक्ति का सुधार हो। स्त्रियों में भी धर्म्म-प्रचार और शुभ-शिक्षा फैले। वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से इस सिद्धान्त के मर्म को जानते थे कि सन्तानों में नवजीवन की नींव रखने वाले हाथ माताओं के होते हैं। मीठी-मीठी लोरियों के साथ और पोली-पोली थपक से मातायें पुत्रों में वे भाव भर देती हैं जो किसी भी दूसरे स्थान में प्राप्त नहीं हो सकते। जननियाँ जाति के जीवन की वास्तविक जड़ हैं, सन्तति को उन्नति के उच्चतम शिखर पर ले जाने के लिए जगमगाती ज्योतियाँ हैं। परन्तु उन्हें कोई ऐसी आर्य-देवी नहीं दीखती थी जो भारत की भोली-भाली बहिनों की शिक्षा-दीक्षा का भार अपने ऊपर ले सके, जो स्त्री-जाति के सुधार के लिए प्राणपण से समुद्यत हो जाय।

महाराज का हृदय इसी ऊहापोह और विचार-परम्परा में परायण था कि एकाएक उनकी सेवा में श्री रमा के पत्र आने लग गये। वे पत्र पूज्य भाव से, आदर बुद्धि से और भक्ति-विनय से परिपूर्ण थे। श्री रमा ने अपनी विनय-पत्रिकाओं में जहाँ श्री-दर्शनों की तीव्र लालसा प्रकट की वहाँ श्री-आदेश को भी परिपालन करने की आशा दिखाई।

महाराज ने अपनी अपार कृपा से रमा को दर्शन देना स्वीकार कर लिया। श्री रमाजी बड़े भक्ति-भाव से मेरठ में आई और श्री-दर्शनों से लाभ उठाने लगीं।

श्री रमाबाईजी एक महाराष्ट्र-ब्राह्मण की पुत्री थीं। उनका संस्कृत-पाण्डित्य प्रख्यात था। वे धाराप्रवाह संस्कृत-भाषण करती थीं। उनके विचार कुछ स्वतन्त्रता को लिए हुए थे। वे एक वङ्गीय कायस्थ से विवाह करना चाहती थीं, इसलिए बन्धु-बान्धवों ने उन्हें घर से पृथक् कर दिया था। वे कलकत्ता से मेरठ आई थीं। उस समय उनके साथ एक नौकर, एक नौकरानी और एक बङ्गाली सभ्य था। सम्भवतः, वह वही भद्र पुरुष था जिसके साथ वे विवाह करना चाहती थीं।

श्री रमाबाईजी के मेरठ में अनेक भाषण हुए।

उन दिनों में पण्डित भीमसेनजी, ज्वालादत्तजी, पालीरामजी, और श्रीमान् ज्योतिस्वरूपजी आदि विद्यार्थियों ने महाराज से वैशेषिक दर्शन पढ़ना आरम्भ किया। श्रीमती रमाजी भी पढ़ा करतीं। महाराज की पढ़ाने की शैली अत्युत्तम थी, उनकी व्याख्या-पद्धति अपूर्व थी। श्री रमादि सभी पाठक उनकी पाठन-परिपाटी से अति प्रसन्न होते। किसी का कैसा ही संशय क्यों न हो, पाठ पढ़ते ही पढ़ते दूर हो जाता।

महाराज ने श्री रमाजी को उपदेश दिया, "इस समय आर्य जाति की पुत्रियों की अवस्था अति शोचनीय है। ये संसार भर के भ्रमों और कुरीतियों का केन्द्र बन रही हैं। आप आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर उनका सुधार कीजिए। उनको शिक्षा का बीड़ा उठाइये। उनको दीन दशा से उभारिये। इस शुभ कार्य को आर्य-समाज की पद्धति पर चलाते आपको धन की पर्याप्त सहायता प्राप्त होती रहेगी।" महाराज ने उनको यह भी कहा "आपके बिना मैंने आजतक सामने बैठाकर किसी स्त्री को उपदेश नहीं दिया। आपको सम्मुख बैठकर उपदेश सुनने का अवसर केवल इसीलिए दिया गया है कि, आप अद्वितीय विदुषी हैं। सम्भव है, मेरे वचन सुनकर आप आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लें और स्त्री-जाति के परोपकार-रूप परम-पुण्य कार्य में प्राणपण से परायण हो जायें।"

श्री रमाजी ने विनीत निवेदन किया—"महाराज! गृहस्थ लोग भी तो उपकार का कार्य कर सकते हैं। उन्हें भी तो पुण्य-कर्म की पूँजी उपार्जन करने का पुष्कल अवकाश मिल जाता है।"

इस पर स्वामीजी ने कहा, "बन्धु-बान्धवों के विविध बन्धनों में जकड़े-पकड़े हुए जन परहित का उतना कार्य नहीं कर सकते जितना कि एक ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी कर सकती है। जो जन एक दो व्यक्तियों को अपने प्रेम का केन्द्र बना लेते हैं, उनमें परहितसाधन की मात्रा सहज ही से स्वल्प हो जाती है। उन्हें काम-धन्धों से अवकाश ही नहीं मिलता। जब पुत्र-पुत्री उत्पन्न हो जाते हैं तो उनके पालन-पोषण का सोच-विचार पीछे लग जाता है। पति और पुत्र-पौत्र आदि का वियोग सारे सुख को निपट नीरस बना देता है। जब मनुष्य इस प्रकार गृहस्थी के गहरे गढ़े में गड़ जाता है तो परोपकार के भाव

एक-एक करके भूखने लग जाते हैं। इसलिए रमा ! आप अपने जीवन को परार्थ अर्पण कर दीजिए। महिला-मण्डल का मङ्गल-कार्य साधित कीजिये।"

जैसे ज्वरावेश में मनुष्यों की भोजन की रुचि नहीं होती, ठीक वैसे ही, प्रारब्ध-कर्म्म के प्रभाव से श्रीमती रमा के हृदय में महाराज के उपदेशों को स्थान नहीं मिला। श्री रमा सारा जीवन ब्रह्मचर्य-व्रत में बिताने के लिए समुद्यत न हुईं।

रमाजी महाराज से दूसरे दर्शन भी अध्ययन करना चाहती थीं। परन्तु स्वामीजी ने उनको और समय देना स्वीकार न किया। एक मास से अधिक काल तक रमाजी ने श्री-उपदेश श्रवण किये और फिर कलकत्ते को प्रस्थान कर गईं। महाराज ने उस देवी को चलते समय अपनी सारी पुस्तकों की एक-एक प्रति प्रदान की।

स्वामीजी महाराज अपने प्रेमियों में बैठ कर अपने पिछले जीवन की बीती बातें भी सुनाया करते थे। एक दिन उन्होंने सुनाया कि एक स्थान में हमारा भाषण सुन कर वहाँ के कलेक्टर ने कहा कि आपके भाषण पर यदि लोग चलने लग जायँ तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि हमें अपना बदना-बोरिया बाँधना पड़ेगा। मैंने कहा कि मेरा तात्पर्य आप सर्वथा नहीं समझे। मेरे कथन का सारांश यह है कि मूर्ख और पण्डित का वास्तव में मिलाप नहीं होता। इसलिए जब तक भारत की जनता सुशिक्षादि गुणों में आप के जोड़ की न हो जाय तब तक परस्पर के सम्बन्ध का सच्चा सुख नहीं हो सकता। इस पर कलेक्टर ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

अपनी यात्राओं का वर्णन सुनाते हुए महाराज ने कहा, "आप लोग मेरे इस समय के दूर तक वायु-सेवन करने जाने पर आश्चर्य करते हैं, परन्तु अवधूत दशा में मेरे लिए एक दिन में चालीस कोस चलना एक साधारण बात थी। एक बार मैंने गङ्गा-स्रोत से चल कर, इस महानदी के किनारे-किनारे, गङ्गा-सागर संगम तक की यात्रा की थी। गङ्गोत्तरी से रामेश्वर तक भी मैं चल कर गया हूँ।"

जपाराधन का वर्णन करते हुए महाराज ने कहा, "बद्रीनारायण में रह कर मैंने भगवती गायत्री का जपानुष्ठान किया था।"

अध्ययन-काल की कथा सुनाते वे कहा करते थे कि "जब कभी रात को पढ़ने के लिए तेल न मिलता तो मैं दूकानों के दीवों की लो में बैठ कर पढ़ा करता।"

तप का वृत्त सुनाते वे कहते, "ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से, तप्त से तवे की तरह संतप्त रेत पर मैंने कई दोपहर काटे हैं। तुषार-राशि में परिणत, पर्वतों के पाषाणों और गङ्गा-पुलिन पर, पौष-माघ की रातों के पाले नग्न, निराहार सहन किये हैं।"

शिब्बामल वैश्य स्वामीजी का प्रेमी भक्त था। एक दिन वह जब श्री-सेवा में आया तो महाराज ने कहा कि आज मार्ग में आपको साँप दिखाई दिया और आप डर गये थे। उसने आश्चर्य के साथ इस बात का समर्थन किया। जब वह उठ कर जाने लगा तो उन्होंने उसे कहा कि छाता ले लिया होता तो पानी पड़ने पर भीगने से तो बच जाते। शिब्बामल को उस समय तो वर्षा का कोई चिह्न दिखाई न देता था, परन्तु मार्ग ऐसी वृष्टि हुई कि वह सड़कों पर पानी लाँघता, बड़ी कठिनता से, घर पहुँचा।

एक दिन कुछ भद्र पुरुषों ने स्वामीजी से निवेदन किया, "आप यदि नीति से काम लें तो बड़ी सफलता हो।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "यह नीति पहले ही मुझे बड़ी महँगी पड़ी है। अब मेरा इसमें विश्वास नहीं है। राजा जयकृष्णदासजी कहा करते थे कि इस बात के रखने से लोग प्रसन्न होंगे, उस बात के न छेड़ने से अधिक सुभीता और सुविधा होगी। जयपुर में शैवों ने कहा, वैष्णवों का खण्डन कर दो तो हम आपके अनुयायी बन जायँगे। वे तो वैसे ही रहे; परन्तु अब जयपुर में जाकर जब मैं शैव मत को अमूलक वर्णन करता हूँ तो वहाँ के ठाकुर लोग अपने गले से रुद्राक्ष की माला का एक दाना दिखा कर कहते हैं कि यह भी तो आपने ही पहनाई थी। हम आपकी किस बात को सच्ची मानें?"

अल्काट महाशय और ब्लेवट्स्की महाशय शिमले जाते हुए, स्वामीजी के आदेशानुसार, मार्ग में मेरठ ठहर गये। उन दिनों परस्पर वैमनस्य बढ़ने के साधन उपस्थित थे। इसलिए मिल कर इस विषय पर बातचीत की गई। वहाँ यह स्थिर हुआ कि सुनी-सुनाई बात पर विश्वास न किया जाय। भ्रम उत्पन्न

करने वाले विषयों में गुरु-शिष्य परस्पर मिल कर अथवा पत्रव्यवहार द्वारा निर्णय कर लिया करें।

कर्नल और मैडम ने यह भी वचन दिया कि वे किसी आर्य सभासद् को अपनी सभा का सभासद् बनाने का यत्न नहीं करेंगे।

मेरठ में अमृत-वर्षा करने के पश्चात्, भादों सुदी द्वादशी सम्वत् १६३७ को, महाराज वहाँ से चल कर मुजफ्फरनगर में पधारे और श्रीमान् निहालचन्द के बङ्गले में ठहरे। वहाँ महाराज के उत्तमोत्तम उपदेश हुए। उनसे नगरवासियों को बड़ा भारी लाभ हुआ।

लाला भगवानदास आदि अनेक सज्जनों ने श्री-चरणों में बैठ कर प्रश्न किये और पूर्ण उत्तर पाकर अपने को कृतार्थ हुआ माना। वे दिन श्राद्धों के थे। स्वामीजी ने अनुकूल समय ताक कर मृतक-श्राद्ध का बड़े बल से खण्डन किया। इससे लोग अति प्रभावित हुए।

श्रीमान् निहालचन्दजी ने प्रश्न किया, "भगवन्! एक मनुष्य ने अपने जीवन-काल में प्रभूत धन एकत्रित किया। वह कालवश मर कर ऐसे-वैसे जन्म में चला गया है। उसके एकत्र किये धन को यदि उसके पुत्र-पौत्र श्राद्धादि शुभ कर्मों में लगाते हैं तो उस कर्म का उसको लाभ क्यों नहीं होना चाहिए?"

महाराज ने उत्तर दिया, "अपने ही किये कर्म का फल मिलता है। यदि पीछे छोड़े अपने धन से शुभ कर्मों का फल माना, तो पिता-पितामह की सम्पत्ति को पाकर पुत्र-पौत्र जो घृणित दुष्कर्म करते हैं उनका पाप भी मृतक आत्मा को ही लगना चाहिए। अपने पुरुषार्थ की सम्पत्ति पाने से पुण्य थोड़े जन ही करते हैं। अधिकांश तो पाप ही किया जाता है।"

एक भक्त ने स्त्री-शिक्षा के विषय में प्रश्न करते हुए कहा, "लोग कहते हैं कि स्त्रियों को पढ़ाने से उनमें दुष्कर्म बढ़ जायेंगे।" स्वामीजी ने इस पर कहा, "शिक्षा का परिणाम पाप हो तो पुरुषों को भी अशिक्षित ही रहना चाहिए। अधिकांश पाप-कर्म अपढ़ और कुपढ़ जन ही किया करते हैं। स्त्रियों में विद्या का विस्तार अवश्यमेव होना चाहिए।"

एक भक्त ने पूछा, "महाराज! क्या अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति ही से सुख होता है?"

उन्होंने उत्तर दिया कि "सुख दो प्रकार के होते हैं—एक विद्या-जन्य और दूसरे अविद्या-जन्य। विद्या-जन्य सुख ही सच्चा सुख है। यह सुख अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान को प्राप्ति से प्राप्त होता है। अविद्या-जन्य सुख तो पशु आदि जीवों में भी पाया जाता है।

जीव एकदेशी होने से अल्पज्ञ है; इसीलिए अज्ञानी हो जाता है। परमात्मा देश-काल से ऊपर और सर्वज्ञ है। उसमें अज्ञान का लेश भी नहीं है। वह परमानन्दमय, आनन्दमय, परब्रह्म है।"

जिस मकान में महाराज ठहरे हुए थे उसमें एक दिन अकस्मात् एक भयङ्कर सर्प निकल आया। महाराज ने उसे तत्काल अपने विद्यार्थी से मरवा दिया। मैडम ब्लेवट्स्की ने लिखा है क वङ्ग देश के एक नगर में महाराज भाषण दे रहे थे। उस समय एक दुष्ट मनुष्य ने एक भीषण विषैला फणियर नाग उनके पाँव के पास फेंक दिया। महाराज ने उस विषम विषधर के सिर पर अपने पैर की एड़ी रख कर उसे मसलते हुए कहा कि जिनके देवता इस दशा में कुचले जाते हैं उन भक्तों की दुर्गति का तो ठिकाना ही नहीं है।

श्री स्वामीजी मुजफ्फरनगर के अधिवासियों को आत्मा-परमात्मा और धर्म्म-कर्म्म के उपदेश सुनाकर फिर मेरठ लौट आये।

असौज बदी चतुर्दशी सम्वत् १९३७ को आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव था। भगवान् उसी को शोभा प्रदान करने के लिए पधारे थे।

उत्सव की दोनों सायं को महाराज के प्रभावशाली उपदेश हुए। उनमें उन्होंने थियोसोफिकल सोसायटी से सावधान रहने के लिए अपने शिष्यों को सचेत किया। मैडम के चमत्कारों की भी समालोचना की। स्वामीजी के दोनों दिन के वे व्याख्यान थियोसोफिकल सोसायटी को आर्यसमाज से पृथक करने के लिए घोषणारूप थे। इस विषय के परिपुष्ट प्रमाण मिलते हैं कि ब्लेवट्स्की महाशय के व्यवहार से ही वे ऐसा करने के लिए बाधित हो गये थे।

थियोसोफी के संस्थापकों का स्वामीजी के साथ गहरा सम्बन्ध था। अल्काट महाशय और ब्लेवट्स्की महाशया महाराज को अपना गुरु मानते थे। उन्होंने अपनी सब सभाओं का प्रधानाचार्य उन्हीं को नियत किया था। सभा के सब कार्य्यों पर महाराज की एक प्रकार की अनुमति से, उनकी नामाङ्कित मुद्रा

लगाई जाती और अल्काट महाशय उनकी स्थानापन्नता में हस्ताक्षर किया करते। भूमण्डल की सारी थियासोफिकल सभायें आर्यसमाज की शाखायें समझी जातीं।

काल के चक्र पर चढ़ा हुआ यह सारा चराचर जगत् परिवर्तनशील है। भूतलाकाश के सभी पदार्थ नित्य नये रङ्ग बदलते हैं। ऐसी अवस्था में, किसी मनुष्य के विचारों का, मन्तव्यों का, कर्म्म-धर्म्म का, प्रण-प्रतिज्ञा का, और सम्बन्ध-साथ का परिवर्तित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महाश्चर्य तो स्थिर रहने में है। बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग के प्रभावों ने, थोड़े ही वर्षों में, उस गुरु-शिष्य और अङ्ग-अङ्गी सम्बन्ध को भी शिथिल कर दिया। आर्य-समाज और थियोसोफिकल सोसायटी का प्रेम-बन्धन ढीला हो गया।

इस सम्बन्ध के किरकिरा होने और अन्त में टूट जाने की उदार भाव से मीमांसा करना उचित है। उसके कारणों को जानना आवश्यक है। यह बात निस्सन्देह सच्ची है कि कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवट्स्की ने, महाराज के साथ अमरीका से जो चिट्ठी-पत्री की वह शुद्ध भाव से की। उन्होंने उस समय अपने को श्री-चरणों में उच्च भक्तिभाव से समर्पित किया। परन्तु इसके साथ हमें इस बात को भी लक्ष में रखना चाहिये कि श्री महाराज अंगरेज़ी नहीं जानते थे और अमरीका देश-निवासी बन्धु आर्य-भाषा और संस्कृत से अनभिज्ञ थे। उन्होंने परस्पर के पत्र-व्यवहार का द्वार हरिश्चन्द्र चिन्तामणि मुंबई-निवासी को नियत किया। उस समय पश्चिमी सभ्यता की चटकीली चाँदनी भारत-भूखण्ड पर चहुँ ओर चमक रही थी। खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल और भाव-भेद आदि में अनुकरण करने का युग भर यौवन में था। नव-शिक्षित समाज, अपने पूर्वजों की पदपंक्ति पर पदार्पण करने में अपमान मानता था। पुराने इतिहास और स्मार्त्त धर्म्म से लोग नाक-भौं सिकोड़ते थे। उन्हें प्रत्येक पुरानी रीति-नीति और चाल-ढाल घृणा-योग्य और अदर्शनीय दीखती थी। ऐसे समय में किसी पश्चिमी पण्डित के मुख से आर्य धर्म्म-कर्म्म की प्रशंसा के शब्द सुनना अतिशय सौभाग्य समझा जाता। उन लोगों की थोड़ी सहानुभूति भी महामूल्यवती मानी जाती। इस दशा में, ऐसे युग में और ऐसी परिस्थिति मे, यदि हरिश्चन्द्रजी ने यह समझा

हो कि अल्काट महाशय और मैडम ब्लेवट्स्की वेद को वैसे तो मानते हैं ही, अवान्तर बातों के भेद आप ही मिट जायंगे; उनके यहाँ आने, आर्य रीति-नीति का पक्ष-पोषण करने, और प्रशंसित स्वामीजी को गुरु मान लेने से आर्यों का बड़ा प्रभाव पड़ेगा; इत्यादि विचारों से उभय पक्ष के छोटे-छोटे भेदों को उन्होंने दृष्टि से ओझल कर दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। भाग-त्याग लक्षणा से काम लेते हुए, कुछ एक भेद-मूलक मन्तव्यों को मिलन-मूलक मान लेना उस समय सम्भावित था। कुछ भी हो, यह मानना पड़ता है कि सुदूरदेशस्थ बन्धुओं को समझने-समझाने की कुछ एक बातें बीच में ही गुप्त और लुप्त अवश्य हो गईं।

स्वामीजी, अल्काट तथा मैडम के परस्पर साक्षात् के समय भी दुभाषियों से काम लिया जाता था। दुभाषिया बनना बड़ी निपुणता का काम है। अधूरे दुभाषिये बहुधा एक का कथन जब दूसरे मनुष्य को समझाने लगते हैं तो झटपट सारांश पर दौड़ जाते हैं। छोटी-मोटी बात का भाषान्तर न करना उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है। अपनी टीका-टिप्पणियों का रङ्ग चढ़ाने का चस्का उनको भी हुआ करता है। इस दूसरे साधन में भी कई भूलों का हो जाना सम्भावित है। थियोसोफिकल सोसायटी के आर्य-समाज से वियुक्त हो जाने का यह भी एक कारण है कि अल्काट और ब्लेवट्स्की ने भारत और भारत-वासियों के विषय में, न जाने, कैसे-कैसे मनोनीत चित्र अपने चित्त में खींच रक्खे होंगे। वे लोग यहाँ के वासियों को देवतुल्य मानते होंगे। परन्तु यहाँ आकर उन्हें पता लगा होगा कि भारत के अधिकांश आर्य अपने परम सुधारक और आदर्श संस्कारक महापुरुष के विरुद्ध हैं। हमारे पास भी स्वामीजी के विपरीत बोलते हैं। अधिक जन-संख्या सुधार के प्रतिकूल है। स्वामीजी के साथ लगे रहने से हमारी सर्व-प्रियता में बट्टा लग जायगा। इसलिए उनसे कुछ पीछे हटा रहना चाहिए।

यहाँ आकर उनके लिए यह जानना अति सुगम था कि भारतवासी जिस किसी के पीछे चलने के लिए समुद्यत हैं। आर्य-समाज से पृथक् हो जाने से सहस्रों कुलीन ब्राह्मण उनका भी चरण-चुम्बन करने लगेंगे। भारत की भ्रम-भरी, भोली प्रजा को अपना शिष्य बनाना बड़ा सहज काम है।

हमारा यह भी निश्चय है कि राजा शिवप्रसाद आदि स्वामीजी के कट्टर विरोधी लोग और अन्य पक्ष के पौराणिक प्रतिष्ठित पुरुष महाराज के विरुद्ध मैडम और कर्नल के कान दिनरात भरते थे। स्वामीजी का साथ छोड़ने के लिए सम्मति देते थे। आर्यसमाज से पृथक् हो जाने की प्रबल प्रेरणा करते थे।

मैडम ब्लेवट्स्की और महाशय अल्काट आर्यसमाज के सभासदों को भी अपनी सोसायटी में मिलाने लग गये थे। इसको स्वामीजी ने अत्यन्त अनुचित समझा।

उपर्युक्त कारणों से गुरुदेव और शिष्यों में दिनोंदिन मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। इसी मनमुटाव को मिटाने के लिए स्वामीजी ने मैडम और महाशय को शिमले जाते हुए मार्ग में मेरठ ठहरने के लिए आमन्त्रित किया। वे ठहरे भी, परन्तु भेद की बेल का विषैला अंकुर उखड़ न सका।

मैडम के पत्र से आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी के संग-भङ्ग का कारण एक यह भी प्रतीत होता है कि थियासोफिकल सभा में राजपुरुष सम्मिलित होने लग गये थे। सभा आर्यसमाज की शाखा थी। स्वामीजी सभा के प्रधान आचार्य और आर्यसमाज के हर्त्ता-कर्त्ता थे। राजपुरुष-वग्ग-शासन के कुछ एक अधिकारी लोग, ऐसी दशा में, सभा में सम्मिलित होने में किन्तु-परन्तु करते होंगे। उनकी ऐसी धारणा का वर्णन मैडम ने स्वयं किया है।

स्वामीजी महाराज मैडम के चमत्कारों का समर्थन नहीं करते थे। एक तो वे उनके चमत्कारों को योग की सिद्धियाँ नहीं समझते थे। दूसरे, वे सिद्धियाँ दिखाना उचित नहीं मानते थे। इससे भी मैडम अपने मन में रुष्ट रहा करती थीं।

ऊपर के सारे कथन का सार-मर्म यह है कि मैडम और महाशय ने स्वामीजी को जिस समय गुरु माना, जब उनकी सेवा में विनय-पत्रिकायें भेजीं और जब वे भारत में पधारे, तब उनके भाव निर्दोष थे। उनका हृदय भक्ति-भाव से भरपूर था। वे सच्चे मन से महाराज के शिष्य थे। परन्तु भारत में आने के पश्चात् बाहर की परिस्थिति ने उनमें परिवर्त्तन उत्पन्न कर दिया। एक दूसरे के भावों को समझने में भी त्रुटियाँ रह गईं।

स्वामीजी ने अपने हाथ से लगाए हुए पौधे को सभा के सिर पर न्योछावर कर देना उचित नहीं समझा। उन्होंने अपने पश्चिमी शिष्यों से, समाज-रक्षण को प्रधानता दी। थियोसोफिकल सभा के प्रधानाचार्य पद की अपेक्षा, आर्यसमाजियों को सब कुछ बना कर, आप कोई पदवी ग्रहण न करना उत्तम माना। महाराज ने, ठीक समय पर घोषणा द्वारा, आर्य पुरुषों को सूचित कर दिया कि आर्यसमाज और कर्नल तथा मैडम की थियोसोफिकल सभा का सम्बन्ध-सूत्र विच्छेद किया जाता है।

आर्यसमाज और सभा के संग-भंग के कारण नीचे दिए पत्रों से भली भाँति प्रकट हो जायेंगे। ये पत्र श्रीमती परोपकारिणी सभा के मंत्री ने एकत्र कर कार्तिक सुदी १ सम्वत् १६४६ को 'परोपकारी' नामक पत्र में छपवाये थे।

मैडम महाशया का पत्र

बाबू छेदीलाल महाशय के नाम।

शिमला

अक्तूबर सन् १८८०

मेरे प्यारे बाबू जी,

यह चिट्ठी जो मैं आपको लिख रही हूँ, आपकी अपेक्षा स्वामीजी से अधिक सम्बन्ध रखती है। मुझे इस बात का निश्चय नहीं है कि स्वामीजी के पास योग्य और विश्वासपात्र अनुवादक हैं। इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप इसका अनुवाद स्वामीजी के पास यथासम्भव शीघ्र भेज दीजिए।

आप हमारे मित्र हैं और मेरा आप पर अन्य आर्यसमाजियों की अपेक्षा अधिक विश्वास है।

यदि आप आर्यों की बात अपने जी में ऐसी ही समझते हो जैसी कि मैं थियोसोफी को समझती हूं, तो आप इसको अतीव सावधानी से पढ़ेंगे और जब स्वामीजी का उत्तर आयेगा तो मेरे पास भी भेज देंगे।

विदाई के समय, स्वामीजी ने यह वचन कहा था कि आप इस समय यह प्रतिज्ञा करो कि जब कभी कोई मनुष्य आपके पास आकर कहे कि स्वामीजी ने आपके और आपकी सभा के विरुद्ध ऐसा कहा है या ऐसा किया है तो आप मुझे उसकी तुरन्त सूचना देंगे, जिससे मुझे इस बात का अवसर मिल

जाय कि मैं अपनी ओर से आपके जी में अन्तर न पड़ने दूं। मैं भी आपके साथ इसी प्रकार वर्त्ताव किया करूंगा।

मैंने स्वामीजी के इस कथन को स्वीकार कर लिया था और अब वही समय सम्मुख उपस्थित हुआ है।

मैंने उनसे यह प्रतिज्ञा भी की थी कि यदि कोई मनुष्य आकर मुझ से ऐसी बातें करेगा कि जिनसे हमारे और उनके बीच मेल-मिलाप के स्थान शत्रुता उत्पन्न हो जाय, तो मैं जब तक स्वामीजी के मुख से न सुन लूंगी उन बातों पर कभी विश्वास नहीं करूंगी। अब भी आगे को ऐसा ही करूंगी। पर इस वर्तमान विषय में न तो मुझ से किसी ने कुछ कहा है और न ही यह सुनी-सुनाई गप्प है। मैं जानना चाहती हूँ कि स्वामीजी इसका क्या उत्तर देते हैं।

मेरठ आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव अभी मनाया गया है। उसमें अन्यान्य आर्यसमाजों के सभासद् सम्मिलित थे। ऐसे समय में स्वामीजी ने अपने *व्याख्यान में सबके सामने ये विचित्र वचन कहे कि "जब किसी अन्य* सभा-समाज के सभ्य आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा करें तो उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि यदि आपकी सभा के नियम और उद्देश्य आर्यसमाज के साथ मिलते हैं तो उसमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। यदि वे कहें कि हमारे नियम आर्यसमाजों के नियमों से भिन्न हैं, तो आर्यसमाजियों को उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि आर्यसमाज के नियम अखण्डित हैं। जिस सभा के नियम खण्डित हैं उसमें मिल जाने की हमें आवश्यकता नहीं है।"

यथार्थ में रोम का अभ्रान्तशील पोप इससे अधिक और क्या कहता है! स्वामीजी गर्वित ब्राह्मणों के दम्भ के विरोधी हैं। उनके कहने का यह तात्पर्य कदापि न होगा।

उन्होंने यह भी कहा था कि अन्यदेशियों के समाज में वैसी मित्रता और स्नेह नहीं हो सकता जैसा कि एक ही मत और देश के आर्य सभासदों में है।

उन्होंने दूसरे दिन कहा कि "थियोसोफिकल सभा के सदस्य आर्यसमाजियों को अपनी सभा में मिलाने का उद्योग करते हैं। आर्यसमाजियों को चाहिए

कि ऐसा अवसर आ पड़ने पर उन्हें वही उत्तर दें जो मैंने पिछली रात बताया था। थियोसोफी वालों को ऐसा करना उचित नहीं है।

उनके उक्त कथन का क्या अर्थ है? हमने आपके बिना अन्य किसी भी आर्यसमाजी को अपनी सभा में मिलाने का प्रयत्न नहीं किया। हाँ, मुम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसमाजी हमारी सभा के सभासद् हैं। परन्तु उनको सम्मिलित होने के लिए हमने कभी नहीं कहा।

हमारे नियमों मे आर्यसमाज से केवल इतनी प्रतिकूलता है कि हम प्रत्येक सभ्य के धर्म्म की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक मतावलम्बी को, चाहे वह आर्य-समाजी हो, ईसाई हो अथवा मूर्तिपूजक हो, हम सभा में मिला लेते हैं। हम अपने सभासदों के मत और धर्म्म के विरुद्ध कभी हस्तक्षेप नहीं करते। स्वामीजी स्वमतवादी हैं। जो धार्मिक विचार उनके हैं वे ही आर्यसमाजियों के हैं। और यह सभासद् होने का आवश्यक नियम है। हम तो स्वामीजी और प्रत्येक सामाजिक को अपना मुख्य भाई समझते हैं।

उनके थियोसोफी सभा में मिलने में कोई बात बाधक नहीं हो सकती। यहाँ तक कि स्वामीजी ढाई वर्ष से हमारे सबसे उत्तम सभासदों में से एक हैं। वे हमारे बहुत से अंगरेज और अमरीका के सभासदों के गुरु हैं। मैं ईश्वर को कर्त्ता-धर्त्ता नहीं मानती हूँ, इसलिए आपके समाज में भरती नहीं हो सकती; तो बताइए कि वह भ्रातृ-भाव, जिसमें अधिक लाभ है, किनमें अधिक हुआ? सबसे मुख्य और गौण भ्रातृ-भाव कौन सा है? क्या वह है जिसमें सब मनुष्य भरती हो सकते हैं अथवा वह है कि जिसमें थोड़े से मनुष्यों का ही बन्धु-प्रेम और रक्षण हो सके? स्वामीजी के उक्त वाक्य विचित्र हैं और एक प्रकार से हमारी ओर से उनके हृदय में भेद डालते हैं।

अब तक मैं जानती थी कि सब सामाजिक और हमारी सभा के सभ्य आपस में भाई हैं। जब से हमारा मिलाप स्वामीजी से हुआ है, इस बात का अधिक प्रचार उन्होंने ही किया है। इसी विषय के पत्र भी उन्होंने आर्य-समाजों को लिखे थे।

हमारे लण्डन और अमरीका के सभ्य आर्य समाजियों को अपना भाई मानते हैं, परन्तु जो अंगरेज हिन्दुस्थान में हमारे सभासद् हैं वे ऐसा नहीं समझते।

जो अंग्रेज हमें यहाँ मिले हैं, विशेषतया वे प्रधान जन जो शिमले में हैं, वे कहते हैं कि थियोसोफ़ी-सभा के सदस्यों के साथ, चाहे वे अंग्रेज हों अथवा हिन्दुस्तानी, हम भ्रातृ-भाव से वर्तने को समुद्यत हैं। परन्तु वे यह भी कहते हैं कि स्वामीजी के अनन्तर आर्यसमाजियों के साथ वैसा ही वर्ताव करने का हमें कोई दृढ़ हेतु नहीं दीखता। स्वामीजी के साथ भ्रातृ-भाव से वर्ताव करने का यह कारण है कि वे बहुत से योरुप-वासी भाइयों के गुरु हैं। ये शब्द कल मुझे एक नवीन सभासद् ने कहे थे। यह पुरुष सैनिक समाचार के कार्यालय का प्रधान है।

इसी हेतु से मैंने आप को, और एक-दो अन्य सज्जनों को सभा में भरती होने की सम्मति दी थी।

रही यह बात कि आर्यसामाजिक हमसे मिलें अथवा न मिलें—इसकी हमें परवाह नहीं है। इसीमें उन्हीं की और कदाचित् समाजों की हानि है।

पुलिस के सब से बड़े अधिकारी, हंडरसन महाशय सभा में सम्मिलित हुए हैं। इससे हमारा अभीष्ट सर्वथा सिद्ध हो गया। हमारी सभा में सम्मिलित होते उन्होंने कहा कि मैं इसमें इस लिए मिलता हूँ कि इससे बड़े-बड़े लाभ पहुँचे हैं। आप और अल्काट ने अठारह मास में वह बात प्राप्त कर ली है जो हम अंग्रेज बहुत वर्षों से भी नहीं कर पाये। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच जो खाई है, उसे आप भर रहे हैं। आपके कारण हम उनकी अधिक प्रतिष्ठा करने लगे हैं और वे हम से घृणा छोड़ रहे हैं। वे हमारे काम की प्रतिष्ठा करते और श्रेष्ठ समझते हैं। मुझे आशा है कि जैसे उनके विचार हैं वे वैसा ही कर दिखलायेंगे। परन्तु जब स्वामीजी का प्रसङ्ग चला तो उन्होंने भी यह कहा कि थियोसोफ़ी के समान स्वामीजी की सम्मति नहीं है। उनके विचार अनिषेधक और उदार नहीं दीखते। आर्यसमाज ईश्वर को हर्त्ता-कर्त्ता मानने वालों का एक जत्था है। ऐसी दशा में हम उनको भाइयों के सदृश क्यों जानें?

उपर्युक्त से अब आप विचार सकते हैं कि थियोसोफ़ी-सभा में भरती होने से आर्यसमाजियों को हानि है अथवा लाभ। उनको लाभ अवश्य है, और ऐसा आप देखेंगे भी। परन्तु यह नहीं सिद्ध होता कि हमने स्वामीजी के

सामाजिकों को कभी भरती करने का उद्योग किया है। हमने तो कभी ऐसा नहीं किया। इस हेतु से, वे चाहे थियोसोफ़ी में न भी मिलें पर वे हमारे भाई हैं। स्वामीजी ने अपने शब्दों द्वारा आर्यसामाजिकों के चित्त प्रायः हटा दिए होंगे। अस्तु, इस विषय में उनको अधिकार है।"

थियोसोफ़ी-सभा में बहुत से अंग्रेजों के मिलने का वर्णन करती हुई मैडम लिखती हैं—

"इस पत्र का उलथा करके स्वामीजी को भेज देना। मैं जानना चाहती हूँ कि वे इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। हम परस्पर मित्र रहेंगे अथवा अकस्मात् शत्रु बन जायंगे? चुन्नालाल को मेरी ओर से प्यार करना। शिवनारायण और दूसरों को मित्र भाव।

(हस्ताक्षर) एच. पी. ब्लैवट्स्की।

ऊपर के पत्र का स्वामीजी ने यह उत्तर दिया:—

एच. पी. मैडम ब्लैवट्स्कीजी आनन्दित रहो।

आपकी चिट्ठी ता. ८ अक्तूबर १८८० की लिखी हुई बाबू छेदीलाल रईस मेरठ द्वारा मेरे पास देहरादून में पहुँची। उसका क्रमानुसार उत्तर सत्य निश्चय से देता हूँ। आपके जो पत्र अमरीका से मेरे पास आये और उनका जो उत्तर मैंने दिया, तथा सहारनपुर, मेरठ, काशी और फिर मेरठ में जो आपका मिलाप हुआ, उन सब के अनुसार और अपने निश्चय के अनुकूल मैं सदा व्यवहार करता हूँ। परन्तु आपका व्यवहार वैसा दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा समागम में प्रथम विदित किया था, उसके अनुसार आपका वर्त्ताव अब कहाँ है?

वे पत्र छपा कर प्रकाशित कर दिए गए हैं, जिनमें आपने लिखा था कि हम संस्कृत अध्ययन करेंगे और अपनी सभा को समाज की शाखा बना देंगे। जो पत्र मैंने आपके पास भेजे थे उनकी नकल भी मेरे पास है। देखिये, थोड़े दिन हुए जब आपसे मेरठ में आर्यसमाज और थियोसोफ़ी-सभा के विषय में बातचीत हुई थी। उस समय मैंने सबके सामने क्या आपसे नहीं कहा था कि समाज के नियमों से सभा के नियमों में कुछ भी विशेषता नहीं है? यही बात मैंने मुम्बई में भी पत्र द्वारा सूचित की थी। वैसे ही मैं अब भी मानता

हूं कि आर्यसमाजस्थों को धर्मादिक विषयों के लिए सभा में मिलना उचित नहीं है। यही बात आपने और अल्काट महाशय ने अपनी पुस्तक 'उपदेश और संवाद' में नहीं लिखी ? क्या यह नहीं कहा कि सत्य धर्म, सत्य विद्या, यथार्थ सुधार, परमोपयोग की बातें जैसी आर्यावर्तीय मनुष्यों में सदा से चली आई है वैसी कभी कहीं नहीं थीं और न अब हैं ?

अब विचारणीय विषय यह है कि ऐसी दशा में थियोसोफी वालों को आर्यसमाज में मिलना चाहिये अथवा आर्यावर्त-वासियों को उस सभा में। देखिए, मैंने अथवा किसी आर्य सभासद् ने आज तक किसी भी थियोसोफिस्ट को आर्यसमाज का सभासद् बनाने का यत्न नहीं किया। आप अपनी आत्मा में विचारिये कि आपने क्या किया और क्या कर रहीं हैं।

आपने कितने ही आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा की। कई सज्जनों से सभासद् बनने का दस रुपया चन्दा भी लिया। मेरठ के वार्त्तालाप के अनन्तर भी क्या आपने बाबू छेदीलाल को अम्बाले में प्रेरणा नहीं की ? शिमले से उनको ऐसा पत्र नहीं भेजा ? इन्हीं कारणों से मैंने मेरठ आर्यसमाज के उत्सव पर अवश्य कहा था कि यदि आपको मैडम अथवा महाशय या कोई अन्य थियोसोफिस्ट और ऐसे ही किसी दूसरी सभा का सभासद् अपनी सभा में भरती होने के लिये कहे तो उसे यही उत्तर दीजियेगा। यदि आर्यसमाज के नियमों और उद्देश्यों के समान ही थियोसोफी आदि सभाओं के नियम हैं तो हम और आप एक ही हैं; और यदि नियमों में भेद है तो मिलने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। जब तक आर्यसमाज के नियमों में कोई बात खण्डनीय सिद्ध न हो जाय तब तक वे अखण्डित हैं।

अब बताइये कि निर्भ्रान्ति पोप को भाँति मेरे कथन हैं अथवा आपके ?

अन्यदेशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसा कि स्वदेशियों के समाजों में होता है—यह बात मैंने उस समय कही थी, अब कहता हूँ, और आगे को भी कहूँगा। परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। अर्थात् जिनका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है,

उनकी जितनी परस्पर प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न-देशवासियों को भिन्न-देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिये, केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझ को और योरुपीय महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है!

दूसरे दिन भी मैंने उन्हीं बातों को दुहराया था; क्योंकि रोगी के रोग का निदान करना और उसे औषध-पथ्य देना आवश्यक है।

हम थियोसोफी-सभा के सदस्यों को आर्यसमाज का अवयवभूत शाखास्थ भ्रातृ-मण्डल मानते आये हैं, और जहाँ तक बन पड़ेगा भविष्य में भी ऐसा ही मानेंगे। उनको आर्यसमाज में मिलाने और दस रुपये चन्दा लेने का यत्न, न हमने पहले किया है और न ही अब करते हैं। हाँ, जो मनुष्य आर्यसमाज और सभा में नहीं हैं, वे उपदेश सुनकर आर्यसमाज में स्वयं मिलते हैं। हम उनको प्रसन्नता से स्वीकार कर लेते हैं।

आप जो लिखती हो कि आपके बिना मुम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों, के आर्यसामाजिक हमारी सभा में सम्मिलित हैं, परन्तु हमने उनको भरती होने के लिये कभी नहीं कहा; यह सत्य नहीं है। आपने मुम्बई में श्री समर्थ-दानजी आदि को और प्रयाग में पण्डित सुन्दरलालजी आदि सभ्यों को सभा में सम्मिलित होने के लिए अवश्य प्रेरित किया। इसका साक्षी मैं ही हूं। मैं जब तक न सुनता तो इसका पता मुझे कैसे हो सकता था! जैसे मेरा नाम सभा के सभासदों में लिखती हो वैसा अन्यत्र भी आपने किया होगा। यह बात निस्सन्देह है।

आप यह भी लिखती हैं कि आर्यसमाज के नियमों के विरुद्ध हममें यही बात है कि हम प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। सब धर्मों के लोगों को अपने में मिलाते हैं। उनके धर्म में हस्तक्षेप नहीं करते, किन्तु भाई बनाने के लिये उन्हें मिलाते हैं। हमारी सभा का सदस्य होने के लिए उनके मार्ग में कोई बात रुकावट नहीं बन सकती।

इसमें मैं आपसे पूछता हूँ कि आपका धर्म क्या है? यदि आप कहें कि हमारा धर्म अमुक धर्म से विरुद्ध है, तो विरुद्ध धर्म वाला मनुष्य आपकी सभा में नहीं मिल सकता। यदि यह कहो कि हमारा धर्म किसी से भी विरुद्ध

नहीं है तो उसमें कोई काहे को मिलेगा ? मुसलमान अपने से भिन्न धर्म्म वालों को अधर्म्मी कहते हैं और उनमें मिलना अनुचित समझते हैं। भला ऐसे धर्म्मों वाले लोग आप से कैसे मिल सकते हैं ? यदि वे आत्मा और मन से अन्य मत वालों के साथ प्रीति करते हैं तो उनका अपना धर्म्म जाता है। यदि अपना बनाए रक्खें तो आपकी सभा में नहीं रह सकते। एक चित्त से एक काल में दो कार्य्य नहीं किए जा सकते। इन सब बातों के उत्तर दीजिएगा। विशेषता से तो तभी वर्णन होगा जब हम आमने-सामने बैठकर वार्तालाप करेंगे।

क्या यह बात सर्वथा असम्भव नहीं है कि 'स्वामीजी ढाई वर्ष से हमारे सबसे उत्तम सभासदों में से एक हैं'। भला आप ही कहिए कि मैंने आपकी सभा का सदस्य बनने के लिए कब प्रार्थना-पत्र भेजा था ? मैंने कब कहा था कि मैं आपका सभासद् बनना चाहता हूँ ? मैंने तो मुम्बई में पत्र भेज कर आपको सूचित किया कि मैं वेदोक्त, सनातन और आर्यावर्तीय धर्म्म के बिना अन्य किसी सभा-समाज के नियमों को न कभी स्वीकार करता था, न ही अब करता हूं और न आगे करूंगा। यह धर्म्म मेरे आत्मा में रमा हुआ है। चाहे प्राण भी चले जायँ, परन्तु मैं इस धर्म्म के विरुद्ध नहीं हो सकता।

यह अपराध आप लोगों का ही है कि बिना कहे, सुने-सुनाये अपनी इच्छा से मेरा नाम आपने अपने सभासदों में लिख लिया है। सो सत्य क्योंकर हो सकता है ? क्या आप इस बात को भूल गई हो कि मेरठ में मैंने आपकी उपस्थिति में अल्काट महाशय को कहा था कि आपने मुम्बई कौंसिल में मेरा नाम सभासदों में क्यों लिखा ? जिसमें मेरी सम्मति न हो, ऐसा काम आप कभी न कीजियेगा। जो काम आप लोग अपने मन से कर लोगे उसको मैं स्वीकार नहीं करूंगा। इस पर अल्काट महाशय ने कहा था कि 'ऐसा कार्य हम कभी नहीं करेंगे'।

मुम्बई में मैंने चिट्ठी भी लिखी थी कि आपने अपनी इच्छा से जहाँ कहीं मेरा नाम सभासदों में लिखा हो, वहाँ काट दीजिए। इतना होने पर भी जो बात आपने लिखी है, क्या यह सत्य ठहर सकती है ? क्या ही आश्चर्य की बात है ! आये तो विद्यार्थी और शिष्य बनने को, और चाहते हैं बनना गुरु

और आचार्य ! ऐसी पूर्वापर-विरुद्ध वार्त्ता करना किसी के लिए भी योग्य नहीं है।

आप ईश्वर को हर्त्ता-कर्त्ता नहीं मानतीं, यह इसी १८३७ के भाद्रपद की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ भी नहीं कहा। हाँ, प्रमोददास मित्र और डाक्टर लाज़रस ने मुझ से काशी में इसकी चर्चा की थी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप मैडम का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदर द्वारा आपसे पुछवाया तो उसने कहा कि वे ईश्वर को मानती हैं। क्या उक्त वार्त्ता असत्य है ? मेरी बातें भेद-कारिणी और विचित्र नहीं हैं, किन्तु आपकी बातें भेद उत्पन्न करने वाली हैं। मैं आपको भगिनी और मित्र समान मानता रहा हूँ। कोई विशेष कारण न हुआ तो ऐसा ही जानता रहूँगा। मैं और सभी आर्य सज्जन सदा से यही मानते आए हैं कि सामान्यतया आर्यावर्त्त, इङ्गलैण्ड और अमरीका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं। परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म के साथ।

यहाँ अँगरेज आर्यों को चाहे जैसा मानें। कोई राज्याधिकारी हों अथवा व्यावहारिक हों। मुझ को भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट मानें। परन्तु मैं तो सब मनुष्यों के साथ सुहृद्भाव से वर्त्तता हूँ और वर्त्तता आया हूँ। उन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामीजी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियों से भी वैसा ही वर्त्तें, तब तक है जब तक वे आर्यावर्त्तीय आर्यों का पूर्व इतिहास, आचार, नीति, विद्या, पुरुषार्थ और न्यायादि उत्तम गुणों को नहीं जानते, वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उनको ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा तो उनका भ्रम अवश्य दूर हो जायगा। तथापि मैं परमात्मा को धन्यवाद देता हूँ कि हमने आपस की फूट, विरोध और अत्याचार से और जैन तथा मुसलमानों की पीड़ा से कुछ-कुछ स्वास्थ्य और स्वतन्त्रता प्राप्त की है। सभी सज्जन अपने अभिप्राय के अनुसार पुस्तकें रचते हैं। स्वाधीनता से उपदेश देते हैं। यदि भारतेश्वरी महाराणी, राज-सभा और आर्यावर्त्त में शासन करने वाले राजपुरुष

धार्मिक, विद्वान् और सुशील न होते तो क्या मैं स्वतन्त्रता से व्याख्यान दे सकता ? इस लिए पूर्वोक्त महात्माओं को हम धन्यवाद देते हैं।

आपको स्मरण होगा कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के योग्य है। यदि सभी यूरोपियन इस उत्तम बात में सहमत हो जावें तो कैसा आनन्द हो, और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी मानें तो हम आर्यों और आर्यसमाजों की कोई हानि नहीं हो सकती। हमारे लिए यह कोई नवीन बात नहीं है। हम तो सृष्टि की आदि से वेदों को मानते चले आये हैं। क्या हुआ जो थोड़े समय से, अज्ञानवश, कुछ आर्य लोग वेद-विरुद्ध चलने लग गये हैं ?

इस अवस्था में, जिसका जी चाहे आर्यसमाज में मिले। उनके न मिलने से हमारी कुछ भी हानि नहीं हो सकती। हाँ, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सबकी उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी कामना भी यही है।

यह बात तो प्रत्येक मनुष्य कह सकता है कि अमुक मनुष्य से मेरा विचार बड़ा है। उसका विचार तुच्छ है। अमुक मनुष्य ईश्वर को हर्ता-कर्त्ता मानता है, फिर हम उससे क्यों प्रेम करें ! परन्तु ये बातें आपके उस सिद्धान्त को काट देती हैं कि सबको अपना बन्धु जानना चाहिए।

सोचकर देखिये कि हानि के कारण किन की ओर है। हमारा तो यह सिद्धान्त है ही कि किसी की हानि नहीं करनी चाहिये और सब का उपकार करना चाहिये। यहाँ हम यह बात कह सकते हैं कि यदि थियोसोफी वाले आर्यसमाजों का विरोध करेंगे तो हमें कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेंगे; किन्तु अपने भ्रातृ-भाव को नष्ट कर अपनी ही हानि कर लेंगे। हमारा तो यही स्वभाव है कि धार्मिक जनों से मित्रभाव रखना और अधर्मियों को धार्मिक बनाना। अपनी सामर्थ्य से हम सब से भ्रातृ-भावना रखते हैं और रखते रहेंगे। अब आप अपने पूर्वापर व्यवहार को समझकर यथेष्ट कीजिये। अल्काट महाशय को मेरा नमस्ते कह दीजियेगा।

माघ वदी ६ सं० १९३७ दयानन्द सरस्वती।

ऊपर के दोनों पत्रों को उद्धृत करते हुए भाषा की अपेक्षा भाव पर अधिक ध्यान दिया गया है।

मेरठ आर्यसमाज के उत्सव पर, अन्तिम व्याख्यान देते समय, उस अन्तिमाश्रमी महापुरुष ने अतीव अन्त की शिक्षायें दीं। उन्होंने कहा, "मुझे लोग कहते हैं, जो कोई आता है आप उसे ही भरती कर लेते हैं। मेरा इस विषय में स्पष्ट उत्तर है कि मैं वेद ही को सर्वोपरि मानता हूँ। वेद ही ऐसी पुस्तक है कि जिसके झण्डे तले सारे आर्य आ सकते हैं। इसलिये जो मनुष्य कह दे कि मैं वेदों को मानता हूँ और आर्य हूँ, उसे आर्यसमाज में सम्मिलित कर लो। ऐसे विश्वासी को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लोग भिन्न-भेद पर अधिक दृष्टिपात करते हैं, परन्तु आप लोग परस्पर भेद-मूलक बातों की अपेक्षा मेल-मूलक बातों पर अधिक ध्यान दो। तुच्छ भेदों और विरोधों को त्यागकर मेल-जोल की बातों में मिलाप सम्पादन करो। आपस में मिलती बातों मे मिल जाने से विरोध और भेद स्वयमेव मिट जाते हैं।

अब आपको अपना कर्त्तव्य आप पालन करना चाहिये। अपने जीवन को ऊँचा बनाओ और अपनी आवश्यकताओं को आप पूर्ण करो। इस समय तो यह अवस्था है कि जब कोई प्रबल प्रतिपक्षी आ जाता है तो आप तार पर तार देकर मुझे ही बुलाते हैं। किसी संशय के उत्पन्न होने पर मुझ पर ही अवलम्बित रहते हो। उपदेश कराने हों तो मुझ पर ही निर्भर करते हो। जब कभी आपस में परस्पर की फूट, फूट निकलती है, वैमनस्य बढ़ जाता है, अनबन बढ़ने लगती है और वैर-विरोध उत्पन्न हो जाता है, तो उसे मिटाने की चिन्ता मुझे ही करनी पड़ती है। मैं ही आकर आप में शान्ति स्थापन करता हूँ। आपके अन्तःकरणों में अवनतिकारी अन्तर नहीं पड़ने देता। आपके पारस्परिक स्नेह के सुकोमल सूत्र को छीजने नहीं देता। परन्तु महाशयो! मैं कोई सदा नहीं बना रहूँगा। विधाता के नियम-न्याय में मेरा शरीर भी क्षण-भंगुर है। काल अपने कराल पेट में सबको पचा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथों टूटना है।

सोचो, यदि अपने पाँव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आँख मीचने के पीछे क्या-करोगे? अभी से अपने को सुसज्जित कर लो। स्वावलम्ब के सिद्धान्त

का अवलम्बन करो। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के योग्य बन जाओ। किसी दूसरे की सहारे की अपेक्षा अपने ही पर निर्भर करो। मुझे विश्वास है कि आप में से ऐसे अनेक सज्जन उत्पन्न होंगे जो उत्तमोत्तम कार्य कर दिखायेंगे। प्राणपण से अपने पवित्र प्रणों की पालना करेंगे। आर्यसमाज का बड़ा विस्तार हो जायगा। कालान्तर में ये वाटिकायें हरी-भरी, फूली-फली और लहलहाती दिखाई देंगी। ईश्वरकृपा से यह सब कुछ होगा, परन्तु मैं नहीं देख सकूंगा।"

महाराज के इस भाषण का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सब के हृदय उछल पड़े। गात रोमाञ्चित हो गये। उनकी आँखें आँसुओं के बादलों से आच्छादित हो गईं। महाराज के कथन से ऐसा प्रतीत होता था कि वे होनी की निश्चित तिथि देख कर यह कह रहे हैं। मानस पुत्रों को बिछुड़ते समय का उपदेश दे रहे हैं। मानो, इस नौका का यह निपुण नाविक अब आप विदा हुआ चाहता है। इस लिए यात्रियों ही को अखिल खेय सौंप कर, नौका खेने के लिए खेवट बना रहा है।

तेरहवाँ सर्ग

महाराज मेरठ के उत्सव को आशातीत सफलता प्रदान कर देहरादून को चल पड़े। मार्ग में सहारनपुर के रेलवे स्टेशन पर कुछ काल के लिए ठहरे। जब सहारनपुर नगर के आर्य पुरुषों को समाचार मिला कि गुरुदेव रेलवे स्टेशन पर विराजमान हैं तो वे श्री-दर्शनों के लिए वहाँ दौड़े चले आये। वार्तालाप के प्रसङ्ग में लक्ष्मीदत्त नाम के एक ज्योतिषी ने महाराज को कहा कि मैं ज्योतिष के अनुसार प्रश्नों के उत्तर दिया करता हूँ। वे उत्तर सच्चे होते हैं।

इस पर महाराज ने कहा, ऐसे उत्तर निरे अटकल-पच्चू हुआ करते हैं। जैसे एक कौआ उड़ता हुआ जब आम के पेड़ के नीचे से निकला तो अचानक उस पर ऊपर से एक आम टूट पड़ा। उस फल की चोट से कौआ गिर कर मर गया। आम के लगने का ज्ञान न तो कौवे को था और न ही आम जानता था कि मुझ से वह मर जायगा। ऐसी बातें दैवयोग से हो जाया करती हैं। आपके प्रश्न कभी दैवयोग से सच्चे हो जाते होंगे। यदि गणना से सच्चे होते

मानो, तो गणित में तो कोई भूल नहीं होती। उसके सारे नियम शुद्ध हैं। परन्तु आपके सारे प्रश्न पूर्ण नहीं होते। गणित नियम से फलित होता तो उसमें भूल कदापि न होने पाती। फलित ज्योतिष को 'काकतालीय न्याय' के तुल्य समझना चाहिये।"

एक भक्त ने पूछा—"भगवन्! जन्म के समय जो दस दिन का सूतक माना जाता है क्या वह शास्त्रानुकूल है?" महाराज ने उत्तर दिया कि "मनुस्मृति के अनुसार तो केवल नव-जात बालक की माता ही को एक रात का सूतक होता है—बच्चे के पिता तक को भी नहीं होता। यह सूतक-पातक का झमेला वैसे भी ठीक नहीं है। इनमें लोग सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि भले काम भी छोड़ बैठते हैं। कोई असत्य भाषण और चोर-कर्म आदि बुराइयों को तो नहीं छोड़ता। ऐसी रीतियों को मानकर क्या करना, जिनसे शुभ तो दूर जाय और अशुभ धड़ाधड़ होता रहे!"

श्रीमान् भोलानाथजी ने अति खेद से खिन्न-चित्त होकर कहा, "*महाराज! जैनमत वालों ने समाचार-पत्रों में विज्ञापन निकलवाये हैं। उनसे प्रतीत होता* है कि वे लोग आपको कारागार में आबद्ध कराना चाहते हैं। इसी विषय के विज्ञापन सहारनपुर में भी स्थान-स्थान पर लगे हुए हैं!" यह वचन सुनकर महाराज के विमल, मधुर, मनोहर और प्रफुल्ल मुखकमल का रंग किंचिन्मात्र भी भंग न हुआ। किन्तु उन्होंने गम्भीरता से कहा, "भाई! सोने को जितना तपाया जाता है उतना ही कुन्दन होता है। विरोध की आँच से सत्य की कान्ति चौगुनी चमकती है। दयानन्द को तो यदि कोई तोप के मुँह के आगे रखकर भी पूछेगा कि सत्य क्या है, तब भी उसके मुख से वेद की श्रुति ही निकलेगी। अब तो मैंने जैनमत के बहुत से ग्रन्थ देख लिए हैं। वे लोग मेरे प्रश्नों का उत्तर कदापि नहीं दे सकते।"

इस प्रकार अपने सुधा-समान शब्दों से सेवकों के हृदय को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान करते हुए महाराज देहरादून की गाड़ी में बैठ गये। जब गाड़ी हिलने लगी तो प्रेमीजन उनको नमस्कार कर अपने नगर को लौट पड़े।

स्वामीजी आश्विन सुदी ४ सं० १९३७ को देहरादून में पधारे और लाला बलदेवसिंह की कोठी पर ठहरे। उनके शुभागमन और व्याख्यानों के विज्ञापन

स्थान-स्थान पर लग गये। जिज्ञासु और श्रोताजन श्री-सत्संगों से अलभ्य लाभ उठाते। प्रश्न करने वाले वादी लोग भी उनकी सुतीक्ष्ण तर्क-प्रणाली से अपार प्रसन्नता प्राप्त करते।

कई पौराणिक पण्डित और पादरी महाशय वाद-प्रतिवाद की बातें तो बहुतेरी बनाते थे, परन्तु सरलता से सम्वाद करने के लिए सामने कोई भी न आया।

एक दिन महाराज बैठे शङ्का-समाधान कर रहे थे। एक मौलवी कुछ पूछने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु जब बोलने लगा तो उसकी जीभ लड़खड़ा गई।

लोगों के आग्रह करने पर, स्वामीजी एक दिन दवाघर (आवज़रवेटरी) देखने गये। उसका प्रधान प्रबन्धकर्ता एक यूरोपियन और मदरास मिस्त्री महाराज को प्रत्येक वस्तु बड़े आदर से दिखाते थे। प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर स्वामीजी भी संस्कृत के श्लोक बोलकर बताते कि इन वस्तुओं का वर्णन हमारी पुरातन पुस्तकों में पाया जाता है।

महाराज व्याख्यान के आरम्भ में पद्मासन बाँध और नेत्र बंद करके प्रार्थना करते। उसमें पहिले "ओम्" का उच्चारण गुंजाते। यह गूंज मधुर और मनोहारिणी होती। उसके कर्णगोचर होते ही मन मूर्छित हो जाता। ऐसा प्रतीत होता कि कोई वादन-कला-निपुण मनुष्य सुर-मिली वीणा बजा रहा है। ऐसा रसीला स्वर किसी ने कभी नहीं सुना था। उनका ओम् नाद बड़ा लम्बायमान होता था। उनके होंठ बंद कर लेने पर भी उसकी ध्वनि बड़ी देर तक प्रतिध्वनित होती रहती। ओम् उच्चारण के अनन्तर स्वामीजी मंत्र-पाठ गायन करते। तत्पश्चात् आँखें खोलकर एक बार सारी सभा पर नेत्र-ज्योति डालते। उस समय बहुधा बहुत से मनुष्य यह अनुभव करने लग जाते कि हम किसी अज्ञात विधि से अत्यन्त प्रभावित हो रहे हैं। हमारी चित्त-वृत्तियाँ स्वामीजी की ओर आप ही आप खिंची चली जाती हैं। महाराज के नेत्रों में अवश्यमेव प्रबल आत्मिक अयस्कान्त था। जब वे नेत्र-ज्योति चहुँ ओर फिराते तो लोगों के हृदय में, तन्त्री के तारों की भाँति, झंकार होने लग जाती।

समालोचनात्मक भाषणों में वे पहले पूर्वपक्ष की स्थापना करते। उस पक्ष की पुष्टि में जो भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं उनकी एक लड़ी पिरो देते।

उस समय सबको यही जान पड़ता कि इन तर्क-तीरों का प्रतिकार करने के समय स्वामीजी निपट निरुपाय हो जायँगे। इनका समाधान करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध होंगे। परन्तु ज्यों-ही वे उत्तरपक्ष प्रारम्भ करते और अपूर्व प्रतिभा-प्रभा से पूर्वपक्ष का खण्डन करने लगते तो लोगों की कल्पना के कोट अपने कंगूरे-सहित धड़ाधड़ धराशयी होने लग जाते। सम्पूर्ण शङ्का-समूह का समूलोच्छेदन हो जाता। उस समय बाल की खाल उतारने वाले तार्किक भी महाराज को अलौकिक बुद्धि का आलोक देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते।

स्वामीजी का ईश्वर-चिन्तन के विषय पर एक व्याख्यान देहरादून निवासियों के लिए अमूल्य मणि के समान हो गया। उन्होंने ईश्वर-भक्ति का वर्णन ऐसे भावों में किया कि लोगों के हृदय प्रेम-रस के प्रवाह से भरपूर हो गये। तन में रोमाँच हो आया। आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने उस भाषण में यह भी कहा कि संध्या अवश्य किया करो। यह ईश्वर का सत्संग है। उपासना-काल में उपासक अपने उपास्य के बहुत ही पास पहुँच जाता है। उपासना में ईश्वर के गुणों का विकाश उपासक के भीतर अवश्य ही होता है।

महाराज के व्याख्यान दो घण्टे तक हुआ करते थे। वे अपने पास उस समय घड़ी नहीं रखते थे। पर उन्होंने कभी दो-चार पल के लिये भी कालातिक्रम नहीं किया। ठीक समय पर उपदेश समाप्त हो जाता।

बहुत से सज्जनों ने महाराज की छवि लेने का आग्रह किया। वे पहले तो मानते ही न थे। कहते कि आज तक हमने किसी को अपनी प्रत्याकृति नहीं लेने दी। परन्तु लोगों के अत्यन्त अनुनय-विनय पर उन्होंने प्रत्याकृति उतरवाना स्वीकार कर लिया। कुंवर बलबीरसिंह नाम के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनकी छवि ली। सिर पर साफे और गले में दुपट्टे वाली छवि देहरादून में ही ली गई थी।

देहरादून के अधिवासियों को सन्मार्ग दिखाने के उपरान्त महाराज मार्गशीर्ष बदी ८ सं० १९३७ को मेरठ आ गये। उन दिनों वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्ध-कर्त्ता महाशय बख्तावरसिंहजी ने कुछ गोलमाल कर रक्खा था। इस लिए स्वामीजी उसी कार्य में लगे रहे। उन्होंने यन्त्रालय का प्रबन्धकर्त्ता पण्डित

भीमसेनजी को नियुक्त किया। फिर मार्गशीर्ष व० १२ को वहाँ से प्रस्थान कर आगरा नगर में सुशोभित हुए। वहाँ महाराज लाला गिरधारीलाल के मकान पर ठहरे।

श्रीमान् लक्ष्मणप्रसादजी की स्वामीजी में भक्ति थी। वे ही सारे आगरे में उनके कार्य के प्रबल पोषक थे। महाशय लक्ष्मणप्रसादजी ने अपने इष्टमित्रों से मिल कर, स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध मुफीदे-आम स्कूल के मकान में किया। यह स्थान पीपलमण्डी में था। वहाँ वे पौष व० १२ से माघ व० ७ तक प्रतिदिन सायं के सात बजे व्याख्यान देते रहे।

महाराज के उपदेशों में एक अद्भुत रस था। तीन-तीन चार-चार कोस तक से लोग सुनने आते। उनकी मनोरञ्जक उक्तियाँ और अटूट युक्तियाँ सुन कर वे लट्टू हो जाते।

उनके तर्क के सामने कोई चिरकाल तक नहीं ठहर सकता था। एक बङ्गाली डाक्टर आगरे में निवास करता था। वह कट्टर नास्तिक था। उसकी तर्क-शक्ति बड़ी प्रबल मानी जाती थी। उसने लोगों पर अपने ज्ञान-विज्ञान का सिक्का जमा रक्खा था। वह एक दिन बड़ा दलबल साथ लेकर स्वामीजी के व्याख्यान में गया। व्याख्यान के अनन्तर शङ्का-समाधान के लिए समय दिया जाता था। उस दिन सबसे पहले वह बङ्गाली महाशय ही उठे। उस समय लोगों ने एक दूसरे को कहा कि आज स्वामीजी को एक विशाल वज्र-शिला से टक्कर लेनी पड़ी है। डाक्टर महाशय को जीतना 'टेढ़ी खीर' है।

परन्तु थोड़े ही समय में लोगों का आश्चर्य सीमा को पार कर गया। उन्होंने देखा कि बङ्गाली महाशय, दो तीन वार बोल कर, मुँह से झाग उगलते हुए, हार कर बैठ गये। उस दिन महाराज ने आगरा-निवासियों के हृदयों पर, अपने तर्कातीत तर्क का ठप्पा लगा दिया। सभी लोग धन्य-धन्य करते वहाँ से लौटे।

श्री स्वामीजी के व्याख्यानों के प्रभाव से पौष व० ६ को आर्यसमाज की स्थापना हो गई। यहाँ उन्होंने ठाकुर श्यामलालसिंहजी के तीन पुत्रों को अपने पवित्र कर-कमलों से विधि-पूर्वक यज्ञोपवीत पहनाये।

एक दिन महाराज ने आगरे के बिशप महाशय से मिल कर कहा कि 'आओ, पहले हम सब आपस में मिल कर एक धर्म्म स्थिर कर लें और फिर नास्तिकवाद

को निर्मूल किया जाय। बिशप महाशय ने एकता के मार्ग में अनेक कठिनाइयां दिखाईं। उनके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि यदि वेद पवित्र को सभी सज्जन स्वीकार कर लें तो ये सब आपत्तियाँ तुरन्त दूर हो सकती हैं।

वार्तालाप के पश्चात् महाराज उनका बड़ा गिर्जा देखने के लिए गये। जब वे उसके भीतर प्रवेश करने लगे तो एक ईसाई ने कहा—"महाशय! सिर पर से पगड़ी उतार कर भीतर प्रवेश कीजिये'। स्वामीजी आगे नहीं बढ़े और उससे बोले कि हमारे देश की रीति के अनुसार सिर पर पगड़ी धारण कर के किसी जगह जाना प्रतिष्ठा का चिह्न है। अपने देश की सभ्यता के प्रतिकूल हम नहीं करेंगे। परन्तु यदि आप कहें तो हम पाँव से जूता उतार सकते हैं। उसने उत्तर दिया कि दोनों का उतारना उचित है। तब स्वामीजी भीतर नहीं गये और बरामदे में से उनकी मूर्तियाँ देख कर चले आये।

एक दिन स्वामीजी गो-रक्षा पर व्याख्यान देते हुए बता रहे थे कि गोवध से कैसी-कैसी हानियाँ हो रही हैं। पास ही बैठा हुआ एक ब्राह्मण बे-तरह बिगड़ा और कुवचन बकने लगा। लोगों ने उसे शान्त करते हुए पूछा कि देवता वस्त्रों से बाहर क्यों हुए जाते हो? उसने उत्तर दिया कि 'उन्होंने गो-हत्या से होने वाली हानियों का वर्णन करते समय 'गो-वध' शब्द अपने मुख से क्यों उच्चारण किया? महाराज ने तब उसे कहा कि यह शब्द इस लिए उच्चारण किया था कि गो-वध से जो-जो हानियाँ जगत में हो रही हैं उनका लोगों को ज्ञान हो जाय और वे गो-रक्षा करने में तत्पर हो जायँ।

इस व्याख्यान से उस ब्राह्मण की चिढ़ का पारा और भी ऊपर चढ़ गया और वह गालियाँ देता हुआ सभा से चल पड़ा। स्वामीजी ने खेद से कहा, "हमारे देश के लोग हिताहित से कितने अजान हैं! ये नाम से तो इतने चिढ़ते हैं कि आगबबूला बन जाते हैं, परन्तु उस के विरुद्ध, काम करने का नाम तक नहीं लेते। जिस देश में ऐसे विवेक-विचार-विवर्जित जन वास करते हों, बताइए, वहाँ बुद्धि को स्थान कहाँ है?"

एक दिन महाराज भेड़िये की माँद में पले हुए एक मनुष्य को देखने गये। उसे बचपन में ही एक भेड़िया उठा कर ले गया था। फिर वह किसी प्रकार ईसाइयों के हाथ लग गया। महाराज ने जब उसको देखा तो उस समय वह

एक कुरता धारण किये हुए था और थोड़े-थोड़े मानुषी व्यवहार भी सीख चुका था। स्वामीजी से नमस्कारपूर्वक उसने पैसा माँगा। इस पर स्वामीजी ने उससे कहा कि इतना चिर पशुओं में वास करने पर भी तुमने पैसों का प्रेम न छोड़ा। महाराज के संकेत से उनके साथी भक्त ने दो-चार आने उसको दे दिये।

पण्डित कालिदासजी मेयर जोन्स कालेज में संस्कृत के मुख्याध्यापक थे। वे किसी समय, छः सात मास पर्यन्त, श्री विरजानन्दजी की सेवा में भी अध्ययन करते रहे थे। आगरे के बहुत से पण्डित और श्रद्धालु सेठ उनके निकट जाकर कहने लगे, "स्वामी दयानन्दजी ने सारे नगर-वासियों के निश्चय हिला दिये हैं। पौराणिक देव-मूर्तियों से लोगों की धारणा उठती चली जाती है। आप उनको शास्त्रार्थ द्वारा परास्त कीजिए, जिससे उनके विचारों के फैलने में कुछ रोक-थाम हो जाय।"

पण्डित कालिदासजी ने कहा, "स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है। मैं जब श्री विरजानन्दजी के पास पढ़ा करता था, उन्हीं दिनों ये महानुभाव भी वहाँ अध्ययन करते थे। गुरुजी के आगे ये कभी-कभी ऐसे प्रबल तर्क उपस्थित करते थे कि उस पर गुरुजी को भी कहना पड़ता कि इसका उत्तर हम कल देंगे। भाई! ऐसे बड़े विद्वान् से वैर-विरोध बाँधना अपने को आग में भूनना है। तुच्छ पतङ्ग, दीपक का प्रतिरोध ही क्या कर सकता है!"

एक दिन पण्डित कालिदासजी श्री-सत्सङ्ग में गये और वार्तालाप के प्रसङ्ग में बोले—"भगवन्! सन्ध्या का विधान तो त्रयकाल के लिए है। आप दो काल सन्ध्या करना क्यों बताते हैं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "धर्म-शास्त्र में दो काल ही सन्ध्या करना लिखा है। त्रयकाल सन्ध्या की रीति सर्वथा अनार्ष है।"

स्वामीजी महाराज कठिन विषयों का समाधिस्थ होकर मनन किया करते। उनकी धारणा थी कि जब मनुष्य अन्तर्मुख होता है तो उस समय उसमें ईश्वरीय ज्ञान का सीधा प्रकाश पड़ने लग जाता है।

ब्रह्मानन्दजी अपने युवाकाल में जब आगरा कालेज में अध्ययन करते थे तो उन्हीं दिनों, श्री महाराज के वहाँ धुँआधार व्याख्यान होते थे। ब्रह्मानन्दजी

एक दिन सत्सङ्ग प्राप्त करने के लिए महाराज के निवासस्थान पर गये । उस समय स्वामीजी तो स्थान पर नहीं थे, परन्तु भीमसेनजी और ज्वालादत्तजी आदि पण्डित बैठे आत्म-चर्चा कर रहे थे । ब्रह्मानन्दजी ने उनसे पूछा, "आप कोई आत्म-ज्ञानी जन भी बता सकते हैं ?" उत्तर में ज्वालादत्तजी ने कहा, "इस समय सबसे बड़े आत्म-दर्शी हमारे स्वामीजी महाराज हैं । हमने उनको अनेक बार अचल ध्यान में लीन देखा है । उनको योग की सकल सिद्धियाँ सम्प्राप्त हैं । हमें वेद-भाष्य लिखाते समय, कोई कठिन विषय उपस्थित होने पर, वे कई बार बीच में से उठ कर चले जाते हैं और कोठड़ी के किवाड़ लगा कर बड़ी देर तक अन्तर्ध्यान बैठे रहते हैं । फिर बाहर आकर पहले लिखे में से कई वाक्य और पंक्तियाँ तक कटवा देते हैं और उनके स्थान पर नवीन वाक्य की योजना लिखाते हैं । उनका अन्तःकरण इतना विमल और इतना विशुद्ध है कि सातवीं कोठरी में भी की गई वार्त्ता का आभास उसमें पड़ जाता है । उन्होंने कई बार हमारे प्रच्छन्न मनोरथों को हमारे आगे वर्णन किया है । वे हमें उपदेश दिया करते हैं कि जब मनुष्य के हृदय की सकल ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तो उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है । तिलों में तेल की तरह आत्मा में ही परमात्मदेव रमे हुए हैं । इस लिए उनका भी उसी समय ज्ञान हो जाता है ।"

आगरा-निवासियों के हृदयों को, अपने अमृतोपदेश से तृप्त करके, महाराज इस देश के राजों-महाराजों को सुधारने के लिए राजस्थान को प्रस्थान कर गये ।

राजस्थान काण्ड

पहला सर्ग

फाल्गुन सुदी दशमी सम्वत् १९३७ को महाराज भरतपुर में पधारे और रेलवे स्टेशन के निकट एक प्रतिष्ठित पुरुष के उद्यान में ठहरे। उन्होंने वहाँ दस दिन तक व्याख्यान दिए और फिर चैत्र वदी पंचमी को प्रस्थान कर जयपुर में सुशोभित हुए। यहाँ वे चन्द्रपुरा में, अचरोल के ठाकुरों के उद्यान में विराजे। महाराज के सत्संग से जयपुर-वासी प्रेमी-जनों ने बहुत लाभ उठाया। फिर वहाँ से चलकर वे वैशाख सुदी सप्तमी सम्वत् १९३८ को अजमेर में पधारे। यहाँ उन्होंने सेठ फतेहमलजी के उद्यान में डेरा किया।

विज्ञापनों द्वारा सर्वसाधारण को सूचना देकर व्याख्यान आरम्भ किये गये। श्रोता लोग भी अतिशय उत्साह से सत्संग में आते और एकाग्र भावना से सुनते थे। महाराज के व्याख्यान, प्रतिदिन सायं के सात बजे से रात के नौ बजे तक होते, परन्तु बीच में उठकर चले जाना तो कहाँ, कोई हिलने-जुलने तक का भी नाम न लेता। सभी उपस्थित जन नीरव, निस्तब्ध और निर्निमेष होकर अपने लालचाए हुए लोचनों से महाराज की मंगलमयी मनोहर मूर्ति का दर्शन किया करते। सभासागर में चहुँ ओर चुप्पी का अचल भाव छाया होता। सुनते हुए लोग तृप्त नहीं होते थे। यही चाहते थे कि महाराज सुनाते जायँ, व्याख्यान समाप्त न करें। उपदेश की समाप्ति पर सभी श्रोता स्वामीजी को शत-शत सहस्र-सहस्र साधुवाद देते घरों को जाते। उनके उपदेशों में वर्णनातीत रस होता था। जो एक दिन इसका आस्वादन कर जाता उसे ऐसा चसका लगता कि आगामी दिन वह सबसे पहले पहुँचने की चेष्टा करता।

नसीराबाद-निवासी श्री हीरालालजी को महाराज ने यथाविधि अपने श्री-हाथों से यज्ञोपवीत धारण कराया। उसको धर्म्म-कर्म्म का अतीव उपयोगी उपदेश भी दिया।

कुछ एक पेटार्थी पण्डित लोग परमहंसजी से शास्त्रार्थ करने को कोरी गप्पें हाँकते तो थे, परन्तु वह मन उन्हें नहीं मिला था, वह हृदय उनको नहीं प्राप्त था और वह आत्मा उनमें निवास नहीं करता था, जिसमें स्वामीजी के सामने आने का साहस हो सकता।

पण्डित श्री लेखरामजी के हृदय में महाराज के दर्शनों की तीव्र लालसा उत्पन्न हो आई। वे कुछ काल के लिए अपने सारे काम-काज छोड़कर, पंजाब से अजमेर जा पहुँचे। ज्येष्ठ ब० ४ सं० १९३८ प्रातःकाल श्रीसेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने, भक्ति-भाव के भार से नम्रीभूत होकर, श्री-चरणों में विनीत नमस्ते निवेदन किया। उनके प्रेम-रस से रसीले, विमल लोचनों को, मधुर मुखमण्डल को, शोभाशाली विशाल ललाट को और पतित-पावनी परम पवित्र आकृति को अवलोकन कर, मोहियाल वंश के सुवीर सुपूत को अतिशय प्रसन्नता उपलब्ध हुई। वे मार्ग की सारी थकान तत्काल भूल गये। वे अतृप्त लोचनों से, अति तृष्णा के साथ, स्वामीजी के सुन्दर स्वरूप को देखने लगे।

पण्डितजी ने बद्धाञ्जलि होकर पूछा कि भगवन्! आकाश और ब्रह्म दोनों पदार्थ व्यापक हैं। ये दोनों एक स्थान में एकत्र क्योंकर रह सकते हैं?

महाराज ने एक पास पड़ा पत्थर उठाकर पूछा कि इसमें अग्नि व्यापक है या नहीं? उन्होंने कहा कि हाँ, अवश्यमेव है। फिर उन्होंने उसी पाषाण-खण्ड में वायु, जल, मृत्तिका, आकाश और परमात्मा की व्यापकता पूछी। पण्डितजी ने सबकी व्यापकता स्वीकार कर ली। तब स्वामीजी ने कहा, "भद्र! आपने समझ लिया कि एक पत्थर में सब पदार्थ व्याप्त हो रहे हैं। इस व्यापकता का सरल सिद्धान्त यह है कि जो पदार्थ जिससे सूक्ष्म होता है वह उसमें व्याप्त हो सकता है। परमात्मदेव परम सूक्ष्म हैं। इसलिए वे सब पदार्थों में परिपूर्ण हो रहे हैं।"

भगवान् ने ताड़ लिया कि भक्त की हृदय-भूमि उपजाऊ है। उसमें धर्म-कल्पतरु का बीज बोने की भावना से उन्होंने कहा कि आप यथेष्ट प्रश्न पूछकर अपने संशय निवारण कर लीजिए। उस समय पण्डितजी ने दस प्रश्न पूछे। उनमें से पीछे से उन्हें ये थोड़े से स्मरण रह गये।

प्रश्न। भगवन्! जीव और ब्रह्म के भिन्न-भिन्न होने में कोई प्रमाण दीजिए?
उत्तर। यजुर्वेद का सारा चालीसवाँ अध्याय जीव और ब्रह्म का भेद वर्णन करता है।

प्रश्न। मुसलमान और ईसाई आदि मतों के मनुष्यों को क्या शुद्ध कर लेना चाहिए?

उत्तर। हाँ, अवश्यमेव शुद्ध कर लेना चाहिए।

प्रश्न। बिजली क्या वस्तु है और किस प्रकार उत्पन्न होती है?

उत्तर। बिजली सर्वत्र है। रगड़ से अभिव्यक्त हो जाती है। बादलों की विद्युत् भी वायु और बादलों के संघर्षण से प्रकट होती है।

महाराज ने पण्डितजी को कहा, "जब तक आपकी आयु पचीस वर्ष की न हो तब तक विवाह कदापि न कराइएगा।" धर्म-वीर जब अपने परम धीर और कर्म्म-वीर गुरु से विदा होने लगे तो उनसे बोले—"गुरुदेव! कोई अपना स्मारक चिह्न प्रदान कीजिए।" महाराज ने निज अनन्य भक्त को, अतिवत्सल भाव से, एक प्रति अष्टाध्यायी की प्रदान की। तत्पश्चात् होनहार धार्य्यपथिक उनके अरुणवर्ण चरण छू कर वहाँ से अपने प्रान्त की ओर आए।

एक दिन पश्चिमी विज्ञान का एक धुरन्धर पण्डित स्वामीजी के निकट आया। वह योग की सिद्धियों को भ्रममूलक मानता था। उसने योग विभूतियों के विषय में पूछा कि क्या आप इनको मानते हैं? स्वामीजी ने योग सिद्धियों को सिद्ध करते हुए कहा कि क्या आप समझते हैं कि मेरा इतना बड़ा काम बिना योग सिद्धि के ही हो रहा है। इतने ही शब्दों से, उसका वज्रसदृश कड़ा मन पिघल कर मोम-सा नर्म हो गया और उसे आर्यसमाज से प्रीति होगई।

मसूदा-राज्य के नरेश, राव श्री बहादुरसिंहजी को जब समाचार मिला कि गुरुदेव अजमेर में विराजमान हैं तो उन्होंने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को निमन्त्रण पत्र देकर श्री-सेवा में भेजा और मसूदा राज्य को सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना पर श्री महाराज आषाढ़ वदी द्वादशी १९३८ को मसूदा में पधारे और राम उद्यान में ठहरे। आगामी दिन से उनके व्याख्यान धर्म, राजनीति और पुनर्विवाह आदि विषयों पर होने आरम्भ हो गये।

पादरी शूलब्रेड, एक देसी पादरी-सहित स्वामीजी से मिलने आये। उस समय राव महाराय स्वामीजी के पास ही बैठे थे। उन्होंने एक नौकर को आज्ञा दी कि पादरी महाशय के लिए यहाँ कुर्सी ले आओ। जब कुर्सी लाकर, वह फर्श पर रखने लगा तो महाराज ने कहा कि फर्श को उलट कर कुर्सी रखिए। राव महाशय के पूछने पर उन्होंने कहा कि आप सब फर्श पर बैठे हैं। यदि कुर्सी फर्श पर रक्खी जायगी तो आगन्तुक के जूते फर्श पर होंगे। यह सभ्यता की बात नहीं है कि जिस आस्तरण पर लोग आसन लगाये बैठे हैं उस पर एक मनुष्य, जूते समेत पांव रख कर, कुर्सी पर बैठे।

शूलब्रेड महाशय को स्वामीजी ने अनेक प्रश्न पूछे, परन्तु वे उत्तर कुछ भी न दे सके। शूलब्रेड के पूछने पर महाराज ने कहा कि वेदों में गोमेध, अश्वमेध आदि का वर्णन नहीं है। एक देसी ईसाई ने कहा कि 'स्वामीजी! आप राजों महाराजों को ही उपदेश देते हैं, परन्तु निर्धनों में जाकर उन्हें नहीं समझाते'।

इस पर उन्होंने कहा, "मैं सर्वत्र पर्यटन करता हूँ। मेरे व्याख्यान भी सर्वसाधारण के लिए होते हैं। इन में छोटे-से-छोटा मनुष्य, किसी रुकावट और प्रतिबंध के बिना आ सकता है। वैसे तो कुएँ के पास प्यासे ही आया करते हैं, न कि कुआँ प्यासों के पास जाया करता है।"

उन्हीं दिनों में जैनियों का साधु सिद्धकरण भी आया हुआ था। एक दिन वह घूमते हुए स्वामीजी को मिल गया। वह बड़े उजड्डपन से उनको कहने लगा, "आपकी तोंद तो बड़ी बढ़ रही है। क्या इसमें ज्ञान भरा हुआ है? इस पर लोहे का तवा बाँध लीजिए। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि यह फट जाय। आपको ज्ञानाजीर्ण भी हो रहा है।"

महाराज ने उस साधु के अक्खड़ और फक्कड़पन पर कुछ भी दृष्टि न दी और न ही फबती उड़ाने पर कर्णपात किया। गम्भीर भाव से उन्होंने प्रश्न किया, "आप लोग मुख पर पट्टी क्यों बाँधते हैं? और गर्म-जल क्यों पीते हैं?" इस पर देर तक वादानुवाद होता रहा।

प्रातःकाल जब स्वामीजी भ्रमणार्थ जाया करते तो राव महाशय दूरवीक्षण यंत्रद्वारा महाराज को देखा करते। उस दिन, जब उन्होंने देखा कि उनके साथ

कोई बातचीत कह रहा है तो वे तुरन्त घोड़े पर सवार होकर वहाँ जा पहुँचे। राव महाराय को आते देख साधुजी खिसक गये। स्वामीजी, राव महाराय के साथ वार्तालाप करते हुए स्वस्थान पर चले आये।

श्रावण वदी द्वितीया सम्वत् १६३८ को महाराज ने निम्नलिखित प्रश्न सिद्धकरण के पास भेजे—

"जैन मत के अन्तर्गत आप 'ढूँढक' लोग मुख पर पट्टी बाँधना अच्छा समझते हैं। आपका यह सिद्धान्त भ्रममूलक है। जीव अजर और अमर है। वह मुख के पवन से नहीं मर सकता। यदि प्राणियों को पीड़ा देने से पाप का भागी होना मानते हो तो यह भी अयुक्त है। प्राणधारी को पीड़ा पहुँचाये बिना तो निर्वाह ही नहीं हो सकता। यदि आपका यह कथन हो कि सारा वायुमण्डल जीवों से भरा पड़ा है, मुख पर पट्टी बाँधने से जितनों का बचाव हो जाय उतना ही अच्छा है, तो भी ठीक नहीं। जैसे आग जला कर द्वार बंद कर देने से उष्णता बढ़ जाती है इसी प्रकार मुँह बंद रखने से वायु अधिक उष्ण हो जाती है और इस से जीवों को अधिक पीड़ा पहुँचती है।

मुख की भाँति नाक से भी तो पवन निकलता है। उससे भी जीव मरते होंगे। तब आप नाक पर पट्टी क्यों नहीं बाँधते ? जैसे नली द्वारा वायु बड़े वेग से लगती है, ऐसे ही इससे जीवों का नाश भी होता होगा। इन युक्तियों से आप अपने निश्चय के अनुसार, अहिंसक नहीं हो सकते। मुख पर वस्त्र बाँधने से दुर्गन्ध भी बढ़ जाती है। इससे अधिक रोग बढ़ते हैं। दुर्गन्ध बढ़ाने वाला मनुष्य अधिक अपराधी हुआ करता है।

जो सादे पानी के पीने में दोष मानते हो और उष्ण करा कर पीते हो, यह भी आपकी भारी भूल है। तुम्हारे मन्तव्य के अनुसार, यदि जल जीवमय है तो उष्ण करने से उन्हें अधिक पीड़ा होती होगी। वे जीव जीवित जल जाते होंगे। यदि कहो कि हम तो जल को उष्ण नहीं करते, इसलिए जलीय जीवों को जलाने के भागी हम नहीं बन सकते, तो आप का यह भी कथन सत्य नहीं। यदि आप उष्ण जल न लें तो उसे कोई गर्म न करे। इस कारण आप उनकी हिंसा के भागी अवश्य हैं।

आप के मत में ऐसी ही अनेक अयुक्त बातें पाई जाती हैं। आप लोगों का यह मानना कि पैसा भर कन्द में अनन्त जीव हैं, सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। भला, सान्त में अनन्त कैसे समा सकते हैं ?"

इसका जो उत्तर साधु सिद्धकरण ने दिया उसका सार यह है:—"जब किसी मकान में आग जलती हो तो उसके द्वार में से वायु के जो जीव भीतर जाते हैं वे सब मर जाते हैं। ओट से जाने वाले नहीं मरते। ऐसे ही मुख पर पट्टी बाँधने से मुख के वायु द्वारा अधिक जीव नहीं मरने पाते। चूल्हे पर रक्खे हुए देगचे में से जब भाँफ निकलती है तो उस पर हाथ रखने से हाथ जलने लग जाता है। परन्तु यदि उस पर कपड़ा आदि रख दो तो उसमें से होकर जो भाँफ जायेगी वह अधिक उष्ण न होगी। ऐसे ही, मुख पर वस्त्र न रखने से वायु के जीव नहीं मरते।"

इसका उत्तर स्वामीजी ने फिर लिख कर भेजा, "वायु सब प्राणियों के जीवन का कारण है। इसके बिना कोई भी जीव जी नहीं सकता। इसके संयोग के बिना आग भी नहीं जलती। सर्वथा निर्वात स्थान में रक्खा हुआ दीपक भी बुझ जाता है। ज्वाला को यदि बाहर जाने के लिए द्वार का मार्ग न मिलेगा तो वह दूसरे मार्ग से बलपूर्वक बाहर निकल जायगी, किन्तु ठण्डी न होगी। इसी प्रकार मुख पर पट्टी बाँधने से, नाकादि द्वारों द्वारा भीतर की वायु बलपूर्वक बाहर जा कर, आपके माने हुए जीवों का हनन करेगी।

भाँफ पर हाथ रखने से वह शीतल नहीं हो जाती, किन्तु यदि हाथ न रखा जाय तो वह चारों ओर फैल कर शीघ्र ही शीतल हो जाती है। बर्तन के मुख पर हाथ रखने से वह इसलिए नहीं जलती कि उष्ण वाष्प सीधी ऊपर को चली जाती है। यदि आगे से उसे रोक दिया जाय तो आघात खा कर वह, चौगुने बल से, दूसरे टेढ़े मार्ग से बाहर निकल जायगी।

आपका वायु के जीवों पर दया का भाव सृष्टि-नियम के प्रतिकूल है। यदि उष्णता से ठण्डी वायु के जीव मर जाते हैं तो ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से, जब पवन भी अत्यन्त तप्त हो जाती है और अतीव उष्ण लू चलने लगती है तो उस समय, कोई जीव जीता नहीं रहना चाहिए। ऐसे ही उष्ण वायु के जीवों का, पौष-माघ के जाड़ों में, प्राणान्त हो जाता होगा।"

जब लोग स्वामीजी का प्रत्युत्तर साधु सिद्धकरणजी के पास लेकर गये तो दो ढाई सौ मनुष्यों की भीड़ हो गई। लोगों ने साधुजी से कहा कि अब आप इसका उत्तर लिख दीजिए। परन्तु उसने तो पहले भी बड़ी कठिनता से, ज्यों-त्यों करके, उत्तर दिये थे। इस बार तो वह सर्वथा साहस हार बैठा। उसने उत्तर देना स्वीकार न किया।

साधुजी के जो छोड़ देने से जैन लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनको अपने मत में भारी भ्रम दीखने लगे। उधर महाराज भी प्रतिदिन अपने भाषणों में जैन मत की अयुक्तता सिद्ध करते रहते थे। इसका अन्तिम परिणाम यह निकला कि एक दिन बहुत से जैनियों ने मिल कर महाराज की सेवा में प्रार्थना की, "आपने हमारे नेत्र खोल दिये हैं। अब हमें जैन मत की असारता स्पष्ट दीखने लगी है। अपनी अपार कृपा से हमें यज्ञोपवीत धारण कराकर दीक्षित आर्य बना दीजिए।"

महाराज ने तब राव महाशय को यज्ञ-सामग्री के लिए आदेश किया। श्रावण पूर्णमासी सम्वत् १६३८ के दिन राव महाशय की ओर से महोत्सव रचाया गया। उसमें बृहद् हवन हुआ। फिर श्री महाराज ने अपने शुभ हाथों से तेंतीस भद्र पुरुषों को यज्ञोपवीत प्रदान किये—उन्हें आर्य धर्म की दीक्षा दी। मसूदा के जैनियों के जैन-मत-त्याग से सारे मारवाड़ के जैनियों पर प्रभाव पड़ा। आर्यों के उत्साह भी चतुर्गुण हो गये।

भाद्रपद कृष्णा दूज को भरतपुर के राजपूतों, क्षत्रियों, वैश्यों, कायस्थों और चारण लोगों ने श्री स्वामीजी से यज्ञोपवीत ग्रहण किये। उस दिन भी राव महाशय ने उत्सव और यज्ञ रचाया।

कहते हैं कि मारवाड़ के राज्यों में जो लोग मुगलों के समय में मुसलमान हो गये थे, उनको वहाँ के आर्य लोग स्वामीजी के समय तक अपनी लड़कियाँ देते थे। महाराज ने ऐसे आर्यों (हिन्दुओं) को आमन्त्रित किया और सभा लगा कर उनको उपदेश दिया कि जान बूझ कर अपनी प्यारी पुत्रियों को मुसलमान न बनाओ; उन पर यह अनीति, अन्याय और अनर्थ न करो। महाराज के वचन लोगों के हृदयों में घर कर गये। उन्होंने वहीं प्रण किया कि

हम आगे को इस घोर अपराध के भागी नहीं बनेंगे। इस प्रकार स्वामीजी ने बीसियों आर्य बालिकाओं के धार्मिक जीवन को बचा लिया।

रायपुर राज्य से महाराज के पास निमन्त्रण पर निमन्त्रण आने लगे। उन्होंने राव महाशय से प्रस्थान की अनुमति माँगी। गुरु महाराज के प्रस्थान का प्रस्ताव सुन कर राव महाशय का जी भर आया। उन्होंने विनय की, "भगवन्! आपका यहाँ से गमन कर जाना मेरे लिए अतीव कष्टदायक है, परन्तु श्री-चरणों को रोका भी नहीं जा सकता। सेवक आप की आज्ञाओं को भली भाँति पालन करता रहेगा और यथाशक्ति वेद-भाष्य में भी साहाय्य किया करेगा।

महाराज के प्रस्थान के दिन राव महाशय ने सम्मान-सभा की योजना की। किले की डेवढ़ी के आगे एक सुन्दर मण्डप रचा गया। उसमें स्वच्छ और बहुमूल्य फर्श बिछाया गया। स्वामीजी की बग्घी उनके निवासस्थान से चल कर, नगर में से होती हुई, सभा-मण्डप के सामने आ गई। सारी सभा ने उठ कर उनका स्वागत किया। एक ऊँचे सिंहासन पर आरूढ़ होकर उन्होंने उस समय राजा-प्रजा के धर्मों का अत्युत्तमता से निरूपण किया।

उपदेश के अनन्तर राव महाशय ने उठ कर अभिनन्दन-पत्र पढ़ा। उसमें स्वामीजी के उपकारों की प्रभूत प्रशंसा की गई। उसके उपरान्त, राव महाशय ने श्री महाराज के गले में पुष्प-माला पहनाई और चरणों पर पाँच सौ रुपया रख कर नमस्कार किया। आशीर्वाद देते हुए, स्वामीजी ने भी फूलों का एक हार अपने मङ्गलमय हाथों से राव महाशय के गले में डाला। तत्पश्चात् राव महाशय आदि सज्जनों से वार्त्तालाप करते हुए स्वामीजी उठ कर बग्घी में बैठ गये। कोई आध कोस तक चार सौ मनुष्य उन्हें पहुँचाने गये। अन्त में स्वामीजी ने गाड़ी खड़ी कर के उनको उपदेश दिया और नगर को लौटा दिया। राव महाशय तो लगभग चार कोस तक उपदेश सुनते चले गये। अन्त में अत्याग्रह से महाराज ने उनको लौटाया।

महाराज भाद्रपद कृष्णा नवमी १९३८ को मसूदा से विदा हुए और अगले दिन रायपुर में पहुँच गये। यहाँ उन्होंने माधोदास की वाटिका में डेरा किया।

उनका शुभागमन सुनकर ठाकुर हरिसिंह अपने स्वजनों-परिजनों समेत

श्री-दर्शनों को आये। एक सुवर्णमुद्रा और पाँच रुपये भेंट कर चरण छू कर नमस्कार किया। महाराज की अनुमति पाकर सभी यथायोग्य स्थान पर बैठ गये। कुशल-क्षेम प्रश्न के पश्चात् स्वामीजी ने समागत सज्जनों को एक अत्युत्तम उपदेश दिया। प्रसङ्गानुसार ठाकुर महाशय को समझाया कि प्रजारञ्जन, कर्त्तव्यपालन, शासन-सुधार, भद्र और कुलीन कर्मचारियों की नियुक्ति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। स्वामीजी के कथनों से कुछ-एक सत्ताधारी मुसलमान बहुत लाल-पीले हुए। उनको वहाँ किसी विधि से वेदना पहुँचाना अपने वश से बाहर की बात जान, अन्त में उन्होंने एक काज़ी महाशय को स्वामीजी के साथ ला भिड़ाया। उत्तर-प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने कुरान की पुस्तक भूतल पर रख दी। इतने ही से काज़ी महाशय कपड़ों से बाहर होने लगे और झुँझला कर बोले—"आपने यह क्या अनर्थ ढाया है? कुरान को पाँव के स्थान पर क्यों रख दिया है?"

स्वामीजी ने कहा—"काज़ीजी, घबराइए नहीं। सोचिए तो सही, ये कागज बनते किन पदार्थों से हैं। स्याही के प्रस्तुत होने की विधि भी विचारिये। मुद्रणालय में छपे पत्रों की क्या दुर्दशा होती है और वे कहाँ-कहाँ रक्खे जाते हैं, इस क्रम पर भी टुक दृष्टि डालिये।"

काज़ी महाशय सर्वथा निरुत्तर हो कर उठ खड़े हुए और अपने साथियों सहित वहाँ से चले आये।

पञ्जाब-निवासी श्रीमान् रूपसिंहजी, देशाटन करते हुए, श्री-दर्शनों के निमित्त रायपुर में जा पहुँचे। महाराज के पवित्र चरणों को स्पर्श करके उन्होंने बड़ी भक्ति-भावना से नमस्कार किया और निवेदन किया, "भगवन्! आपने पंजाब प्रान्त को तो अपने पुनीत पदार्पण से पवित्र किया, परन्तु महाराज सीमाप्रान्त में क्यों नहीं पधारे?"

महाराज ने उत्तर में कहा—"महाशय, आप लोगों की ओर से हमें पूर्ण निश्चिन्तता है। इस समय तो राजस्थान में प्रचार की बड़ी आवश्यकता है।"

स्वामीजी के उपदेश उनके निवासस्थान पर प्रतिदिन हुआ करते। उनसे ठाकुर महाशय भी लाभ उठाते। ठाकुर महाशय एक यज्ञ कराने का भी उद्योग

कर रहे थे, परन्तु उनकी ठाकुरानी के देहान्त का समाचार आ जाने से उनकी मनोकामना मन ही में रह गई। महाराज ने जब देखा कि ठाकुर महाशय शोकाकुल हो रहे हैं, तो वह भी प्रस्थान के लिए समुद्यत हो गये।

एक सज्जन ने स्वामीजी से कहा, "आप भी ठाकुर महाशय के यहाँ शोक प्रकाशित कर आइए।" इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि "भद्र! मैंने तो सारे सांसारिक बन्धन तोड़ दिये हैं। किसी का जीना और मरना मेरे सम्मुख अब समान है। मैं न तो किसी के जन्म पर प्रसन्नता का प्रकाश करने जाता हूँ और न ही मरण पर शोक ही प्रकट करता फिरता हूँ। मेरा सम्बन्ध तो उपदेश और धर्म्म के अतिरिक्त किसी से कुछ भी नहीं है।"

यहाँ स्वामीजी ने 'वेदाङ्ग-प्रकाश' समाप्त तक लिख लिया था।

बीस दिवस तक रायपुर में निवास करके, महाराज जिस दिन प्रस्थान करने लगे उस दिन ठाकुर महाशय ने अपने पिता और प्रतिष्ठित बन्धुओं को भेज कर उनको बड़े आदर के साथ विदा किया।

भादों सुदी १४ सं० १९३८ को रायपुर से प्रस्थान कर स्वामीजी ब्यावर पधारे। अगले दिन पता लगते ही लोग दल बाँध कर और मण्डलियाँ बना कर श्री-दर्शनों को आने आरम्भ हो गये।

पादरी शूलब्रेड और बिहारीलालजी कई दिनों तक धर्म्म-चर्चा करने का आनन्द लूटते रहे। और भी अनेक सज्जनों ने अपने संशय और भ्रम मिटाये। यहाँ महाराज ने कई दिनों तक मनोहर उपदेश दिये।

चन्दूलालजी के पिता अति श्रद्धालु भक्त थे। स्वामीजी में उनकी बड़ी भावना थी। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र को पुकार कर कहा—"बेटा चन्दूलाल! स्वामीजी की सेवा-शुश्रूषा अवश्य किया कर। ऐसे महापुरुषों का मङ्गल-मिलाप अमूल्य पदार्थ है।"

पिता के आदेशानुसार चन्दूलालजी श्री-चरणों में चित्त के उच्च भाव से जाते और सेवा किया करते। चन्दूलालजी के विचार वेदान्त के ढाँचे में ढले हुए थे। उन्होंने इस विषय पर स्वामीजी से प्रश्न भी पूछे। महाराज ने उनसे कहा—"भद्र! अभी आप नवयुवक हैं; इस तात्त्विक मर्म को समझ नहीं सकेंगे। आप हमारे रचे 'सत्यार्थ-प्रकाश' का ध्यानपूर्वक पाठ करते जाइए। आपके सारे संशय

आप-ही-आप दूर हो जायँगे।" पन्नूलालजी ने कालान्तर में 'सत्यार्थ-प्रकाश' के पाठ ही से पूर्ण विश्वास प्राप्त कर लिया।

स्वामीजी की बताई विधि से प्रतिदिन २१ प्राणायाम करने से उनका पुराना पेचिश रोग दूर हो गया। इस रीति के अनुसार, उनके एक मित्र का अति पुरातन अर्शो-रोग जड़-मूल से जाता रहा।

ब्यावर में महाराज ने बारह तेरह दिन तक निवास किया और फिर वे आश्विन बदी त्रयोदशी सम्वत् १६३८ को मसूदा में पधारे। वहाँ १४ दिन तक विश्राम किया। बनेड़ा के ठाकुर के अत्याग्रह से आश्विन शुक्ला १४ को मसूदा से चल कर, मार्ग में तीन स्थानों में एक-एक रात ठहरते, वे बनेड़ा में जा विराजे। मसूदा-नरेश की ओर से महाराज को बनेड़ा तक पहुँचाने के लिए एक ताँगा, एक रथ, उपकरण लादने के लिए एक गाड़ी और चार अश्वारोही सैनिक गए।

बनेड़ा के राजा महाशय ने उनका अत्यादर से स्वागत किया और नगर से बाहर, झामरा मन्दिर के निकट, तम्बू लगा कर उनमें निवास कराया।

राजा महाशय ने अपने गुरु से मिल कर निश्चय किया कि तीन चार दिन तक स्वामीजी से कोई प्रश्नोत्तर न किया जाय। इतने दिनों में यदि हमें ज्ञात हो गया कि उनके सम्मुख प्रश्नोत्तर करने का हम में सामर्थ्य है तो फिर जो कुछ पूछना होगा पूछ लेंगे। सायंकाल जब राजा महाशय श्री-सत्संग में आए तो उस समय महाराज कोपीन लगाए एक कृष्णवर्ण आसन पर विराजमान थे। उनके भाग्यशाली विशाल भाल की शुभ शोभा को, उनके विमल नेत्रों की निर्मल ज्योति को, उनके कमनीय मुखमण्डल की उज्ज्वल कान्ति को और उनकी दिव्य देह की दैवी दीप्ति को दूर ही से देख कर राजा महाशय के हृदय में भक्ति का प्रभाव उमड़ पड़ा। वे प्रेम-रस में गद्‌गद् हो गए। अति निकट आकर श्रीचरण-स्पर्श करते हुए उन्होंने निवेदन किया, "भगवन्! यह हमारे सौभाग्य की शुभ सूचना है कि श्री महाराज यहाँ पधारे हैं। आपके शुभ दर्शनों से सारा नगर कृतार्थ हो गया है।" महाराज ने भी राजा महाशय को कुशल-मङ्गल और योग-क्षेम पूछा और कहा कि आप कोई प्रश्न पूछिये। उन्होंने जीव-ब्रह्म के विषय में प्रश्न किया, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जीवात्मा से ब्रह्म न्यारा है। फिर स्वामीजी ने समझाया कि जैसे आकाश सारे मन्दिर के भीतर बाहर परिपूर्ण,

है परन्तु मन्दिर आकाश से भिन्न ही बना रहता है; ऐसे ही परमात्मा जीवात्मा में रमा हुआ है,परन्तु जीव उससे न्यारे ही रहते हैं। एक दिन राजाजी के साथ राज-पण्डित भी आये। वार्त्ता महीधर-भाष्य पर चल पड़ी। स्वामीजी ने महीधर-भाष्य का ऐसा खण्डन किया कि राजगुरु से उसका कोई भी उत्तर न बन आया।

महाराज धर्म-प्रचार से भी बनेड़ा-वासियों का मङ्गल साधित करने में तत्पर थे। उनके भाषणों में सैकड़ों जन आते थे। एक दिन चक्राङ्कितों की समालोचना करते हुए उन्होंने कहा कि यदि एक अङ्ग के दग्ध करने से स्वर्ग मिलता है तो भड़भूंजे के भाड़ में पड़ कर भुन जाने से तो तत्काल मुक्ति मिल जानी चाहिए।

श्री स्वामीजी के सत्संग से राजा महाशय ने अलभ्य लाभ उपलब्ध किया। वेद पर उनका निश्चय पक्का हो गया। उनके दोनों राजकुमारों को भी सेवा में बैठ कर शुभ शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बनेड़ा के अधिवासियों में धर्म-मेघ बरसाकर श्री महाराज चित्तौड़ को चल पड़े।

कार्तिक सु० ४ सं० १९३८ को महाराज चित्तौड़ में सुशोभित हुए और गम्भीरी नदी के तीर पर, रुण्डेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। उन दिनों चित्तौड़ में बड़ी चहल-पहल थी। सर्वप्रिय, लार्ड रिपन महोदय की वहाँ राज-सभा लगने वाली थी। इसलिए उदयपुर के अन्तर्गत जितने भी राजे और ठाकुर थे, वे सब अति सजधज से वहाँ एकत्र हो रहे थे। मेवाड़ राज्य की सारी शोभा, अतिशय तड़क-भड़क की वेश-विभूषा में,वहाँ शोभायमान थी। श्रीयुत राणा सज्जनसिंहजी, अपने स्वजन-समूह और कर्मचारीवर्ग-सहित वहाँ सुशोभित थे।

स्वामीजी-का सत्संग प्रतिदिन सायंकाल लगा करता। उसमें मेवाड़ राज्य के प्रायः सभी राजे जाते, श्री-दर्शनों से और उपदेशों से लाभ उठाते। उनके उपदेशों में श्रोताओं की बड़ी भारी संख्या हुआ करती। कविराज श्यामलदासजी स्वामीजी के अति प्रेमी भक्त थे। वे प्रतिदिन श्री-सत्सग में जाते समय अपने साथ एक दक्षिणी शास्त्री को भी लिवा ले जाते। छः सात दिवस तक शास्त्रीजी ने महाराज से 'पदार्थ छः हैं अथवा सात' के विषय पर बात-चीत की।

स्वामीजी ने छः ही पदार्थों की सत्ता सिद्ध करते हुए, सप्तम पदार्थ अभाव का अति प्रबल प्रमाणों से खण्डन किया।

स्वामीजी के गुणगण-सुमनों की शुभ सुगन्धि श्री राणा सज्जनसिंहजी तक भी पहुँच गई। उनकी निष्कलङ्क कीर्ति का मधुर कीर्तन उनके कानों ने भी आस्वादन किया। एक दिन श्री राणाजी ने कविराज फतेहकरणजी और एक राज-पण्डित को श्री स्वामीजी के पास, उनका गुण-ज्ञान और रहन-सहन आदि व्यवहार देखने के लिये भेजा। उन दोनों व्यक्तियों ने वहाँ से लौट कर श्री राणाजी के सामने जगद्गुरु के गुणगण और गौरव-गरिमा का भूरि-भूरि गायन किया। उसे सुनकर श्री राणाजी के हृदय में श्री-दर्शनों की उत्कट इच्छा प्रकट हो आई। एक दिन वे अपने प्रतिष्ठित राजों-सहित श्रीसेवा में आते समय बोले, "हम स्वामीजी के पास चुपचाप जाना चाहते हैं। उनके आगे हमारे नाम-धाम का निर्देश, दिग्दर्शन-रूप में भी नहीं होना चाहिये। हम एक निःस्पृह संन्यासी से अपना सम्मान कराना नहीं चाहते।"

श्री-सेवा में पहुंच कर श्री राणाजी ने परोपकार-परायण परमहंसजी को परमादर से नम्र नमस्कार किया और फिर वे पास पड़े पटड़े पर बैठ गये। उस समय महाराज ने राजधर्म और राजकर्तव्यकर्म का ऐसी उत्तमता से वर्णन किया कि सब के मुख से धन्य-धन्य की ध्वनि निकलने लगी। जैसे कोरे घड़े में पानी की बूंद रच जाती है, चिट्टे दुपट्टे पर बसन्ती रंग जम जाता है और अयस्कान्त मणि से संघर्षण पाकर लोह में आकर्षण समा जाता है, ऐसे ही उपदेश का एक-एक वचन महाराणा के महत्वपूर्ण मन में घर करता चला गया। उनका हृदय अनुपम प्रभाव से परिपूर्ण हो गया।

व्याख्यान की समाप्ति पर श्री महाराज ने शाहपुराधीश की ओर नेत्र-ज्योति फिरा कुशल-क्षेम पूछा। फिर श्री महाराणाजी की ओर निहार कर कहा, "आपका पहले तो साक्षात्कार कभी नहीं हुआ दीखता।" एक बार तो शाहपुराधीश मौन रहे, परन्तु दूसरी बार पूछने पर उन्होंने कहा, "आप राणा श्री सज्जनसिंहजी हैं।" तब स्वामीजी आत्मिक अयस्कान्त-दृष्टि से निहारते हुए अपनी सुधा-समान वाणी से बोले, "राणाजी! श्रीमन्त का इस प्रकार चुपचाप आना और एक साधारण आसन पर बैठ जाना शोभा नहीं देता।"

श्री राणाजी ने अति नम्रता से निवेदन किया—"भगवन् ! आप ऐसे सन्तों के समीप साधारण अवस्था में आने और साधारण आसन पर बैठने ही में हम गृहस्थों की शोभा और सौभाग्य है। दूसरी सभाओं में तो हमें राजसी ठाठ-बाठ से जाना ही पड़ता है यदि सन्यासियों के सत्संग में भी उसी बाहर की बन-ठन में आये तो विशेषता ही क्या हुई ? यही तो एक आसन है जहाँ आकर शासन-कर्त्ता भी नम्रता सीखते हैं।"

श्री राणाजी उस दिन के सत्संग से बड़े प्रभावित होकर राज-भवन में लौटे। उन्होंने एक बार गाड़ी भेज कर महाराज को अपने भवन पर निमन्त्रित किया और उपदेश सुनने के अनन्तर, उदयपुर मे पदार्पण करने की प्रार्थना की। श्री महाराज ने, मुम्बई से लौटते समय, उदयपुर में आने का वचन दे दिया।

स्वामीजी के हृदय में स्त्रियों के लिये अतिशय सम्मान का भाव था। उन्होंने स्त्री-जाति के सम्बन्ध में कभी समालोचना तक नहीं की। सब आचार्यों में एक स्वामी दयानन्द ही ऐसे हैं जिन्होंने स्त्रियों के गौरव को बढ़ाया है; उनके लिये समान अधिकारों की घोषणा की है। उनसे पहले जितने भी अर्वाचीन आचार्य हुए हैं, वे सब एक-स्वर होकर स्त्रियों की परतन्त्रता का पोषण करते हैं; उनको शूद्र-पद प्रदान करते हैं। स्त्री-जाति की जितनी निन्दा वेदान्त के आचार्यों ने की है, भूतल पर उतनी कदाचित् ही किसी दूसरे ने की होगी।

स्वामी दयानन्दजी स्त्री-जाति की पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्के पक्षपाती थे। वे उनको द्विज-पद प्रदान कर गये हैं। शास्त्राधिकार दे गये हैं।

उनके किसी ग्रन्थ में भी महिला-मण्डल के महत्त्व को बट्टा लगाने वाला कोई वचन नहीं मिलता। उस महामुनि के विमल मन में मातृमण्डल का कितना महत्त्व भरा हुआ था उसका पूर्ण प्रकाश इस कथा से होता है :—

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान के अनन्तर कई राजों और पण्डितों सहित भ्रमण करने जा रहे थे। मूर्त्तिपूजा पर युक्तियाँ-प्रयुक्तियाँ चल रही थीं। आगे ग्रामीण लोगों का एक देवालय आ गया। उस समय वहाँ बहुत से छोटे-छोटे बच्चे मिल-जुल कर स्वच्छन्दतापूर्वक खेल कूद रहे थे। स्वामीजी ने *वहाँ एकाएक सिर नीचा कर दिया और फिर आगे चल पड़े।* एक साथी पण्डित ने कहा—"स्वामीजी ! प्रतिमापूजन का खण्डन चाहे जितना करो, पर

देव-बल का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है कि देवालय के सामने आपका मस्तक आप-ही-आप नीचा हो गया। महाराज यह सुनते ही उन्हीं पाँव पर खड़े हो गये और उन बालकों में खेलती हुई एक चतुर्वर्षीया, विगतवस्त्रा बालिका की ओर संकेत करके बोले—"देखते नहीं हो, यह मातृ-शक्ति है, जिसने हम सबको जन्म प्रदान किया है!" ये शब्द सुनते ही सारी सङ्गति पर सन्नाटा छा गया, सभी मूक हो गये। आसन पर लौट आने तक उन लोगों के कानों में यही शब्द गूँजते रहे।

जीवनगिरी नामक एक संन्यासी वहाँ थोड़ी देर से ठहरे हुए थे। स्वामीजी ने उनको शास्त्रार्थ करने के लिए आहूत किया, परन्तु कवि श्यामलदासजी ने बीच में पड़ कर गिरीजी को बचा दिया। जीवनगिरी स्वामीजी का सम्मान सहन न कर सका। वह रातदिन अपने चित्त को ईर्ष्या की चिता पर चढ़ा, अकारण ही, कोयले समान काला बनाता रहा।

दूसरा सर्ग

जिस दिन महाराज ने प्रस्थान करना था उस दिन श्री राणाजी ने बग्घी भेजकर महाराज को अपने भवन पर निमन्त्रित किया। उनको भक्ति-भाव से सम्मानित कर पाँच-सौ रुपए भेंट किए और श्रीचरण छू कर प्रार्थना की—"भगवन्! उदयपुर में यथासम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा।"

महाराज ने दो मास पर्यन्त चित्तौड़ में निवास किया और फिर वे अति सम्मान से विदा होकर मुम्बई को प्रस्थान कर गये।

इन्दौर-नरेश चिरकाल से श्रीदर्शनों को चाहते थे और इन्दौर पधारने की प्रार्थना भी किया करते थे। परन्तु महाराज, जब मुम्बई जाते हुए, वहाँ उतरे तो दैवयोग से वे कहीं अन्यत्र गये हुए थे। न्यायाधीश श्रीनिवासजी ने उनको बड़ी आव-भगत से ठहराया और सेवा-शुश्रूषा की। एक सप्ताह पर्यन्त जनता को अपने सत्संग-सुधा से सींचकर स्वामीजी पौष सुदी एकादशी १९३८ को मुम्बई नगर में पधारे। उनका इस बार का आगमन स्थानिक समाज के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में था। महाराज की गाड़ी जिस समय रेलवे-स्टेशन पर पहुँची

उस समय श्रीमान् अक्काट महाशय, आर्यसमाज के सभासदों सहित, वहाँ उपस्थित थे। जब वे गाड़ी से उतरे तो सब नम्रता से नमस्ते कह कर उन्हें मिले। महाराज ने भी अपनी मधुवर्षिणी वाणी से अनुपम प्रेम प्रदर्शित करते, सब सज्जनों को क्रमशः कल्याण पूछा। तत्पश्चात् गाड़ी में बैठकर वालुकेश्वर पर, गो-शाला नाम के स्थान में निवास किया। यह स्थान समुद्र के तट पर अति रमणीय है। सागर के उत्ताल तरङ्ग उसके साथ आकर टकराते हैं। यहाँ रह कर स्वामीजी ने विशेषता से लिखने का कार्य किया।

मुम्बई के नागरिक भवन में पादरी यूसफ महाशय ने माघ वदी १३ सं० १६३८ को एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था—"ईसाई धर्म ही एक नारायणी धर्म है और सारे संसार पर इसी का विस्तार होगा।"

स्वामीजी ने माघ वदी १४ को उक्त पादरी महाशय को एक पत्र लिखा, "आपने जो अपने व्याख्यान में ईसाई मत को नारायणी धर्म और सारे भू-मण्डल पर फैलने वाला बताया है, यह सर्वथा असत्य है। यदि आप अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए समुद्यत हैं और यह नहीं चाहते कि यहाँ के लोग बिना प्रमाण ही आपके कथन को मान लें, तो मैं अति प्रसन्नता से आपके साथ संवाद करने के लिए कटिबद्ध हूँ। आगामी आदित्यवार, सायं के पाँच बजे का समय, फ्रामजी काऊसजी इन्स्टीट्यूट का स्थान मैं व्याख्यान के लिए नियत करता हूँ। आपको यह रुचिकर न हो तो कोई दूसरा स्थान नियत कर लीजिए।

आप और मैं दोनों एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ हैं, इस लिए यह आवश्यक है कि दोनों के उत्तर और प्रत्युत्तर का अनुवाद करके सर्वसाधारण को सुना दिया जाय। सारा संवाद लेख-बद्ध हो। उस पर हम दोनों के हस्ताक्षर हों। यह सम्वाद सभ्य-सभा में होना उचित है। इस सम्वाद को अन्त में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया जाय, जिससे लोगों को ज्ञान हो कि कौन-सा धर्म परमेश्वर-प्रदत्त है।"

महाराज ने इस पत्र का अनुवाद अक्काट महाशय से कराकर भेजा।

पादरी महाशय ने उत्तर में लिख दिया कि संवाद करना मुझे स्वीकार नहीं है। तत्पश्चात् नियत तिथि पर महाराज ने ईसाई-मत-खण्डन पर व्याख्यान

दिया। उसमें उन्होंने अति मनोरञ्जक समालोचना की। उनका व्याख्यान समाप्त होते ही पादड़ी महाशय ने भी ईसाई धर्म पर युक्तियुक्त आक्षेप किये।

मुम्बई-आर्यसमाज का उत्सव बड़े उत्साह से मनाया गया। उसमें एक दक्षिणी पण्डित का वेदगान लोगों के लिए अतीव चित्ताकर्षक सिद्ध हुआ। उत्सव पर महाराज के अमृतोपदेश भी अपूर्व प्रभाव उत्पन्न करने वाले थे।

उस उत्सव में दानापुर से श्री जनकधारी लालजी आदि कई सज्जन श्री दर्शनों को वहाँ आये। महाराज के मङ्गल-मिलाप और मधुमय मनोहर वार्तालाप से उनको अति प्रसन्नता प्राप्त हुई। स्वामीजी ने उनको कहा, "दानापुर से चलते समय आपकी यह कामना थी कि वहाँ चलकर अमुक-अमुक प्रश्न पूछेंगे। सो इस समय अवकाश है, जो कुछ पूछना हो पूछ लीजिए।" वे बड़ा आश्चर्य करने लगे कि स्वामीजी ने हमारी मनःकामना तक को जान लिया है।

श्री जनकधारीलाल, महाराज की कोठी से बाहर बैठकर, अपने पूर्वचिन्तित कठिन प्रश्नों को, स्वामीजी से पूछने के लिए लेखबद्ध करने लगे। वे ज्यों ही पत्र पर कोई प्रश्न लिखते थे त्यों ही उनका प्रबल उत्तर उनके भीतर प्रकाशित हो जाता था। इस प्रकार उन्होंने सब प्रश्नों को एक-एक करके लिखा और उत्तर सूझने पर उनको काट डाला। इस काट-छाँट से प्रश्न तो उनके पास कोई न रहा, परन्तु उनके आश्चर्य का कोई ठौर ठिकाना न था। वे सोचते थे कि जिन युक्तियों को हम वज्र-शिला के सदृश समझते थे वे आज, रूई के फहे की भाँति, आप-ही-आप उड़ी चली जा रही हैं। मानो, कोई अपूर्व तार्किक, हमारे अन्तःकरण में आसन लगाकर, उत्तर दे रहा है। इतने में स्वामीजी बाहर आ गये और हँसकर बोले—"कहिये, प्रश्न लिख लिये?" जनकधारी लालजी ने विनय की कि और तो कुछ पूछने योग्य रहा ही नहीं, अब केवल ईश्वरोपासना की विधि बताइए। महाराज ने कहा, "उपासना की विधि तो हमने आपको दानापुर ही में बताई थी। प्रतीत होता है आप उसके अनुसार नहीं करते हो।"

जनकधारी लालजी ने प्राणायाम करके दिखाया। उसको देखकर उन्होंने कहा, "आप प्राणायाम यथाविधि नहीं करते। चाहिये तो यह कि जब प्राण

को भीतर से बाहर निकाला जाय तो उस समय मूलाधार चक्र में आकर्षण उत्पन्न किया जाय। उसमें रहने वाली वायु को ऊपर उठाया जाय। सो वह आप से बन नहीं पड़ता, इसलिए साधारण रीति से प्राणायाम किया करो।"

जनकधारी लालजी ने फिर पूछा, "चंचल मन इधर-उधर भाग जाता है। इसे कैसे ठहराया जाय और किस रूप में कहाँ ठहराया जाय?"

स्वामीजी ने कहा,"मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र तक, जिस चक्र में आपका चित्त स्थिर हो सके उसी में ठहरा लो। रूप की अभ्यास में कोई भी आवश्यकता नहीं है। यदि चित्त किसी प्रकार भी स्थिर न हो तो मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त, प्रत्येक चक्र में चमकते हुए मनकों की धारणा करो। उनके साथ ओम् का जप ध्यान से करो। अथवा त्रिकुटी में, सूई की नोक के समान बिन्दु की कल्पना करके, उसमें धारणापूर्वक ओम् का ध्यान करो। ज्यों-ज्यों आपकी धारणा दृढ़ होती जाय, त्यों-त्यों उस तिल के खण्ड करते जाओ। यहाँ तक कि अन्त में बिन्दु के बिना ही आपको धारणा ध्रुवता को धारण कर ले।"

श्री जनकधारी लालजी के एक साथी ने भी प्रार्थना की, कि भगवन्! मुझे भी उपासना की पद्धति का उपदेश दीजिये। महाराज ने उसके मुख पर अपने नेत्रों की ज्वलन्त ज्योति को डालकर कहा कि आप अभी यम-नियम का ही पालन कीजिए। उसने तीन बार यही प्रश्न पूछा और महाराज ने भी तीनों बार उसे यम-नियम का निभाना ही बताया।

वह भद्र पुरुष, कुछ खिन्न और उदास होकर, कोठरी से बाहर निकल आया। जब उसके साथी भी उसे आ मिले तो वह उनको उलाहना देकर बोला कि इतनी दूर से यहाँ आये, परन्तु प्राप्त कानी कौड़ी भी न हुई! इस पर उसके सङ्गियों ने उसे समझाया कि स्वामीजी तो मनुष्यों के मनों के गुप्त भेदों को भी जान जाते हैं। वे यदि आपको यम-नियम न बताते तो आप ही बतायें और क्या कहते?

उस समय उस भद्र पुरुष को भी अपने किए दुष्कर्म का ध्यान आ गया। वह मन-ही-मन कहने लगा कि जब मैं दायभाग के एक बड़े भारी झगड़े में झूठी साक्षी देकर आया हूँ, और यहाँ से जाकर भी उसी में मिथ्या-कथन करूँगा,

तो महाराज ने मुझे ठीक ही उपदेश दिया है। इससे अधिक का अधिकारी मैं हूँ ही नहीं।

एक सज्जन ने स्वामीजी से निवेदन किया, 'भगवन्! पातञ्जल शास्त्र का विभूति-पाद क्या सच्चा है?'

उन्होंने कृपा की, "आप यों ही सन्देह करते हैं। योग-शास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणों की सी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभव-सिद्ध शास्त्र है। दूसरी विद्याओं में उत्तीर्ण होने के लिये आप लोग कई वर्ष व्यय करते हैं। इसके लिये यदि आप तीन मास तक मेरे पास निवास करें और मेरे कथनानुकूल योग-क्रियायें साधें, तो आप इस शास्त्र की सिद्धियों का साक्षात् स्वयं कर लेंगे।"

एक भक्त ने विनय की, "आप योगादि के परम गोपनीय, गहन और गुप्त भेदों को जिस किसी के सामने वर्णन कर देते हैं। यह उचित प्रतीत नहीं होता। अनधिकारियों को उपदेश देना ऐसा है जैसे सूअरों के सम्मुख मोती बखेरना।"

महाराज ने उत्तर दिया—"भद्र! ऐसे बड़े समारोह में कोई न कोई हंस भी आ जाया करता है। परन्तु यदि परम देव की दया हो तो सूअर भी हंस बन सकते हैं।"

श्रीकृष्ण पर बात चली तो महाराज ने कहा कि ये एक महाज्ञानी महापुरुष और योगिराज थे। स्वामीजी प्रसङ्ग में भगवद्गीता के श्लोक भी सुनाया करते थे।

स्वामीजी ने, आर्य जाति का संस्कार करते हुए, शूद्रों पर पूरा ध्यान दिया है। उन्होंने उनको वेद-शास्त्र पठन-पाठन का पूर्णाधिकार दिया है। वे उनकी समुन्नति के पूरे पोषक हैं। शूद्रों का वेदाध्ययन का विधान करते हुए वे लिखते हैं, "क्या ईश्वर पक्षपाती है जो शूद्रों के लिये तो वेदाध्ययन का निषेध और द्विजों के लिये उसका विधान करे? यदि ईश्वर शूद्रों को पढ़ाना-सुनाना न चाहता तो उनके शरीर में वाक् और कर्मेन्द्रिय ही न रचता। उसने जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाये हैं, वैसे ही वेदों का प्रकाश भी मनुष्य-मात्र के लिये किया है।"

शूद्रों के उद्धार और बचाने की चिन्ता भी उनके चित्त में बड़ी गहरी थी। एक दिन एक मनुष्य महाराज के पास आया। उन्होंने उससे पूछा, "आप कौन हैं? क्या काम करते हैं? क्या कुछ संस्कृत भी जानते हैं?"

उसने उत्तर दिया—'भगवन्! मैं ब्राह्मण हूँ। अब काम-धंधा तो कुछ नहीं करता, केवल पेन्शन पर निर्वाह होता है। संस्कृत तो नहीं आती, परन्तु कुछ कर्म-काण्ड के श्लोक कण्ठाग्र किये हुए हैं।"

स्वामीजी ने उसको कहा, "आप उपदेश का कार्य करने लग जाइये।" उसने विनय की, कि "रातदिन बाल-बच्चों की चिन्ता और सोच में लीन रहता हूँ। ऐसी अवस्था में उपदेश का काम कैसे किया जा सकता है?"

स्वामीजी ने कहा, "आपको पेन्शन मिलती है। उसमें पुत्र-पौत्र का परिपालन भलीभाँति हो सकता है। आप ब्राह्मण-वंशीय हैं। आपके पुरातन पुरुष पूर्वकाल में जगद्गुरु समझे जाते थे। वे जगदुपकार में जी-जीवन से लगे रहते थे। आपके लिये भी उनके चरण-चिन्हों पर चलना उचित है। अपने पूर्वजों की भाँति परोपकार का व्रत धारण कीजिए और कटि बाँधकर भीलों की बस्तियों में चले जाइए। वे दिनों-दिन धड़ाधड़ ईसाई होते चले जा रहे हैं। उनको अपनी इच्छानुकूल ईश्वर-भक्ति का उपदेश देकर किसी प्रकार ईसाईयों के पंजे से बचाइए। आर्य-जाति के छिलते हुए तलुओं की, टूटती हुई उँगलियों की ओर कटते हुए पाँव की रक्षा कीजिये।" पर उस ब्राह्मण के ऐसे भाग्य न थे जो श्रीवचनों को स्वीकार करता।

महाराज के उपदेशों से वहाँ के आर्य पुरुषों में उत्साह की मात्रा उत्कर्ष को पहुँच गई। उन्होंने आर्य धर्म-मन्दिर आदि निर्माण करने के लिये गिर-गाँव में भूमि मोल ले ली। वहाँ एक विशाल भवन बनाने का उद्योग होने लगा। यद्यपि स्वामीजी किसी से सहायता की याचना नहीं करते थे, परन्तु उनकी सन्निधि-मात्र से ही लोग बड़ी उदारता दिखाते थे।

महाराज, भावना और शक्ति के अनुसार, दानादि का करना बताया करते। उत्तेजित होकर उतावली से किसी कार्य को कर बैठना और पीछे पछताने लग जाना, वे अच्छा नहीं समझते थे। वे कहा करते थे कि दान उतना दो, जिससे

तुम्हें भीख न माँगनी पड़े। कार्य-क्षेत्र में उतना चलो जिससे जी हार न जाय और पाँव पीछे लौटाने की आवश्यकता न हो।

मुम्बई में आर्यसमाज-मन्दिर के निर्माण के लिए एक निधि खोली गई। लोग यथाशक्ति उसमें दान देते थे। उन्हीं दिनों में एक मारवाड़ी सज्जन श्री स्वामीजी के निकट आया और नम्रता से कहने लगा, "भगवन्! मेरे पास दस सहस्र रुपये हैं। वह सारा द्रव्य मैं आर्यसमाज-मन्दिर के कोष में समर्पित करता हूँ। कृपया यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए।"

भगवान् ने भक्त की भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—"मैं अतीव प्रसन्न हूँ कि आपके हृदय में आर्य धर्म का इतना अगाध प्रेम है। परन्तु मैं आपकी सम्पूर्ण पूँजी लेकर आप के परिवार को परमुखापेक्षी, पराश्रपरायण भिक्षु नहीं बनाना चाहता। जिस धर्म के अङ्ग को पालन करते पहला धर्माङ्ग बिगड़ जाय वह धर्म ठीक नहीं है। उस मन्दिर की क्या शोभा होगी जिसके बनने में आपका व्यापार बन्द हो जाय! आपकी गृहस्थ-यात्रा न चल सके! हाँ, आपसे एक सहस्र रुपया लिया जा सकता है।"

महाराज का जीवन, उद्योग और पुरुषार्थ का जीवन था। उनके पास आलस्य का अंश तक न दिखाई देता। उनके सेवक भी आलसी, निरुद्यमी, निरे लोथ से पड़े, भूभार-रूप न थे। प्रत्येक कर्मचारी कुछ न कुछ कार्य करता ही दीख पड़ता था। स्वामीजी उपदेश दिया करते, जैसे देव-यज्ञ के अनन्तर देवों का दिया भोग भोगने में पुण्य है, ऐसे ही मनुष्यों का उपकार करके उनका दिया भोगने का अधिकार है। यदि किसी का अन्नादि ग्रहण करने लगो तो पहले मन में सोचो कि इसे लेने का मुझे कोई अधिकार भी है? और दानियों के लिए मैं क्या कर रहा हूँ? व्यर्थ में पर-पुरुषार्थजीवी बनना पाप है।"

एक दिन का वर्णन है कि अँगरेज़ी का विद्वान् एक पंजाबी स्वामीजी के दर्शनार्थ मुम्बई में आया। महाराज के आदेशानुसार उसके खान-पान और निवास का उत्तम और उचित प्रबन्ध उनके डेरे पर ही कर दिया गया। कई दिनों तक वह महाशय सुखपूर्वक वहाँ रहा। उसका दैनिक काम, छड़ी घुमाते नगर में चक्कर लगाना अथवा थक कर खाट पर पड़े खर्राटे लेना ही था। एक दिन महाराज ने उसको आमन्त्रित किया और कहा—"भद्र! जो पदार्थ जितना

अधिक उपयोगी है उतना ही अधिक अच्छा है। मनुष्य भी उतना ही अधिक अच्छा है जितना वह उपयोगी हो। अब आप सोचिए कि व्यर्थ में समय खो कर आप कितनी उपयोगिता नष्ट कर रहे हैं। देखिए, मैं भी परान्न-भोजी हूँ, परन्तु प्रातः से सायं पर्यन्त परार्थ कार्य करता हूँ। आलसी और निष्क्रिय हो कर, किसी की कमाई पर ताकते रहना, मेरे सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। परमात्मा ने पुरुषार्थ के लिए प्रत्येक को पर्याप्त साधन दिये हैं। उन्हीं के आधार पर प्राण-यात्रा का चलाना उचित है। आप मेरे मत के अनुयायी बन जाइए। इस कर्म-भूमि में कर्म-योग को प्रधान मानिए। जब तक आपका निवास इस नगर में रहे, मुझे अँगरेज़ी समाचार-पत्र सुनाया कीजिए।"

उस भद्र पुरुष ने उनके कथन को सिर-आँखों पर रख लिया और उसी दिन से इस कार्य को करना आरम्भ कर दिया।

महामति रानाडे, भारत में जातीय जीवन की जोत जगाने वालों में से एक थे। वे भी स्वामीजी में बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनके दर्शनों से आनन्द लाभ किया करते थे। एक दिन वे महाराज के दर्शनार्थ आए तो स्वामीजी काम में लगे हुए थे। चिरकाल तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी। महाराज ने जब अपना नियत कार्य समाप्त कर लिया, तब उनसे वार्तालाप करने लगे। स्वामीजी की उदात्त नीतिमत्ता की प्रशंसा श्रीमान् रानाडे सदा किया करते थे।

स्वामीजी को अतिथियों के सत्कार का बड़ा ध्यान रहता था। एक दिन कोई यज्ञीय भद्र पुरुष उनके दर्शनों को आया। वह महाराज के चरण छू कर बैठ गया और वार्तालाप करते उसने पानी पीने की इच्छा प्रकट की। महाराज ने अपने एक गुजराती शिष्य को आज्ञा की कि इनको जल पिलाइए। गुजरात देश के आर्य डाढ़ी नहीं रखते। उस सज्जन की लम्बी डाढ़ी देख कर शिष्य ने उसको मुसलमान समझा, इसलिए उसे दोने में पानी पिलाया। जब अतिथि उठ कर चला गया तो उन्होंने उस शिष्य को बुला कर झिड़का और कहा, "आप लोग अभी तक सभ्यता के साधारण नियम भी नहीं सीख पाये हैं। बताओ, आपने उसे गिलास में जल क्यों नहीं दिया?"

शिष्य ने प्रार्थना की, "एक मुसलमान को अपने बर्तन में पानी पिला कर मैं बर्तन को भ्रष्ट कैसे कर लेता?" महाराज ने उसे कहा, "वैसे तो वह मुसल-

मान नहीं था, प्रत्युत एक उपाधिधारी, बड़ा भारी आर्य भूमिहार था। किन्तु मेरे पास ईसाई, मुसलमान सभी लोग आते हैं। उनके आदर में कदापि कोई त्रुटि नहीं होनी चाहिये। आगे को, चाहे जिस मत का मनुष्य हो, जब जल माँगे उसे गिलास ही में दिया करो।"

उन्हीं दिनों मुम्बई में पश्चिम के सुप्रसिद्ध पण्डित मोनियर विलियम्स महाशय आये हुए थे। एक दिन उन्होंने भी श्री स्वामीजी का शुभ मिलाप प्राप्त किया। पहले संस्कृत भाषा में बातचीत आरम्भ हुई, परन्तु अतिथि को अनभ्यास के कारण संस्कृत में वार्तालाप करना कठिन प्रतीत होता था। इसलिए महाराज ने एक दुभाषिया बीच में बैठा लिया। स्वामीजी तो संस्कृत ही में बोलते थे, और मोनियर विलियम्स महाशय की इङ्गलिश का आर्य-भाषा में अनुवाद करके दुभाषिया स्वामीजी को समझाता था।

बड़े लम्बे कथनोपकथन के अनन्तर, मोनियर विलियम्स महाशय ने महाराज के मङ्गल-मिलाप के लिए अति प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, "आपके विचार परिमार्जित और शुद्ध हैं। यूरोप-वासियों में भी इन विचारों का प्रचार होना चाहिए। यदि आप उस महाद्वीप की यात्रा करना स्वीकार करें तो मैं आपके व्यय आदि का भार अपने ऊपर लेता हूँ।"

स्वामीजी ने अतिथि को उसकी इस उदारता के लिए धन्यवाद देकर कहा, "जिस भारत-भूखण्ड में मैं रहता हूँ वहाँ अविद्यान्धकार घोरतम रूप धारण किये बैठा है। इस देश के वासी दिन पर दिन दुःखी और दरिद्र होते चले जाते हैं। यहाँ के समाज में कुरीतियों का कोई भी पारावार नहीं है। ऐसे ही कार्यों से इस देश का सुधार करना मैं अपना मुख्य कर्त्तव्य मानता हूँ।

दूसरे, विदेश जाने के लिए वहाँ की भाषा का सीखना आवश्यक है। जितना समय विदेश की भाषा सीखने में लगता है उसमें मैं यहीं अधिक कार्य कर सकूँगा। तीसरे, जिस देह के इतने लोग विरोधी हैं उसका भी अब अधिक भरोसा नहीं है। थोड़े से समय में यदि इससे इसी देश का कल्याण-कार्य बन सके तो बहुत अच्छा है।" तत्पश्चात् अतिथि महाशय विदा हो गये।

स्वामीजी के उत्तमोत्तम कार्यों में गो-रक्षा का कार्य भी सम्मिलित है। गोवध के विरुद्ध आर्य लोग घोर घृणा का प्रकाश तो किया ही करते थे, परन्तु

सभायें संगठित करके गो-रक्षा करने का भाव सबसे पहले श्री महाराज ही ने जागृत किया। उनसे पूर्व किसी भी पुरुष को यह पद्धति नहीं सूझी थी।

गो-रक्षा से उनका तात्पर्य केवल यही न था कि अन्नहीन, वृद्धा, जीर्ण-शीर्ण-शरीरा, आसन्नमरणा, अस्थि-पिंजरावशेषा दो-चार गायें पिंजरापोल में बंद करके गो-रक्षा के ढोंग का ढोल बजाया जाय, और दूध देने वाली गायें और बोझा ढोने वाले बैल अधिकाधिक हनन होते रहें। उन्होंने अपने सङ्गठन का नाम 'गो-रक्षण और कृषि-सुधार' रक्खा था। जब तक युवावस्था की गायें और बैल वध से न बचाये जा ँ तब तक गो-रक्षण का कोई लाभ ही नहीं है। उनका बचाव केवल कृषि-सुधार से ही हो सकता है। महाराज की कुशाग्र बुद्धि ने ही यह बात जान ली थी कि वास्तव में गो-रक्षा तभी होगी जब सभायें गो-जातिमात्र की रक्षा करेंगी। किसानों को खेत जोतने के लिए, रहट चलाने के लिए, चरसा खींचने के लिए, खलिहान से अन्न और भूसा ढोने के लिए तथा अन्यान्य कार्यों के लिए कृषि-प्रधान देशों में बैलों की आवश्यकता है। नगरों में अच्छे दूध का प्रबन्ध करने के लिए सहस्रों गायें पाली जानी चाहिएँ। कृषकों को और नागरों को, अच्छी गो-सन्तान प्रदान करने ही से गो-रक्षा हो सकती है।

महाराज ने गो-रक्षा पर सैकड़ों व्याख्यान दिये। सहस्रों मुसलमानों और ईसाइयों को गाय की उपयोगिता निश्चित कराई। गो-करुणा-निधि नाम की एक युक्तियुक्त पुस्तक प्रकाशित की। और अन्त में सकल गो-रक्षकों को एकवाक् बना कर महाराणी के पास पुकार पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हो गये। महाराज का निश्चय था कि गो-वध बंद कराने के लिए, यदि सभी सज्जन अपने हस्ताक्षर भेजें तो सर्व-प्रिय लाट रिपन महोदय के शासन-समय में राजेश्वरी का गो-हत्या बंद कर देने की आज्ञा प्रचलित कर देना बहुत ही सम्भव है। इसलिए उन्होंने लोगों से हस्ताक्षर कराने के लिए भारत भर में पत्र भेजे और गो-रक्षा की उपयोगिता पर निम्नलिखित प्रभावशाली लेख प्रकाशित किया :—

"ओम्। जगत में ऐसा कौन मनुष्य है जो सुख-प्राप्ति में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में दुःखित न होता हो। जैसे अपने ऊपर यदि कोई उपकार करे तो आनन्द होता है, इसी प्रकार दूसरों का उपकार करने पर आनन्दित होना चाहिए। क्या भूगोल भर में कभी कोई मनुष्य ऐसा था, अब है, अथवा आगे

को होगा जो परोकार-रूप धर्म और पर-हानि-रूप अधर्म के बिना धर्माधर्म का कोई अन्य स्वरूप सिद्ध कर सके।

वे महाशयजन धन्य हैं जो अपने तन, मन और धन से संसार का अधिक उपकार साधित करते हैं। वे लोग निन्दनीय हैं जो अपनी अज्ञानता से, स्वार्थवश होकर, अपने तन, मन और धन से जग में पर-हानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं। सृष्टि-क्रम से यही सुनिश्चित होता है कि परमात्मा के रचे सकल पदार्थ पूर्ण उपकार लेने के लिए ही हैं। अल्प लाभ के कारण महाहानि कर बैठना सृष्टि-क्रम के प्रतिकूल है।

विश्व भर में जीवन के मूल दो ही पदार्थ हैं—एक अन्न और दूसरा पान। मनुष्यों को खान-पान पुष्कल प्राप्त हो, इस अभिप्राय से आर्यावर्त्त के शिरोमणि राजे-महाराजे और प्रजा के लोग महोपकारक गाय आदि पशुओं का न तो आप वध करते और न ही किसी दूसरे को करने देते थे। अब तक भी वे गाय, बैल और भैंस का हनन नहीं होने देते। इनकी रक्षा से अन्न-पान की बहुत ही वृद्धि होती है, जिससे सर्वसाधारण का सुखपूर्वक निर्वाह हो सकता है।

राजा-प्रजा की जितनी हानि इनकी हत्या से होती है उतनी किसी भी दूसरे कर्म से नहीं हो सकती। एक गाय के वध से चार लाख और एक भैंस के वध से बीस सहस्र मनुष्यों की हानि होती है—इसका निर्णय हमने 'गोकरुणानिधि' नामक पुस्तक में अति विस्तार से किया है। इसलिए हम सब मिल कर प्रजा-हितैषिणी श्रीमती राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया की सेवा में प्रार्थना करें और उनकी न्याय-पद्धति में, जो गो-हत्या रूप अन्याय हो रहा है उसे बन्द कराकर प्रसन्नता लाभ करें।

इस बात का हमें पूर्ण निश्चय है कि विद्या, धर्म और प्रजा-हित-प्रिया श्रीमती राजेश्वरी महारानी विक्टोरिया, शासक सभा और सर्वप्रिय राजप्रतिनिधि महोदय इस हानिकारक गाय, बैल और भैंस के हनन को उत्साह और प्रसन्नता-पूर्वक शीघ्र ही बन्द कर देने में हम सबको आनन्दित करेंगे। देखिए तो सही, अनेक गुणयुक्त गाय आदि पशुओं के वध से दूध-घी कितने महँगे हो गये हैं! किसानों की कितनी बड़ी हानि हो रही है, जिसका फल राजा-प्रजा सभी भोग रहे हैं। नित्यप्रति हानि की मात्रा बढ़ती ही चली जाती है। जब कोई मनुष्य

पक्षपात को छोड़ कर देखता है तो परोपकार ही को धर्म और पर-हानि ही को अधर्म जानता है। क्या यह विद्या का सिद्धान्त और फल नहीं है कि जिससे अधिकांश मनुष्यों का अधिक उपकार हो, उसका नाश कभी नहीं करना चाहिए, किन्तु उसका पालन और वर्धन करना ही आवश्यक है।

परमदयालु, न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस जगदुपकारक काम के करने में समस्त राजा-प्रजा की एक-सम्मति करे। हस्ताक्षर—

विज्ञापनः—सब आर्य सज्जनों को विदित किया जाता है कि जिस पत्र के ऊपर 'ओ३म्' और नीचे 'हस्ताक्षर' ऐसा लिखा छपा है वही सही करने का पत्र है। उसी पर हस्ताक्षर करना चाहिए। हस्ताक्षर इस प्रकार करने उचित हैं कि जिस राज्य अथवा देश में ब्राह्मणादि वंशों की जितनी संख्या हो वह लिख कर फिर लिखना चाहिए कि मैं अमुक पुरुष इतने सौ, सहस्र, लाख अथवा करोड़ मनुष्यों की ओर से सही करता हूँ। प्रधान महाशय की सही पर ही सारे सभासदों की सही समझी जायगी। परन्तु जितने मनुष्यों की ओर से एक मुख्य पुरुष सही करे उसे चाहिए कि उनको सही लेकर अपने पास रख ले।

जो-जो मुसलमान, ईसाई इस महोपकारक विषय में अपनी सही से सहायता करना चाहें वे हस्ताक्षर कर सकते हैं। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आप परमोदार महात्माओं के पुरुषार्थ, उत्साह और प्रेम से यह महोपकारक महापुण्य और कीर्ति-प्रदायक कार्य यथावत् सिद्ध हो जायगा।"

मुम्बई चैत्र कृष्णा नवमी १९३८।

दयानन्द सरस्वती।

महाराज ने उन दिनों में गो-रक्षा के विषय में बड़े बल से कार्य आरम्भ किया था। स्थान-स्थान पर पत्र भेज कर हस्ताक्षरों के लिए प्रेरणा की थी।

मुम्बई-वास ही में स्वामीजी ने आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी के सङ्ग-भङ्ग की अन्तिम घोषणा कर दी।

तीसरा सर्ग

स्वामीजी के पास गुजरात-काठियावाड़ और आगरा-अवध आदि प्रान्तों से निमन्त्रण-पत्र लगातार आते थे, परन्तु उन्होंने देशीय शासकों को सुधारने के विचार से राजस्थान को प्रस्थान कर दिया। आषाढ़ सुदी ९ सं० १९३९ को मुम्बई से चल कर ८ को खण्डवा पहुँचे। फिर इन्दौर, रतलाम और जावरा आदि नगरों में धर्म्मोपदेश करते हुए श्रावण सुदी ६ सं० १९३९ को चित्तौड़ में सुशोभित हुए। महाराज के वहाँ पहुँचने से पहले ही मेवाड़ राज्य की ओर से उनके निवास का पूर्ण प्रबन्ध हो गया था। ठाकुर जगन्नाथजी उस समय चित्तौड़ में उच्च राज-कर्म्मचारी थे। उन्होंने अति भक्ति-भाव से महाराज की सेवा-शुश्रूषा की। स्वामीजी ने दो सप्ताह पर्यन्त चित्तौड़ में निवास किया।

द्वितीय श्रावण बदी १२ को चित्तौड़ से चल कर महाराज १३ को उदयपुर में पधारे। वहाँ वे नौलखा उद्यान में, एक सुन्दर धवल राजमन्दिर में विराजमान हुए। उस समय उनके साथ रामानन्द ब्रह्मचारी, स्वामी आत्मानन्दजी और पण्डित भीमसेनजी थे। दो-एक सेवक भी थे। जिस दिन महाराज ने अपने चरण-स्पर्श से उदयपुर को शोभा प्रदान की उसी दिन श्री राणाजी मन्त्रिमण्डल और पुरोहितों सहित श्रीदर्शनों को आये। पुरातन आर्य्य राजाओं की भाँति, राणा श्रीसज्जनसिंहजी आगे-आगे पैदल चलते थे और उनके पीछे सैकड़ों लोगों की भीड़ चली आती थी। स्वामीजी के समीप जाकर श्रीराणाजी ने अति नम्र नमस्कार किया और कुशल प्रश्नानन्तर यथायोग्य आसन पर बैठ गए। कुछ काल तक वार्त्तालाप करने के पश्चात् राणाजी आज्ञा लेकर चले आए।

स्वामीजी प्रातः काल उठ कर गोवर्द्धन-विलास पर्वत पर भ्रमण करने जाया करते थे। परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् राणाजी सवेरे ही श्रीसेवा में उपस्थित होने लग गये। इसलिए फिर गुलाब उद्यान में ही पर्याप्त भ्रमण कर लेते।

उदयपुर में पधारने के एक मास पश्चात, मौलवी अब्दुर्रहमान ने स्वामीजी से प्रश्नोत्तर किये। वे प्रश्नोत्तर लिखे भी जाते थे। वे नीचे दिये जाते हैं—

"ऐसा कौन-सा धर्म्म है जिसकी धर्म्म-पुस्तक सब मनुष्यों की बोलचाल और प्राकृत नियमों को सिद्ध करने में प्रबल हो? जितने मत मिलते हैं वे भिन्न-

भिन्न देशों की भाषाओं में, भिन्न-भिन्न नियमों से ऐसे बने हैं कि एक दूसरे से मेल नहीं रखते। जहाँ जो मत उत्पन्न हुआ है उसके सारे गुण वहीं तक सीमाबद्ध हैं। मतों में एक दूसरे से ऐसे भिन्न चिह्न पाये जाते हैं कि जिन्हें दूसरे देखना भी अच्छा नहीं समझते। ऐसी अवस्था में सच्चा धर्म्म कौनसा है?" "मत-सम्बन्धी सारी पुस्तकें हठधर्मी से भरी पड़ी हैं। इसलिए उनमें विश्वास के योग्य एक भी पुस्तक नहीं है। मेरी सम्मति में जो पुस्तक ज्ञान सम्बन्धी है वही सत्य है। उसमें पक्षपात नहीं हो सकता। ऐसी ही पुस्तक का सृष्टि-क्रम के अनुकूल होना सम्भव है। मेरे आज तक के अन्वेषण में वेद ही ऐसी पुस्तक है। वह किसी एक देश की भाषा में नहीं है। वह ज्ञानमय है और उसकी भाषा भी ज्ञान-भाषा है। इस लिए वेद पर ही निश्चय लाना चाहिए।" "क्या वेद मत की पुस्तक नहीं हैं?" "नहीं, वह ज्ञान की पुस्तक है।" "मत का आप क्या अर्थ करते हैं?" "पक्षपातयुक्त मन्तव्यों के समुदाय को मत कहते हैं।" "हमारे पूछने के अभिप्राय का उत्तर आपने वेद बताया है, सो क्या वेद में वे सब गुण पाये जाते हैं?" "हाँ, पाये जाते हैं।" "आपने कहा कि वेद किसी देश की भाषा में नहीं है। जो भाषा किसी भी देश की नहीं है, वह सब भाषाओं पर कैसे प्रबल हो सकती है?" "जो देश-विदेश की भाषा होती है वह व्यापक नहीं हो सकती।" "जब वह भाषा किसी देश की नहीं है तो वह सब पर प्रबल कैसे हो सकती है?" "जैसे आकाश किसी एक स्थान का नहीं है, परन्तु सर्वत्र व्यापक है, ऐसे ही वेदों की भाषा देश-भाषा न होने से सब भाषाओं में व्यापक है।" "यह भाषा किसकी है?" "ज्ञान की।" "इसका बोलने वाला कौन है?" "इसका बोलने वाला सर्वदेशी परमब्रह्म है।" "इसका सुनने वाला कौन ?" "इसके सुनने वाले अग्नि आदि चार ऋषि सृष्टि के आदि में हुए हैं। उन्होंने परमात्मा से सुनकर सब मनुष्यों को सुनाया है।" "ईश्वर ने यह भाषा उन्हीं को क्यों सुनाई? क्या वे इस बोली को जानते थे?" "वे चारों सर्वोत्तम थे। ईश्वर ही ने उनको तत्काल भाषा का भी ज्ञान करा दिया था।" आप इसमें क्या युक्ति देते हैं?" "कारण के बिना कार्य्य नहीं होता, यही युक्ति है और

महर्षि ऋषियों की साक्षी है।" "भूमण्डल भर के सारे मनुष्य क्या एक ही कुल के हैं?" "भिन्न २ कुलों के हैं। आदि-सृष्टि में उतने ही जीव मनुष्य-शरीर धारण करते हैं, जितने गर्भ-सृष्टि में शरीर धारण करने के योग्य होते हैं। वे जीव असंख्य होते हैं।" "इस पर कोई युक्ति दीजिए।" "अब भी सब अनेक मां-बाप की सन्तान हैं।" "जो आकृतियाँ मनुष्यों की हैं उनके तन क्या एक ही प्रकार के बने थे?" "आदि में मनुष्यों में रङ्ग और लम्बाई-चौड़ाई आदि का भेद अवश्य था।" "सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई?" "सृष्टि को उत्पन्न हुए एक अर्ब छ्यानवे करोड़ और कई लाख वर्ष बीत गये हैं।" "आप किसी मत के नियमों का पालन करते हैं कि नहीं?" "जो धर्म ज्ञानानुकूल है मैं उसके सारे नियमों का पालन करता हूँ।" "क्या उपादान कारण अनादि है? आप कितने पदार्थों को अनादि मानते हैं?" "उपादान कारण अनादि है। जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि हैं। इनका परस्पर संयोग-वियोग कर्म और कर्मों का फल-भोग प्रवाह से अनादि है।" "जो वस्तु हमारी बुद्धि की सीमा से बाहर है हम उसे अनादि कैसे मान लें?" "जो वस्तुयें नहीं हैं वे कभी भी नहीं हो सकतीं। जो हैं वे पहले भी थीं और आगे को भी बनी रहेंगी।" "वेद यदि ईश्वर का बनाया हुआ होता तो सूर्यादि की भाँति सारे संसार के सब मनुष्यों को इससे लाभ पहुँचता।" "वेद पवित्र सूर्यादि पदार्थों की तरह ही सबको लाभ पहुचाता है। सारे धर्मों के ग्रन्थों और विद्या की पुस्तकों का कारण वेद ही है। वह सबसे पहले है, इसलिए जितने शुभ विचार और ज्ञान की वार्तायें दूसरे ग्रन्थों में पाई जाती हैं वे सब वेद से ली गई हैं। हानिकारक कथायें उन ग्रन्थों के कर्त्ताओं की अपनी मन-घड़न्त हैं। वेद में किसी का खण्डन-मण्डन नहीं पाया जाता, इसलिए वह पक्षपात-रहित है। जैसे सृष्टि-विद्या वाले सूर्यादि से अधिक लाभ लेते हैं, ऐसे ही वेद का अनुशीलन करने वाले वेद से अधिकाधिक उपकार प्राप्त करते हैं।"

एक दिन सवेरे एक कषायाम्बरधारी बिहारी ब्राह्मण दण्ड-कमण्डलु लिये नौलखा उद्यान में आ निकला। उसने दूर से देखा कि कोई महात्मा पद्मासन रमाये ध्यान में लीन हैं। वह और निकट आकर उन महामुनिजी

की माधुरी और मनोहारिणी मूर्ति को एकटक, लालायित लोचनों से निहारने लगा। बाल-सूर्य्य की सुनहरी किरणें उनकी कुन्दन समान दीप्तिमान् देह पर पड़ कर उसे और भी उद्दीप्त कर रही थीं। स्वर्ण-कलश की भाँति उनका मस्तक चमक रहा था। तप्तताम्र समान उनके दोनों हाथों की हथेलियाँ, मुद्राबद्ध दशा में, शोभा पा रही थीं। सूर्य्य की तरुण किरण से प्रकाशित उनके अरुणवर्ण नख, नवपल्लव सदृश, दहकते दिखाई देते थे। उदय काल के सूर्य के समान रक्तवर्ण उनके दोनों होठों पर एक नीरव, अनुपम, अनिर्वचनीय, आनन्दमयी मुस्कराहट खेल रही थी। आगन्तुक उस दैवी स्वरूप के दर्शनों में ऐसा निमग्न हुआ, ऐसा लीन हुआ कि चित्रवत् हो एकचित्त से उस देव-दुर्लभ दर्शनामृत को अतृप्त तृषा से पान करने लग गया। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि इस सर्वाङ्गसुन्दर सुवर्ण-प्रतिमा के चहुँ ओर प्रकाश-पुञ्ज का एक चक्र-सा बना हुआ है।

कोई एक मुहूर्त्त के पश्चात्, उस महापुरुष ने अपनी चित्त-वृत्ति को समाधि की उच्च भूमि से नीचे उतारा और नेत्र खोल कर ओम् नाम का बार-बार सुरीले स्वर से गायन किया। उसी समय आगन्तुक ने उनके चरणों पर अपना सिर रख कर नमस्कार किया। दो-चार बातों ही से अतिथि को ज्ञात हो गया कि यही भगवान् दयानन्द हैं।

फिर चरण ग्रहण करके उसने निवेदन किया, "भगवन्! मैं बिहार देश का रहने वाला ब्राह्मण हूँ। मैंने व्याकरण और दर्शन शास्त्रों का अनुशीलन किया है। विशेषता से वेदान्त शास्त्र को अधिक परिश्रम से पढ़ा है। मैं वैराग्यवश गृह-परित्याग कर पर्य्यटन कर रहा हूँ। मेरा वेष तो संन्यासियों का सा है और नाम भी सहजानन्द है, परन्तु मैंने विधिपूर्वक संन्यास नहीं लिया। मैं आपकी विमल कीर्ति सुन कर, सुदूर देश से चल कर, यहाँ आया हूँ। अपनी अद्वितीय दयालुता से मुझे संन्यास देकर निज जनों की पंक्ति में मिला लीजिए।"

भगवान् ने अपने द्युतिमान् दहिने हाथ से सहजानन्दजी के पृष्ठ प्रदेश को प्रकाशित करते हुए कहा—"वत्स, यदि आपकी ऐसी ही भावना है और आप सार्वजनिक जीवन की जड़ को अपने पुरुषार्थ के पानी से सींचना चाहते हैं

तो चलिये, हमारे डेरे पर ही विश्राम कीजिये। देश-काल मिलने पर संन्यास की वार्त्ता भी विचार ली जायगी।

सहजानन्दजी स्वामीजी महाराज के पास रहने लगे। अन्त में सुयोग्य व्यक्ति जान कर महाराज ने उनको अपने सेवक-समूह में सम्मिलित कर लिया। महाराज ने सहजानन्दजी को उपदेश दिया, "संन्यासी को सदा परमात्मा पर ही निर्भर करना चाहिये। आप नित्यप्रति प्रातः और सायं समय प्रणव-पवित्र का जप और आराधन किया करें। यही हम लोगों का आश्रय और आधार है। इसके चिन्तन से चित्त की सारी चंचलता दूर हो जाती । पाक-पङ्क को धोने के लिए इससे बढ़ कर दूसरा साधन नहीं है। महामुनि जन इसी महामन्त्र से मन्मथोन्मथन करके परमानन्द में निमग्न रहा करते हैं।

लक्ष्य को वेधने के समय जैसे वीर धनुर्धर टकटकी लगा कर केवल लक्ष्य ही को देखता है, इसी प्रकार मनोवृत्तियों को एकाग्र कर प्रणव-पाठ जपने से कल्पनातीत परिणाम प्राप्त होता है। जब तुम चिरकाल पर्यन्त इस भक्ति-योग को करते रहोगे तो समाधि के मधुमय स्वादु फल को आप ही आस्वादन करने लगोगे। उस समय आपकी सब वासनायें शान्त हो जायेंगी। कामनायें परा तृप्ति को प्राप्त कर लेंगी।"

सहजानन्दजी को स्वामीजी ने दशलक्षणयुक्त धर्म्म का पालन करने की आज्ञा की।

महाराज ने अपने ग्रन्थों में लिखा भी है—"इसी दशलक्षणयुक्त वेदोक्त धर्म्म पर आप चलना और दूसरों को समझा कर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म्म है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि गृहस्थादि सब आश्रमों को सब प्रकार के सच्चे व्यवहारों का निश्चय करायें। उनसे अधर्म-कर्म छुड़ा दें। उनके संशय छेदन कर उनको धर्म्म-युक्त व्यवहारों में प्रवृत्त करें।

जैसे देखने और सुनने के सामर्थ्य से विहीन आँख और कान के गोलकों का होना व्यर्थ है, ऐसे ही जो संन्यासीजन सत्योपदेश नहीं देते और वेदादि सत्य शास्त्रों का विचार तथा प्रचार नहीं करते, वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं।"

महाराज ने अपने नूतन शिष्य को प्रचार के कार्य के लिए उत्तेजित किया। उसको कहा, "आप पर्याप्त पठित हैं। सुयोग्य और समझ-विचार वाले हैं।

आपको अवकाश भी बहुत है। कटिबद्ध होकर आर्यसमाजों में पर्य्यटन कीजिए और स्थान-स्थान पर उपदेश देने में प्रवृत्त हो जाइए।"

सहजानन्दजी ने सिर झुका कर श्री-वचनों को स्वीकार कर लिया। उन्होंने रात-दिन महाराज के पास निवास करते हुए देखा कि वे रात के समय केवल चार घण्टे भर विश्राम लेते हैं और फिर उठ कर ध्यानारूढ़ हो जाते हैं। किसी निर्जन वन-स्थान अथवा एकान्त उद्यान में भी, प्रतिदिन सूर्योदय के समय, एक घण्टा भर के लिए ध्यानारूढ़ हुआ करते हैं।

नौलखा उद्यान के पास ही एक विस्तीर्ण सरोवर है। महाराज गोवर्द्धन पर्वत को, उसी के किनारे-किनारे जाया करते। वे तो बहुत सवेरे जाते थे, परन्तु सहजानन्दजी सूर्योदय से कुछ ही पूर्व उसी ओर भ्रमण करने निकलते थे। एक दिन, अपने निवास के उद्यान से बहुत अन्तर पर, सहजानन्दजी ने देखा कि स्वामीजी जल पर पद्मासन लगाये, योग-मुद्रा में कमल-दल की भांति, विराजमान हैं। गुरुदेव की इस मनोहर योग-मुद्रा ने उनके मन में एक गहरा भक्ति-भाव उत्पन्न कर दिया। उस शान्त समय में, उस शून्य प्रदेश में, उस शान्त सरोवर के ऊपरी भाग पर वे प्रशान्तात्मा ऐसे सुन्दर स्वरूप, ऐसे तप्त सुवर्ण-वर्ण और मनोहर दिखाई देते थे मानों सागर में सूर्योदय हो रहा है।

महाराज कभी-कभी लम्बी समाधि भी लिया करते थे। अपनी कोठरी के गवाक्ष खोल देते और द्वार बन्द करके ध्यान में निमग्न हो जाते थे। जहाँ कहीं लम्बी समाधि में अवस्थित होना होता वहाँ एक दिन पहले ही मिलने-जुलने वालों को उस दिन के लिए आने से रोक देते। समाधिस्थ होने से पूर्व अपने कर्मचारियों को कह देते कि आज अमुक समय तक हमारी कोठरी के पास कोई न आये और न ही कोई किवाड़ खटखटाये। बहिर्मुख कर्मचारीवर्ग तो यही समझता कि आज स्वामीजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। वे भीतर पड़े आराम करते हैं। चलो छुट्टी मिल गई, इधर-उधर चक्कर लगायेंगे। परन्तु सहजानन्द ऐसी समझ के मनुष्य न थे। उनको अपने गुरुदेव के गुण-ग्राम और गौरव-गरिमा का ज्ञान हो गया था।

उदयपुर में एक बार महाराज ने श्वास-प्रश्वास तक की क्रिया को रोक कर निरन्तर चौबीस घण्टों की समाधि ली। गुरुदेव ने अपने नवीन शिष्य को यह

भेद एक दिन पहले ही बता दिया था और कह दिया था कि आप चाहें तो चुपचाप, मौन भाव से, खिड़की-विशेष द्वारा देख सकते हैं। उनके आदेश को पाकर सहजानन्दजी ने तुर्यावस्था-ग्रवस्थित और असंप्रज्ञात-समाधिगत गुरु महाराज के उस दिन रात में कई बार दर्शन किये।

उस समय महाराज की काया अकम्प और अचल थी। वे सौन्दर्यसमुच्चय प्रतीत होते थे। उनके मुखमण्डल की कान्ति, मस्तक का तेज, मुद्रा की शोभा और देह की दीप्ति अद्भुत और अनुपम दीख पड़ती थी। उनके चारों ओर शान्ति बरस रही थी। उस समय वहाँ शान्ति-रस मूर्तिमान हो रहा था।

महाराज का हृदय स्फटिक के सदृश था। उसमें दूसरों के मनोगत भाव प्रतिबिम्बित हो जाते थे। मन लगाने पर, दूर देश में घटित घटनाओं का भी, उसमें आभास पड़ जाता था।

एक दिन श्री राणा सज्जनसिंहजी और सहजानन्दजी आदि सज्जन स्वामीजी के पास बैठे थे। महाराज ने श्री राणाजी को कहा, "पण्डित सुन्दरलालजी यहाँ आ रहे हैं। यदि पहले सूचना दे देते तो उनके लिये यान का उचित प्रबन्ध कर दिया जाता।" राणाजी ने निवेदन किया, "भगवन्! अब भी यान भेजा जा सकता है।" इस पर स्वामीजी ने कहा, "अब तो वे बैलगाड़ी में आ रहे हैं। उसका एक बैल शुक्ल वर्ण है और दूसरे के तन पर लाल-धवल धब्बे हैं। वे कल यहाँ पहुँच जायँगे।" महाराज का कथन अगले दिन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

एक दिन दो साधु स्वामीजी से मिलने आये। सहजानन्दजी ने उनका आगमन श्री-सेवा में निवेदन किया। इस पर उन्होंने कहा कि अभी हमें कुछ कृत्य करना शेष है। इतने में आप अतिथियों को भोजन कराइये। जब सहजानन्दजी उन अभ्यागतों को भोजन करा चुके तो स्वामीजी ने उनको भीतर आमन्त्रित कर लिया। वे दोनों महात्मा, महाराज से बड़ी देर तक ज्ञान-चर्चा करते रहे। जब वे चलने लगे तो बोले—"भगवन्! आप अधिकारी जन को ही उपदेश दिया करें। जो लोग आपके सत्सङ्गों में आते हैं वे सब ही अधिकारी नहीं होते। आपके खण्डनविषयक व्याख्यानों के तो विरले जन ही अधिकारी होते होंगे।"

स्वामीजी ने कहा, "धर्म्मोपदेश में अधिकारानधिकार का प्रश्न उठाना व्यर्थ है। इसका अधिकारी मनुष्य-मात्र है। कोई भी बालक औषधि आप ही आप नहीं खाता, किन्तु उसके बन्धु उसे विवश करके खिलाते हैं। हमारा कुरीति-खण्डन भी एक कड़वा क्वाथ है। साधारण जन धर्माधर्म्म के बोध और सत्यासत्य के विवेक से विवर्जित हैं। उनको तो यह कटु क्वाथ बलात्कार ही से पिलाना पड़ेगा। महात्माजी! आपके धर्म्म-बन्धु और जाति के अङ्ग आये दिन शत-शत और सहस्र-सहस्र की संख्या में ईसाई और मुसलमान होते जाते हैं, और आप हमें अधिकारानधिकार की पट्टी पढ़ाने लगे हैं! यह समय तो कार्य्य करने का है। धर्म की नौका को चट्टान के साथ टकराने से बचाने और भंवर से निकालने का है। पहले धर्म्म के आकाश से विपत्ति के बादलों को दूर कीजिये, अधिकारों के विचार तो पीछे होते ही रहेंगे।"

सहजानन्दजी उदयपुर से ही महाराज के आदेशानुसार उपदेश-कार्य के लिए समुद्यत होकर चल पड़े और नगर-नगर में विचरने लग गये।

पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल आदि कई सज्जन श्री महाराज से पढ़ने लग गये। उन्हें देख कर श्री राणाजी भी बड़ी लगन से उस श्रेणी में सम्मिलित हुए। श्री राणाजी पहले भी संस्कृत जानते थे। व्याकरण के कुछ अधिक नियम स्वामीजी ने स्लेट पर लिख कर उन्हें समझा दिये। स्वामीजी ने श्री राणाजी को योग-दर्शन सारा पढ़ाया। न्याय और वैशेषिक के बीच-बीच में से प्रकरण ऐसी रीति से पढ़ाये कि उन्हें सम्पूर्ण ग्रन्थ का बोध हो गया। महाराज ने उनको मनु-स्मृति भी पढ़ाई। राजाओं के धर्म्मों की ऐसी उत्तम व्याख्या की कि राणाजी अतीव प्रभावित हुए। स्वामीजी कहा करते कि "मनु-स्मृति प्रत्येक मनुष्य को पढ़नी चाहिये। इसके जाने बिना अपने कर्त्तव्य कर्मों का बोध होना दुर्लभ है। यह आर्य धर्म्म का निचोड़ है। आर्य जाति की नीति-रीति का भरा-पूरा भण्डार है। मनुष्य को कार्य-कुशल और व्यवहार-निपुण बनाती है।"

उन्होंने मानव-धर्म्म-शास्त्र राणाजी को सम्पूर्ण पढ़ाया। उनका अर्थ वर्णन करना, व्याख्या करके बताना, परस्पर की सङ्गति समझाना और दृष्टान्त दे कर विषय को स्पष्ट कर देना, कुछ ऐसा था कि ग्रन्थ के आशय की आकृति,

लग जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें। फिर भारत भर में आप-ही-आप सुधार हो जायगा।"

फिर श्री पण्ड्याजी ने प्रार्थना की, "जब आपका उद्देश्य और आदर्श एकता सम्पादन करना है तो आप मत-मतान्तरों का कठोर खण्डन क्यों करते हैं? इससे तो उलटा वैर-विरोध और वैमनस्य बढ़ता है।"

महाराज ने उत्तर दिया, "एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे संकुचित नहीं किया जा सकता। दूसरे, भारतवासी लम्बी तानकर ऐसी गहरी नींद में सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आँख तक खोलने को भी समुद्यत नहीं होते। सुधार का तो ये नाम तक नहीं लेते। कु-रीतियों और कु-नीतियों के खण्डन-रूप कड़े कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से भी यदि ये जाग जायँ तो ईश्वर का कोटि-कोटि धन्यवाद करूँगा।

पण्ड्याजी! कोई देश जन-शून्य नहीं हो जाया करता। लोग तो बने ही रहा करते हैं। परन्तु धर्म-गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार परिवर्तित हो जाते हैं। रहन-सहन के ढङ्गों में भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय अब इस देश पर उपस्थित है। यदि सम्भाला न गया तो आर्य जाति परिवर्तन के चंचल चक्र पर चढ़ कर अतिशय उतावली से अपने पूर्व पवित्र शरीर को परिवर्तित कर डालेगी। इसके पिछले प्रमाद के कारण करोड़ों मनुष्य मुसलमान बन गए। अब प्रतिदिन सैकड़ों ईसाई बनते चले जा रहे हैं। ऐसे समय में तो अपने सधर्म बन्धुओं को कड़े हाथ से, उनकी चोटियाँ पकड़ कर भी, जगाना होगा। भाई! यह कटु कर्तव्य मैं कोई अपने स्वार्थ के लिए तो पालन नहीं कर रहा हूँ। मुझे तो इसके कारण अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट-पत्थर और विष ही स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु बन्धु-वात्सल्य की भावना, मुझे विपत्तियों के विकट और जटिल जाल में भी समाज-सुधार के लिए प्रोत्साहित कर रही है।"

पण्ड्याजी ने नमस्कारपूर्वक श्री-वचनों का हार्दिक अनुमोदन करते हुए कहा—"महाराज! यदि दो चार धर्माचार्य भी आपके विचार के हो जायँ,

तो स्वल्प समय में ही आर्य-जाति का बेड़ा पार हो सकता है ।"

प्रलोभनवश बड़े-बड़े महात्मा भी अपनी मान-मर्यादा को मलियामेट कर देते हैं। प्रलोभन के स्वरूप ने कई तपस्वियों की तपश्चर्या और यतियों के व्रत-धर्म को दिन-दहाड़े लूट लिया है—व्यक्तियों की तो कोई गणना ही नहीं हो सकती, इसके तो चरणों को जातियों के, मुकुटों से चमकते हुए सिर चढ़ा कर भी चर्चित किया गया है। जहाँ कभी यों के मन्दिर आकाश से बातें करते थे और राग-रङ्ग होता था, वहाँ आज इसके हाथों चमगादड़ बसते, उल्लू बोलते, गीदड़ नाचते और चिल्लाते हैं। जिस महापुरुष ने अन्नमय कोष में रहकर, इस मायाधारी प्रलोभन-पिशाच को जीत लिया है, वह सचमुच इस मोह-मायामयी सृष्टि से ऊपर है, दैवतबल-सम्पन्न है।

भगवान् दयानन्द के लिए भक्तों का भक्ति-भाव अपार बढ़ जाता है, जब यह कथा उनके कर्णगोचर होती है। एक दिन महाराज अकेले बैठे हुए थे। उस समय श्रीराणाजी पधारे और गुरु महाराज से विनीत विनय करने लगे, "भगवन् ! आप मूर्त्ति-पूजा का खण्डन छोड़ दें। यह राजनीति के 'सर्व-संग्रह' सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि आप ऊपर की बातें स्वीकार कर लें तो एकलिङ्ग महादेव के महन्त की गद्दी आप की है। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिर के समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी लाखों की आय है। इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जायगा। सारे राज्य के आप गुरु माने जायँगे।"

श्रीराणाजी की प्रार्थना श्रवण करते ही स्वामीजी झुँझलाकर बोले, "आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखाकर परमात्मदेव से विमुख किया चाहते हैं? उसकी आज्ञाभङ्ग कराना चाहते हैं? राणाजी! आपके जिस छोटे-से राज्य और मन्दिर से मैं एक दौड़ लगाकर बाहर जा सकता हूँ वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञाभङ्ग करने के लिए विवश नहीं कर सकता। परमात्मदेव के परम प्रेम के सामने इस मरुभूमि की मायाविनी मरीचिका अति तुच्छ है। लाखों मनुष्यों के विश्वास केवल मेरे भरोसे पर निर्भर हैं। मुझे ऐसे शब्द कहने का फिर कभी साहस न कीजिएगा। मेरी धर्म की ध्रुव धारणा को धराधाम और आकाश की कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती।"

एक बार तो आँखों के सामने खड़ी हो जाती थी। किसी भ्रम और संशय को तो अवकाश ही नहीं रहता था।

उन्होंने प्रक्षिप्त श्लोकों और प्रकरणों के समझने के गुर भी बताये। वे उपदेश देते थे कि "जो बात प्रकरणविरुद्ध हो वह प्रक्षिप्त समझनी चाहिये। यह ग्रन्थ क्रम से धर्म का वर्णन करता है। जहाँ क्रम टूटे और पूर्वापर में विरोध आ जाय, वहाँ मिलावट मानना उचित है। जैसे मनु में बुद्धि के अनुसार दण्ड का विधान है, अबोध मनुष्य के लिये थोड़ा दण्ड देना लिखा है, और जो अधिक बुद्धिमान् होकर अपराध करता है उसे अधिक दण्ड देने की मर्यादा बाँधी है। परन्तु बीच ही में ब्राह्मण के लिये इस नियम को शिथिल कर दिया गया है; इस लिये बीच का यह प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है।" स्वामीजी ने राणाजी को महाभारत के भी कुछ भाग पढ़ाये।

श्री राणाजी स्वामीजी के सत्सङ्ग के लिये प्रति प्रातःकाल को आया करते। जिस दिन सवेरे समय न मिल सकता उस दिन सायंकाल अवश्य आते। एक दिन राणाजी ने निवेदन किया, "भगवन्! आप जब किसी मूर्तिमान् वस्तु में ध्यान लगाना अच्छा नहीं समझते तो फिर ध्यान किया किसका जाय?"

महाराज ने उत्तर दिया, "ईश्वर का कोई आकार कल्पना करके उसका ध्यान करना अनुचित है। वह सर्वव्यापक है। प्रत्येक पदार्थ में परिपूर्ण है। सब का स्वामी, अन्तर्यामी और नियन्ता है। इन गुणों का चिन्तन और ध्यान करना उचित है।"

महाराज ने ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में राजा-प्रजा-धर्म पर अनेक व्याख्यान दिये। उनमें से कई व्याख्यान तो यूरोपीय राजपुरुषों ही ने कराये थे। वे जाति और देश की उन्नति विषयों पर भी, ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में, प्रभाव शाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणों को सुनकर श्रोताओं में ऊष्मा जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ आता था, हृदय र लगता था, अंग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खौलने ल था; परन्तु किसी मनुष्य और जाति विशेष के लिये मन में घृणा और नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र-सुधार के विचा रूप में प्रकाशित होते थे। वे दार्शनिक भाव को लिये होते थे

घट जाते थे।

महाराज ने स्वराज्य और स्वायत्त-शासन के सार-मर्म के कुछ एक सूत्र, और अति स्पष्ट सूत्र सत्यार्थ-प्रकाश में उस समय लिखे थे जब यहाँ जातीय महासभा का जात-कर्म भी नहीं हुआ था। शासन-सुधारवादियों ने स्वराज्य शब्द का अभी स्वप्न भी नहीं देखा था। महाराज के समय भारतीयों की राष्ट्र-नीति अभी नवजात बालिका थी, दूधमुँही बच्ची थी, पालने में पड़ी अङ्गूठा चूस रही थी। नीति-निपुण मुसलमान सज्जन उसे अछूत समझते और उससे बड़े अन्तर पर रहते थे। थोड़े से आर्य लोग थे जो कभी-कभी दो-एक बार, उसे व्याख्यान-भवनों के हिण्डोले में डालकर, अपने धुआँधार भाषणों के दो-चार हिलोरे दे छोड़ा करते। उनके भाई-बन्धु भी बहुतेरे ऐसे थे, जो मीठी-मीठी लोरियों और कोमल-कोमल थपकियों से उसे सुलाये रखने ही में तत्पर थे।

राष्ट्र-जागृति और जातीय जीवन के ऐसे बालकाल में श्री स्वामीजी का बलाढ्य शब्दों में, ओज और ऊष्मा पूर्ण भाषा में स्वायत्त-शासन का समर्थन करना, उसे परम सुखदायक बताना,इस बात का उज्ज्वल और ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके राष्ट्र-नीति-सम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगति को पाये हुए थे; चरम और परम लक्ष्य को परिलक्षित कर चुके थे। उनके विशाल हृदय में भारत की प्रजा का हित कूट-कूट कर भरा हुआ था। उनके अन्तःकरण में, मस्तक में, अस्थि में, मज्जा में, एक-एक रक्तबिन्दु और नाड़ी-नस में भारत के कल्याण की निष्कलंक कामना उत्कृष्ट उत्कर्ष को पहुँच चुकी थी। समय आयेगा जब भारत की भावी सन्तति अपने जातीय मन्दिरों में, स्वायत्त-शासन की देवी का पूजन करने से पूर्व, उसे पहले-पहल आहूत करने वाले देव-स्वरूप दयानन्द का प्रथम अर्चन किया करेगी।

एक दिन पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी ने निवेदन किया, "भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी?"

महाराज ने उत्तर दिया, "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना, भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र-स्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय वहाँ, सागर में नदियों की भाँति, सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने

निकलती है। बड़ी भारी राज-सभा लगती है। उस दिन कई भैंसे भी काटे जाते हैं।

राणाजी के निवेदन पर श्री महाराज भी दसहरा महोत्सव देखने पधारे। जब उन्हें पता लगा कि यहाँ बहुत से भैंसे काटे जायँगे तो उन्होंने राणाजी को कहा कि आप नरेश हैं। न्याय करना आपका कर्त्तव्य कर्म है। मैं मारे जाने वाले भैंसों का वकील बन कर श्रीमन्त के सम्मुख उपस्थित हूँ। अब न्यायाधीश को निर्णय करना चाहिए कि इनका वध क्योंकर उचित है? चिरकाल तक बात-चीत होती रही। अन्त में श्रीराणाजी ने विनय की कि यह पुरानी परिपाटी परम्परा से चली आ रही है। इसे एकाएक न तो हम उठा सकते हैं, और न उठा देना उचित ही है। हाँ, आपके आदेशानुसार इसे धीरे-धीरे घटा देने का प्रयत्न किया जायगा। इस पर स्वामीजी भी सम्मत हो गये।

श्रीराणाजी स्वामीजी के कथनों को स्वीकार करने के लिए सदा समुद्यत रहते थे। परन्तु महाराज, धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त, राज्य के अन्य किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते थे। एक दिन का वर्णन है कि राणाजी स्वामीजी के दर्शन करके जब राजभवन को लौटे तो उसी समय स्वामीजी के पास पचास पटेल आ गये और अभियोग की बातचीत करने लगे। राणाजी ने उन भूमि-हारों को स्वामीजी के पास जाते देख लिया था, इसलिए उन्होंने अब्दुर्रहमान को कहा कि जाइए, पता लीजिए कि इन लोगों ने श्री-सेवा में क्या निवेदन किया है। उसने उन लोगों से पूछ कर राणाजी से विनय की कि इन लोगों ने अपने अभियोग की बात चलाई थी और इस पर महाराज ने कहा कि हम साधु हैं, किसी सांसारिक झंझट-झमेले से हमारा सम्बन्ध सर्वथा नहीं है।

उस समय राणाजी ने कहा—"मौलवीजी! देखा, मैं कहता न था कि; स्वामीजी राज-काज के कार्यों में कदापि हस्तक्षेप नहीं करते? जगत् के रगड़े-झगड़े से स्वतन्त्र, भला, ऐसा कोई दूसरा मनुष्य कभी आपने देखा है?"

उदयपुर ही में रहते हुए महाराज ने परोपकारिणी सभा स्थापित की। अपनी सारी सम्पत्ति उसके नाम कर दी। उनका लिखा स्वीकार-पत्र इस प्रकार है—

मैं दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित तेईस सज्जन आर्य पुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ।

इनको परोपकार के शुभ कार्य में लगाने के लिए अध्यक्ष बना कर यह स्वीकार-पत्र लिखे देता हूँ कि समय पर काम आये।

इस सभा का नाम परोपकारिणी सभा है और निम्नलिखित तेईस महाशय इसके सभासद् हैं :—

१. श्रीमन्महाराजाधिराज महिमहेन्द्र यादवार्य-कुल-दिवाकर महाराणाजी श्री १०८ सज्जनसिंहजी वर्मा जी. सी. एस. आई. उदयपुराधीश, राज्य मेवाड़, सभापति।

२. लाला मूलराज एम. ए.,एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर, प्रधान आर्यसमाज लाहौर, उपप्रधान।

३. श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी उदयपुर, राज्य मेवाड़, मन्त्री।

४. लाला रामसरनदासजी, उपप्रधान आर्यसमाज मेरठ, मन्त्री।

५. पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी उदयपुर, जन्म-स्थान मथुरा, उपमन्त्री।

६. श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्म्मा शाहपुराधीश, सभासद्।

७. श्री राव तख्तसिंहजी बेदले, राज्य मेवाड़

८. श्रीमन्त राजराणा श्री फतेहसिंहजी वर्म्मा, भीलवाड़ा

९. श्रीमत् रावत अर्जुनसिंहजी वर्म्मा, असन्द

१०. श्रीमत् महाराजा श्री राजसिंह वर्म्मा, उदयपुर

११. श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्म्मा, मसूदा, जिला अजमेर ,,

१२. रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल, सुपरिण्टेण्डेण्ट वर्कशाप अलीगढ़, सभासद्।

१३. राजा जयकृष्णदासजी सी. एस. आई. डिपटीकलेक्टर बिजनौर, मुरादाबाद।

१४. साहू दुर्गाप्रसाद, कोषाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद, सभासद्।

१५. साहू जगन्नाथप्रसाद, फर्रुखाबाद।

१६. सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्य समाज फर्रुखाबाद, बिसावर राजपूताना, सभासद्।

१७. लाला कालिचरण रामचरण, मन्त्री आर्य समाज फर्रुखाबाद ,,

१८. श्रीयुत छेदीलाल, गुमाश्ते कमसरियट छावनी मुरार-ग्वालियर ,,

राणाजी उनके सत्य के आवेश से सूर्यसमान चमकते हुए मुखमण्डल को देख कर चौंक पड़े और चित्त में अतीव आश्चर्य-चकित हुए। वे हाथ जोड़कर बोले—"भगवन्! मैंने आपके निश्चय की दृढ़ता देखने के लिए ही ऐसा कहा था। सो इस धृष्टता को क्षमा कर दीजियेगा। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि संसार की कोई भी वस्तु आपकी दृढ़ता को डाँवाडोल नहीं कर सकती। आपका निश्चय कभी हिल नहीं सकता।"

श्रीराणाजी को महाराज ने दिन-चर्या को नियमबद्ध रखने का उपदेश दिया, "तीन घड़ी रात रहते उठिये। आवश्यकताओं से निवृत्त होकर मुँह-हाथ धोइए। दातुन और कुल्ले के करने के अनन्तर एक गिलास शीतल जल का पान कीजिए। उसी समय पास रहने वालों को पृथक् कर ईश्वरोपासना में मग्न हो जाइए।" महाराज ने राणाजी को प्रातःकाल की उपासना के लिए कुछ मन्त्र भी सिखाए।

फिर कहा, "उपासना के पश्चात्, हो सके तो चलकर, नहीं तो बग्घी पर ही, वायु-सेवन के लिए बाहर जाइए। एक घण्टा भर का भ्रमण पर्याप्त है। भ्रमण करते समय प्रत्येक वस्तु को ध्यान-पूर्वक देखना उचित है। यात्रा से लौटकर जब आइए तो जिस भवन में दिन भर रहना हो उसमें घृतादि का हवन कराइए। दिन के नौ बजे राज्य के कार्यों को किया कीजिए। फिर दस बजे के पश्चात् भोजन पाइए और कुछ देर तक टहलिए। तदन्तर, यदि चित्त चाहे तो बारह बजे तक शय्या पर विश्राम कीजिए। दोपहर के उपरान्त चार बजे तक न्याय करना और लिखने-पढ़ने का काम करना उचित है। चार बजे के अनन्तर आवश्यकताओं से निवृत्त होकर वस्त्र-परिवर्तन कीजिए। फिर अश्वारूढ़ होकर चाहे सेना देखिए अथवा उद्यान, मन्दिर और सड़कों का निरीक्षण कीजिए। दिन छिपे राज-मन्दिर में आ जाइए। उस समय कुछ पढ़ना चाहिए। उपासना और ज्ञान की वार्त्ता भी सुननी चाहिए। बुद्धिमानों का सत्सङ्ग और इतिहास-श्रवण करना चाहिए। ये सब कार्य दो घण्टों में समाप्त हो जाने उचित हैं। उसके पश्चात् भोजन ग्रहण करना चाहिए। खाना खाने के पश्चात् आधे घण्टे तक टहलना चाहिए। उस समय गन्धर्वों से राग भी सुनिए। राग में अधिक लीन होना अच्छा नहीं है। कवियों को कोमल काव्य-कला का भी रस लेना चाहिए और चारण तथा कड़खैतों के कवित्त और कड़खे भी सुनने चाहिएँ। परन्तु

उनमें अश्लीलता नहीं होनी चाहिए।

तत्पश्चात् शोभन शय्या पर लेट जाइए। छः घण्टे तक पूर्ण निद्रा लीजिए। एकाकी सोना ही उत्तम है। शास्त्रानुसार ही परिवार-सम्बन्ध को पालन कीजिए।"

ऊपर का उपदेश देकर महाराज ने पूछा कि आप मेरी बताई दिन-चर्या पर चलेंगे? राणाजी ने सिर झुकाकर निवेदन किया कि कल ही से इसके पालन में कटिबद्ध हो जाऊँगा। राणाजी ने किया भी ऐसे ही।

स्वामीजी ने श्रीराणाजी को शास्त्र पढ़ाकर, धर्म के रहस्य बताकर, राज्य के रक्षण और सम्वर्द्धन की नीति सुनाकर, शारीरिक नियम सिखाकर, अन्य अनेक मार्मिक और तात्त्विक कथोपकथन श्रवण कराकर पूर्ण आर्य बना लिया। उनमें आर्यसमाज के लिए असीम स्नेह और सहानुभूति का भाव उत्पन्न कर दिया।

स्वामीजी विद्या के कार्यों में लोगों को प्रोत्साहन दिया करते थे। एक दिन वे चारण-पाठशाला का निरीक्षण करने गये। वहाँ उन्होंने विद्यार्थियों की परीक्षा ली और उनको अपनी ओर से प्रीति-भोजन दिया। महाराज ने, श्री राणाजी के साथ विचार करने के अनन्तर, सारे राज्य के राजों और ठाकुरों के लड़कों के लिए एक पाठशाला खोलने का प्रबन्ध भी कर लिया। परन्तु पीछे से, राणाजी के रुग्ण हो जाने के कारण, यह कार्य बीच ही में रह गया।

एक दिन, श्रीराणाजी को मनु-स्मृति का पाठ पढ़ाते हुए महाराज ने कहा, "यदि कोई अधिकारी धार्मिक आज्ञा दे तब ही उसका पालन करना चाहिए। अधर्म-युक्त कथन को कभी नहीं मानना चाहिए।"

इस पर सरदारगढ़ के ठाकुर मोहनसिंहजी ने निवेदन किया—"भगवन्! ये राणाजी हमारे भूपाल हैं। यदि हमें यह कोई आज्ञा दें और हम उसे अधर्म-युक्त समझ कर न मानें, तो हमारा लघु राज्य ही छिन जाय।"

महाराज ने कहा, "कोई चिन्ता नहीं। धर्म के लिए धन और ठकुराई भले ही चली जाय। धर्म-हीन हो जाने से और अधर्म के काम करके अन्न खाने से तो भीख माँग कर पेट की पालना करना बहुत अच्छा है।"

स्वामीजी के उदयपुर में निवास के दिनों में दसहरा आगया। इस त्योहार को वहाँ बड़े समारोह से मनाया जाता है। राणाजी की यात्रा बड़े ठाठ-बाठ से

८. किसी दशा में भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को, अपराध के सिद्ध होने पर पृथक् न कर सकेगी जब तक उनके स्थान में अन्य सभासदों को नियत न कर ले।

९. यदि किसी सभासद् का देहान्त हो जाय या वेदोक्त धर्म को छोड़कर वह उक्त नियमों के विरुद्ध चलने लगे तो सभापति को उचित है कि सब सभासदों की सम्मति से उसको पृथक् करके उसके स्थान किसी और योग्य वेदोक्त धर्म-युक्त आर्य पुरुष को नियत करे। परन्तु उस समय तक साधारण कामों के अतिरिक्त कोई नया काम न छेड़ा जाय।

१०. इस सभा को अधिकार है कि सब प्रकार का प्रबन्ध करे और नये उपाय सोचे। परन्तु यदि सभा को अपने परामर्श पर पूरा-पूरा निश्चय और विश्वास न हो तो समय का निर्धारण करके लेख द्वारा सम्पूर्ण आर्यसमाजों से सम्मति ले और बहुपक्षानुसार उचित प्रबन्ध करे।

११. प्रबन्ध का घटाना, बढ़ाना, स्वीकार अथवा अस्वीकार करना, किसी सभासद् को नियत या पृथक् करना, आय-व्यय की जाँच-पड़ताल करना, अन्य हानि-लाभ सम्बन्धी विषयों को सभापति वर्ष भर में अथवा छः मास में छपा कर चिट्ठी द्वारा सब सभासदों में प्रचारित करे।

१२. यदि इस स्वीकार-पत्र के विषय में कोई झगड़ा उठे तो उसको राजगृह में न ले जाना चाहिये, किन्तु जहाँ तक हो सके यह सभा अपने आप उसका निर्णय करे। यदि आपस में किसी प्रकार निर्णय न हो सके तो फिर न्यायालय से निर्णय होना चाहिये।

१३. यदि मैं अपने जीते-जी किसी योग्य आर्य पुरुष को पारितोषिक देना चाहूँ और उसकी लिखत-पढ़त कराकर रजिस्ट्री करा दूँ तो सभा को चाहिये कि उसको माने और दे।

१४. मुझे, और मेरे पीछे सभा को, सदा अधिकार रहेगा कि उक्त नियमों को देश के किसी विशेष लाभ और परोपकार के लिये न्यूनाधिक करें।

(हस्ताक्षर) 'दयानन्द सरस्वती'।

राणाजी एक दिन श्री-सत्संग में बैठे हुए थे। उनके अन्तःपुर में सन्तान-दर्शन की आशा थी। प्रसङ्ग-वश स्वामीजी ने कहा कि आपको पुत्र प्राप्त होगा।

माघ सुदी २ सं० १६३६ को स्वामीजी का वचन सत्य सिद्ध हो गया। श्रीमन्महाराणा के भवन में पुत्र-जन्म-महोत्सव के उपलक्ष्य में आनन्द के बाजे बजने लगे। चारों ओर से बधाई आने लगी। राणाजी ने इस प्रसन्नता का समाचार स्वामीजी के आसन पर निवेदन कराया और आठ सौ रुपया फिरोजपुर अनाथालय को प्रदान किया।

राणाजी ने श्रीसेवा में निवेदन किया कि यदि आप दर्शनों का भाष्य कर दें तो उसके छपवाने के लिए बीस सहस्र रुपया मैं भेंट करने को समुद्यत हूँ। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वेद-भाष्य समाप्त होने पर दर्शनों के विषय म सोचा जायगा।

जिस सीसोदिया वंश की विमल कीर्ति को महाराणा प्रताप ने उदयास्त तक विस्तृत करके अमर बना दिया, जिस वंश ने—"जो राखे निज धर्म को तेहि राखे करतार"—इस पद को अपना आदर्श माना, जिस वंश के वीरों ने अपनी आन-बान और मान-मर्यादा की रक्षा के निमित्त मर मिटना तो स्वीकार किया परन्तु कायर बनकर उसको बट्टा नहीं लगाया, और जिस वंश की बहू-बेटियों ने प्रचण्ड चिताओं पर चढ़कर भस्मीभूत होना तो उत्तम समझा परन्तु अपने पवित्र चरित्र की चिट्टी चादर को मलिन मन वाले दुष्ट मनुष्यों का हाथ स्पर्श होने नहीं दिया, उस विशुद्ध वंश के शिरोमणि श्रीमन्महाराणा सज्जनसिंहजी को अपना शिष्य बनाकर जगद्गुरु दयानन्द प्रस्थान करने के लिये समुद्यत हो गये। महाराणाजी श्रीचरणों से वियुक्त होना तो नहीं चाहते थे, परन्तु ऐसे निर्मोही महापुरुष रोके रुक भी नहीं सकते।

फाल्गुन बदी ७ सं० १६३६ को स्वामीजी ने उदयपुर से प्रस्थान करना नियत किया। उनके सम्मान के उपलक्ष्य में एक सभा लगाई गई। महाराज को एक अत्युत्तम और उच्च सिंहासन पर बैठाकर, एक सुन्दर पुष्प-माला से उनका पूजन किया गया। इसके उपरान्त एक सज्जन ने, श्रीमन्महाराणाजी की ओर से, नीचे लिखा सम्मान-पत्र पढ़कर सुनाया—

"स्वस्ति श्रीसर्वोपकारकरणार्थकारुणिकपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य-श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीयतिवर्येषु इतः महाराणासज्जनसिंहस्य नतयः समुल्लसन्तु उदन्तः। आपका आठ मास मास का निवास में चित्त अत्यन्त आनन्द

१९. लाला साईंदास, मंत्री आर्यसमाज लाहौर सभासद्।

२०. श्री माधवदास, मंत्री आर्यसमाज दानापुर ,,

२१. रावबहादुर राजमान्य राजश्री पण्डित गोपालराव हरि देशमुख, सभासद् कौंसल गवर्नर मुम्बई तथा प्रधान आर्यसमाज मुम्बई, पूना, सभासद्

२२. रावबहादुर महादेव गोविन्द रानाडे, जज, पूना ,,

२३. श्रीयुत श्यामजी कृष्ण वर्मा, प्रोफेसर संस्कृत युनीवर्सिटी आक्सफोर्ड, लण्डन, मुम्बई।

स्वीकार-पत्र के नियम :—

१. उक्त सभा जैसे मेरे जीवन-काल में मेरे सकल पदार्थों की रक्षा करके निम्नलिखित परोपकार के काम में लगाने का अधिकार रखती है, वैसे ही मेरे पीछे अर्थात् मरने के पश्चात् भी लगाया करे—

(१) वेद वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार, उनकी व्याख्या करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपाने आदि में।

(२) वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशक-मण्डली नियत करके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में भेज कर सत्य के ग्रहण और असत्य त्यागादि में।

(३) आर्यावर्त्त के अनाथ और दीन जनों की शिक्षा और पालन में व्यय करे और कराये।

२. जैसे मेरी उपस्थिति में यह सभा प्रबन्ध करती है, वैसे ही मेरे पीछे, तीसरे व छठे मास, किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय के बही-खाते के समझने और पड़ताल के लिए भेजा करे। वह सभासद् वहाँ जाकर सारे आय-व्यय की जाँच-पड़ताल किया करे। उसके नीचे अपने हस्ताक्षर करे और उस पड़ताल की एक-एक प्रति प्रत्येक सभासद् के पास भेजे। यदि यन्त्रालय के प्रबन्ध में कोई त्रुटि देखे तो उसके सुधार के लिये अपनी सम्मति लिख कर प्रत्येक सभासद् के पास भेजे। प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी सम्मति सभापति के पास लिख भेजे और सभापति सबकी सम्मति पर यथोचित कार्य करे। इस कार्य में सभासद् आलस्य और अनुचित व्यवहार न करें।

३. इस सभा को उचित है कि जैसा यह परम धर्म और परमार्थ का काम है उसको वैसे ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे।

४. पहले कहे तेईस आर्य सज्जनों की सभा मेरे पीछे सब प्रकार मेरी स्थानापन्न समझी जाय, अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व पर है वही अधिकार सभा को है और होगा। यदि उक्त सभासदों में से कोई सभासद् स्वार्थ में पड़ कर इन नियमों के विरुद्ध काम करे वा कोई अन्य मनुष्य हस्तक्षेप करे तो वह सर्वथा झूठा समझा जाय।

५. जैसे इस सभा को वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे सब पदार्थों की यथाशक्ति रक्षा और उन्नति करने का भी अधिकार है, वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार का भी अधिकार है। जब मेरा शरीर छूटे तो उसको न गाड़ें, न जल में बहावें, न जङ्गल में फेंकें। केवल चन्दन की चिता बनावें। और यदि यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन, चार मन घी, पाँच सेर कपूर, ढाई मन अगर तगर और दस मन काष्ठ लेकर वेद-विहित-विधि से, जैसा कि संस्कार-विधि पुस्तक में लिखा है, वेदि बना कर, उस पुस्तक में जो वेद-मन्त्र लिखे हैं उन से भस्म करें। वेद-विरुद्ध कुछ भी न करें। उस समय यदि इस सभा का कोई भी सभासद उपस्थित न हो तो जो कोई उपस्थित हो वही यह काम करे। जितना धन इस काम में लगे उतना सभा से ले लेवे और सभा उसको दे देवे।

६. अपने जीवन में मैं, और मेरे पीछे यह सभा, इस बात का अधिकार रखती है कि जिस सभासद् को चाहे पृथक् करके, किसी और योग्य सामाजिक आर्य पुरुष को उसका स्थानापन्न नियत कर दे। परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जायगा जब तक उसके काम में कोई अनुचित चेष्टा न पाई जाय।

७. मेरे सदृश यह सभा सदा स्वीकार-पत्र की व्याख्या व उसके नियमों का पालन, व किसी सभासद् को पृथक् करने, उसके स्थान में अन्य सभासद् को नियत करने और मेरे आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में उद्योग करे। यदि सभासदों की सम्मति में विरोध रहे तो बहु-सम्मति के अनुसार काम करे। सभापति की सम्मति सदा द्विगुण समझें।

वेदान्ती साधु अमृतराम ने स्वामीजी को शाहपुरा में लिखा कि गोपालराव ने आपके सत्सङ्ग में राणाजी का नित्य प्रति दो बार आना लिखा है, सो सर्वथा असत्य है।

स्वामीजी महाराज ने साधु महाशय का पत्र पाते ही गोपालराव को यह पत्र लिखा—"पण्डित गोपालराव हरिजी ! आनन्दित रहो। आज एक साधु का पत्र मेरे पास आया, वह आपको भेजता हूँ। साधु का लेख सत्य है, परन्तु चित्तौड़ सम्बन्धी इतिहास में न जाने कहां से सुन-सुना कर ऐसा लेख लिख लिया है। उस समय वहां उदयपुराधीश से मेरा समागम केवल तीन बार ही हुआ। आपने तो प्रतिदिन दो बार होना लिखा है। आप जानते ही हैं कि ऐसे कार्य्यों के परिशोधन का अवकाश मुझे नहीं मिलता।

आप यद्यपि सत्य-प्रिय हैं और शुद्ध भाव भावित हैं, उसी चित्त और हित से कार्य्य कर रहे हैं, परन्तु जब आपको मेरा ठीक-ठीक वृत्तान्त विदित ही नहीं है तो इसके लिखने में साहस कभी न कीजिए। थोड़ा सा भी असत्य मिल जाने से सम्पूर्ण निर्दोष कृत्य भी बिगड़ जाता है। ऐसा ही निश्चय रखो और इस पत्र का उत्तर शीघ्र भेजो।

वैशाख शुक्ला द्वितीया १६४०। दयानन्द सरस्वती।

एक दिन एक नैयायिक पण्डित स्वामीजी से सम्वाद करने लगा। उसको महाराज ने कहा कि 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इसका लक्ष्य न्याय की रीति से अर्थ करो। वह आध घड़ी तक इसी पर बोलता रहा। फिर महाराज ने उसके कथन में दोष दिखा कर खण्डन किया और कहा कि इसका सरल और सीधा अर्थ तो यह है कि देवदत्त ग्राम को जाता है, परन्तु ये काक-भाषा-भाषी इसे ऐसा जटिल बनायेंगे कि किसी के पल्ले कुछ पड़ने ही नहीं पाता। महाराज ने उसे यह भी कहा कि देवताजी ! पहले आप दर्शनों के दर्शन कर लीजिए। इसके पश्चात् दार्शनिक बातचीत कीजिएगा।

एक दिन एक मनुष्य स्वामीजी के निकट बताशे लाया। उन्होंने देखते ही कहा कि ये पत्थर पर चढ़ाये गये हैं; इसलिये मैं नहीं लेता। उसके पूछने पर स्वामीजी ने उसके बताशों पर सिन्दूर का चिह्न पड़ा हुआ दिखा दिया।

एक दिन स्वामीजी बड़े वल से मूर्ति-पूजा का खण्डन कर रहे थे। उस समय एक पण्डित ने कहा कि वाल्मीकि-रामायण में लिखा है कि श्रीराम ने महादेव का पूजन किया था—जैसे, "अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः"। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि इसमें तो प्रतिमा-पूजन का लेश भी नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यहाँ परमेश्वर ने मुझ पर कृपा की।

एक दिन दधिमथ स्वामीजी के पास आया। स्वामीजी ने कहा, "आइए, व्यासजी बैठिये। आज मुझे भी छुट्टी है। आपसे वार्त्तालाप करने में पूरा सुभीता होगा।" व्यास ने निवेदन किया—"भगवन्! छुट्टी तो बद्ध लोगों के लिए हुआ करती है। आप तो परमहंस हैं। पूर्ण स्वाधीन और स्वच्छन्द हैं। आपको ऐसा कौन बन्धन शेष है जिससे आपने आज अवकाश मनाया है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं सारे धार्मिक बन्धनों को मानता हूँ। वर्णाश्रम से, नीति-रीति से मैं उच्छृंखल और निरङ्कुश नहीं हूँ। स्वच्छन्दता-पूर्वक ही वेद-भाष्य आदि का कार्य किया करता हूँ। आज उससे छुट्टी मनाई है।"

एक रामस्नेही सज्जन ने स्वामीजी के समीप आकर निवेदन किया, "केवल नाम ही से निस्तार हो जाता है। भव-सागर पार उतरने के लिए नामी के गुणों को जानना कोई आवश्यक नहीं है।"

स्वामीजी ने कहा, "परमानन्द की प्राप्ति के लिए नामी के गुणों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। जैसे शब्द के साथ ही उसके अर्थ का बोध हो जाता है, जल कहते ही शीतगुण-प्रधान द्रवीभूत जल पदार्थ की प्रतीति हो जाती है, ऐसे ही नाम लेते ही उसके वाच्य का ज्ञान हो जाना चाहिए। जैसे जल शब्द कहते ही उसके वाच्य का ज्ञान होना और उसकी प्राप्ति की क्रिया करना परमावश्यक है, ऐसे ही नाम और उसके अर्थ को जानना तथा उसकी उपलब्धि के लिए प्रत्याहार, धारणा और ध्यान आदि क्रिया-कलाप का करना अतीव आवश्यक है।"

स्वामीजी कच्ची-पक्की रसोई के झगड़े को एक आडम्बर ही समझते थे। एक साधु स्वामीजी के पास पढ़ता था। वह एक दिन चौके के बखेड़े पर रसोइए के साथ लड़ पड़ा। स्वामीजी ने उसे बुला कर कहा, "आप संन्यासी भी हो गये, परन्तु चौके-चूल्हे का भ्रम-जाल आपके पीछे पड़ा ही रहा। कच्चे-

में रखो। क्योंकि आपकी शिक्षा का प्रकार श्रेष्ठ और उन्नतिदायक है। और आपका संयोग सूं केही न्याय धर्मादि शारीरिक कार्यों में निस्सन्देह लाभ प्राप्त होवाकी, म्हां का सभ्य जनामहित इद आशा होवे है कारण कि शिक्षा और उपदेश वा पुरुषों का दृढ होवे है जो स्वकीय आचरण भी प्रतिकूल नहीं राखै। सो आप में यथार्थ मिल्यो। अब म्हें आपका वियोग की संयोग तो नहीं चावां परन्तु आपको शरीर अनेक मनुष्यों के उपकारक है। जीसूं अवरोध करणो अनुचित। तथापि पुनरागमन सूं आप भी म्हांका चित्त ने शीघ्र अनुमोदित करेंगे इत्यलम्।" सम्वत् १९३९ फाल्गुन कृष्ण ५ भौमे। दस्तखत महाराणा सज्जनसिंहस्य।

चौथा सर्ग

स्वामीजी उदयपुर से अतिसम्मानपूर्वक विदा होकर, चित्तौड़ होते हुए, फाल्गुन बदी अमावस १९३९ को शाहपुरा में सुशोभित हुए। निवास नगर के बाहर राजकीय उद्यान में किया गया। शाहपुराधीश ने श्रीचरणों के दर्शन अनेक दिनों तक चित्तौड़ में किये थे। महाराज के अनुपम प्रभावजनक भाषणों से प्रभावित होकर राजाधिराज ने अपने नगर में पधारने के लिये उनसे विनय की थी। उन्होंने स्वीकार करते हुए कहा था कि अनुकूल अवसर आने पर अवश्य आऊंगा। उसी प्रण की पालना के लिये वे शाहपुरा में पधारे।

श्री स्वामीजी के शुभागमन को शाहपुराधीश ने अपने सौभाग्य की शुभ सूचना समझा। वे उसी सायं को श्रीसेवा में उपस्थित हुए और विनीत नमस्कार करके प्रश्न पूछने लगे। पाँच दिन तो राजाधिराज ने संशय निवारण में बिताये। उसके उपरान्त सायं समय के छः बजे से रात के नौ बजे तक वे एक घण्टा भर तो वार्तालाप करते और घण्टे तक अध्ययन करते। स्वामीजी राजाधिराज को मनु-स्मृति पढ़ाया करते। उनका समझाने का ढंग बहुत ही अच्छा था। फिर महाराज ने उनको योग-दर्शन पढ़ाया और उसकी समाप्ति पर कुछ एक भाग वैशेषिक के भी अध्ययन कराये।

स्वामीजी प्रातःकाल *भ्रमणार्थ बाहर जाया करते थे। किसी-किसी दिन* राजाधिराज भी वहां जा दर्शन करते और प्राणायाम की विधि सीखते।

स्वामीजी महाराज ने अपने ग्रन्थों में संन्यास-धर्म का बड़ा महत्त्व दर्शाया है। वे प्रशान्त-चित्त, जितेन्द्रिय और ज्ञानी जन ही को संन्यास का अधिकारी वर्णन करते हैं। साम्प्रदायिक संन्यास देने की विधि के वे बड़े भारी विरोधी थे। उन्होंने संन्यास लेकर भिक्षा का ग्रहण करना उन्हीं के लिये बताया है, जो जन जनता के हितार्थ अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं, लोक-कल्याण के लिये रात्रि-दिवा यत्नशील रहते हैं, सत्योपदेश और परोपकार कर्म में परायण पाये जाते हैं, और जो आठों पहर प्रजा-प्रेम का परमपावन पुण्यपाठ पढ़ते रहते हैं। जो मनुष्य मानव-हित-शून्य होकर अपाहिजों की भाँति गली-गली में भटकते फिरते हैं, जन-जन के आगे हाथ पसारते हैं और घर-घर के टुकड़ों के चटोरे बन जाते हैं, वे आश्रम की मान-मर्यादा और महत्त्व को मूल से मिटाने वाले हैं।

शारीरिक सामर्थ्य रखते हुए, अनुपकारी जन का पराये अन्न पर पेट पालना एक प्रकार का पतित कर्म है। इस लिये, स्वामीजी ने, जो लोग लोक-हित के कार्य नहीं करना चाहते अथवा उनके करने में असमर्थ हैं, उनके लिये सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखा है, "बाह्य जितने कर्म हैं उनको त्याग कर योगाभ्यासादि आभ्यन्तर कर्मों को यथावत् करें। अन्तःकरण की सारी मलिनता और राग-द्वेष आदि को छोड़कर, निश्चिन्त होकर, सदा वेद का अभ्यास करें। अपने पुत्रों से अन्न-वस्त्र शरीर के निर्वाह के लिये लेवें। नगर के समीप एकान्त में वास करें। प्रतिदिन भोजन-आच्छादन घर से लेकर अपनी मुक्ति के साधन में तत्पर रहें।"

शाहपुरा में स्वामीजी ने एक होनहार ब्राह्मण युवक को संन्यास देकर दण्ड धारण कराया। उसका नाम ईश्वरानन्द रक्खा। वह कुछ पठित भी था, परन्तु अधिक अध्ययन करने के लिए उसे प्रयाग भेज दिया गया। स्वामीजी ने वहाँ अपने यन्त्रालय के प्रबन्धकर्त्ता को लिख दिया कि जब तक यह साधु अध्ययन करता रहे इसे पाँच रुपये मासिक मिला करें।

गोपालराव नाम का एक ब्राह्मण भक्त श्री स्वामीजी का जीवन-चरित्र लिख रहा था। चित्तौड़ का वृत्तान्त लिखते हुए उसने वर्णन किया कि वहाँ श्री महाराणाजी श्री महाराज को प्रतिदिन दो बार मिलते। इस पर एक नवीन

पक्के के पाप-पाखण्ड ने आपका पिण्ड न छोड़ा। भाई! यहां तो चारों वर्णों के परस्पर भेद-भाव को मिटाना होगा। सार्वजनिक बन्धु-भावना की भूमि पर प्रेम का प्रासाद निर्माण करना होगा।"

महाराज ने रामस्नेहियों के महन्त को धर्म-चर्चा के लिए आहूत किया। परन्तु वे महन्तजी अपने आसन पर ही बैठे बढ़-बढ़ कर बातें बनाना जानते थे। बेतुकी उड़ाना ही उन्हें आता था। सिर-पैर-विहीन कथायें अपने सेवकों के मस्तक में उंडेलते जाना उनके कर्त्तव्य की इतिश्री थी। वे भोलेनाथ भला शास्त्रार्थ और सम्वाद को क्या जानें! इसलिए सम्वाद न हो सका।

स्वामीजी ने मनोनिग्रह भी परम कोटि का किया हुआ था। उनकी सब वृत्तियाँ वशवर्तिनी थीं। मस्तक के सूक्ष्मतम तन्तुओं पर भी उनका इतना वशीकार था कि निद्रा तक उनके सर्वथा आधीन थी। शाहपुरा में, मध्याह्न समय भोजन पाकर स्वामीजी स्वल्प समय के लिए सो जाया करते। उन दिनों में सोलह मिनट तक नींद लिया करते थे। सोते उठ कर मुँह हाथ धोने और कुल्ले करने के लिए जल लेते। नौकर भी घड़ी देखता रहता। ज्योंही सोलहवाँ मिनट आरम्भ होता त्योंही वह जल का कलसा और अंगोछा ले, हस्त-मुख प्रक्षालन करने के स्थान पर आकर खड़ा हो जाता। ठीक सोलहवें मिनट की समाप्ति पर जगद्गुरु जग जाते और तत्काल मुखादि धोकर कार्य्य पर आ बैठते।

रात्रि के समय वे ठीक दस बजे शुद्ध, स्वच्छ, साधारण और शुभासन शय्या पर शयन किया करते। भक्तजनों से वार्तालाप करते हुए जिस समय दस बजने की पहली 'टन' की ध्वनि होती, वे तुरन्त खाट पर टेढ़े हो जाते। दूसरी 'टन' की ध्वनि पर प्रगाढ़ निद्रा में लीन जान पड़ते। उनके इस असाधारण सामर्थ्य पर सभी को परमाश्चर्य हुआ करता था।

योगानुष्ठान से उनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी निर्मल हो गई थीं कि सूक्ष्मतम विषय को सुगमता से ग्रहण कर लेती थीं। योगदर्शन-कथित दिव्य सम्वित् उन्हें प्राप्त थी।

स्वामीजी के निवास-स्थान पर खस की टट्टियाँ लगा दी गई थीं। दुपहर के पश्चात् जब लू चलने लगती, ग्रीष्म का भीषण उत्ताप जब वायु-सहित

भूमि को उत्तप्त बना देता, तो उस समय उन टट्टियों पर जल सींच दिया जाता, जिससे सारी कोठरी की वायु सु-शीतल और सुगन्धित हो जाती।

एक दिन मध्याह्नोत्तर समय जब जल छिड़का गया तो महाराज ने कहा कि आज कहीं से दुर्गन्धि आ रही है। सेवकों ने इधर-उधर सर्वत्र घूम कर देखभाल की, परन्तु कहीं भी कोई सड़ी-गली वस्तु दिखाई न दी। टट्टियों में जल सींचने के लिये एक कुण्ड में कुछ पानी एकत्र रहा करता। उसका बासी जल नित्य निकाल कर नया जल उसमें डाला जाता। भगवान् ने सेवक को बुला कर पूछा कि बताओ, क्या तुमने खस की टट्टियों पर कुण्ड का बासी पानी डाला है?

उसने विनती की कि महाराज! वैसे तो कुण्ड में से कल का सारा पानी मैंने उलीच कर निकाल दिया था, कदाचित् घड़ा आध घड़ा रह गया होगा। परन्तु उसमें लगभग सौ घड़े नये जल के डलवाये हैं। तब महाराज ने कहा कि उसी थोड़े से बासी जल की दुर्गन्ध आ रही है। अच्छा, इस समय टट्टियां उतार दो और फिर कभी ऐसा जल न सींचना। भगवान् की घ्राण-इन्द्रिय की इतनी प्रबल शक्ति का पूर्ण परिचय पाकर भक्तों को पूरा निश्चय हो गया कि इनको योग-बल ही से ऐसे सूक्ष्म विषय का ज्ञान हो जाता है।

जिस समय श्रीमहाराज उदयपुर में धर्म्मोपदेश दे रहे थे उन्हीं दिनों श्री महाराजा प्रतापसिंहजी और रावराजा तेजसिंहजी के प्रार्थना-पत्र श्रीसेवा में आये थे। उनमें उन्होंने जोधपुर पधारने के लिए अत्याग्रहपूर्वक विनती की थी। महाराज ने उन महानुभावों की उत्कृष्ट उत्कण्ठा का आदर करते हुए लिख दिया था कि हम शाहपुरा से होकर जोधपुर आयेंगे।

शाहपुरा में महाराजा जसवन्तसिंहजी का लिखा हुआ निमन्त्रण-पत्र आया, जिससे श्रीमहाराज ने शाहपुरा से प्रस्थान करने का समय ज्येष्ठ कृष्णा ४ शनिवार सम्वत् १६४० और दिन के दस बजे नियत कर दिया।

स्वामीजी की जोधपुर जाने की सुसज्जा देख कर शाहपुराधीशजी ने श्रीसेवा में निवेदन किया, "भगवन्! राजा लोग भोग-विलास और मनमाने आमोद-प्रमोद में निमग्न रहा करते हैं। जहां आप पधारने लगे हैं वहां वाराङ्गनाओं का अधिक खण्डन न कीजियेगा।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं बड़े-बड़े कँटीले वृक्षों को मुहरने से नहीं काटा करता। उनके लिए तो अति तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।"

शाहपुराधीश ने महाराज को विदा करते समय २२०) ढाई सौ रुपये श्री-चरणों में निवेदन किये और पचास रुपये मासिक एक उपदेशक के लिए देने का वचन दिया। विदाई के समय अति भक्ति-भाव से सभा में यह सम्मान-पत्र श्री महाराज को सुनाया गया :—

स्वस्ति श्री सर्वोपकारार्थ कारुणिक परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी महाराज के चरणारविन्द में महाराजाधिराज शाहपुरेश की बार-बार नमस्तेऽस्तु।

अपरञ्च यहाँ आपका विराजना सार्द्धद्वय मास पर्यन्त हुआ। तथापि आपके सत्यधर्मोपदेश के श्रवण से मेरी आत्मा तृप्त न हुई। आशा थी कि आप ग्रीष्मान्त अत्रस्थित होते, परन्तु जोधपुराधीशों की ओर से दर्शनों की, वेदोक्त धर्मोपदेश ग्रहण की, सत्याचरण और असत्य त्याग की तथा आप के मुखारविन्द से श्रवण करने की अभिलाषा देख कर आपने वहाँ पधारना स्वीकार किया। भवच्छरीर भी करोड़ों मनुष्यों के उपकारार्थ प्रकट हुआ है, यह समझ कर मेरी भी सम्मति यही हुई कि आपका वहाँ पधारना ही उत्तम है। यही समझ कर यहाँ विराजने की प्रार्थना नहीं की। आशा है कृतकृत्य करने के निमित्त पुनरागमन करेंगे।

सम्वत् १९४० ज्येष्ठ कृष्णा ४ (दस्तखत) नाहरसिंहस्य।

जोधपुर जाते समय आर्य लोगों ने स्वामीजी से कहा, "जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ के लोग कठोर प्रकृति के हैं। कहीं ऐसा न हो कि सत्योपदेश से चिढ़ कर श्री-चरणों को पीड़ा पहुँचायें।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"यदि लोग हमारी अँगुलियों को बत्तियां बना कर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहाँ जाकर अवश्य सत्योपदेश दूँगा।"

महाराज अतिसम्मानपूर्वक शाहपुरा से विदा हुए और ज्येष्ठ वदी ९ को अजमेर ठहर कर पाली रेलवे स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ जोधपुर के महाराजा की ओर से चारण नवलदान आदि सज्जन स्वामीजी को लिवा ले जाने के लिए

एक हाथी, तीन ऊँट, तीन रथ, एक सेज-गाड़ी और चार अश्वारोही सैनिक ले कर आ गये।

पाली से चल कर श्री महाराज दो रातें मार्ग में रहे और ज्येष्ठ वदी ८ को जब जोधपुर से तीन कोस के अन्तर पर रह गये तो प्रातःकाल के वायु से लाभ उठाने के लिए पैदल चलने लगे। साथी भी यानों से उतर खड़े हुए और पीछे-पीछे पैदल हो लिये।

जोधपुर-नरेश की ओर से महाराज के स्वागत का अत्युत्तम प्रबन्ध किया गया। रावराजा तेजसिंहजी और रावराजा ज्वानसिंहजी, परिव्राजकाचार्यजी के सम्मुखाभिगमन और प्रतिग्रहण करने के लिए रत्नाडा तक पैदल गये। उन्होंने दूर से देखा कि एक काषायाम्बरधारी संन्यासी गम्भीर गति से चलते चले आ रहे हैं। उनके एक हाथ में एक लम्बायमान दण्ड है। उनका विशाल भाल बाल-काल के सूर्य की किरण से महामूल्य मणि के समान दीप्तिमान् हो रहा है। मनोहर मुखमण्डल, मेघ-मुक्त चन्द्रमा की भाँति चमकता हुआ, दर्शक के चित्त को आल्हादित कर रहा है। उस पर अपूर्व प्रतिभा की शुभ्र-प्रभा पूर्ण-रूप से विराजमान है। नीले गुलाबी डोरों से खचित उनके विमल रसीले नेत्रों की निर्मल ज्योति, दर्शक के अन्तःकरण की कोठरी को जगमगाये जाती है। उनके नव-पल्लव समान होठों पर मन्द मुस्कान की मनोगम रेखा रह-रह कर चमकती है। दाड़िम के दानों की भाँति, उनके उज्ज्वल दांतों की पाँति पवित्र प्रभा निःसरण कर रही है। उनकी दोनों भुजायें घुटनों को स्पर्श करती हुई शोभा-युक्त बन रही हैं। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण समान है। गौरव-सूचक गेरूए वेष में उनकी निष्कलङ्क और कुन्दन-कल्प काया की अलौकिक छटा ऐसी दिखाई देती जैसे स्वर्ण के सिंहासन पर विशुद्ध स्वर्ण की प्रतिमा सौन्दर्य का स्रोत बन रही हो। सम्पूर्ण पवित्रताओं से परिवेष्टित तेजोधाम संन्यासीराज धीरे-धीरे जब दोनों रावराजाओं के निकट पहुँचे तो उन्होंने नम्रीभूत होकर गुरुदेव के अरुणवर्ण चारु चरण अपने हाथों से चर्चित किये। विनीत भाव से कुशल-मङ्गल पूछा। महाराज ने भी उनको आशीर्वाद देकर योग-क्षेम पूछा और कहा, "आप इतनी दूर पैदल चल कर क्यों आये हैं? आपको इसमें कष्ट हुआ होगा।"

रावराजा तेजसिंहजी के हृदय-देश में तो श्री-दर्शनों ही से भवभारनाशिनी,

भगवती भक्ति-भागीरथी का प्रादुर्भाव हो गया था, श्रद्धा की लता का शुभांकुर निकल आया था। उन्होंने झुककर निवेदन किया कि श्री महाराज की अगौनी के लिए पैदल चलकर आना हमारे लिए परम पुण्य के उपार्जन का एक साधन हो गया है। दोनों रावराजाओं ने, अपने साथियों सहित, अति सम्मान और समारोह से स्वामीजी को ले जाकर मियाँ फैजुल्लाखाँ के उद्यान में ठहराया। उस उद्यान के द्वार पर महाराजा श्री प्रतापसिंहजी उपस्थित थे। उस समय स्वामीजी के साथ माननीय रावबहादुर श्री गोपालराव हरि देशमुख के सुयोग्य पुत्र लक्ष्मणरावजी भी थे। वे खानदेश में असिस्टेंट कलक्टर थे। वहाँ से छुट्टी लेकर महाराज से योगाभ्यास सीखने आये थे।

जोधपुराधीश की ओर से चार नवजवान, चार सेवकों समेत, श्रीसेवा में नियुक्त हुए। छः सैनिकों सहित एक हवालदार पहरे पर लगाया गया। महाराज के दुग्धपान के लिए एक गाय आ गई और रावराजा तेजसिंहजी को भी महाराजा की आज्ञा हुई कि वे श्री स्वामीजी की सेवाशुश्रूषा की स्वयं देख-रेख रक्खें। रावराजा महाशय तो महाराज के भक्त बन ही चुके थे, इस लिए उन्होंने इस आदेश को अपने सौभाग्य-सूर्य के उदय के समान ही समझा।

जिस दिन महाराज जोधपुर में पधारे,उसी दिन से सत्सङ्गियों की मण्डलियाँ उनके पास आने लगीं। वार्तालाप और प्रश्नोत्तर द्वारा ही, अनवरतरूप से, उपदेशवारिवर्षण होने लग गया। उनकी उक्तियाँ, युक्तियाँ और प्रयुक्तियाँ, श्रोताओं की लहलहाती चित्त-लताओं को, धीमे-धीमे पड़ने वाली सावन की फुहार की तरह, शान्त करती थीं। राठौर-राज्य के सरदार और राठौर-वंश के राजपूत प्रभु दयानन्द के एक-एक करके शिष्य बनने लग गये। महाराजा श्री प्रतापसिंहजी का हृदय-कमल महाराज की अनन्य भक्ति की सुगन्धि से परम सुवासित हो गया था। उनको गुरु महाराज के सुख का रात-दिन ध्यान रहता। वे प्रतिदिन नियमपूर्वक और बड़ी भावना से सत्सङ्ग-सुधा-सिन्धु में स्नान करके अपने अहोभाग्य मानते। उनकी इस अपरिमित प्रीति से अन्य अनेक राजपूत भी प्रभावित हो रहे थे। राठौर-राज्य में नमस्ते की मधुर और कर्ण-कोमल ध्वनि सर्वत्र गूँजती सुनाई देती थी। आर्यत्व का सर्वत्र प्रचार होता चला जाता था।

महाराज के जोधपुर में आने के पश्चात् सत्रहवें दिन श्री महाराजा यशवन्तसिंहजी बड़े समारोह से उनके दर्शनों को आये। समीप आकर उन्होंने बड़ी विनीतता से चरण-स्पर्श-पूर्वक नमस्कार किया। एक सौ रुपये और पाँच सुवर्ण-मुद्राएँ भेंट में रक्खीं। यद्यपि कुर्सियों का यथोचित प्रबन्ध था और श्री स्वामीजी महाराजा महाशय को कुर्सी निमन्त्रित भी कर रहे थे, परन्तु आश्रम-मर्यादा और विनय-धर्म में निपुण जोधपुराधीश नीचे फर्श पर ही बैठ गए। उन्होंने साथ ही यह भी कहा, "आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक हैं, इस लिये आपके सामने नीचे आसन पर बैठने ही में हमारी शोभा है।"

श्री स्वामीजी, महाराजा महाशय को नीचे बैठा देखकर उठ खड़े हुए और कहने लगे कि आपका ऐसे आसन पर विराजना मेरे मन को अच्छा नहीं लगता। साथ ही उन्होंने सम्मानपूर्वक शिष्ट पद्धति से महाराजा का हाथ अवलम्बन करके उनको कुर्सी पर ला बिठाया। परमहंसजी के आर्योचित औदार्य का परम प्रमाण प्रत्यक्ष रूप में पाकर, राठौर-वंश के सभी सरदार मोहित हो गये और मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करने लगे। तीन घण्टे तक महिपाल महर्षि के सत्सङ्ग में बैठकर मनुस्मृति से राज-धर्म का श्रवण करते रहे। स्वामीजी के वचन उनके लिए अपूर्व रुचिकर थे; उनके आत्मा में बसते जाते थे; उनके अन्तःकरण में रचते जा रहे थे। थोड़ी देर तक कुछ वार्त्तालाप भी हुआ और फिर महाराजा ने वहाँ से उठते समय निवेदन किया—"भगवन्! आप ऐसे पर-दुःख भंजन करने वाले दयालु महात्माओं का यहाँ पदार्पण करना अति दुर्लभ है। यह हमारे सौभाग्य-प्रभात का शुभ-सूचक शुभागमन है जो श्रीमन्त ने यहाँ अपने देव-दुर्लभ दर्शन दिये हैं। इस लिए श्री-सेवा में यह विनीत विनय है कि पूज्यपाद जब तक यहाँ निवास करें, अपने उपदेशामृत से लोगों को कृतार्थ करते रहें।"

महाराजा के मिलाप के दूसरे दिन ही से स्वामीजी ने विविध विषय सम्बन्धी व्याख्यानवारिवर्षण की घोषणा कर दी। जिस बङ्गले में महाराज विराजमान थे उसके विशाल आङ्गन ही में उपदेशों का प्रबन्ध किया गया। समय सायं के चार बजे से छः बजे तक नियत हुआ।

पहले दिन जब महाराज व्याख्यान-स्थान को पधारने लगे तो रावराजा

तेजसिंहजी ने प्रार्थना की कि भगवन्, महाराजा महाशय के रहन-सहन के विषय में कुछ भी न कहियेगा।

स्वामीजी ने किंचित् यत्नपूर्वक कहा कि क्या आप मुझ से झूठ कहलाना चाहते हैं? स्मरण रखिए, मैं जो कुछ कहूँगा सत्य ही कहूँगा। मेरा कथन कभी असभ्यतासूचक भी नहीं हुआ करता। और न ही मैं किसी व्यक्ति विशेष का नामनिर्देश करके कभी कर्णकटु कथन किया करता हूँ।

रावराजा महाशय ने सिर झुका दिया और महाराज व्याख्यान-स्थान में जा पहुँचे और एक स्वच्छ और सुन्दर सिंहासन पर आरूढ़ हो गये। उस दिन महाराजा यशवन्तसिंहजी के बिना राज्य के सारे उच्च पदाधिकारी कर्मचारी वहाँ एकत्र हुए। सेठ साहूकार आदि सज्जन भी आये। सभी उपस्थित सभ्य चातक की भाँति उनके वचन-बिन्दु के प्यासे थे; चकोर की भाँति तृषित और निर्निमेष नयनों से उनके विमल मुख-चन्द्र के दर्शन पा रहे थे।

ठीक समय पर स्वामीजी ने अपने दोनों नेत्रों के पलक-द्वार बन्द कर लिये और उनकी ज्वलन्त ज्योति को उलट कर त्रिकुटि-मन्दिर को जगमगा दिया। फिर भव-भय-हरण परमपावन प्रणव का गम्भीर नाद ऐसा गुँजाया कि सब श्रोताओं की मनोवृत्तियाँ मूर्छित हो गईं। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई वादन-कला-प्रवीण जन किसी मन्दिर के द्वार बन्द करके वीणा बजा रहा है; सङ्गीत-रस ने मानों इस स्वर में अवतार धारण कर लिया है। जैसे वसन्त में पुष्पित लता पर भ्रमर गूँजता है, उसी प्रकार होंठ बन्द करके महाराज ओम्-ध्वनि गुँजाते थे, परन्तु उसका अलौकिक माधुर्य मोहिनी मन्त्र का काम करता जाता था। ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से सन्तप्त वनराजी पर जैसे बदली छमाछम बरस कर उसे शान्त बना रही हो, उसी प्रकार वह स्वर-सर श्रोताओं के वृत्ति-वन पर वर्षण करके उन्हें अननुभूत आनन्द प्रदान कर रहा था। वह सहस्रों मनुष्यों की सभा थी, परन्तु कोई भी मनुष्य हिलता-डुलता तक न था। सर्वत्र मौन छा रहा था। प्रशान्ति का अटल राज्य विराजमान था।

प्रत्येक उपस्थित को यह प्रतीत होता था कि यह अपूर्व नाद मेरे कानों के अति निकट गूँज रहा है। उससे दशों दिशायें निनादित हो रही हैं। सारी सभा कई मिनटों तक एकचित्त होकर अनुपम नाद-रस लूटती रही। फिर जब

श्री स्वामीजी ने मन्त्र-गायन आरम्भ किया, तब लोगों की चित्तवृत्तियाँ एकाकार पद से नीचे उतर सकीं। जोधपुर के अधिवासियों के लिये वह आनन्द सर्वथा नया था। उन्होंने ऐसे स्वर्गीय स्वादु रस का पहले कभी स्वप्न में भी आस्वादन नहीं किया था। इस लिये हर्ष के उत्कृष्ट उत्कर्ष से उनके हृदय उछलने लग गये।

महाराज का व्याख्यान जब आरम्भ हुआ तो सबकी दृष्टियां सिमिट कर उनके दैवी स्वरूप की छाया को अद्‌भुद् छटा को निरखने लगीं। सबके श्रोत्र एकरूप होकर उनके वचनामृत पान करने लगे। उनका प्रथम व्याख्यान 'ईश्वर' विषय पर था। उसमें उन्होंने ईश्वर के स्वरूप का निरूपण ऐसे अनुपम प्रकार से किया कि भक्ति-भाव के भादों की झड़ी लग गई।

लोग परम्परा से पुराणों की पुरानी चासनी चखते-चखते उकता गये थे। देवमाला की मनोरंजक, रोचक, भयानक और कल्पित कथा-कहानियों से उनके जी ऊब गये थे। महाराज के यथार्थ उपदेशों से उनके हृदय के कपाट खुल गये। उनको छल-बल-रहित सरल सत्य की समझ पड़ी।

श्री महाराज सायं के चार बजे व्याख्यान-स्थान पर आ विराजते और ज्ञान-गङ्गा बहाकर श्रोताओं को निहाल कर देते। वे अपनी शाण-शाणित कुशाग्र बुद्धि के प्रबल प्रताप से युक्तियों और प्रमाणों का ऐसा तार लगाते कि सुनते-सुनते ही सारे भ्रम दूर हो जाया करते। यद्यपि व्याख्यान के अनन्तर शङ्का-समाधान के लिये समय दिया जाता, परन्तु विरला ही कोई उस समय कुछ पूछता। हाँ, कभी-कभी कोई अपनी पुरानी परिपाटी को पीटने वाला पुराण-पद्धति का पण्डित कुछ पूछ लेता, परन्तु एक दो बार बोल कर ही जी छोड़ बैठता।

चीर-नीर का निर्णय करने वाले परमहंस के सत्सङ्ग में न्याय होता था, नीति होती थी, युक्तियाँ होती थीं, प्रमाण होते थे, और सर्वोपरि सत्य का प्रकाश होता था। कितना ही चली-चुली कोई क्यों न हो, वहाँ आकर वह छल-छिद्र की सारी चालें चूक जाता। उसका हृदय शून्य हो जाता। उसे पूछने योग्य कोई बात सूझती ही नहीं थी। वह अपना बचाव इसी बात में समझता था कि उस नरसिंह के सामने ही न आये।

जोधपुर में उन दिनों एक गणेशपुरी नाम प्रसिद्ध संन्यासी आये हुए थे। वे प्रबल पण्डित भी थे। अपने डेरे पर स्वामीजी के विरुद्ध बोलने में भूतला-काश एकाकार कर देते। अपने पक्ष की पुष्टि में, छाती ठोक कर प्रमाण देने के लिए समुद्यत हो जाते। कुछ सज्जनों ने उनको जाकर कहा, "महात्माजी! स्वामी दयानन्दजी अपने शास्त्र-सामर्थ्य और यौक्तिक बल से देवमाला की जड़ों को खोद रहे हैं। आपकी पुराण-पाठ की पक्की और परिपुष्ट पदवी को उखाड़े चले जाते हैं। आप चल कर उनसे शास्त्रार्थ कीजिए। नहीं तो बड़ी देर का बना-बनाया आडम्बर बिगड़ जायगा।"

गणेशपुरी ने आज-कल करते कई दिन तो टालमटोल में बिता दिये। परन्तु जब देखा कि ऊपर की टीप-टाप बनाए रखने के लिए शास्त्रार्थ की चक्की में पिसना ही पड़ेगा तो स्पष्ट कह उठे, "भाई! वे तो जो कुछ कह रहे हैं सो सब सत्य है। उनके सम्मुख होने का न तो हम में साहस है और न ही सामर्थ्य।" जब उनको लोग बहुत विवश करने लगे तो वे अपना डेरा-डण्डा उठा कर वहाँ से चुपके ही कहीं चल दिये।

रावराजा जवानसिंहजी आदि अनेक सज्जनों ने सत्सङ्ग में प्रश्नोत्तर करके अपने सारे संशय मिटाये। एक दिन श्री महाराजा प्रतापसिंहजी ने श्री-सेवा में विनीत निवेदन किया कि "भगवन्! आप ब्रह्म हैं अथवा जीव?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मैं जीव हूँ।" महाराजा महाशय ने कहा कि "हमारे पण्डित तो हमें ब्रह्म बताया करते हैं।"

स्वामीजी ने उपदेश देते हुए कहा कि आप ब्रह्म होते तो आपमें ब्रह्म के गुण भी पाए जाते। उसके सर्वज्ञता आदि गुण आप में नहीं हैं, इसलिए आप जीव हैं। ब्रह्म में भूल और अशुद्धि का मानना भारी भ्रम है।"

महाराजा महाशय ने फिर निवेदन किया—"भगवन्! कोई ऐसा उपाय अथवा साधन बताइए जिससे विविध वासनाओं के पाश में बद्ध मेरे जैसे मनुष्य की भी मुक्ति हो जाय।" महाराज ने कृपा की—"आप लोगों के दूसरे कर्म तो मोक्ष-मार्ग के नहीं हैं, किन्तु एक काम करना आपके आधीन है और वह निरपेक्ष न्याय करना है। यदि आप प्रजा का न्याय करने में न्यूनता नहीं आने देंगे तो आपका आत्मा, इसी से निर्लेप होकर निर्वाण-पद पा लेगा।"

महाराजा प्रतापसिंहजी एक दिन श्री स्वामीजी को अपना दुर्ग दिखाने के लिये ले गये। उन्होंने अनेक अद्भुत वस्तुओं को देखते २ राठौर-वंश के प्रबल प्रतापी पुरुष महाराजा प्रतापसिंह का एक हस्त-चित्र भी देखा। उनका दाढ़ी-रहित मुखमण्डल, बल खाती बाँकी मूछों से तेजोधाम प्रतीत होता था। स्वामीजी ने महाराज को सम्बोधन करके कहा, "टुक इस छवि की छटा देखिए। आपके पुरातन पुरुषों के मुखों पर ऐसा तेज और गौरव हुआ करता था। देखिए, इस चित्र ही से कैसी वीरता टपके पड़ती है!"

महाराज ने एक दिन अपने ओजस्वी भाषण में वैष्णवों के चक्राङ्कित सम्प्रदाय पर प्रबल टीका-टिप्पणी की। उनके अलीक और अमूलक मन्तव्यों का जी खोल कर खण्डन किया। उनके तिलक छाप को निराधार और मिथ्या-मूलक बताया। उस सम्प्रदाय के अनेक जन उस सभा में बैठे बल तो बहुत खाते थे, परन्तु उनका वश कुछ न चलता था। महाराज की युक्तियों के अनिवार्य और अचूक प्रहारों की चोट निरे-पुरे चिढ़ने से क्योंकर दूर हो सकती थी!

एक पहाड़ी पण्डित श्रीराम बड़ा कट्टर चक्राङ्कित था। उसके वहां चेले-चाँटे भी बहुतेरे थे। वह आगे बढ़ा और शास्त्रार्थ के लिये लिखा-पढ़ी करने लगा। परन्तु किसी एक नियम पर न टिका। अन्तपर्यन्त यही कहता रहा कि मेरे महता विजयसिंह को मध्यस्थ मानो तो मैं शास्त्रार्थ करने को कटिबद्ध हूँ। स्वामीजी ने उसको उत्तर दिया कि महता महाशय संस्कृत भाषा से सर्वथा शून्य हैं। इसलिए उनका मध्यस्थ नियत होना अनुचित है। कोई विद्वान् पण्डित चुन कर बताइए। उसको मध्यस्थ बना दिया जायगा। परन्तु उस पण्डित महाशय ने महाराज के कथनों को स्वीकार न किया।

श्रीराम ने सामने आकर शास्त्रार्थ तो न किया, परन्तु अपने अनुगामियों के हृदयों में विषम वैर की आग सुलगा दी। महता महाशय के मन में भी एक विकट गांठ पड़ गई। कुछ-एक वैष्णव लोग, जैसे भी हो, पूज्यपाद के अप्रिय करने में प्राण-पण से परायण हो गये।

महाराज अपने व्याख्यानों में सभी मत-मतान्तरों पर प्रसङ्गानुसार समालोचना कर दिया करते थे। कोई कितना ही सत्ताधारी सामने क्यों न बैठा होता, प्रकरणानुसार वे उसके मत के भ्रममूलक विचारों पर आक्षेप कर ही

देने। जोधपुर में भगवान् ने मुसलमान मत पर भी समालोचनात्मक भाषण दिया। उसको सुन कर भैया फैजुल्लाखाँ के तन-बदन में आग-सी लग गई। वे बहुत ही चिढ़ कर बोले—"स्वामी! यदि मुसलमानों का राज्य होता तो आपको लोग जीवित-जागृत न छोड़ते। उस समय आप ऐसे भाषण भी न कर पाते।"

स्वामीजी ने खाँ महाशय को बड़ी धीरता से उत्तर दिया—"यदि ऐसा अवसर आता तो मैं भी कभी थरथराहट में न आता और निठल्ला न बैठता, किन्तु निधड़क मन से दो-चार वीर राजपूतों की पीठ ठोंककर विरोधियों के धुर्रे उड़ा देता। ऐसा छकाता कि उनके छक्के छूट जाते।" महाराज के इस उत्तर से खाँ महाशय सटपटा उठे।

उनके भाषण में एक दिन एक मुसलमान युवक सहसा झिड़झिड़ा कर उठ खड़ा हुआ। एक हाथ तलवार की मुठ्ठी पर रख झुँझलाकर बोला—"आप मुँह संभाल कर बोलें। हमारे मत के विषय में कुछ भी न कहें।"

स्वामीजी ने अति कोमलता से उस युवक को कहा—"सौम्य! आपके अभी दूध के दाँत हैं। संसार के उतार-चढ़ाव का आपको कुछ भी अनुभव नहीं। आप तो कोरे खड्ग को हाथ से थामने वाले हो, उसे कोश से निकाल नहीं सकते। भला चना भड़केगा तो क्या भाड़ फोड़ डालेगा? यदि हम ऐसी थोथी झिड़का-झिड़की से झिझकने लगते तो इतना बड़ा बोझा कैसे उठा सकते!"

वह युवक थरथराता हुआ बैठ गया और इतना लज्जित हुआ कि फिर ऊपर को सिर न उठा सका।

भैया फैजुल्लाखाँ के हृदय में उपर्युक्त बात-चीत से बहुत से पेचोले बल पड़ गये। वे प्रतिकार के उपाय के लिए चिन्तित रहने लगे।

महाराज का हृदय सरल था। वे सर्वसाधारण के हितार्थ सत्योपदेश देते थे। लाग-लपेट की बात बनाना, और शक्तिशालियों की चापलूसी करना कभी स्वप्न में भी नहीं सीखे थे। संसार छल-कपट से भरा है। इसमें खरे-खोटे परखने वाले मनुष्य विरले ही मिलते हैं! उस महापुरुष के मानस महत्त्व को मर्त्यलोक के कीटाणु क्या जानते! हास-विलास और विषयानन्द के जीव-जन्तुओं को तो वे बतकड़ ही अच्छे लगते हैं जो मुँह-देखी बातें करते हैं, चबा-चबा कर चिकनी-

चुपड़ी गपशप हाँकते रहते हैं, बड़े मनुष्यों की मिथ्या प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं। भगवान् दयानन्द, किसी की षड्यन्त्र-रचना पर कुछ भी ध्यान न दे, अपने नियत कार्य्यों को किये जाते थे। वे प्रातःसमय भ्रमण करने जाते और एकांत विजन प्रदेश में बैठ कर एक घण्टा भर ध्यान में निमग्न रहते थे। भ्रमण-काल में वे एक कोपीन और धोती मात्र वस्त्र तन पर रखते, पाँव में जूता धारण करते और हाथ में एक सुदृढ़ दण्ड रखा करते। जब स्वस्थान पर लौट आते तो, पन्द्रह-बीस मिनट तक कुर्सी पर बैठ कर, एक गिलास दूध का पीते। तत्पश्चात् ठीक आठ बजे वेद-भाष्य का परमोपयोगी कार्य्य करना आरम्भ कर देते ग्यारह बजे यह कार्य्य बन्द कर देते और फिर स्नानादि करके भोजन पाते। उनका भोजन परिमित और बहुत ही सादा होता था। सब वस्तुएँ मिलाकर उनका आहार डेढ़ पाव के अन्दर ही होता था। भोजनानन्तर महाराज कुछ काल के लिए विश्राम भी लिया करते।

दोपहर ढले, एक बजने पर, महाराज सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कारविधि की कापियों के प्रूफ देखते, उनका संशोधन करते। तत्पश्चात् चिट्ठी-पत्री का काम करने लग जाते। बीच में यदि कोई आवश्यक कार्य्य आ पड़ता तो वह भी कर डालते। चार बजे से कुछ पूर्व स्नान करके सारे तन पर मिट्टी भी रमाया करते। मस्तक, छाती और भुजाओं पर उसका लेप लगाते। रेशमी धोती और रेशमी साफा धारण करके एक लम्बा चोगा पहनते। उसके पश्चात् ठीक चार बजे व्यास-गद्दी पर जा विराजते और छः बजे तक परम-प्रभाव-उत्पादक उपदेश देते रहते। छः से आठ बजे तक शङ्कासमाधान में लोगों के भ्रम मिटाते। फिर नौ बजे तक वैसे ही वार्त्तालाप में जनता का हित-साधन करते। इसके उपरान्त प्रभु औटाया हुआ सेर भर दूध मिश्री मिला कर पीते थे।

आम्रफल उनका चित-चाहता भोजन था। थोड़े से आम वे अवश्य चूसते थे। पास बैठे सत्सङ्गियों में भी, बड़ी वत्सलता से, आम के फलों का प्रसाद बाँटा करते। यही समय उनका समाचारपत्र सुनने का था। जब दस बजते तो तत्काल शुभासन पर लेट जाते। कभी-कभी महाराजा महाशय सात बजे श्री-सेवा में आते और वार्त्तालाप में जब दस बजने लगते तो भगवान् कह देते कि "राजन्! अब शयन का समय हो गया है। शेष वार्त्तालाप कल किया

जायगा। महाराज का जीवन सुनियमता के ढाँचे में ऐसा ढला हुआ था कि उसका दूसरा उदाहरण मिलना अति दुर्लभ है। वे प्रत्येक कार्य में आदर्श स्वरूप थे।

पूज्यपाद परमहंसजी सबके साथ प्रेम से बर्ताव करते। किसी का धार्मिक विचार चाहे जो हो, परन्तु उनके शिष्टाचार में अपने पराये सभी समान थे। उनका हृदय पद्मकमल की पँखड़ियों सा कोमल था, मन मोम समान नर्म था, बर्ताव मृणाल समान मृदु था और कथनोपकथन तो मधुमयी मिठास का भी तिरस्कार करता था।

उनका हृदय सङ्कुचित नहीं था। उनके विचारों में सङ्कीर्णता का लवलेश भी नहीं दिखाई देता था। किसी दीन दुखिया को देख कर उनके भीतर दया का प्रवाह बहने लगता था। किसी का आर्त्तनाद और करुणक्रन्दन कर्णगोचर करने पर उनमें सहानुभूति का सागर उमड़ आता। वे तत्काल पिघल जाते, आँखें भर लाते और उसकी विपत्ति को, बाधा को, वेदना को दूर करने में भरसक प्रयत्न करते।

महाराज का आर्यसमाजियों से कल्पनातीत प्रेम था। उन्होंने इस वाटिका को अपने हाथों से लगाया। इसमें से घास-फूस और झाड़-झंखाड़ उखाड़ फेंकने में वे बड़ी दौड़-धूप करते रहे। उन्होंने इस परम और चरम कर्म में रात-दिन कुछ भी नहीं गिना। लहू पसीना एक कर दिया। किसी विनीत आर्यसमाजी को अपने सामने नत-शिर देख कर उनकी छाती उतनी ही ठण्डी होती थी, उनका हृदय उतना ही वात्सल्य-भाव से भर जाता था और उनके नेत्रों में उतना ही प्रेम-पूर प्रकट हो आता था, जितना एक प्रेम के पुञ्ज पिता को प्रीति के पुतले और सुपात्र औरस पुत्र में हो आता है।

महाराज अपनी मानस-सन्तान से क्या आशा रखते थे, उसका प्रकाश इस बात से होता है। एक दिन राजराजा ज्वानसिंहजी ने नम्र निवेदन किया—"प्रभो! आप कोई सुयोग्य शिष्य तो बनाइए, जिससे आपके उद्देश्यों की लड़ी बीच में कहीं टूटने न पाये।"

भगवान् ने भक्त को कहा, "शिष्यों से मुझे कोई आशा नहीं है। ऐसा एक भी सुपात्र और सुयोग्य शिष्य मुझे नहीं मिल सका जिसके हाथ में अपने

कार्य की बागडोर सौंप सकूँ। अब तो मेरे शिष्य सभी आर्यसामाजिक हैं। वे ही मेरे विश्वास और भरोसे के भव्य भवन हैं। उन्हीं के पुरुषार्थ पर मेरे कार्यों की पूर्ति और मनोरथों की सफलता अवलम्बित है।"

महाराज की शारीरिक अवस्था अधिक कार्य करने पर भी अत्युत्तम थी। उनके तन पर वार्धक्य का कोई चिह्न नहीं दीख पड़ता था। सत्सङ्गी जन प्रायः यह कहा करते कि सौ वर्ष से पूर्व इनकी दैवी देह पर जरा का आक्रमण कदापि न होगा, कहीं भी कोई झुर्री दिखाई न देगी। इनके तन का थकना, ढीला हो जाना और थलथलाने लगना एक शताब्दी के भीतर तो असम्भव है। महाराज स्वयं भी कहा करते कि हमारा देहपात यदि विष-प्रयोग अथवा शस्त्र-संयोग से न हुआ तो यह देह मानुषी जीवन-काल की परमावधि तक कार्य करने में समर्थ बनी रहेगी और मुरझाने तथा कुम्हलाने नहीं पायगी।

राव राजा तेजसिंहजी आदि भक्तजन, कभी पाँव दबाने के बहाने से महाराज की पिण्डली में बलपूर्वक अपनी उंगलियाँ धसाते तो वे कुछ भी न धसने पातीं। उनको महाराज के सारे अङ्ग वज्रसमान बलिष्ठ और परिपुष्ट प्रतीत होते। अस्थियों से मांस का ढलकना तो दूर, यदि कभी कोई सेवा करते-करते मांस को मुट्ठी में लेने लगता तो उसे हड्डी, मांस और त्वचा एकात्म हुए जान पड़ते। उनकी देह में वज्र सा संगठन और वज्र समान सुदृढ़ता थी। उनकी काया का कल्पतरु सांसारिक कलह-कल्पना के कलुष कीचड़ से ऊपर था; लोक की कल्याण-कामना से परिपूर्ण था। परार्थ और परमात्मा की प्रजा के पालनार्थ उसकी रचना हुई थी। पाँव के अंगूठे से लेकर शिखा-स्थान तक उसमें पर-हित और पर-प्रेम भरपूर हो रहा था। महाराज तन, मन, धन सहित और मनसा, वाचा, कर्मणा परोपकार में समर्पित थे। परन्तु द्रोह, धोखे और धड़ेबन्दी के भार से लदी हुई इस धरणी पर, लोग धर्म की आड़ में रात-दिन धड़ा-धड़ महा अधर्म कमाते हैं। किसी-किसी समय वे अपनों पर ऐसे घोर अत्याचार कर बैठते हैं कि जिनके स्मरण से रोमराजी खड़ी हो जाती है, कलेजा काँप उठता है।

महाराज के दर्शनों के लिए महाराजा श्री यशवन्तसिंहजी तीन बार उनके आसन पर आये और तीन बार ही श्रीचरणों को अपने आवास में आमन्त्रित किया।

एक दिन श्री महाराज जब जोधपुराधीश को दर्शन देने गये तो उस समय वहाँ वाराङ्गना 'नन्हीजान' आई हुई थी। उनको आते देख कर महाराजा महाशय ने उसकी पालकी को उठवाने का संकेत किया। नन्ही जान का बहुत कुछ मान था। सभी नौकर-चाकर उससे काँपते थे। यहाँ तक कि अधिकारियों को भी उसे प्रसन्न रखने की आवश्यकता होती थी।

वह वाराङ्गना तो वहाँ से चली गई, परन्तु उस दृश्य को देख कर भगवान् दयानन्द का हृदय अतीव दुःखित हुआ।

वेश्या-प्रेम के घोर घृणित कुव्यसन का वे वैसे ही कड़ा खण्डन किया करते थे। सैकड़ों पुरुषों का उन्होंने इस पाप-पङ्क और दुर्व्यसन की दलदल में से उद्धार किया था। महाराजा महाशय को भी वे धर्मवेदी में आकर कहने लगे—"राजन्! राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीरशार्दूल का कृपणा कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्य जाति की कुल-मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कन्दरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्करी के आगमन का क्या काम है? इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पापसोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही, पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन, आप ही आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलाञ्जलि देनी चाहिए।"

उपदेश देने के अनन्तर महाराज अपने आसन पर चले आये। प्रेमी पुरुषों से कथनोपकथन करते उन्होंने कई बार कहा कि हमारे देश के बड़े-बड़े मनुष्यों के आचार-विचार तो इतने बिगड़ गये हैं कि इनका सर्वनाश कभी का हो चुका होता, इनकी नौका मंझधार में डूब गई होती, परन्तु इनकी पत्नियों का पतिव्रत धर्म ही इन्हें अभी तक बचाए हुए है। कुलवन्तियाँ आर्य सतियाँ ही अपने धर्म से इनकी रक्षा कर रही हैं।

नन्हीजान इस बात को जानती थी कि महाराज के उपदेश वेश्या-व्यसन के विरुद्ध मोहिनी मंत्र का प्रभाव रखते हैं। बरसों के महाव्यसनी भी उनके श्रवण-मात्र से सुधर जाते हैं। उसे इस बात का भी पता लग गया कि स्वामीजी ने उसकी तुलना कुतिया के साथ की है। इन दोनों बातों से उसके कलेजे पर

साँप लोटने लगे। वह विकट वैर की विषम ज्वाला से रात-दिन सन्तप्त रहने लगी।

इसी बीच में भगवान् ने महाराजा प्रतापसिंहजी को यह पत्र लिखा—

"श्रीयुत मान्यवर शूरवीर महाराजा श्री प्रतापसिंहजी ! आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टिगोचर भी करा दीजिएगा।

मुझे इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्त्तमान हैं और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर वाले हैं। इस राज्य में सोलह लाख से अधिक मनुष्य बसते हैं। उनके रक्षण और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। उनका सुधार-बिगाड़ भी आप तीन महाशयों पर ही निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर को रोग से रक्षा करने और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत अल्प ध्यान देते हैं। यह बात कितनी बड़ी शोचनीय है।

मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुधार लें, जिससे मारवाड़ तो क्या अपने आर्यावर्त्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जायँ। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत थोड़े जनमते हैं और जन्म कर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं।

इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। आप जैसे पुरुष जितना अधिक जियें उतनी ही अधिक देशोन्नति होती है। इस पर आप लोगों को ध्यान अवश्य देना चाहिए। आगे जैसी आप लोगों की इच्छा हो।"

आ० बदी तृतीया १६४०। (हस्ताक्षर) दयानन्द सरस्वती।

महाराज का ऊपर का पत्र राठौर-वंश की हितेच्छा से कितना पूर्ण है, यह उसके एक-एक पद से प्रकाशित हो रहा है। परन्तु जो वस्तु एक के लिये अमृत होती है वही दूसरे के लिये विष बन जाती है। नन्हीजान को यह पत्र ठीक कालकूट सदृश दीख पड़ा। महाराज के उत्तमोपदेश से उसके हृदय में जो गहरा घाव उत्पन्न हो गया था उस पर इस पत्र ने लवण का काम किया। उधर उसे दिनोंदिन यह दीखने लगा कि वह महाराजा के जी से उतरी और आँखों से गिरी चली जा रही है। वह दिन दूर नहीं जब वह म्लान कुसुम-माला की भाँति परित्यक्ता हो जायगी। उसकी चिन्ता की प्रचण्ड पवन ने वैर-दावानल को द्विगुण चतुर्गुण भड़का दिया।

नन्हीजान, सताये हुये फणियर साँप की भाँति, मन खाती थी। लम्बे साँस लेती थी; प्रतिकार, प्रतिबन्ध और प्रतिरोध के उपाय सोचती थी। उसको निश्चय हो गया था कि स्वामीजी ही उसके रङ्ग को भङ्ग करने वाले हैं, मिले सुर की तन्त्री को तोड़ने वाले हैं। उन्हीं के वचन उसके क्षीर-नीर प्रेम में काँजी का बिन्दु बन कर गिरे हैं। इसलिए वह अन्याय से, अनीति से, निष्ठुरता से और अनर्थ से महाराज का अनिष्ट करने पर पूरी तुल गई।

नागिन की भाँति वैर-विष से व्याकुल उस वाराङ्गना के साथ वे लोग भी क्रियात्मक सहानुभूति करने के लिए समुद्यत हो गये जिन्होंने कभी मत-भेद से स्वामीजी की बातों को बुरा मनाया था, जो कभी भक से उड़ जाने वाली वस्तु की भाँति उनके व्याख्यानों में भड़क उठे थे। स्वामीजी को साँझा शत्रु समझ कर, कुटिल नीति के गुप्त सूत्रपात होने लगे।

जब कोई विषम विपत्ति आने लगती है तो बयार पहले ही विपरीत बहने लग जाती है। महाराज का सेवक कल्लू कहार अति प्रीति से उनकी सेवा किया करता था। परन्तु जोधपुर-निवास के पंचम मास में वह कहार छ: सात सौ का द्रव्य लेकर चुपके से चम्पत हो गया। द्रव्य बटोर कर वह जिस खिड़की के द्वार से बाहर निकला उसके आगे ब्रह्मचारी रामानन्दजी को सोने की आज्ञा हुई थी, परन्तु उस रात वे वहाँ नहीं सो सके।

प्रभात होते ही कहार के चौर्य-कर्म का कोलाहल मच गया। राजाज्ञा हुई कि उसे पाताल मे भी ढूँढ निकालना चाहिए। परन्तु अत्याश्चर्य की बात यह हुई कि वह विदेशी कहार मक्खन में से बाल की भाँति निकल गया। वह मारवाड़ के दुर्गम और विषम मार्गों से सर्वथा अपरिचित था, परन्तु पकड़ाई में नहीं आया। इतना पूर्ण प्रबन्ध होने पर भी चोर का कपूर की तरह उड़ जाना स्वामीजी के हृदय मे सन्देह की रेखा को प्रकट करता था। उधर पहरे वाले नौकर भी अपने कर्त्तव्य कर्म से अन्यमनस्क हो रहे थे।

नन्हीजान ने अपना बदला लेने और कलेजा ठण्डा करने के लिए, ईश्वर जाने, क्या-क्या क्रूर कर्म करने निर्धारित किये होंगे! वह अपने हृदय के फफोले फोड़ने के लिए न जाने कैसा पाप-पाश लगा रही होगी! अपने मान-भङ्ग से' उसने जो कुछ भी किया हो सो सम्भव है। परन्तु जब तक अपना न फूटे,'

पराया अत्याचार कर के कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। अपने ही दीपक से भवन भस्म होते हैं। अपने ही भीतर की आग दावानल बन कर विस्तृत वनों को दग्ध कर देती है। द्रोह, दम्भ और लालच वश अपनायतों ने संसार में अपनों के सिर पर घोर से घोर और घृणित से घृणित अनर्थ ढाये हैं। भारत-भूमि में तो ऐसे सहस्रों दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें दिनोंदिन बढ़ते द्रोह से, नीचता से, दुष्टता से, प्रलोभनवश और विश्वासघात से अनेक कुलकलङ्की कुपूतों ने, अपने क्रूरतम कर्मों से, अपने ही कुलों की कीर्ति को अत्यन्त काली-कलूटी बनाया है।

ऐसे ही विशुद्धवंश-विदूषक अधम नर स्वामीजी के पास भी बसते थे। महाराज का स्वास्थ्य दो चार दिन से कुछ शिथिल था। आश्विन वदी चतुर्दशी सम्वत् १६४० को रात्रि-समय महाराज ने अपने रसोइए से दूध लेकर पान किया और फिर सो गये। थोड़ी ही देर तक आँख लगने पाई थी कि उदर-वेदना की खलबली ने उनको जगा दिया। उसी विकट व्याकुलता में उन्होंने तीन बार वमन की। आप ही जलादि लेकर कुल्ले करते रहे। पास सोये सेवकों को जगा कर कष्ट नहीं दिया।

भगवान् प्रति प्रातः भ्रमणार्थ बाहर जाया करते थे, परन्तु आश्विन अमावस्या को वे चारपाई से बड़े दिन चढ़े उठे। उठते ही उन्हें एक और उलटी आई। इस वमन से उनको कुछ सन्देह-सा हुआ, इसलिए कुछ जल पान कर के उन्होंने दूसरी उलटी आप कर डाली। वे अपने कर्मचारियों को कहने लगे कि आज हमारा दिल कच्चा हो रहा है। उदर में गड़बड़ हो रही है। अग्नि जला कर आप लोग हवन कीजिए, जिससे बङ्गले के भीतर की वायु शुद्ध हो जाय। उनकी आज्ञा का पालन तुरन्त हो गया। इसके अनन्तर उनके उदर में शूल-वेदना उत्पन्न हो गई। उसको उपशम करने के लिए उन्होंने अजवायन आदि वस्तुओं का काढ़ा लिया। इससे वेदना तो शान्त न हुई, किन्तु साथ ही अति-सार होने लग गये।

लोगों ने डाक्टर सूर्यमलजी को बुलाया। उन्होंने उलटी बन्द करने की औषधि देकर श्री महाराज से पूछा कि आपका स्वास्थ्य अब कैसा है? उन्होंने कहा कि पेट में प्रबल पीड़ा हो रही है, मुँह भी सूख रहा है। तत्पश्चात् डाक्टर

महाशय ने श्वास के रोकने का भी औषध दिया। महाराज के उदर में ऐसा तीव्र, ऐसा विषम और ऐसा भीषण शूल उठता था कि यदि कोई दूसरा मनुष्य होता तो तड़पता कर प्राणान्त को पहुँच जाता। वे धैर्य से असह्य दारुण वेदना सहन कर रहे थे। हाय हू आदि से घबराहट का कोई चिह्न तक प्रकाशित नहीं करते थे। अन्त में वे स्वयं यह प्रतीत करने लग गये कि हलाहल विषम विष उनके तन की नस-नस, नाड़ी-नाड़ी और एक-एक रक्त-बिन्दु में प्रवेश कर के जीवन-शक्ति को शोषण कर रहा है। उनकी सारी देह में दाह लगी हुई थी। रह-रह कर भयङ्कर शूल उठता था। श्वास-प्रश्वास का वेग अति तीव्रता से बढ़ता चला जाता था। परन्तु स्वामीजी महाराज थे कि उनके मुखमण्डल पर व्याकुलता का कोई चिन्ह चक्र तक न दिखाई देता था। वे घबराहट का नाम तक नहीं लेते थे। प्रशान्त चित्त से कालकूट के उत्कृष्ट कष्ट को सहन करते हुए परमात्म-देव के भजन तथा ध्यान में निमग्न थे।

सायंकाल के चार बजे, महाराज की रुग्णावस्था का समाचार महाराजा प्रतापसिंह को मिला। उन्होंने तत्काल डाक्टर अलीमर्दान ख़ाँ को औषधोपचार के लिए नियत कर के उनके पास भेज दिया। डाक्टर महाशय ने आकर उनकी पीठ पर पट्टी बँधवाई और कुछ औषधि भी दी। परन्तु शान्त होने के स्थान इस नये औषध से रोग ने महाभयङ्कर रूप धारण कर लिया। तीस चालीस अति-सार हुए। शूल भी पहले से बढ़ता ही चला गया।

अगले दिन डाक्टर महाशय ने आ कर ग्लास लगाये। उनसे खाँसी के साथ जो पीड़ा उठती थी वह तो शान्त हो गई, परन्तु शूल ज्यों का त्यों हो बना रहा। आश्विन शुक्ला १ को प्रातःकाल ८ बजे जब डाक्टर महाशय आये तो महाराज ने कहा कि हम विरेचक औषधि लिया चाहते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि यह तो ठीक है, परन्तु पहले कोई ऐसी औषधि लेनी चाहिए जिससे कफ फूल जाय और छः सात विरेचन हों। महाराज ने कहा कि व्याधि का विनाश होना चाहिए, औषधि चाहे जो हो।

उस दिन डाक्टरजी चले गये और उन्होंने घर से गोलियाँ बना कर भेज दीं। महाराज ने उनके कथनानुसार उनका सेवन किया। आश्विन शुक्ला २ को विरेचक औषध दिया गया। दस बजे से विरेचन होने आरम्भ हुए। रात्रि भर में

कोई तीस से भी अधिक विरेचन हो गये। आगामी दिन सवेरे जब डाक्टर महाशय आये तो महाराज ने उनको कहा कि आप तो यह कहते थे कि छः सात विरेचन होंगे, यहाँ तो तीस से भी अधिक हो चुके हैं। अब तो हमारा जी मिचलाता है और बार-बार डूबता जाता है।

विरेचक औषधि से जो विरेचन हुए वे बहुत ही भयङ्कर सिद्ध हुए। उनके साथ शरीर पर अचेतना छा जाती थी। अलीमर्दान खाँ की औषधि उलटा ही काम करती गई। उससे अतिसार रोग बढ़ गया। तीस पैंतीस अतिसार प्रतिदिन आने लगे। आठ नौ दिन ही में भगवान् की पाँचभौतिक देह अति क्षीण और दुर्बल हो गई। उस वज्रमयी काया को, किसी कुटिलता के कालकीट ने भीतर प्रविष्ट होकर, घुने हुए दाने की भाँति खोखला कर दिया। उस लोह-सदृश शरीर को औषधोपचार ने शीघ्रता से जीर्ण-शीर्ण होने में बड़ी भारी सहायता दी। विष-ज्वाला पर जो वस्तु पानी कह कर डाली जाती थी, कोई कह नहीं सकता, वह क्यों कर तेल का काम करती थी।

स्वामीजी महाराज आदर्श संन्यासी थे। किसी के लिए भी मन में अनिष्ट चिन्तन करना उनके कर्त्तव्य-कर्म के प्रतिकूल था। वे यह भी नहीं चाहते थे कि आगमापायी शरीर से किसी की अपकीर्त्ति का कारण बन जायँ। इसलिए मन में जानते हुए भी उन्होंने मुख से किसी विश्वस्त को भी नहीं कहा कि हमारी काया पर कालकूट विष का प्रयोग हुआ है।

इस भवार्णव में भौतिक शरीर का भव धारण करके कौन है जो भवितव्यता के भीषण प्रभाव से बच सका हो। होनहार के आगे सभी ऋषि-महर्षि हार मान रहे हैं। अपनी भाग्य-भूमि में जिसने रोग-भोग के जैसे भी पेड़ लगाए हों, उनके फल भोगने पर ही उसका छुटकारा होता है। भगवान् दयानन्द के सदृश महापुरुष, अपनी भावी का प्रत्यक्ष प्रभाव देख कर, उसके लिए एक साधन बन जाने वाले जन पर कोप कदापि नहीं किया करते। उनकी दृष्टि में, ठोकर खा कर गिरने से भूमि को पीटने लग जाना बाल-काल की लीला है। जो कुछ होता है वह तो अपने किये कर्म का परिणाम-मात्र है। बीच में जो मनुष्य बहाना बन गया है, उसको बध-बन्धन में डाल कर घेरने-घोटने में सन्त जन

कोई लाभ नहीं समझते। ऐसे बड़े महाज्ञानियों का बड़प्पन और भगवद्भक्तों का भूषण क्षमा कर देना–अपने प्राणों के प्यासे पुरुषों को भी क्षमा-दान देना है।

महाराज के कर्मचारियों में कोई जन कपट-कौशल की चाल चलता और उन्हें पीछे पता तक न लगता, यह बात सर्वथा असम्भव है। मनोगत भावों को भी परिलक्षित कर लेने वाली आर्य्य आँख से भला कोई अपना काला मुँह कैसे छिपा सकता था! सच बात तो यह है कि श्रीमद्दयानन्द के दयामय हृदय ने जानबूझ कर अपने प्राणों के अपराधी को अपने परम प्रेमियों राठौर-वंशियों के हाथ समर्पण करना स्वीकार नहीं किया। उनके मन ने नहीं माना कि हत्यारे को अपने भक्त महाराजों के सामने कर उसे कठोर दण्ड से दण्डित करायें।

राजकोट से एक महाशय ने सद्धर्म-प्रचारक समाचार-पत्र को जो सूचना दी थी उसके आधार पर बलपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रभु दयानन्द दण्डी की दया अद्वितीय थी। उसका दूसरा दृष्टान्त दुर्लभ है। उस पत्र में छपा था कि एक जगन्नाथ नाम ब्राह्मण-वंशीय मनुष्य महाराज के पास चिरकाल से रहता था। वे उसे विश्वास-पात्र समझते थे। वह पाकशाला में पाचन की क्रिया भी किया करता था। जगन्नाथ, न जाने किसके बहकाने से, उलटी-पुलटी पट्टी पढ़ाने से, चकमा दिखाने से अथवा किसी प्रलोभन-वश महापातक के पाप-पङ्क में सहसा कूद पड़ा। अनीति, अन्याय और नीचता से घोर घृणित अनर्थ कर बैठा। गुरुद्रोह और ब्रह्म-हत्या का अपराधी बन गया। हाय, आश्चर्य है कि ऐसे क्रूरतम कर्म का साहस करते समय उसकी छाती न फटी! उसका कलेजा टूक-टूक क्यों न हो गया!

परम पवित्र परमहंसजी ने अपने तन-पिंजर को जर्जरीभूत करने वाले और प्राण-पखेरुओं के वधिक जगन्नाथ को जाँच कर पकड़ लिया। जगन्नाथ ने अपने अधमतम अपराध को मान भी लिया। परन्तु कर्म-गति और फल-भोग के विश्वासी महर्षि ने ताड़ना-तर्जना तो कहाँ, उसे तू तक नहीं कहा। वे गम्भीर भाव से दया दर्शाते बोले—"जगन्नाथ, मेरे इस समय मरने से मेरा कार्य्य सर्वथा अधूरा रह गया। आप नहीं जानते कि इससे लोकहित की कितनी भारी हानि हुई है! अच्छा, विधाता के विधान में ऐसा ही होना था! इसमें आपका भी क्या दोष है! जगन्नाथ, लो ये कुछ रुपये हैं, मैं आपको देता हूं।

आप के काम आयेंगे । परन्तु जैसे भी हो, राठौर-राज्य की सीमा से पार हो जाओ । नैपाल राज्य में जा छिपने से ही आपके प्राणों का परित्राण हो सकता है । यदि यहाँ के नरेश को घुणाक्षर न्याय से भी इस बात का पता लग गया तो वे आपका बिन्दु-विसर्ग तक विनष्ट कर के ही विश्राम लेंगे । उनके प्रकोप के उत्ताप से आपका परित्राण कोई भी न कर सकेगा। जगन्नाथ, अब देर न करो । जाओ, चुपचाप भाग जाओ । देखना, किसी को स्थली-पुलाक-न्याय से भी आपका कर्म्म ज्ञात न हो जाय । मेरी ओर से सर्वथा निश्चिन्त रहना । इस हृदय-सागर से आपका यह भेद किसी प्रकार कभी भी प्रकाशित न होगा ।"

भगवान् ने अपने जीवन की ज्योति को बुझाने वाले जगन्नाथ को पकड़ा, उससे सब कुछ मनवा कर उसे मार्ग-व्यय के लिए रुपये दिये, और अन्त में बाल-बाल बचा कर वहाँ से ऐसे निकाल दिया कि उनके अपने प्रेमी जन भी कुछ कल्पना तक नहीं कर सके । उनके कर्मचारियों को इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हुआ । इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि उन्होंने विष-प्रयोग का कभी नाम तक नहीं लिया । जगन्नाथ ने भेस बदल कर पन्द्रह बरस नैपाल में काटे ।

महाराज के चरण-चिह्नों का अवलोकन करते, उनकी परमपावन पदपंक्तियों की यात्रा के भाव से गङ्गा-कूल पर फिरते समय हमने भी यह सुना था कि राज-घाट में सम्वत् १९७० तक एक जगन्नाथ नाम ब्राह्मण प्रायः आकर वास किया करता था । वह साधुओं के वेश में रहता था । पगला-सा प्रतीत होता था । वह जोधपुर में महाराज के सङ्ग था । कुछ-एक साधुजनों में यह भेद खुल भी गया था कि उसकी उन्मत्तता कृत्रिम थी । वास्तव में वह ब्रह्मघातक था ।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी, अपने पाँव के तलुवे में तीर मारने वाले को क्षमा दान देकर, पास से खिसका दिया था । परन्तु उसके और जगन्नाथ के कर्म्म में रातदिन और भूतलाकाश का अन्तर है । उसने श्रीकृष्ण के पाँव के चमकते चक्र को मृग की आँख समझ कर आविद्ध किया था, परन्तु जगन्नाथ तो सोच-विचारपूर्वक, किसी षड्यन्त्र के चङ्गुल में फँस कर, उस महाहत्या का भागी बना । इसलिए धन्य धारणा स्वामीजी महाराज की है जिन्होंने ऐसे विषम विषैले विषधर को भी क्षमा कर दिया, और प्रेरणा कर के उसे पाथेय-सहित अपने प्राण-परित्राण के उपाय में भी प्रवृत्त कर दिया ।

महर्षि की वेदना-व्याधि का समाचार आर्य्यसामाजिक जगत् को आश्विन शुक्ला एकादशी को मिला। अजमेर आर्य्यसमाज के एक सभासद् ने राजपूताना गजट में पढ़ा कि जोधपुर में भगवान् किसी भयंकर व्याधि में ग्रस्त हो रहे हैं। इस समाचार ने उसके चित्त को चलायमान कर दिया। उसने बात की बात में यह शोचनीय समाचार अजमेर के सामाजिक मण्डल में पहुँचा दिया। अजमेर समाज ने अपना एक सभासद् श्री-चरणों में जोधपुर भेजा। उसने महाराज की देह-दशा देख कर निवेदन किया कि भगवन्, आपने आर्य्य जनता को अपनी इस दशा को सूचना तक नहीं दी। महाराज ने कहा—"सौम्य, रोग का होना तो दैहिक धर्म्म ही है। इसका समाचार देकर आप लोगों के हृदयों को दुःखित करने का भागी क्यों बनता! हाँ, आप लोगों के हृदय-कमलों को प्रफुल्ल करने का कोई समाचार होता तो मैं तुरन्त आर्य्य जनता के कर्णगोचर कर देता।"

उस सभासद् के अजमेर लौटने पर महर्षि की वेदना-व्याधि के तार समाचार लाहौर, मुम्बई और मेरठ आदि सामाजिक केन्द्रों में दौड़ने लगे। उस दिन अजमेर का तार-घर आर्य्यों की चित्त-चिंता से अत्यन्त चंचल हो रहा था। उद्वेगवेग से व्याकुल जनों के सैकड़ों तार आ-जा रहे थे। उस घर के दिवाल-द्वार तक पर एक विचित्र घबराहट छा रही थी।

कई भक्तजन तो गुरुमहाराज की व्याधि के समाचार को पाकर इतने अधीर हो गये कि अपने सभी काम-धन्धे छोड़-छाड़ कर तत्काल श्री-चरण-दर्शनों के लिए दौड़ पड़े।

आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को महाराज को देखने के लिए सबसे बड़ा डाक्टर आया। स्वामीजी आबू पर्वत पर जाना चाहते थे। इसमें वह डाक्टर महाशय भी सम्मत हो गया। उस दिन सायं को श्री महाराजा यशवन्तसिंहजी, अपने सरदारों सहित, श्री-सेवा में पधारे और महाराज की व्याधि पर अति चिन्तित हुए। उन्होंने ढाई सहस्र रुपया श्री-चरणों में भेंट किया।

आश्विन पूर्णिमा को महाराज के आबू जाने की सब सामग्री उपस्थित हो गई। दिन के तीसरे पहर श्रीमन्महाराजा यशवन्तसिंहजी तथा महाराजा श्रीप्रतापसिंह जी स्वामीजी को विदा करने के लिए आये। महाराज उस समय

पलंग पर पड़े हुए थे। उनके पास ही कुर्सी पर श्रीमन्महाराजा महाशय बैठ गये। महाराज नरेशों से हर्षपूर्वक वार्त्तालाप करते रहे।

अश्वारोही सैनिक और रथादि सब आगये। महाराज के लिए एक विशेष पालकी आई। उसमें खस की टट्टियाँ लगी हुई थीं। एक पंखा भी था। सोलह कहार पालकी को उठाने के लिए थे। एक नौकर इस कार्य्य पर नियत हुआ कि मार्ग में उस पंखे को खींचता चले। भगवान् बंगले की ऊपर की छत पर निवास करते थे। प्रेमीजन उनको हाथों पर उठा कर धीरे-धीरे नीचे ले आए। जब वे महाराज की अतिकृश काया को पालकी में रखने लगे तो श्रीमन्महाराजा यशवन्तसिंहजी ने भी दोनों हाथों से सहायता देकर, अपने आर्योचित आचार और प्रेम का पूर्ण परिचय दिया। महाराजा महाशय ने भक्ति-भाव के साथ अपने बाँधने की फलालेन की विशेष पेटी भगवान् की कमर के साथ अपने कोमल हाथों से बाँध दी। इससे यात्रा में कष्ट बहुत थोड़ा होता है। भगवान् की पालकी के साथ-साथ पैदल चलते हुए वे उद्यान-द्वार तक आये। वहाँ पालकी ठहर गई। उस समय श्रीमन्महाराजा यशवन्तसिंहजी ने, श्रीमहाराज प्रतापसिंह सहित, श्रीचरणों को छूकर नम्र नमस्कार किया। तत्पश्चात् हाथ जोड़ कर प्रार्थना की, "भगवन्, आप ऐसी दशा में यहाँ से जा रहे हैं, इसका मुझे अतीव दुःख है। आपकी काया के इस उत्कृष्ट कष्ट-क्लेश को मैं अपने ऊपर एक प्रकार का कलंक ही मानता हूँ। यदि पूज्यपाद पूर्ण आरोग्य प्राप्त करने के उपरान्त यहाँ से प्रस्थान करते तो मुझे अपार प्रसन्नता उपलब्ध होती। शोक! मेरे मन के मनोरथ मन ही मन में रह गये।" यह शब्द कहते-कहते उनका जी भर आया।

भगवान् ने अपने प्रेमी महाराज को आश्वासन देते हुए कहा कि "राजन्, कोई चिन्ता न कीजिए। ईश्वर के ज्ञान में जो कुछ होना नियत है, उस ललाट-लेख में मीन-मेख करने की शक्ति किसी में भी नहीं है। रोग तो देह के साथ धूप और छाया की भाँति लगे ही रहते हैं। इस सप्तधातुमय भौतिक भवन मे विकार का उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। आप शोक न कीजिए। मैं आप लोगों के प्रेम-सत्कार से अतीव प्रसन्न हूँ। मुझे आप अपना पूर्ण हितेच्छु जानिए।"

अन्त में फिर श्रीमन्महाराजा ने श्री स्वामीजी को नमस्कार किया और उदासीनता से वहाँ से राजभवन को लौटे। दूसरे भी अनेक सज्जन उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने भी श्री-चरणों को स्पर्श करके अपने अहोभाग्य समझे। राजाज्ञा से डाक्टर सूर्यमल महाराज के साथ ही गये। आबू पर्वत पर भी जोधपुर के राज-निवास के अध्यक्ष को, स्वामीजी के वहाँ जाने की सूचना तार द्वारा कर दी गई।

पाँचवाँ सर्ग

महाराज सायंकाल वहाँ से चले। सारी रात चलकर सवेरे रोपट पहुँचे। वहाँ आठ पहर तक निवास किया। उसके अगले दिन पाली में आ गये। वहाँ रात्रि-निवास किया और फिर रेल में बैठ कर खारची में जा उतरे। वहाँ कुछ दिन विश्राम लेकर, फिर रेल में बैठ गये और कार्तिक कृष्णा ६ सम्वत् १९४० को प्रातः पाँच बजे आबू-रोड नामक स्टेशन पर जा पहुँचे।

भगवान् की पालकी जिस समय आबू पर्वत पर धीरे-धीरे आरोहण कर रही थी तो मार्ग ही में, पंजाब प्रान्त के अतिशय गुणवान् सुपुत्र डाक्टर लक्ष्मणदास ने प्रभु के दर्शन पाये। यह भाग्यवान् भक्त जिला शाहपुर के अन्तर्गत भेरा नगर का निवासी था। अपने शान्त के सुलभ स्वभाव से उसने झुक कर श्री-चरणवन्दना की और फिर उनकी नाड़ी को देखना आरम्भ किया। वह चतुर वैद्य भगवान् की कष्ट-कथा सुन और नाड़ी देखकर अति व्याकुल होगया। भगवान् ने उसे इतना ही कहा कि इस समय कुछ ही कष्ट है। परन्तु उनकी दशा को देखकर भक्तराज वैद्य की काया काँप उठी। उनका चित्त चंचल हो उठा।

उस समय डाक्टर लक्ष्मणदास अजमेर जा रहे थे, परन्तु उनका कलेजा इतना भर आया कि वे आबू-मार्ग स्टेशन की ओर एक डग भी न उठा सके और महाराज के साथ-साथ ही लौट पड़े।

महाराज को कोई पन्द्रह दिन से हिचकियों का उपद्रव सता रहा था। उनके वेग से सारी अंतड़ियाँ तनी जाती थीं। सम्पूर्ण तन में ऐंठन सी हो रही थी।

उदर तो बार-बार की खींच से हाथ लगाने पर भी दुखता था। परन्तु प्रेमी लक्ष्मणदासजी की चिकित्सा से यह उपद्रव दूसरे ही दिन दूर हो गया। अतिसार भी बन्द होगये।

इतने चिर की दारुण वेदना झेलते हुए भगवान् को एक ही भक्तराज वैद्य मिला था, परन्तु भवितव्यता ने उसे भी उनके पास से ढकेल दिया। भावी को यह नहीं भाता था कि आर्यों का सौभाग्य-सूर्य, अभागे भारत-भूभाग पर, कुछ काल और चमक कर उसकी निविड़ तमोराशि का सर्वनाश करे। कार्त्तिक कृष्णा अष्टमी को डाक्टर लक्ष्मणदास को ऊपर के अधिकारी की आज्ञा हुई कि आप तुरन्त अजमेर चले जाइए। भक्त लक्ष्मण ने अपने अधिकारी के आगे अति विनय-अनुनय की। गुरु महाराज की शोचनीय दशा का दृश्य उपस्थित किया। परन्तु उसने एक न सुनी। उनकी अति दीनता की प्रार्थना पर कर्णपात तक न किया। अन्त में भक्त लक्ष्मण ने जब देखा कि उनका अधिकारी किसी प्रकार भी मानने में नहीं आता, उसका हृदय किंचित् भी नहीं पसीजता, तो उन्होंने राज-नौकरी से त्याग-पत्र तक दे दिया।

भक्त लक्ष्मण के अमर आत्मा ! तू धन्य है। तेरा परम त्याग तेरी उच्चता का परिचायक है। तूने वही काम कर दिखलाया जिसकी किसी आर्य जननी के जाये से आशा की जा सकती है। तूने अपने नाम को भक्तों की माला में एक बहुमूल्य मणि बना कर अमर कर दिया है।

भक्त लक्ष्मण ने भक्ति-भाव से प्रेरित होकर त्याग-पत्र तो दे दिया, परन्तु कर्म की गति-मति से हठीला अधिकारी अधिक अकड़ गया। उसने कठोर हृदय से निकली हुई कड़ी आज्ञा के हाथों द्वारा भक्त लक्ष्मण को झपट कर श्री-सेवा से छीन लिया। बलात्कार से विवश करके उसे आबू पर से अजमेर को पटक दिया।

भक्त लक्ष्मण पर्वत-शिखर से उतर तो रहा था सही, परन्तु केवल कलेवर से, शून्य हृदय से, जलते कलेजे से और भरे हुए जी से। उनका मन-भ्रमर तो श्री-चरणों के चहुँ ओर चक्कर लगाकर उनकी परिक्रमा का परम-पुण्य उपार्जन कर रहा था। मार्ग में आते हुए भक्त की हृदय-सितार के तार ने कई बार इस स्वर का झँकार किया—*'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'*।

आबू से नीचे आते समय भक्त लक्ष्मण को कई आर्य पुरुष ऊपर जाते मिले। उन्होंने भक्तराज को पहचान कर उससे भगवान् का समाचार उतनी ही आतुरता से पूछा, जितनी से पाण्डु-पुत्र ने श्रीकृष्ण का ऊधवजी से पूछा था। भक्त ने अविरल आँसू बहाते हुए कहा, "भगवान् की अवस्था अतीव शोचनीय है। निर्बलता परले पार की पढ़ गई है। उनके कण्ठ में, जीभ पर, मुख में, माथे और सिर पर छाले पड़ गये हैं। पानी का घूंट भी बड़ी कठिनता से गले से नीचे उतरता है। इस महाघोर अन्धकार में, निपट हताशा की निशा में, उदासीनता के गहरे सागर में आशा की केवल यही एक मीनी रेखा चमकती है कि महाराज की चेतना ठीक है। उनकी आत्मा स्वस्थ है। हाय! मैं क्या करूँ, पराधीन हूं, विवश हूं। ऐसे समय में अकिंचित्कर हो गया हूँ, परन्तु पीछे महाराज के लिये औषधादि लिख आया हूँ।"

भक्त लक्ष्मण ने फिर कहा, "आप लोग भगवान् को किसी प्रकार अजमेर ले आयें तो बहुत ही अच्छा हो। उनको अजमेर लाने के लिए पूरा प्रयत्न कीजिएगा। इसी में सब कुछ हो सकता है।" भक्तराज इतना निवेदन करके, रुमाल से आँखें पोंछते हुए, आबू-मार्ग स्टेशन को चल पड़े। श्री-दर्शनार्थी आर्य जन आँसुओं से सड़क को सींचते हुए पर्वतारोहण करने लगे।

ठाकुर भूपालसिंहजी स्वामीजी के साथ जोधपुर में भी थे। आपने उनकी सेवा में रात दिन कुछ नहीं देखा। यद्यपि आप जिला अलीगढ़ के भूमिहार ठाकुरों में से एक प्रतिष्ठित ठाकुर थे, परन्तु उन्होंने महाराज की उलटियों को अपने हाथ से उठा कर दूर बाहर फेंका। वे महाराज का मूत्र-पुरीष तक उठाते रहे। अपनी गोद में उठा कर उनको शौच-स्थान में ले जाते। कई बार उनके हाथों पर ही अतिसार हो गये। वे उनके मलमूत्र के वस्त्रों को भी धोते। जो भी गुरु-सेवा कोई आदर्श सेवक कर सकता है वह ठाकुर महाशय ने की और रातों जाग कर की।

प्रशंसित ठाकुर महाशय तो श्रीसेवा में थे ही, मेरठ से महाशय लक्ष्मण स्वरूपजी, फरुखाबाद से लाला शिवदयाल और मुम्बई से सेवक लाला कृष्णदास आदि अनेक भक्तजन आबू पर आ पहुँचे।

आबू के तार-घर के कर्मचारियों को उन दिनों में आँखें झपकना भी नहीं

मिलता था। पल-पल में इतने तार आते थे कि किसी को सिर खुजलाने तक का अवकाश न था। आर्यों की व्यस्ततावेग के निरन्तर आने वाले तार उस तार-घर को धुआँधार कर रहे थे। सभी कर्मचारी कहते थे कि इतने तार पहले वहाँ कभी नहीं आये।

भगवत्पादपद्मों में महाराजा श्री प्रतापसिंहजी की भक्ति अपार थी। वे अनन्य मन से उनके सेवक थे। उनके आबू पर आने के दो-तीन दिन पश्चात् ही वे वहाँ गये और श्रीचरण चुम्बन करके पीछे लौट आये। महाराज के निवासादि का भी वे पूरा प्रबन्ध कर गये।

स्वामीजी तो आबू पर ही रहना चाहते थे, परन्तु प्रेमीजन रातदिन प्रार्थना करते कि प्रभो, अजमेर में पधारिये। वहाँ यथायोग्य रीति से औषधोपचार हो सकेगा। वहाँ श्रीचरणों के एक निष्ठावान् सेवक डाक्टर श्री लछमणदासजी विद्यमान हैं।

भक्तों के अत्याग्रह-वश भगवान् कार्तिक कृष्णा एकादशी को अजमेर को चल पड़े। अजमेर स्टेशन पर उस दिन आर्य पुरुषों की एक भारी भीड़ लगी हुई थी। गाड़ी आने पर जब चार-पाँच मनुष्यों ने स्वामीजी को अपने हाथों पर उठाकर नीचे उतारा, तो आर्य जनों के हृदय व्याकुलता से चूर-चूर हो गये। उनके लिये पहले से ही एक कोठी नियत की हुई थी। वहाँ ले जाकर उन्होंने महाराज की अतिकृश काया को पलंग पर लिटा दिया।

कार्त्तिक कृष्णा द्वादशी से फिर डाक्टर लछमणदासजी की औषधि आरम्भ हो गई। भक्त लछमणदास नियत समय पर बदल-बदल कर औषधि देते, आप भी अधिक समय वहाँ रहते, परन्तु सभी प्रयत्न निष्फल जाते थे। कोई भी औषधि लगती न थी। पल-पल, घड़ी-घड़ी और दिन-दिन में महारोग भीषणाकार होता चला गया। इससे सबकी चित्त-भित्तियों पर निराशा और चिन्ता के चिह्न चित्रित होते जाते थे। कार्त्तिक कृष्णा त्रयोदशी को पण्डित भागरामजी श्री-दर्शनों के लिए आये। महाराजने उनको अति धीमी ध्वनि से कुशल-प्रश्न किया। उन्होंने निवेदन किया कि भगवन्, आपकी कृपा से मैं तो अच्छा हूँ, परन्तु श्री-भगवान् को इस दशा में देखकर हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। भगवान् भक्त भागराम की ओर गम्भीर भाव से देर तक देखते रहे। अन्त

में पण्डितजी न्यायालय को चले गये ।

उसी दिन लाहौर से लाला जीवनदास और पण्डित गुरुदत्तजी वहाँ पहुँचे । नम्र नमस्कार करके लालाजी पलङ्ग के पायतॉने की ओर बैठ गये। महाराज ने उनको आँख खोलकर देखा । फिर उनको हाथ से पकड़ अपनी ओर खींचकर लाहौर की सामाजिक सृष्टि का सुख-समाचार पूछा । उसी समय लालाजी ने पण्डित श्री गुरुदत्त का परिचय कराया । पण्डित महाशय ने उठकर बड़ी विनीतता से श्रीचरण छूकर नमस्कार किया ।

श्रीमन्महाराणा सज्जनसिंहजी ने, उदयपुर से पण्ड्या मोहनलालजी को पूज्यपादजी का कुशल-समाचार पूछने के लिए भेजा । पण्ड्याजी ने जब आकर देखा कि उनके फेफड़े काश-श्वास से धौंकनी की भाँति धौंक रहे हैं, अन्तकालीन वेदना से उनका बदन व्यथित हो गया है, उनकी परिपुष्ट काया अब अस्थि-पिञ्जरावशेष यष्टि बन गई है, और उनके जीवन-स्रोत के सामने उसे शोषण करने के लिए मृत्यु की महामरुस्थली आ पड़ी है, तो वे पाँव के तलुओं से सिर की चुटिया तक थर-थर काँप गये । एकाएक उनका सिर चकरा गया, जी घुटने लगा और आँखों के आगे अन्धेरा छा गया । अन्त में उन्होंने कलेजा थामकर चरण-वन्दना की और बताया कि "श्री महाराणाजी आपकी व्याधि का वृत्त जानकर अति चिन्तित हो रहे हैं । वे रात-दिन आपका स्वास्थ्य-समाचार जानने की प्रतीक्षा करते रहते हैं । महाराज आज आपकी परोपकार-मूर्ति की यह अवस्था देखकर मैं भी अति अधीर हो रहा हूँ । भगवन्, भारतभूमि के शुभ-भाग्य-प्रभात को आहूत करने के लिए आप ऐसे भारत-भक्तों की अभी बड़ी भारी आवश्यकता है । ये हमारे, हमारी जाति के और हमारे देश के दुर्दिन हैं जो आपकी दयापूर्ण देह इस दुःखद दशा में आ पड़ी है ।"

महाराज ने कहा, "पण्ड्याजी, खेद से खिन्न न हूजिए । अब विधाता की ऐसी ही इच्छा है । देह का बनना और बिगड़ना तो, पानी के बुद्बुदे और सागर-तरङ्ग की भाँति होता ही रहता है । यह मर्त्यलोक मरणाभिमुख है । कोई अनहोनी होने लगे तो उसका कोई शोक भी करे, परन्तु मिलकर टूटना, बनकर बिगड़ना, होकर न रहना, जन्म कर मर जाना तो जगत् का अवश्य-म्भावी नियम है । इसके लिए सोचना नहीं चाहिए ।"

कार्तिक कृष्णा १४ को महाराज के शरीर पर नाभि तक छाले पड़ गये थे। उनका जी घबराता था। गला बैठ गया था। श्वास-प्रश्वास के वेग से उनकी नस-नस हिल जाती थी। सारी देहमें दाह-सी लगी हुई थी। परंतु वे नेत्र मूँद कर ब्रह्म-ध्यान में वृत्ति चढ़ाये हुए थे। अजान लोग उनकी इस ध्यानावस्था को मूर्छा मान लेते थे। जब शरीर अपने व्यापार से शिथिल हो जाय और बोलने आदि की शक्ति भी मन्द पड़ जाय तो सभी सन्त-जन मनोवृत्तियों को मूर्छित करके निमग्नावस्था में चले जाया करते हैं।

कार्तिक अमावस्या मङ्गलवार, दीप-माला के दिन, सवेरे विदेशी बड़ा डाक्टर न्यूटन महाराय आया। उसने उनके रोग-भोग की अवस्था देखकर आश्चर्य से कहा कि ये बड़े साहसिक और सहनशील हैं। इनकी नस-नस और रोम-रोम में रोग का विषैला कीड़ा घुसकर कुलबुलाहट कर रहा है, परन्तु ये प्रशान्त-चित्त हैं। इनके तन-पिंजर को महाव्याधि की ज्वाला-जलन जलाये चली जाती है जिसे दूर से देखते ही कँपकपी छूटने लगती है। पर ये हैं कि चुपचाप चारपाई पर पड़े हैं। हिलते-जुलते तक नहीं। ऐसे रोग में जीते रहना इन्हींका काम है।

भक्त लक्ष्मणदास ने उनसे कहा कि महाशय, ये महापुरुष स्वामी दयानन्दजी हैं।

यह सुनकर डाक्टर महाशय को अत्यधिक शोक हुआ। महाराज ने उस बड़े वैद्य के प्रश्नों का उत्तर संकेत-मात्र से दिया। एक मुसलमान वैद्य पीरजी बड़े प्रसिद्ध थे। वे भी उनको देखने आये। उन्होंने आते ही कह दिया—"इनको किसी कुलकण्टक ने कालकूट विष देकर अपनी आत्मा को कालिख लगाई है। इनकी देह पर सारे चिह्न विष-प्रयोग-जन्य ही दिखाई देते हैं।" पीरजी ने भी महाराज का सहन-सामर्थ्य देख दाँतों में उङ्गली दबाते हुए कहा, "धैर्य का ऐसा धनी धरणी-तल पर हमने दूसरा नहीं देखा।"

इस प्रकार राजवैद्यों और भक्त-जनों के आते-जाते दिन के ग्यारह बजने लगे। रोगी का साँस अधिक फूलने लगा। वे हाँपते तो बहुत थे परन्तु बोलने की शक्ति कुछ लौट आई थी। उनका कण्ठ खुल गया था। इससे प्रेमियों के मुख-मण्डलों पर प्रसन्नता की रेखा खेलने लगी, परन्तु पीछे जाकर उन्हें पता लगा

कि यह तो दीपक-निर्वाण की अन्तिम प्रदीप्ति थी। सूर्यास्त का उजेला था।

महाराज ने उस समय शौच होने की इच्छा प्रकट की। चार भक्तों ने उन्हें हाथों पर उठाकर शौच होने की चौकी पर बिठा दिया। निवृत्त होकर वे फिर भली-भाँति शुद्ध हुए और आसन पर विराजमान हो गये।

उस समय श्री स्वामीजी ने कहा कि आज इच्छानुकूल भोजन बनाइए। भक्तों ने समझा कि भगवान् आज अपेक्षाकृत कुछ स्वस्थ हैं, इसलिए अन्न ग्रहण करना चाहते हैं। वे थाल लगाकर श्री महाराज के सामने ले आये। स्वामीजी ने टुक देखकर कहा कि अच्छा, इसे ले जाइए। अन्त में प्रेमियों की प्रार्थना पर उन्होंने चनों के झोल का एक चमचा ले लिया, फिर हाथ-मुँह धोकर भक्तों के सहारे वे पलंग पर आ गये।

शरीर को वेदना बराबर ज्यों की त्यों बनी हुई थी। श्वास रोग का उपद्रव पूरे प्रकोप पर पहुँच चुका था। पर वे शिष्य-मण्डली से वार्तालाप करते और कहते थे कि एक मास के अनन्तर आज स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ है। बीच-बीच में जब वेदना का वेग कुछ तीव्र हो जाता तो वे आँखें बन्दकर मौन हो जाते। उस समय उनकी वृत्ति स्थूल शरीर का सम्बन्ध छोड़ देती—आत्मा-कारता को लाभ कर लेती।

इसी प्रकार पल-विपल बीतते साँझ के चार बजने को आये। भगवान् ने नाई को बुलाकर क्षौर करने को कहा। लोगों ने निवेदन किया कि भगवन्, उस्तरा न फिराइए, छाले-फुंसियाँ कटकर लहू बहने लगेगा। परन्तु उन्होंने कहा कि इसकी कोई चिन्ता नहीं है। क्षौर कराकर उन्होंने नख उतरवाए। फिर गीले तौलिये से सिर को पोंछकर सिरहाने के सहारे पलङ्ग पर बैठ गये।

उस समय श्री महाराज ने आत्मानन्दजी को प्रेम से आहूत किया। जब आत्मानन्दजी हाथ जोड़कर सामने आ खड़े हुए तो कहा—वत्स, मेरे पीछे बैठ जाओ। गुरुदेव का आदेश पाकर वे सिरहाने की ओर, तकिये के पास, प्रभु की पीठ थामकर विनय से बैठ गये।

महाराज ने अतीव वत्सलता से कहा—वत्स आत्मानन्द, आप इस समय क्या चाहते हैं? गुरु महाराज के वचन सुनकर आत्मानन्दजी का हृदय भर आया। उनकी आँखों से एकाएक आँसुओं की लड़ी टूट पड़ी। गद्‌गद् गले से

आत्मानन्दजी ने नम्रीभूत निवेदन किया कि यह तुच्छ सेवक रात-दिन यही प्रार्थना करता है कि परमेश्वर अपनी अपार कृपा से श्री-चरणों को पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करे। इसे इससे बढ़कर त्रिभुवन-भर में दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं है।

महाराज ने हाथ बढ़ाकर आत्मानन्दजी के मस्तक पर रक्खा और कहा—वत्स, इस नाशवान् क्षणभंगुर शरीर को कितने दिन स्वस्थ रहना है! बेटा अपने कर्तव्य-कर्म को पालन करते आनन्द से रहना। घबराना नहीं। संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है।

महाराज के इन वचनों को सुनकर आत्मानन्दजी सिसक-सिसक कर रोने लगे। गुरु-वियोग-वेदना को अति समीप खड़ा देखकर उनका जी शोक-सागर के गहरे तल में डूब गया।

गोपालगिरी नाम के एक संन्यासी भी कुछ काल से श्री-चरण-शरण में वास करते थे। महाराज ने उनको आमन्त्रित करके कहा कि आपको कुछ चाहिए तो बता दीजिए। उन्होंने भी यही विनय की कि भगवन्! हम लोग तो आप का कुशल-क्षेम ही चाहते हैं। हमें सांसारिक सुख की कोई भी वस्तु नहीं चाहिए। फिर महाराज ने दो सौ रुपये और दो दुशाले मँगाकर भीमसेनजी और आत्मानन्दजी को प्रदान किये। उन दोनों ने अश्रुधारा बहाते, भूमि पर सिर रखकर वे वस्तुएं लौटा दीं। वैश्यवर भक्तराज श्रीलक्ष्मणदासजी को भी भगवान् ने कुछ द्रव्य देना चाहा, परन्तु उन्होंने द्रवीभूत हृदय से कर जोड़कर लेने से इन्कार कर दिया।

इस प्रकार अपने शिष्यों से गुरु महाराज को विदा होते देखकर, आर्यजनों के चित्त की चंचलता और चिन्ता की प्रचण्डता चरम सीमा तक पहुँच गई। वे बड़ी व्याकुलता से सामने आ खड़े हुए। उस समय श्री स्वामीजी, अपने दोनों नेत्रों की ज्योति सब बन्धुओं के मुखमण्डलों पर डालकर, एक नीरव पर अनिर्वचनीय स्नेह-संलापसहित, उनसे अन्तिम विदाई लेने लगे। उनके प्रेम-पूर्ण नेत्र, अपने पवित्र प्रेम के सुपात्रों को धैर्य देते और ढाढस बँधाते प्रतीत होते थे। महाराज प्रसन्न-चित्त थे। उनके मुख पर घबराहट का कोई भी चिह्न परिलक्षित नहीं होता था।

परन्तु भक्त जनों की आशाएँ पग-पग में निराशा-निशा में लीन हो रही थीं। उनके उत्साह की कोमल कलियों के सुकोमल अङ्ग पल-पल में भङ्ग हुए चले जाते थे। वे गुरुदेव की दैवी देह के देव दुर्लभ दर्शन पा तो रहे थे,परन्तु उनकी आँखों के आगे रह रहकर आँसुओं की बदलियाँ आ जाती थीं। रुलाई का कुहरा छा जाता था। सर्वत्र निविड़ तमोराशि का राज्य दिखाई देने लगता था। वे जी को कड़ा किये कलेजा पकड़ कर खड़े तो थे, परन्तु खोखले पेड़ और घुने हुए दाने की भाँति मानो सत्वरहित थे।

ऐसी दशा ही में सायंकाल के पाँच बजने लगे। उस समय एक भक्त ने पूछा कि भगवन्, आपकी प्रकृति कैसी है? श्री महाराज ने उत्तर दिया कि अच्छी है; प्रकाश और अन्धकार का भाव है। इन्हीं बातों में जब साढ़े पाँच बजे तो महाराज ने सब द्वार खुलवा दिये और भक्तों को अपनी पीठ-पीछे खड़े होने का आदेश किया। फिर पूछा कि आज पक्ष, तिथि और वार कौनसा है। पण्ड्या मोहनलाल ने शिरोनत होकर निवेदन किया कि प्रभो, कार्तिक कृष्णपक्ष का पर्यवसान और शुक्ल का प्रारम्भ है। अमावस्या और मङ्गलवार है।

तत्पश्चात् महाराज ने अपनी दिव्य दृष्टि को उस कोठरी के चहुँओर घुमाया और फिर गम्भीर ध्वनि से वेद-पाठ करना आरम्भ कर दिया। उस समय उनके गले में, उनके स्वर में, उनके उच्चारण में, उनकी ध्वनि में, उनके शब्दों में किंचिन्मात्र भी निर्बलता प्रतीत नहीं होती थी।

भगवान् के होनहार भक्त पण्डित श्री गुरुदत्तजी उस कमरे के एक कोने में भित्ति के साथ लगे हुए भगवान् की भौतिक दशा के अन्त का अवलोकन कर रहे थे। टकटकी लगाये निर्निमेष नेत्रों से उनकी ओर देख रहे थे।

पण्डित महाशय उस धर्मावतार के दर्शन करने पहले-पहल ही आये थे। उनके अन्तःकरण में अभी आत्म-तत्व का अंकुर पूर्ण-रूप से नहीं निकल पाया था। परन्तु श्री महाराज की अन्तिम दशा को देखकर वे अपार आश्चर्य से चकित हो गये। वे चौकसाई और विचार से देख रहे थे कि मरणासन्न महात्मा के तन पर अगणित छाले फूट निकले हैं। उनको विषम वेदना व्यथित किये जाती है। उनकी देह को दावानल-सदृश दाह-ज्वाला एक प्रकार से दग्ध कर रही है। प्राणान्तकारी पीड़ा उनके सन्मुख उपस्थित है। परन्तु महात्मा शान्त बैठे हैं,

दुःख-क्लेश का नाम-निर्देश तक नहीं करते । उलटे,गम्भीर गर्जना से वेद-मन्त्र गा रहे हैं । उनका मुख प्रसन्न है। आँखें कमल-सदृश खिल रही हैं। उनका विमल भाल अद्भुत आभा से चन्द्रमा के सदृश चमक रहा है। व्याधि मानों उनके लिए त्रिलोकी में त्रयकाल उत्पन्न ही नहीं हुई। यह सहनशीलता शरीर की सर्वथा नहीं हैं। अवश्यमेव यह इनका आत्मिक बल है।

यह पहला पल था कि जिसमें महर्षि की मृत्यु की अवस्था देखकर श्री गुरुदत्त ऐसे धुरन्धर नास्तिक के हृदय की उपजाऊ भूमि में आत्मिक जीवन की जड़ लग गई । इन भावों की विद्युत-रेखा चमकते ही वे सहसा चौंक पड़े। उन्होंने क्या देखा कि एक ओर तो परम-धाम को पधारने के लिए प्रभु परमहंस पलङ्ग पर बैठे प्रार्थना कर रहे हैं और दूसरी ओर वह व्याख्यान देने के वेश में सुसज्जित, उसी कमरे की छत के साथ लगे बैठे हैं। इस आत्म-योग के प्रत्यच प्रमाण को पाकर पण्डित महाशय का चित्त-स्फटिक, आस्तिक भावा की प्रभा से चमचमा उठा। मानों एक ओर से निकलती हुई ज्योति उनकी देह के दीप में प्रवेश कर गई।

गुरुदत्त अपने, गुप्त रीति से आत्मदाता गुरुदेव को फिर अतिशय श्रद्धा से देखने लगे। भगवान् देव-गान के अनन्तर, परम-प्रीति से पुलकित-अंग होकर, संस्कृत शब्दों में परमात्मदेव की प्रार्थना करने लगे। फिर आर्यभाषा में ईश्वर गुण गाते भक्तों की परम गति भगवती गायत्री को जपने लगे। उस महामन्त्र के पुण्यपाठ को करते-करते मौन हो गये और चिरकाल तक सुवर्णमयी मूर्ति की भाँति निश्चल रूप से समाधिस्थ बैठे रहे। उस समय उनके स्वर्गीय मुख-मण्डल के चारों ओर सुप्रसन्नता-प्रभात की झलमलाहट पूर्ण-रूप से झलमल कर रही थी।

समाधि की उच्चतम भूमि से उतर कर, भगवान् ने दोनों नेत्रों के पलक-कपाट खोलकर, दिव्य ज्योति का विस्तार करते हुए कहा—"हे दयामय, हे सर्व-शक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है। सचमुच, तेरी ही इच्छा है। परमात्म-देव तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा मेरे परमेश्वर, तूने अच्छी लीला की!"

इन शब्दों का उच्चारण करते ही, महर्षि ने आत्मिक प्राण को ब्रह्माण्ड-द्वार द्वारा, परम धाम को जाने के लिये स्वर्ग-सोपान पर आरूढ़ किया और तत्पश्चात्

पवन-रूप प्राण को कुछ पल तक भीतर रोककर प्रणव-नाद के साथ बाहर निकाल दिया। उसे सूत्रात्मा वायु में लीन कर दिया।

प्रभु के स्थूल प्राण के निकलने के साथ ही उपस्थित सेवकों की अश्रु-धाराएँ प्रगल्भ हो गईं। अनाथ बालकों की भाँति, भक्तजनों ने रो-रो कर कमरे की भूमि को भिगो दिया। उनके दुःख का, उनके क्लेश का, उनकी निराशा का, उनके शोक का कोई पारावार न रहा। सबके हृदय इस दारुण दुःख से विदीर्ण हो गये। वे बहुतेरा थामते, पर उनका कलेजा बार-बार मुँह को आता था। वे धैर्य धारण करने की चेष्टा भी करते, पर चित्त चकनाचूर ही हुए चला जाता था। फूट-फूट कर रोते उनकी आँखें फूल गईं। हिचकियाँ बँध गईं। व्याकुलता-वेग ने उनको शोक के अति गहरे सागर में डुबो दिया।

आर्य भारत के भाग्य का भानु भगवान् दयानन्द, कार्तिक अमावस्या सम्वत् १९४० वैक्रमी, मङ्गलवार को सायं के छः बजे एकाएक, काल कराल-रूप अस्ताचल की ओट में हो गया। उस समय सूर्यदेव भी अस्त हो गये थे। तमोमयी महातमिस्रा रजनी ज्यों-ज्यों घोरतर रूप धारण करती जाती थी त्यों-त्यों अजमेर के तारघर से दौड़ते हुए तार आर्य-संसार में निराशा की अति शोक की और असह्य विपत्ति-वज्रपात की घोरतम तमोराशि की निपट निशा का विस्तार कर रहे थे।

महाराज के निर्वाण का अचानक समाचार पाकर आर्यों के चित्त चौंक पड़े, चंचल हो उठे; उनके सिर पर दुःख-रूप पर्वत-शिखर का सहसा विनिपात हो गया। उस समय आर्यजनों की आँखें गङ्गा-यमुना की भाँति बड़े वेग से बह रही थीं। उनके हृदय अस्त-व्यस्तता में व्याकुल हो रहे थे। मन गहरे खेद की खाई में गिरकर छिन्नावस्था में खण्ड-खण्ड हुए जाते थे। उनकी आत्माएँ इतनी अधीर हो गई थीं कि उनको एक-एक पल द्रौपदी के चीर के समान दिखाई देता था और वह रात्रि काल-निशा सदृश जान पड़ती थी।

जिस प्रकार श्रीराम के वियोग में भरतजी व्याकुल हो उठे थे और श्रीकृष्ण के निर्वाण पर ऊधवजी तथा पाण्डवों ने करुण क्रन्दन किया था, उसी प्रकार भगवान् दयानन्द के स्वर्ग सिधारने पर आर्यसमाजियों में अनवरत आर्त्त नाद होने लगा। उनके मध्याह्न के सूर्य की प्रखर किरणों पर अकस्मात् काल-कालिमा

छा गई। शरत्पूर्णिमा के शुभ्र ज्योत्स्ना-युक्त चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ गई। उनकी उन्नति और उदय के बालरवि को राहु ने सहसा ग्रस लिया। हरित, भरित, पुष्पित और फलित आर्यसमाज-वाटिका पर पुरुष-पाषाणराशि को भी तुषार-रूप में परिणत करने वाला भीषण तुषारपात हो गया। प्रसन्नता पर खिन्नता की झलक आ गई। चारु प्रेम-प्रतिमा अकाल ही में सामने से उठा ली गई। उनकी सुविमल, सुशीतल, सुवासित, सुकोमल चित्त-कलियों को काल की लू के झकोले ने जहाँ-तहाँ से झुलस दिया। वे गुरु-वियोग-व्यथा से विह्वल हो, बिलख-बिलख कर रोदन करते थे।

आगामी दिन के समाचार-पत्रों ने शोकसूचक गहरी काली रेखा देकर अपने स्तम्भों के स्तम्भ इस शोक-समाचार पर लिखे, जिससे पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण पर्यन्त भारत भर में भगवान् के असामयिक स्वर्गारोहण का शोक छा गया। नगर-नगर में लोगों ने सभाएँ लगाकर इस अति भारी क्षति और धर्म-हानि पर आँसू बहाये। इस सार्वभौम शोक में अमेरिका और यूरोप के देश भी सम्मिलित हुए।

कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को प्रातःकाल भक्तजन भगवान् की जीवन-ज्योति-विहीन निर्जीव देह-दीवट को उठाकर स्नान कराने लगे। वे चाहते थे कि महाराज के शरीर पर केवल सुशीतल जल ही पड़े, परन्तु बलात्कार से उनके आँसू बराबर टपटप करके टपक पड़ते थे। स्नान कराने के उपरान्त महाराज की देह को चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं से चर्चित किया गया। फिर उसे बहुमूल्य वस्त्रों में वेष्टित करके पलङ्ग पर प्राण-त्याग आसन में स्थापित किया गया। उस समय, सैंकड़ों मनुष्य उनके अन्तिम दर्शनों को दौड़े आकर, अपने नेत्रों की सहस्र धाराओं से उस कोठरी की भूमि को भिगोते थे। वहाँ ऐसा प्रतीत होता था कि आज यहाँ शोक के सातों सागर उमड़े पड़े हैं। जिस समय महाराज की देह को उठाने के लिए भक्तजन विमान बनाने लगे तो पण्ड्या मोहनलालजी ने भ्रातृ-मण्डल के सामने निवेदन किया कि "श्रीमन्महाराणा श्री सज्जनसिंहजी ने मुझे चलते समय आदेश किया था कि यदि हम लोगों के दुर्भाग्य से महाराज का शरीर छूट जाय, तो किसी प्रकार तीन-चार दिन पर्यन्त उसका दाह-कर्म न किया जाय, जिससे मैं और उनके दूसरे शिष्य राजे-महाराजे

उनके अन्तिम दर्शन पा सकें, उनके दाह-कर्म में भी सम्मिलित हो सकें।" परन्तु प्रभु के उपस्थित प्रेमियों ने दाह-कर्म उसी दिन कर देना ही उचित समझा। शिविका पुष्पों, कदली-स्तम्भों और कोमल पत्तों से सुसज्जित की गई। दिन के दस बजे महाराज की अरथी उठाई गई। उस समय सैकड़ों सज्जन नंगे पाँव उसके पीछे चलते थे। राय भागराम भी नंगे पाँव साथ थे। महाराज के शिविका में पड़े शव को पंजाबी सैनिक अपने बलिष्ठ कन्धों पर उठाये वाहन कर रहे थे। रामानन्दजी और गोपालगिरिजी आदि आगे-आगे वेद-पाठ करते चलते थे। अजमेर नगर के आगरा द्वार से होते हुए, बाजारों और चौकों का उल्लङ्घन करते, नगर से बाहर दक्षिण भाग में शिविका पहुंचाई गई।

वेदी बनने में कुछ देर जानकर पण्डित भागरामजी ने आर्यों के डाँवाडोल मनों को धैर्य बँधाते हुए स्वर्गीय स्वामीजी के गुण-कीर्तन किये। उनके उपकार बताये और स्वामीजी के उद्देश्यों की परिपूर्ति के लिए स्वामीभक्तों को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि पण्डित महाशय का कण्ठ बीच में बाष्प से बार-बार रुक जाता था, फिर भी उन्होंने यथा-तथा करके अपना हार्द प्रकाशित कर ही दिया।

तत्पश्चात् रायबहादुर पण्डित सुन्दरलालजी कलेजे को कड़ा करके कथन करने लगे। परन्तु वे तो दो-चार शब्दों ही में शोक-सागर में डूब गये। उनके दोनों नेत्रों से बहते हुए अश्रुओं ने उनके वक्षस्थल को गीला कर दिया। उनका गला इतना रुक गया कि वे आगे कुछ भी न बोल सके।

वेदी बन जाने पर भक्त लोगों ने दो मन चन्दन और दस मन पीपल की समिधाओं से चिता चयन की। अपने टूक-टूक होते हृदयों को थामकर उन्होंने गुरुदेव के शव को उस अन्तिम शय्या पर शायी कर दिया। रामानन्द और आत्मानन्दजी ने यथाविधि अग्न्याधान किया। अग्नि-स्पर्श होते ही घृत-सिंचित चिता ज्वाला-माला से आवृत हो गई। उस दाह-कुण्ड में चार मन घी, पांच सेर कपूर, एक सेर केसर और दो तोले कस्तूरी डाली गई। चरु और घृत की पुष्कल आहुतियों से हुत श्रीमहाराज का शव, प्रेमियों के नीर-भरे नेत्रों के देखते ही देखते अपने कारणों में लय होगया। महाराज की अमर आत्मा तो जागतिक ज्योति में पहले ही लीन हो चुकी थी। सेवकों ने उनके शरीर को भी ज्योतिःशय्या पर आरूढ करके उसके तात्त्विक रूप में पहुँचा दिया।

गुरु महाराज की दुर्लभ देह का दाह-कर्म करने के अनन्तर, अति शोकातुर आर्यजन नगर को लौट आये। उस दिन वे अपने को निःसार और निःसत्व समझते थे; प्रत्येक कार्य में अनमने-से हो रहे थे। अपने अति प्यारों को भी देखकर उनको प्रसन्नता नहीं होती थी। उनको अपने देह के दीवट पर धरा हुआ मन का दीवा प्रसन्नता की ज्योति से सर्वथा शून्य जान पड़ता था।

कार्तिक शुक्ला द्वितीया को पण्ड्या मोहनलालजी ने महाराज के स्वीकार-पत्र के अनुसार उनकी सारी वस्तुओं पर अधिकार कर लिया और कागज-पत्रादि उदयपुर भेज दिये।

भगवान् की अस्थियों को चयन करके, शाहपुराधीश के दिये उद्यान में गाड़ दिया गया। यह उद्यान अन्नासागर के किनारे पुष्कर की सड़क पर है।

महाराज के निर्वाण के अनन्तर, कई दिनों तक, सारे भारतीयों के मानस-आकाश में शोक का मेघमण्डल मण्डलाता रहा। भारत-भक्तों के हृदय पर गहरी चोट आई। सुधारक दल का दाहिना हाथ गिर गया। अबलाओं के पक्ष-पोषक, दीन-दुर्बलों के सहायक और अनाथों को सनाथ करने वाले मस्त योगी ने अपनी काया-कन्दरा त्याग दी, पर्ण-कुटी छोड़ दी। वह एकाएक चुपके से स्वर्गधाम को पधार गया। परन्तु उसकी फेरी का अखण्ड नाद जनता के कानों में ज्यों का त्यों गूँजता रहा। उसकी माधुरी मूर्ति आँखों के सामने वैसी की वैसी ही फिरती रही।

कुछ काल तक तो आर्यसमाजों के साथ सबने सहानुभूति का प्रकाश किया। उनके गहरे घाव पर मरहम-पट्टी की। परन्तु मत-मतान्तरों की ममता और अपनी-अपनी अहन्ता के कारण बहुत से मतवादी पुरुष इस पारिजात पादप-पंक्ति को परिरक्षण-रहित समझने लगे। इस नन्दनवन को महामाली के बिना उजड़ा हुआ मानने लगे। नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में आर्यों का विरोध होने लगा। विचक्षण विज्ञानियों ने, स्वामीजी के स्वर्गारोहण पर, आर्यसमाज के जीवन-दिन अपनी उङ्गलियों पर गिन लिये। उन्होंने अनुमान कर लिया कि इस नौका का न्याय और नीति-निपुण नाविक इसे भँवर से तो निकाल गया है परन्तु मझधार से बाहर नहीं कर सका। अब उस कुशल कर्णधार के बिना यह निपट अनाड़ियों के हाथ पड़कर आप ही आप डूब जायगी।

आर्यसमाजियों के हृदय कई दिनों और मासों तक डगमगाते रहे। उनके मनों में निराशा का राज्य बना रहा। उनके चित्तों का उत्साह भग्न हो गया। उनके साहस को कहीं ठौर-ठिकाना न रहा। वे अपने को जहाँ-तहाँ निस्सहाय और निरवलम्ब पाते थे। परन्तु थोड़े ही मासों के अनन्तर आर्यों की आशा-लता में नव-ताम्र-वर्ण, सुकोमल कोंपल निकल आई। उनकी मेरक-सेना के सुचतुर संचालक सेनापति का काम करने लग गये। वे जगद्गुरु की जगाई ज्योत को जो-जीवन से यथार्थ रखने में प्रयत्नशील हो गये।

जैसे भूमण्डल-भर को भयभीत करने वाले भारी भूकम्प से समुद्र कुछ पीछे हटकर फिर चौगुने बल से आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भारी निराशा के अनन्तर आर्यसमाजियों का उत्साह-सागर और प्रबलता से उछल-उछलकर ऊँचे किनारों पर से भी पार होने लगा। नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में धर्म-ध्वनि की गूँज सुनाई देने लगी। उनकी धर्म-प्रचार की तत्परता ने, सुधार की अनोखी लगन ने, धर्म-चर्चा के विचित्र चातुर्य ने, शास्त्रार्थों के निर्भय भाव ने देखने वालों की आँखों में चकाचौंध लगा दी। आर्यों का 'नमस्ते' का मधुर नाद उस समय मनोमोहन महामन्त्र था। इसको सुनते ही आर्य जन की छाती प्रेम से उछलने लगती। वह आगन्तुक के मुख से यह मन्त्र सुनकर उसे गले लगा लेता। उसे उसके नाम-धाम की पूछताछ की भी आवश्यकता न रहती। इस महामन्त्र के पुण्य पाठ ही से परम विश्वास का प्रकाश हो जाता। भेद-भावना मिटाकर, भ्रातृ-भाव के सूत्र में मनों के मनके पिरोने के लिए इस महामन्त्र का मुख से उच्चारण करना ही पर्याप्त समझा जाता।

उस समय मिलाप में एक अनुपम माधुर्य आ गया था। संहति और संघ का बड़ा महत्व माना जाता था। लोगों में नया पुरुषार्थ, नूतन प्रेम, नवीन जीवन, नव उद्योग और लगन उत्पन्न हो गई। जैसे आकाश में धमा-चौकड़ी मचाने वाला मेघमण्डल वर्षाकाल में हिमालय पर बरसकर, कार्तिक मास में सर्वथा शान्त हो जाता है और नील नभ में उसकी एक टुकड़ी भी दिखाई नहीं देती। परन्तु वही मेघमाला-समूह, उस गिरिराज के अनेक अङ्गों में से नदियों के रूप में, नालों के आकार में, छोटी कूलों की आकृति में, झरझर करते झरनों की काया में, टप-टप टपकते बिन्दुओं के वेश में, स्रोतों के स्वरूप में अवतार धारण

करके, अनेक मार्गों से बहकर, भारत के नाना भू-भागों को हरा-भरा करने लगता है, वनों के दावानल तक को शान्त कर देता है। उसी प्रकार, महर्षि धर्म मेघ बनकर बरसों निरन्तर वर्षा करते रहे और अन्त को कार्तिक मास ही में शान्त हो गये, परन्तु उनके भावों के जीवनांश, आर्य वीरों का अवतार धारण कर देश-देशान्तरों में विविध प्रकार से धर्म-प्रसाद बाँटने लगे।

उस समय छोटा-बड़ा, जिसे भी देखो, दयानन्द के जीवनांश से सजीव हो रहा था। उसके भाल पर वैसी ही निर्भयता थी, वचनों में वैसा ही ओज था। उसकी आँखों में दयानन्दी तेज चमकता था। उसके मन में दयानन्दी उमङ्ग के ऊँचे तरङ्ग उठते थे। उसके हृदय में दयानन्दी उच्चाभिलाषा का विकास झलकता और उसके कर्मों में उस कर्मयोगी की क्रिया का कौशल प्रकाशित होता था।

उन दिनों, जहाँ जाओ वहाँ, आर्य बन्धुओं में देश-हित के गीत गाये जाते, एकता देवी के पाठ सुनाई देते, सामाजिक संशोधन के सूत्र सङ्गठित होते और परमात्मदेव का यश वर्णन किया जाता। उस समय आर्यों के मनों में, आर्यों के घरों में, आर्यों की मण्डलियों में, आर्यों के मन्दिरों में, आर्यों के महोत्सवों में, जहाँ देखो सर्वत्र वेद-प्रचार था, ईश्वर-विचार था, शिक्षा-विस्तार था, ... न् दयानन्द के पावन प्रकाश

॥ समाप्त ॥